# मैथिलीशरण गुप्त :
## कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता

डा० उमाकान्त, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, रामजस कॉलिज, दिल्ली

हिन्दी-अनुसंधान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, के निमित्त
**नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली**
द्वारा प्रकाशित

# समर्पण

पूज्य पितामह को

सादर

# हमारी योजना

'मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता' हिन्दी अनुसंधान परिषद् ग्रन्थमाला का चौदहवाँ ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसंधान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र', 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित', 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' तथा 'हिन्दी काव्यादर्श'। 'अनुसन्धान का स्वरूप' पुस्तक में अनुसंधान के स्वरूप पर गण्यमान्य विद्वानों के निबंध संकलित हैं जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गए थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा। इसी वर्ग के अन्तर्गत आठवाँ ग्रन्थ 'मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता' आपके सामने प्रस्तुत है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्

# आभार-स्वीकृति

यह शोध-प्रवन्ध दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर नगेन्द्र के निर्देशन मे लिखा गया है। मुझ जैसा अनभ्यस्त शोधार्थी भी जो उडुप द्वारा इस दुस्तर सागर का सन्तरण कर सका वह उनकी ही प्रेरणा, प्रोत्साहन और मार्ग-प्रदर्शन का परिणाम है। डा० नगेन्द्र के पास स्वच्छ दृष्टि और अद्भुत कार्यनिष्ठा के साथ-साथ वात्सल्यपूर्ण हृदय भी है, शिष्य होने के कारण लेखक उसका सहज अधिकारी रहा है। इन पृष्ठो मे जो भी शक्ति है वह उन्ही के श्रम और शिष्यवत्सलता का फल है—मेरी तो केवल सीमाएँ है। सौभाग्य से गुप्त जी भी आजकल दिल्ली मे हैं। मुझे उनके दर्शनो से आप्यायित होने के अनेक सुअवसर प्राप्त हुए हैं। मुझ पर 'दद्दा' की विशेष कृपा रही है, उनके अनुग्रह से अनेक अप्रकाशित कविताएँ भी मुझे सुलभ हो सकी हैं। वस्तुत प्रस्तुत प्रवन्ध के तो आधार ही गुप्त जी हैं, क्योकि—'भीति ही नही तो कहा छाते रह जायेंगी।'

श्रीमती नन्दिता घोष, प्राव्यापिका इन्द्रप्रस्थ कॉलिज, दिल्ली, ने वगला ग्रन्थो के अनुवाद-विषयक समीक्षण मे वडी तत्परता से सहायता की है जिसके लिए लेखक उन्हे हृदय से धन्यवाद देता है। समय-समय पर और भी अनेक महानुभावो से यथेष्ट सहायता मिली है। उन सभी के प्रति हमारा नमस्कार है।

श्रद्धेय डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी इस प्रवन्ध की भूमिका लिखकर मुझे उपकृत किया है।

—लेखक

# भूमिका

श्रद्धेय श्री मैथिलीशरण जी गुप्त भागवतीय मानवतावाद के प्रतीक कवि हैं। अर्वाचीन वचारधारा के अनुसार मानव विश्व का केन्द्र है। व्यक्ति और समाज के कार्यकलाप मानव के कल्याण के लिए ही होने चाहिएँ, यही इस युग का स्वच्छ आदर्श है। यह दृष्टिकोण त्काल ही प्रत्येक को मन पूत हो जाता है। इसे स्वीकार करने के लिए मन जैसे भीतर से उमगता है। भारतीय सस्कृति मे भागवती परम्परा अपना विशेष स्थान रखती है। भागवत के दृष्टिकोण का सार यही था :—

नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्। (उद्योग पर्व)

अर्थात् एक ही महान् जीवन तत्त्व समष्टि और व्यष्टि मे व्याप्त है। विराट् विश्व मे उसकी सज्ञा नारायण है, व्यक्त केन्द्र मे वही नर है। नर और नारायण दोनो मे एक ही शक्ति की धारा है। दोनो अभिन्न हैं। जैसे वृत्त का केन्द्र और उसकी परिधि दोनो एक ही गणितीय तत्त्व के दो रूप हैं, एक अव्यक्त है दूसरा व्यक्त है, ऐसे ही नारायण का व्यक्त रूप नर है। भागवतो ने स्पष्ट घोषणा की कि नर और नारायण परस्पर सखा हैं :—

नारायण नरसख शरणं प्रपद्ये। (भागवत ११।७।१८)

नर और नारायण की मैत्री का क्या अर्थ है? इसका समाधान यही है कि जो एक व्यक्ति की शक्ति है उसका स्रोत समष्टि या समाज की शक्ति मे है। दोनो मे प्रवाह की एक ही धारा है। व्यक्ति समाज का अन्तरग सखा है। प्राचीन शब्दो मे कहे या नये युग की शब्दावली का आश्रय लें, बात एक ही है।

नर-नारायण के इस नित्य और अमिट सम्बन्ध का हमारे युग की विचारधारा पर क्या प्रभाव पडता है, इसका उत्तर है नर की स्वकेन्द्र मे प्रतिष्ठा, उसकी वह चारो ओर छिटकने वाली महिमा जिसका वारापार नही है। अतएव नर पूज्य है अभिवन्द्य है। हमारे समस्त मानस सकल्पो का वह मध्यवर्ती बिन्दु है। जिस सस्था या योजना के मध्य मे नर या मानव लक्ष्यभूत नही है, वह शून्य है। उसमे शक्ति का दूसरा छोर मानो जुडा ही नही। अतएव वह एकागी या अधूरी रहती है। नये युग मे विश्व के चिन्तन की जो हिलोरें उठती हैं वे बारबार मानव के चरणो का स्पर्श करती हैं। यही मानव का भव्य स्वरूप निखर रहा है। जैसा वेदव्यास ने किसी समय कहा था—

गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि नहि मानुपात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित् ।

अर्थात् ज्ञान का रहस्य तुमसे कहता हूँ कि मानव से बढकर मूल्यवान् तत्त्व यहाँ और कुछ नही है । यही भागवती दृष्टि का निचोड है । इसके अनुसार मानव के जीवन की सोद्देश्यता और व्यक्ति की गरिमा दोनो ही सिद्ध होती है । ऐसा ज्ञात होता है कि अर्वाचीन युग के मानव-सम्बन्धी विचार-सूत्रो की अभिव्यक्ति ही वर्तमान काव्य की दिशा निर्धारित कर रही है । देश-देश मे युगकवि इन आदर्शों की वाड्मयी आराधना कर रहे हैं और नये शब्दो द्वारा विचार-जगत् मे नया आलोक भर रहे है । प्रगति विश्व का स्वभाव है । यहाँ निरन्तर आगे बढते ही जाना है । विचार और कर्म दोनो क्षेत्रो मे पडाव डालकर बैठे रहना यहाँ न किसी के लिए सम्भव है, न इष्ट । अतएव जिनके उदार अन्वेषणशील मन युग के महिमाशाली सत्य को पहचानकर उसे शब्दो मे ढालते हैं वे ही युगकवि हैं । श्री मैथिलीशरण जी गुप्त सच्चे अर्थों मे युगकवि हैं ।

किन्तु उनका मानवतावाद विश्वशक्ति के साथ जुडा हुआ है । उस विराट शक्ति की ही सज्ञा ईश्वर है, वह सक्रिय तत्त्व अनादि और अनन्त है । अनेक समाज काल के अनन्त धरातल पर प्रकट हो रहे और लीन हो रहे है । उन सबके उद्भव और परिवर्तन का जो स्रोत है वह सर्वोपरि अनन्त और अक्षय है । उस ध्रुव तत्त्व की उपासना के बिना अर्थात् उसे प्रत्यक्ष किए बिना मानव के निजी स्वरूप की महिमा सम्भव ही नही है । सामाजिक धरातल पर उसे ही हम जीवन का महान् सत्य कहते हैं । प्रतिपल उसी की अभिव्यक्ति का नाम मानवी जीवन है ।

गुप्त जी के काव्य के विषय भारतीय सस्कृति की देन हैं । प्राचीन साहित्य के स्रोत उनके काव्यो मे अपना प्रवाह उँडेल रहे हैं । सत्य और अनृत, तम और ज्योति, देव और असुरो के प्राचीन सघर्षों की कथाएँ भारतीय काव्य मे जैसे पहले उद्भूत हुई थी वैसे आज भी आगे आ रही हैं । यह एक अक्षय विपय है । इसका कभी अन्त नही हो सकेगा । हाँ इसकी व्याख्याएँ नई-नई होती रहेगी । आज भारतीय कवि अपने-अपने मानस-भवन में उसी प्राचीन आदर्श की आरती उतार रहे हैं । वही उनकी सरस्वती है । सत्यमेव उस आदर्श लोक के भारत की भारती यही है, अर्थात् अनृत का पराभव और सत्य की विजय ।

गुप्त जी के काव्य की मूल प्रेरणा उसी आदर्श लोक से जन्म लेती है । उसमे मनुष्य के कल्याण की प्रतिष्ठा है, किन्तु उस कल्याण का जो स्वरूप है वह स्थूल भोगो की आराधना के लिये नही है । वह तो अनन्त करुणात्मक कर्म, दया, सयम, तप, सेवा, परोपकार आदि की उपासना के लिये है जो लोक सवर्धन के मान्य तत्त्व हैं । गुप्त जी की विचारधारा मे मनुष्य और समाज मे सघर्प नही है । वहाँ व्यष्टि और समष्टि दोनो का समन्वय है, अर्थात् नर और नारायण दोनो का शाश्वत सख्य भाव है । राम क्या और किसलिये हैं ? यह प्रश्न गुप्त जी के लिये वास्तविक है । अनादि अनन्त देवतत्त्व या चैतन्य की सज्ञा राम है । वही अव्यक्त है और वही व्यक्त होता है । गोसाइं जी ने भी 'रामाख्यमीश हरि' कहते हुए अपनी परिभाषा की व्याख्या की है । किन्तु वह राम अव्यक्त ही रहे तो विश्व के लिये अनबूझ

पहेली रहेगी। राम स्वय अपने व्यक्तित्व को गुणो के साँचे मे ढालते हैं और मानव उन गुणो के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखकर आस्थावान् वनता है। अपनी पृथिवी को देवो के स्वर्ग से वढकर मानते हुए वह उसकी वन्दना करता है :—

स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया,
भाग्य-भास्कर उदयगिरि पर चढ़ गया।
हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है॥

रामचरित की यह सशक्त व्याख्या गुप्त जी के काव्य का प्राणवत स्वर है। वे अपने राम के लिये महता कठेन घोषणा करते हैं—

भव मे नव वैभव प्राप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सदेश यहा मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

भूतल या कर्ममयी पृथ्वी के साथ अटूट वन्धन यही मानव की मर्यादा है। यही के दुःख-सुखो की गाँठ हमे खोलनी है और इसी धरती के सुखो से सुखी होना है। कवि का काव्य उस खगकुमार के समान है जो ललित स्वर मे गाता हुआ व्योम मे ऊपर उठता है, किन्तु जिसकी सुरीली तान का लक्ष्य अपना घोसला ही है, मानो अपनी ही पत्नी और पुत्रो को रिझाना उसके गान की सफलता है।

मानव-परायण समक्षवाद गुप्त जी के काव्य की महती रसवत्ता है—

अलक्ष्य की वात अलक्ष्य जाने,
समक्ष को ही हम क्यो न मानें?

उनके काव्य की स्वच्छ सरलता का हेतु यही है कि वे समक्ष या प्रत्यक्ष जीवन के लिये ही अपनी सारी आस्था अर्पित करते हैं और इसी के सस्कार द्वारा उस दूसरे लोक की भावना करते हैं जो आदर्श के रूप मे नित्य है और हमारी आशाओ का केन्द्र है।

गुप्त जी के काव्य-मानस की प्रेरणा और प्रवृत्ति का स्रोत चतुर्विध है। अतीत सस्कृति और कला का प्रेम उसका एक अश है। वर्तमान युग के प्रति आस्था और राष्ट्रीयता उसका दूसरा चरण है। समक्ष जीवन और उसके साथ जुडा हुआ कर्ममय प्रवृत्ति-मार्ग या कवि के शब्दो मे कहे तो 'गेह-गौरव' वाद उसका तीसरा अश है। मानव की गरिमा या अनुभाव या महिमा के प्रति आस्था और आशा एव उसी आधार पर मानवतावाद या व्यष्टि का समष्टि मे पर्यवसान, या भागवती परिभाषा मे नर-नारायण का समन्वय, यह दृष्टिकोण उसका चौथा अश है। इन चारो का जहाँ सम्मेलन होता है वही गुप्त जी के काव्य का प्रतिष्ठा विन्दु है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि किस प्रकार नये विचारो का उजाला गुप्त जी ने अपने काव्यो के प्राचीन ठाठ मे भरा है। उन्होंने न केवल उदात्त अतीत के गीत गाए हैं, वरन् वे आगे आने वाले और भी अधिक उदात्त जीवन का उत्कठित आलिंगन करते हैं—

मैं अतीत ही नहीं भविष्यत् भी हूँ आज तुम्हारा।

कर्म के प्रति वे कितने आस्थावान् हैं—

फल तक नाम जपा है हमने आज करेंगे काम। (दिवोदास)

ऊपर जो आकाश का शून्य वितान है, उस ओर देखने से अब कुछ काम न सरेगा। मेघ-जलो की कृपा से नही, किन्तु मानव पृथ्वी पर भरे हुए अगाध जल-स्रोतों के उपाय से अपने खेतो को सीचकर आत्मनिर्भर बन जाना चाहता है—

ऊपर शून्य तको क्यों, नीचे भरे सिंधु गम्भीर।
करो सींचने का उपाय ही, अक्षय है निज नीर॥

स्वर्ग के राजा इन्द्र की ओर न देखकर मानव अब अपने ही समीप बहती हुई गगा की ओर दृष्टि डाल रहा है। अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये वह नये-नये आविष्कार कर रहा है। निज कर्तव्य से ही उसे सन्तोष प्राप्त हो रहा है। ये कर्म ही उसके नूतन यज्ञ-याग हैं। स्वर्ग के कुछ धुंधले दृश्य देखकर नये युग का मानव अपने समक्ष-जीवन की भव्यता या सौंदर्य को नही खोना चाहता। दिवोदास के शब्द नये युग के भालपट्ट पर अंकित उसकी ललाट-लिपि है—

रहे सदा सबके समक्ष यह मेरा लेख,
हम न भव्यता भी खो बैठें दूर दिव्य कुछ देख।

मानव का भाग्य अब देवो के भाग्य से भी अधिक पल्लवित है। मानव ने इस जीवन को पर्व बना दिया है। दिवोदास का मानव पुरुषार्थ और कर्मसिद्धि का गर्वीला पुतला है। राम के आदर्श से उसका मेल नही हुआ। अतएव गर्व से फूलकर वह विनाश के मार्ग पर बढ जाता है। सच ही मानव ने अपने पुरुषार्थ की कोई सीमा नही मानी। नर आज देवराज पद का अधिकारी बन गया है। पर देवों के भोगो के लिये देवो जैसा मन भी चाहिए। आसुरी मन से देव-धाम की प्राप्ति असम्भव है। नहुष का यही सार्थक सदेश है—

सीमा क्या यही है पुरुषार्थ की पुरुष के ?
मुद्रा हुई उत्सुक-सी मुख की नहुष के।
नर अधिकारी आज देवराज पद का
किंवा वह लक्ष्य हुआ हाय ! सुरमद का
मानता हूँ भूल गया नारद का कहना—
दैत्यों से बचाए निज देवधाम रहना।

किन्तु नहुष का स्वर्ग से पतन मानव की अन्तिम पराजय का सूचक नही। उसे भविष्य के लिये सावधान करने का हेतु है। जैसा कवि ने स्वय कहा है—'नहुष के आख्यान मे यह स्पष्ट दिखाई दिया कि मनुष्य बार-बार ऊँचे उठने का प्रयत्न करता है और मानवीय दुर्बलताएँ बार-बार उसे नीचे ले जाती हैं। मनुष्य को उन पर विजय पानी ही होगी। तब तक, जब तक वह पूर्णता प्राप्त न कर ले—

गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी,
मैं ही तो उठा था आप गिरता हूँ जो अभी।

फिर भी उठूंगा और बढ़कर रहूँगा मैं,
नर हू पुरुषार्थ हूँ चढ़ के रहूँगा मैं ।।

यद्यपि यह दृढ आशावाद और सकल्प मानव के कर्म की टेक है किन्तु मानव तो मानव है। देवता उसकी सफलता से सिहाते और असफलता पर हँसते हैं, और असुर उसे कभी चैन से नहीं बैठने देते—

देव सदा देव तथा दनुज दनुज हैं,
जा सकते किन्तु दोनो ओर मनुज हैं।

मानव की समस्याएँ देखने मे अनेक किन्तु मूल मे एक हैं, अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्ति और अन्तर्द्वन्द्व का अन्त। नहुष रूपी मानव का पतन इसी कारण होता है। स्वर्ग मे भी इन अन्तर्जगत् के तस्करो से पीछा नही छूटता। ये ही वहाँ के असुर हैं, जो रह-रहकर मानव के स्वभाव का विलोप करते हैं।

किन्तु यह मानव की चिरन्तन समस्या है, जिससे वह जूझता रहा है और आगे भी यदि जीवित रहा तो जूझता रहेगा। मानव का तात्कालिक सकट वह आत्मविनाश है, जिसका अभिनय विश्व के रगमच पर वह करने चला है। दिवोदास के मानव ने यह सोचा था—

हम मनुष्य होकर क्या चाहें ?
देवों से भी अधिक क्यो न यह अपना भाग्य सराहे ?
निज सुयोग पर गर्व जनाए,
इस जीवन को पर्व वनाएं।

मानव की जो साध थी, सव उसे प्राप्त हो गई है। जल, थल, नभ मे जो अवाध गति वह चाहता था वह उसे मिल गई है—

वाष्प और विद्युत् हैं किंकर से उसके
उसके समक्ष खडी अचला सी चचला।
हाथ मे रसायन है और सिद्धि साथ है
भौतिक विभव देखा ऐसा कब किसने ?

मानव का यह स्वरूप और उसके विनाश का चीत्कार 'पृथिवीपुत्र' नाम की कविता मे सुनाई पड़ता है। सचमुच इस लघु काव्य मे विश्व-मानस के नवीनतम अनुभवो का विस्फोट हुआ है। 'पृथिवीपुत्र' विश्व-साहित्य की कृति है। न केवल एक देश किन्तु सारी मानव जाति की सवसे वडी समस्या पर इसमे आत्मनिरीक्षण किया गया है। युद्ध से युद्ध को समाप्त करने का दर्प सीधा पागलपन है। इसीलिये माताभूमि अपने पुत्र से कहती है—

वालक भला था आज पागल हुआ हैं तू।
नाम कुछ और हाय काम कुछ और हैं ।।

इस प्रश्न का उत्तर किसी एक देश के विकास मे नहीं, मानवजाति के विकास मे है। मानवजाति इतिहास की दीर्घकालीन यात्रा के जिस मोड पर पहुँची है, वहाँ प्रातःकालीन क्षितिज पर उदित होते हुए वालसूर्य के समान विश्वमानव का जन्म हो रहा है। हमे जो

राष्ट्रीयता इष्ट रही है उस सबका सफल पर्यवसान मानवतावाद मे प्रस्फुटित हो रहा है। उसकी सच्ची स्वीकृति और अवलम्बन से ही अब जीवन की सफलता सभव होगी—

जो सबको लेकर चल सके, सच्चा वही समर्थ है।

और भी,

लाख विचार व्यर्थ होंगे यदि न हो एक आचार।
मन से नहीं किन्तु तन से ही जाना होगा पार॥

पृथिवी अपने नवजात शिशु को अब विश्वमानव के रूप मे देखना चाहती है। देश-देश से इसी आदर्श के स्वर ऊँचे उठ रहे हैं। अचिर भविष्य मे विश्वमानव को विश्वसेवा का व्रत लेना ही होगा—

माताभूमि—

तुझको बड़े से बड़ा देखा चाहती हूँ मैं
मेरे जात! सारे जन्तुओं के मुख्य तू ही है,
किन्तु छोटा होकर ही कोई बड़ा होता है,
मिथ्या दर्प छोडने का साहस हो तुझमे,
तो व्यक्तित्व अपना समष्टि मे मिला दे तू
देश, कुल, जाति किंवा वर्ग-भेद भूलकर
जा तू विश्वमानव हो सेवा कर सबकी।
भीति नहीं प्रीति यथा रीति तेरी नीति हो
उठ बढ ऊँचा चढ़ सग लिये सबको।
सबके लिये तू और तेरे लिये सब हों।

'पृथिवीपुत्र' मे मानव की विफलता या अप्राप्त अभिलाषा है। उसकी पूर्ति युधिष्ठिर के इस आदर्श मे सामने आती है—

युधिष्ठिर—

राम, अब भी मैं यह कहता हूँ मन से—
कामना नहीं है मुझे राज्य की वा स्वर्ग की,
किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूँ मैं यही
ज्वाला ही जुडा सकूँ मैं अपनों के दुख की
भोगूँ अपनों का सुख, मेरा पर कौन है?
सब सुख भोगें सब रोग से रहित हो—
सब शुभ पावें, न हो दुखी कहीं कोई भी।

अपार करुणा से भरा हुआ यह वही मानव का मन है, जिसे वैष्णव धर्म मे भगवद्भक्त का चित्त और महायान धर्म मे बोधिचित्त कहा गया था। प्रह्लाद जैसे भक्तो ने भगवान् के चरणों मे अनुराग रखते हुए और मानवो के हित मे चित्त की वृत्ति दृढ करते हुए कहा था—"मुझे राज्य नहीं चाहिए, स्वर्ग नही चाहिए और मोक्ष भी नही चाहिए।

त्रिविध दुखो से सतप्त प्राणियो का दुख किस प्रकार दूर हो यही मेरी कामना है।" महायान बौद्ध धर्म के शब्दो मे, मानव के लिये जीवन की प्रेरणा का जो स्रोत है वह एकमात्र करुणा भावना से मानव की समस्याओं का समाधान करना है। जीवन की प्रेरणा देने वाला जो सत्य मनुष्य के लिये है उसका प्रयोजन न राज्य है, न स्वर्ग है, न इन्द्रपद या चक्रवर्ती राजाओ का पद है। उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि मानव को मानवोचित उत्तम प्रज्ञा प्राप्त हो और मन की उस स्वच्छ वृत्ति से वह उन्हे जो इन्द्रियो मे आसक्त हैं, आत्मनिग्रह के लिये प्रेरित कर सके, जिन्हें कोई धैर्य देने वाला नही है उन्हे आश्वस्त कर सके, जो बद्ध हैं, उन्हें बन्धन-मुक्त कर सके और जिनका चित्त शान्त नही है उन्हे सुखी कर सके ?[1]

देवी रूपवती की पृष्ठभूमि मे जो करुणा की भावना थी वह किसी सम्प्रदाय विशेष की सम्पत्ति न थी वह तो मानव की शाश्वत सनातनी भावभूमि है जिसका देश और काल मे अन्त नही है। युधिष्ठिर उसी सनातन मानव के प्रतिनिधि हैं। 'जय भारत' मे इसी शाश्वत आदर्श की विजय कवि को इष्ट है। मनुष्य की जो साधना है वह अधिक से अधिक मानवता का कौन-सा स्तर प्राप्त कर सकती है, युधिष्ठिर मे उसी का दृष्टान्त है। कवि के अनुसार स्वर्ग मे भी वैसा देवपुष्प दुर्लभ है, जैसा युधिष्ठिर के रूप मे इस पृथिवी पर खिल सकता है। स्वयं कृष्ण द्रौपदी से कहते हैं—

निज साधना से अधिक नरकुल को युधिष्ठिर से मिला।
क्या स्वर्ग मे भी सुलभ यह जो सुमन धरती पर खिला ?

गुप्त जी के मानवीय आदर्श का यह आधा ही चित्र है। उसका दूसरा आधा भाग गृहस्थ की महिमा का प्रतिपादन एव प्रवृत्ति मार्ग की आवश्यकता का आग्रह है। मानव अपने कल्याण का चतुर्भुजी स्वस्तिक बनाना चाहता है। सर्वप्रथम अपने निजी केन्द्र मे, दूसरे उस परिवार मे जिसकी परिधि मे उसका जीवन विकसित होता है, तीसरे उस समाज या राष्ट्र के जीवन मे जिसका वह अग है, और चौथे उस विश्वमानव के लिये जिसके साथ उसका नि.सीम सम्बन्ध है वह सर्वथा कल्याण की भावना एव सर्वविध स्वस्तिक का निर्माण करता है। मानवीय विकास के चारो रूप गुप्त जी की काव्य भावना का अभिन्न अग है। इस सामग्री का बहुविध अध्ययन सम्भव है। अर्वाचीन युग के लिये भारतीय संस्कृति की नई व्याख्या गुप्त जी के काव्य की महती विशेषता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक डा० उमाकान्त ने काव्य के बहिरग विधान और उसकी अंतरग अर्थवती आत्मा, इन दोनो दृष्टियों से गुप्त जी के वाङ्मय का बहुत ही श्लाघनीय अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया है। सभवत अर्वाचीन कवियो मे अन्य किसी पर इस प्रकार का

---

१. येन सत्येन मया दारकस्यार्थाय उभौ स्तनौ परित्यक्तौ, न राज्यार्थं, न भोगार्थं, न शक्रार्थं, न राज्ञां चक्रवर्तीनां विषयार्थं, नान्यत्र अहं अनुत्तरां संबोधिं अभिसंबुद्ध्य, अदान्तानदयेयम्, अमुक्तान् मोचयेयम्, अनाश्वस्तान् आश्वासयेयम्, अपरिनिर्वृतान् परिनिर्वापयेयम्। ( दिव्यावदान, रूपवती अवदान, पृ० ४७३ )।

सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षात्मक अध्ययन अभी तक प्रस्तुत नही किया गया है। इस ग्रथ के पीछे लेखक का दीर्घकालीन परिश्रम और सूक्ष्म विवेचना की क्षमता स्पष्ट ही दिखाई देती है। गुप्त जी के ग्रथो का कालक्रम से विशद परिचय, उनके काव्य का भावपक्ष, उनकी काव्यकला के अन्तर्गत विभिन्न काव्य-रूपो के प्रयोग और भाषा की शक्ति, एव छन्दो के प्रयोग, इन सब विषयो का अति स्पष्ट और प्रामाणिक विवेचन इस सुन्दर ग्रथ मे उपलब्ध होता है। ग्रन्थ के उत्तरार्ध मे भारतीय सस्कृति के आख्याता के रूप मे भी गुप्त जी के विचारो के विश्लेषण का उत्तम प्रयास किया गया है। उमाकान्त जी ने शोध की नई प्रामाणिक पद्धति से विषय का विवेचन किया है और जहां तक हमे विदित है महाकवि के साक्षात् सम्पर्क मे आकर उनसे सम्बन्धित अनेक तथ्यो को प्रामाणिकता की कसौटी पर कस लिया है। गुप्त जी के सम्बन्ध मे अब तक जो साहित्य बना है उसका स्फुट उल्लेख लेखक ने हार्दिकता के साथ किया है। निश्चय ही महाकवि के सम्बन्ध मे यह ग्रथ अब तक के विविध प्रयासो मे मुकुटमणि के समान है। अपने युग मे पल्लवित, पुष्पित, फलित और प्रतिमण्डित एक विराट् काव्य-मानस को समझने के लिये लेखक का यह ग्रथ सर्वथा स्वागत के योग्य है।

काशी विश्वविद्यालय
ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा
सवत् २०१५
( १-६-५८ )

—वासुदेवशरण अग्रवाल

# विषय-सूची

## प्रस्तावना (१–७)



## (पूर्वार्द्ध)

### ग्रन्थ-परिचय (११–५४)



### भाव-पक्ष (५५–१४५)

(क) भाव-क्षेत्र का विस्तार :

## मैथिलीशरण गुप्त के अनुवाद-ग्रन्थ (३३६–३६१)



# (उत्तरार्द्ध)

## भारतीय संस्कृति के आख्याता : मैथिलीशरण गुप्त (३६५–४७१)

# प्रस्तावना

मैथिलीशरण गुप्त वर्तमान काल के सर्वाधिक लोकप्रिय भारतीय कवि हैं। तुलसी को छोडकर उन्हें सबमे अधिक पाठक प्राप्त हैं। तुलसी के समान ही आबालवृद्ध उनकी कविता पर मुग्ध हैं—उनके अनन्त काव्य-पारावार का अवगाहन करने पर सभी को मनोनीत भाव-विचार-मणियाँ प्राप्य हैं। ऐसे कृतकार्य कवि और उसके काव्य से सबद्ध आलोचनात्मक साहित्य का प्रणयन अवश्यम्भावी था। अनेक कृतज्ञ पाठको और गुणग्राही आलोचको ने गुप्त जी के काव्य पर समीक्षात्मक निबन्ध और पुस्तकें लिखी हैं। किन्तु अब तक जो कुछ लिखा गया है वह बहुत कम है, एकागी है तथा गुप्त जी के कृतित्व और उनके कार्य के महत्व को देखते हुए सर्वथा अपर्याप्त है। अद्यावधि मैथिलीशरण-विषयक जो आलोचनात्मक साहित्य प्राप्त है उसका विवरण इस प्रकार है —

## पुस्तकाकार

| | |
|---|---|
| १ गुप्त जी की काव्य-धारा | प० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' |
| २ गुप्त जी के काव्य की कारुण्यधारा | डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी |
| ३ गुप्त जी की कला | डा० सत्येन्द्र |
| ४ मैथिलीशरण गुप्त | सरस्वती पारीक |
| ५ मैथिलीशरण गुप्त एक अध्ययन | डा० रामरतन भटनागर |
| ६ साकेत एक अध्ययन | प्रोफेसर नगेन्द्र |

## निबन्ध

| | |
|---|---|
| १. प० शान्तिप्रिय द्विवेदी | ('हमारे साहित्य-निर्म्माता' मे सकलित) |
| २ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी | (हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी और आधुनिक साहित्य मे) |
| ३ बाबू गुलाबराय | (प्रबन्ध-प्रभाकर मे) |
| ४ प्रोफेसर नगेन्द्र | (विचार और विश्लेषण मे) |
| ५ डा० कन्हैयालाल सहल | (विवेचन, आलोचना के पथ पर और समीक्षायण मे) |

## साहित्य के इतिहासों में

| | |
|---|---|
| १ हिन्दी साहित्य का इतिहास | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| २ हिन्दी साहित्य | रायबहादुर श्यामसुन्दरदास |
| ३. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास | प० चतुरसेन शास्त्री |
| ४. हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) | डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी |
| ५ हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास | बाबू गुलाबराय |
| ६ आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास | प० कृष्णशंकर शुक्ल |
| ७ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास | डा० श्रीकृष्णलाल |
| ८ हिन्दी साहित्य | डा० भोलानाथ |
| ९ हिन्दी कविता मे युगान्तर | प्रो० सुधीन्द्र |
| १० महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग | डा० उदयभानु सिंह |

## भूमिका-रूप में

| | |
|---|---|
| गुप्त जी की कला (सत्येन्द्र) की भूमिका | प० हजारी प्रसाद द्विवेदी |

## टीकाएँ

| | |
|---|---|
| १ साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव | डा० कन्हैयालाल सहल |
| २ साकेत-सौरभ | श्री नगीनचन्द्र |

## अन्य सामग्री

१ अनेक पत्र-पत्रिकाओ मे मैथिलीशरण-विषयक बहुत से नये-पुराने लेख भी बिखरे पड़े हैं।

२ कुछ विद्यार्थी-उपयोगी सहायक पुस्तक भी निकली हैं, किन्तु हमारे लिए वह अवान्तर विषय है।

प्रस्तुत कवि से सम्बन्धित आज तक इतना ही साहित्य प्राप्त है। इस अध्ययन की दिशा और विकास पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

उपरिलिखित पुस्तको मे से गिरीश जी की लिखी हुई गुप्त जी की काव्यधारा लगभग तीन सौ पृष्ठ की पुस्तक है। लेखक के अनुसार यह "बाबू मैथिलीशरण गुप्त की समस्त रचनाओ का एक आलोचनात्मक अध्ययन"[1] है किन्तु इसमे साकेत तथा सिद्धराज का अध्ययन ही थोडा विस्तार से हुआ है, और यह विस्तार भी सापेक्षिक है—अन्यथा ऐसे सीमित आकार मे एकाधिक पुस्तकों की सविस्तर आलोचना सम्भव ही नही है। दूसरे सन् १९४६ के संस्करण मे भी लेखक ने नहुष के बाद की पुस्तको पर विचार नही किया।

'गुप्त जी की काव्य-धारा' कोई व्यवस्थित समालोचना-पुस्तक नही है। कही इसमे पौरस्त्य काव्यशास्त्र के आधार पर आलोचना होती है तो कही पाश्चात्य तत्वो के आधार

---

१ गुप्त जी की काव्य-धारा, मुखपृष्ठ

पर होने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो लेखक की वृत्तियाँ समीकृत नही हैं। इसलिए इस पुस्तक मे वैज्ञानिक एव अनुसधानात्मक दृष्टि का अभाव है। इसके अतिरिक्त काव्य के अन्तर्निहित सौन्दर्य के उद्घाटन की ओर लेखक की दृष्टि नही है, पृष्ठभूमि तथा ऐतिहासिक विवेचन आदि ही अधिक हुआ है। परिणामत भूमिका बँधते-बँधते प्राय अध्याय समाप्त हो जाता है। वस्तुत इस पुस्तक मे गुप्त जी के काव्य-सौष्ठव का नही उनके कृतित्व के ऐतिहासिक महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है।

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी विरचित 'गुप्त जी के काव्य की कारुण्यधारा' अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित और गम्भीर है। इसमे कारुण्य के विशिष्ट दिग्दर्शन के साथ-साथ, खडी बोली के विकास मे गुप्त जी का स्थान, गुप्त जी की कला मे उपयोगितावाद, गुप्त जी की काव्य-कला, राष्ट्रीयता, समन्वय-भावना आदि पर भी विचार हुआ है—किन्तु वह उतना गहरा नहीं है। कहीं-कही तो विषयान्तर भी हो गया है, उदाहरणत 'खडी बोली के विकास मे गुप्त जी का स्थान' शीर्षक परिच्छेद के १७ मे से १६ पृष्ठ खडी बोली के ऐतिहासिक विवेचन मे लगा दिये गये हैं जो निश्चय ही अनपेक्षित हैं। असली विषय का उल्लेख मात्र होकर रह गया है। डा० ब्रह्मचारी के सभी निष्कर्षों—विशेषत. उनके गुप्त जी की राष्ट्रीयता अथवा जातीयता-विषयक विचारो—से हम सहमत नही हैं—फिर भी लेखक का दृष्टिकोण काफी सतुलित है। सब मिलाकर इस पुस्तक में वास्तविक अध्ययन मैथिलीशरण जी के काव्य के केवल एक ही पक्ष का हुआ है।

'गुप्त जी की कला' डा० सत्येन्द्र की प्रौढ कृति है। गुप्त जी और खडी बोली, गुप्त जी की कला, विषयो मे दृष्टिकोण और विकास, गुप्त जी की शैली की विशेषताएँ, धार्मिक अभिव्यक्ति, स्त्रियो का स्थान आदि पन्द्रह अध्यायो मे विभक्त इस पुस्तक में कवि के सर्वाङ्गीण अध्ययन का प्रयास किया गया है। परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण विषय बिल्कुल छूट गए हैं, जैसे—गुप्त जी का छन्द-विधान, उनके काव्य का सास्कृतिक पृष्ठाधार आदि। —और जो अध्याय हैं भी वे अत्यन्त सक्षिप्त हैं—पौने दो सौ पृष्ठो मे पूर्ण-परिमाण पन्द्रह अध्याय कैसे समा सकते है। धार्मिक अभिव्यक्ति तथा कवि का जीवन-सन्देश आदि दो-एक परिच्छेद तो दो-तीन पृष्ठो मे ही समाप्त हो गए हैं परन्तु इस पुस्तक के जिस अध्याय मे जितनी भी सामग्री है वह सब ठोस है—लेखक के परिश्रम और सूझ-बूझ की परिचायक है। अन्तिम अध्याय 'द्वापर' में द्वापर की विस्तृत पर्यालोचना है जो पुस्तक के नाम को देखते हुए असबद्ध है पर उसमें द्वापर की गम्भीर समीक्षा हुई है। सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर गुप्त जी के काव्य का विवेचन करने वाली पुस्तको मे यह सबसे पहली श्रेष्ठ पुस्तक है। लेकिन इस पुस्तक के भी नवीन सस्करण मे नहुष के पश्चात् की कृतियो का उल्लेख नही मिलता।

सन् १९४४ मे सुश्री सरस्वती पारीक की भी 'मैथिलीशरण गुप्त' नामक एक छोटी-सी पुस्तक निकली थी। यह दस परिच्छेदो मे विभाजित है जिनमे कवि की विशेषताओ का सक्षिप्त आख्यान है। वास्तव मे इसे परिचय-पुस्तिका मात्र समझना चाहिये—१०० पृष्ठो की पुस्तक मे दस विषयो के विस्तृत-गम्भीर व्याख्यान का अवकाश ही नही है।

डा० रामरतन भटनागर ने अन्यान्य कवियो के समान मैथिलीशरण जी का भी एक

'अध्ययन' लिखा है—और इसकी भी वे ही विशेपताएँ है जो उनके अन्य 'अध्ययनों' की हैं वही उद्धरणो की भरमार तथा उद्धरण भी इतने लम्बे कि पाठक उनमे ही स्वतन्त्र रूप से रस लेने लगता है। दूसरे भटनागर जी इतनी शीघ्रता से लिखते हैं कि उन्हे सम्यक् विभाजन और वर्गीकरण का भी अवकाश नही मिलता। 'मैथिलीशरण गुप्त एक अध्ययन' मे उन्होंने 'विपय के अनुसार' कवि की रचनाओ के निम्नलिखित वर्ग वनाए हैं—

(१) पौराणिक काव्य (२) खण्डकाव्य और महाकाव्य (३) अन्य कथा-काव्य (४) चपू (५) देशभक्तिपूर्वक काव्य (६) हिन्दू जातीयता (७) मुक्तक (८) अनुवाद।[1]

अब आप देख लीजिए कि इस असगत वर्गीकरण का आधार क्या माना जाए ? इन तथाकथित 'वर्गों' के अन्तर्गत परिगणित पुस्तको के नाम देखकर आपको और भी अविक आश्चर्य होगा।

इसके अतिरिक्त भटनागर जी की दृष्टि कवि के क्रमिक विकास के ऐतिहासिक विवेचन पर रही है, उसके काव्य-सौन्दर्य के प्रतिपादन पर नही। वह कार्य तो अन्त मे उपसहार के रूप मे ८-१० पृष्ठो मे निपटा दिया गया है। साराश यह कि किसी परीक्षोपयोगी कृति मे अधिक महत्व इस पुस्तक का नही है।

'साकेत एक अध्ययन' प्रोफेसर नगेन्द्र की आरभिक आलोचना-पुस्तको मे से है, फिर भी इसमे विषय का कुशल प्रतिपादन हुआ है। इसकी शैली गभीर और विवेचन प्रौढ है। नगेन्द्र जी सौष्ठववादी आलोचक हैं—शास्त्र का आधार न छोडते हुए भी आलोचनाओ मे वे मुख्यत अपनी भावुकता का वितरण करते हैं। साकेत एक अध्ययन मे उनकी यह विशेषता पूर्णत परिलक्षित है। इसमे पुस्तक के वस्तु-विन्यास, अभिव्यजना-कौशल, छन्द आदि के साथ-साथ भाव-सौष्ठव का भी विशद रूप मे मार्मिक विवेचन हुआ है। साकेत एक अध्ययन के तीन परिच्छेदो मे सिर्फ भावपूर्ण स्थलो का ही व्याख्यान है। आलोच्य पुस्तक की एक विशेषता यह भी है कि इसमे साकेत के सास्कृतिक आधार का निरूपण हुआ है। मैथिलीशरण-विषयक अन्य किसी पुस्तक मे यह बात नही मिलेगी—किन्तु यह है तो एक ही ग्रन्थ का अध्ययन।

सर्वश्री गुलाबराय, नन्ददुलारे वाजपेयी और शान्तिप्रिय द्विवेदी ने मैथिलीशरण जी पर लेख लिखे हैं। बाबू गुलावराय ने अपने लेख मे गुप्त जी की सभी विशेषताओ पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार गुप्त जी खडी बोली के सफल प्रचारक, प्राचीन सभ्यता के वैतालिक तथा 'नवीन सभ्यता के अग्रदूत' हैं।[2] प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके परवर्ती साहित्यकारो के कृतित्व का मूल्याकन किया है। इस पुस्तक के 'श्री मैथिलीशरण गुप्त' शीर्षक लेख मे उन्होंने गुप्त जी को 'आधुनिक हिन्दी का प्रथम कृती कवि' कहा है। तुलसीदास और गुप्त जी की

---

१ दे० मैथिलीशरण गुप्त एक अध्ययन, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ७१-७२

२ दे० प्रबन्ध-प्रभाकर मे 'श्री मैथिलीशरण गुप्त' शीर्षक लेख

काव्य-परिधि एव साधना का साम्य और वैषम्य भी इसमे दिखलाया गया है। प० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने आधुनिक साहित्यकारो पर विचार करते हुए 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' में 'मैथिलीशरण गुप्त' शीर्षक निबन्ध लिखा है। प० द्विवेदी प्रभाववादी आलोचक हैं—किन्तु कही-कही उन्होंने विश्लेषणात्मक पद्धति का भी अनुसरण किया है। इन दोनो का ही सुखद सामजस्य उनके उपर्युक्त निबन्ध मे मिलता है। कवि की भाव-सृष्टि के व्याख्यान के साथ-साथ इस लेख मे उसकी राष्ट्रीयता, युग-प्रतिनिधित्व, प्रबन्ध-सौष्ठव, खडी बोली के विकास मे योगदान आदि पर भी विचार हुआ है—परन्तु यह विचार बडे सक्षेप मे ही हो सका है। एक ही पुस्तक अथवा पक्ष को लेकर भी कुछ निबन्धो की रचना हुई है जय भारत (प्रो० नगेन्द्र), साकेत (प० नन्ददुलारे वाजपेयी), उर्मिला का विरह वर्णन और गुप्त जी के साथ पत्राचार, साकेत मे प्रधान रस तथा साकेत के वियोग-वर्णन की विशेषता (डा० कन्हैयालाल सहल) ऐसे ही निबन्ध हैं। ये सभी प्रौढ विवेचको की गभीर आलोचना-कृतियाँ हैं—परन्तु परिधि के सकोच के कारण इनमे विषय का प्रतिपादन अपेक्षित विशदता के साथ नही हो सका।

साहित्य के सभी इतिहासो मे अन्यान्य कृती कलाकारो के समान गुप्त जी का भी विवरण प्राप्त है। किन्तु इतिहास मे व्यक्ति-विशेष पर गभीरता से विचार करने का अवकाश न होने से सभी मे गुप्त जी की विशेषताओ का परिचय मात्र कराया गया है। प० रामचन्द्र शुक्ल कालानुसरण की क्षमता के कारण गुप्त जी के असदिग्ध युग-प्रतिनिधित्व का प्रतिपादन करते हैं, तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मैथिलीशरण जी की पारिवारिकता का और बाबू गुलाबराय ने उनकी राष्ट्रीयता एव प्रबन्ध-परायणता का विशेषत उल्लेख किया है। वस्तुत इन तीनो इतिहासो मे अनुसधान-सूत्र उपलब्ध हैं। यदि उन दिशाओ मे कार्य किया जाए तो मैथिलीशरण-विषयक आलोचनात्मक साहित्य विपुल परिमाण मे तैयार हो सकता है। बाबू श्यामसुन्दरदास और चतुरसेन शास्त्री के इतिहासो मे कोई उल्लेखनीय बात नही है। शास्त्री जी के वक्तव्य मे तो आचार्य शुक्ल की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। प० कृष्णशकर शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास मे मैथिलीशरण पर लगभग २० पृष्ठ लिखे है जिनमे से १५ पृष्ठ साकेत-सबन्धी है। वास्तव मे साकेत की विशेषताओ का प्रतिपादन ही इस इतिहास का वैशिष्ट्य है। डा० श्रीकृष्णलाल और डा० भोलानाथ ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियो का विवेचन करते हुए यथाप्रसग गुप्त जी का उल्लेख किया है, और उनके काव्य से उदाहरण भी दिए हैं। डा० भोलानाथ के 'हिन्दी साहित्य' मे यह एक लक्ष्य करने की बात है कि खडी बोली के निर्माण और विकास के प्रसग मे उसमें कही भी मैथिलीशरण जी का उल्लेख नही है। डा० सुधीन्द्र ने भी सन् १९०० से १९२० तक की हिन्दी कविता की अन्तरग और बहिरग प्रवृत्तियो का निरूपण किया है। अनेक अलभ्य और दुर्लभ पत्र-पत्रिकाओ की सहायता से हिन्दी कविता के उस सक्रान्ति काल का यह विवरण उन्होंने बडे जतन से जुटाया है। यत्र-तत्र प्रस्तुत कवि पर भी घुणाक्षर-न्याय से कुछ प्रकाश पडा है। अन्यान्य विषयो की अपेक्षा गुप्त जी के छन्दो के अध्ययन मे यह पुस्तक अधिक उपयोगी है। डा० उदयभानु सिंह ने आचार्य महावीर प्रसाद

द्विवेदी के सुधारक-रूप की प्रस्तुति के समय कन्हैयालाल पोद्दार, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि उस समय के अन्य कवियो के साथ ही प्रस्तुत कवि के भी द्विवेदी जी द्वारा सशोधित दो-एक पद्य मूल-रूप सहित उद्धृत किए है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी काल की भाषा, छन्द आदि के विवेचन मे भी दो-चार जगह गुप्त जी का अनिवार्य उल्लेख हुआ है।

अब रह गया मैथिलीशरण-सम्बन्धी भूमिका और टीका-साहित्य। विचारणीय भूमिका केवल एक—गुप्त जी की कला (डा० सत्येन्द्र) की प० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित भूमिका—ही है। वैसे यह भूमिका वास्तव मे साकेत एक अध्ययन की है, गुप्त जी की कला की नही। किन्तु असावधानी से उसमे जोड दी गई है। पडित जी ने इस भूमिका मे गुप्त जी के सास्कृतिक दृष्टिकोण का—विशेषत उनके मर्यादा-प्रेम का—विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। गुप्त जी से सम्बन्धित टीका-साहित्य अभी बहुत नही है। किन्तु जो दो-एक टीकाएँ है उनमे भी यत्र-तत्र कतिपय आलोचनात्मक टिप्पणियाँ है।

कुल मिलाकर अभी तक मैथिलीशरण-विषयक इतना ही आलोचनात्मक साहित्य है। उपर्युक्त दिग्दर्शन से स्पष्ट है कि अद्यावधि गुप्त जी के काव्य का जो अध्ययन हुआ है वह उनके गौरव के अनुकूल नही है। इस क्षेत्र मे व्यवस्थित कार्य की आवश्यकता है। अनेक विषयो का तो अभी स्पर्श भी नही हुआ है। सबसे पहले तो ऐतिहासिक क्रम से गुप्त जी की सभी कृतियो के परिचय की अपेक्षा है। दूसरे सम्पूर्ण रचनाओ के आधार पर उनकी कला के क्रमिक विकास तथा अप्रतिबद्ध भावुकता का व्याख्यान भी अभी तक नही हो पाया। इनके अतिरिक्त कवि द्वारा गृहीत सस्कृति, और आधारभूत विचारधारा को हृदयगम करने के लिए काव्य के सास्कृतिक पृष्ठाधार के विवेचन-विश्लेषण की महती आवश्यकता बनी हुई है।

## प्रस्तुत अध्ययन

हमारा अध्ययन पूर्वोल्लिखित अभाव की पूर्ति का ही एक क्षुद्र प्रयत्न है। प्रस्तुत अध्ययन के सीमित आकार मे हमने उन्ही तत्त्वो और तथ्यो का निरूपण किया है। इस अध्ययन की कतिपय विशिष्टताएँ निम्नलिखित है—

१ काल-क्रम से गुप्त जी की सभी कृतियो का अनुसधानपरक परिचय।
२ गुप्त जी के भावक्षेत्र के विविध-पक्षो—विस्तार, समृद्धि एव प्रबलता का निरूपण।
३ गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूपो का अनुगमन शैली द्वारा वस्तुपरक विश्लेषण।
४ गुप्त जी के काव्य के शिल्प-वैभव का उद्घाटन।
५ (क) गुप्त जी की भाषा के क्रमिक विकास का आख्यान।
(ख) भाषा-सौष्ठव का विवेचन।
(ग) खडी बोली के निर्माण और विकास मे कवि के योगदान का आलेखन।
६ भारतीय सस्कृति के आख्याता-रूप मे मैथिलीशरण गुप्त का अध्ययन —
(क) भारतीय सस्कृति के विभिन्न सोपानो का आख्यान एव उसकी विलक्षणताओ की विवेचना (यह पृष्ठाधार हमारे मौलिक अनुसधान का विषय नही रहा)।
(ख) गुप्त जी द्वारा भारतीय सस्कृति के स्वरूप-विशेष को ग्रहण किये जाने के

मनोवैज्ञानिक कारणो का विश्लेषण ।

(ग) गुप्त जी के काव्य मे अन्तर्भूत भारतीय सस्कृति के तत्वो का विश्लेषण एव सश्लेषण ।

७ गुप्त जी के अनुवाद-ग्रन्थो की व्यवस्थित पर्यालोचना (बगाली से अनूदित ग्रन्थो के समीक्षण मे हमने दूसरो से सहायता ली है) ।

प्रस्तुत अध्ययन के विषय मे यह भी उल्लेखनीय है कि हमने सर्वत्र अनुगमन शैली का अनुसरण किया है । पूर्वाग्रह और पूर्वनिश्चय के आरोपण का प्रयत्न हमने नही किया । जो कुछ लिखा गया है, जो भी निष्कर्ष हैं, वे सब कवि की रचनाओ के पारायण के स्वाभाविक परिणाम हैं । मैथिलीशरण जीवित कवि हैं, उनका जीवनवृत्त अनुसधान का विषय नही है । अत उसे हमने छोड दिया है ।

अन्त मे यह निवेदन करना भी हमारा पुनीत कर्त्तव्य है कि मैथिलीशरण-विषयक पूर्वोल्लिखित सभी विद्वानो की कृतियो से हमने यथेष्ट लाभ उठाया है । यथास्थान और भी अनेक मनीषियो के ग्रन्थो की सहायता ली गई है । विस्तृत सहायक पुस्तक-सूची परिशिष्ट मे दे दी गई है । लेखक उन सभी का आभारी है ।

# पूर्वार्द्ध

[ काव्य-समीक्षा खण्ड ]

# ग्रन्थ-परिचय

श्री मैथिलीशरण गुप्त गत अर्द्धशताब्दी से अनवरत साहित्य-सेवा कर रहे हैं। अव तक उनकी ४० मौलिक तथा छ अनूदित पुस्तकें निकल चुकी हैं। इस अध्याय मे उनकी मौलिक रचनाओ का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। अनुवाद-ग्रन्थो का परिचय तत्सवधी अध्याय मे दिया जाएगा।

## रंग में भंग

गुप्त जी की सर्वप्रथम मौलिक रचना रग मे भग सवत् १९६६ मे प्रकाशित हुई। यो तो 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओ मे गुप्त जी की कविताए इससे पहले भी निकलती रही, पर यह पहली पुस्तक है—युवक कवि का प्रथम प्रयास। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व जव खडी वोली का कोई स्थिर रूप नही था, वह काव्योपयोगी नही समझी जाती थी और वास्तव मे थी भी नही, उस समय युवक कवि मैथिलीशरण ने एक ऐतिहासिक घटना लेकर रग मे भग जैसे रोचक काव्य की रचना खडी वोला मे ही की। उन्होंने प्रदर्शित किया कि खडी वोली गद्य के ही नही पद्य के भी उपयुक्त है और उसमे भी सरस एव कलापूर्ण काव्य की रचना हो सकती है।

रग मे भग एक खण्ड काव्य है जिसमे वूदी एव चित्तौड के नरेशो की एक महत्त्वपूर्ण घटना कवितावद्ध हुई है। प्रारम्भ से अन्त तक रोचकता के अतिरिक्त कथा का सवध-निर्वाह भी अच्छा है। कथानक अपने सदेश-वाहन मे सर्वथा समर्थ है, वह यह कि मानापमान भावना की अवाछित अतिरजना मानव के अपने विकास मे वाधक ही नही अपितु उसके ह्रास के लिए उत्तरदायी है। यद्यपि अधिकाशत अभिधा का प्रयोग हुआ है तथा अलकार भी सामान्य हैं तथापि प्रस्तुत पुस्तक मे गति-चित्र तथा मुद्राचित्रण आदि के दो-तीन अच्छे उदाहरण हैं जो कि गुप्त जी के भावी कलाकार की सूचना देते हैं। भाषा अभी परिमार्जित नही पर उसमे साकेतोत्तर काव्य की प्राजल तथा कातिमयी खडी वोली की ओर निश्चित सकेत है। काव्य की दृष्टि से अनेक दोष होने पर भी रचनाकाल तथा कवि की अवस्था को देखते हुए रग मे

भग एक सराहनीय प्रयत्न है। सर्वप्रथम रचना होने के कारण प्रस्तुत काव्य का गुप्त-साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान है।

## जयद्रथ-वध

जयद्रथ-वध गुप्त जी की द्वितीय रचना है। इसका प्रकाशन सर्वप्रथम स० १९६७ वि० मे हुआ। गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाओ मे भारत-भारती को छोडकर इसकी प्रसिद्धि सर्वाधिक रही। यह एक खण्ड काव्य है, कथा का आधार महाभारत है। प्राचीन कथा को लेकर भी कवि ने अपनी सरस-प्रवाहपूर्ण शैली द्वारा नवजीवन प्रदान किया है—अपनी लेखनी के स्पर्श से उसे रुचिकर एव सप्रभाव बना दिया।

काव्य की दृष्टि मे जयद्रथ-वध गुप्त जी के कृतित्व के प्रारभिक काल की रचनाओ मे सर्वश्रेष्ठ है। सुभद्रा और उत्तरा के विलाप मे करुण की स्रोतस्विनी प्रवहमान है, चित्रणकला और अप्रस्तुत-विधान आरभिक कृतियो मे सबसे अच्छा है, भाषा मे प्रवाह और ओज है। यद्यपि सस्कृत के बोझिल और पडताऊ शब्दो का प्रयोग भी हुआ है, पर यह कवि का दोष नही क्योकि उसके समक्ष खडी बोली का कोई सवमान्य आदर्श नही था।

## पद्य-प्रबंध

पद्य-प्रबध समय-समय पर लिखी गई भिन्न-विभिन्न प्रकार की कविताओ का सग्रह है जो कि सवत् १९६९ मे प्रथम बार प्रकाशित हुआ। प्रतिपाद्य की दृष्टि से इन कविताओ मे कोई साम्य नही। प्रस्तुत पुस्तक की कुछ कविताए तो क्रोध, प्रेम, मृत्यु, ससार आदि विषयो पर लिखी गई हैं, कुछ मे ऋतु-वर्णन हैं और कुछ हैं छोटे-छोटे उपदेशात्मक आख्यान। गुप्त जी इतिवृत्त के कवि हैं, और फिर पद्य-प्रबध तो उनकी प्रारम्भिक रचनाओ का सकलन है, अत कवि आख्यानो के आलेखन मे अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ है।

विविध विषयगत पद्य-सग्रह होने के कारण इसमे प्राय सभी रस आ गए हैं· शृगार, वात्सल्य, रौद्र और करुण के दो-एक उदाहरण तो द्रष्टव्य हैं। शिल्प की दृष्टि से ये कविताए श्रेष्ठ तो नही कही जा सकती पर सरस लाक्षणिक प्रयोगो का प्राचुर्य कवि की विकासशील कला का द्योतक है। प्रभावसाम्य, मानवीकरण तथा चित्राकन के उदाहरण भी मिल जाते हैं जो रचनाकाल को देखते हुए और भी स्तुत्य हैं। भाषा आद्यत प्राय एक जैसी है—पद्य-प्रबध मे हमे खडी बोली का सस्कृतगर्भित रूप मिलता है, ब्रज का प्रभाव भी अभी तक शेष है।

गुप्त-साहित्य मे पद्य-प्रबध का द्विगुणित महत्त्व है · एक तो इसके लघुकाय रोचक आख्यान साकेत जैसे कलापूर्ण प्रबधकाव्य के रचयिता गुप्त के भावी विकास की ओर सकेत करते हैं, दूसरे विविध विषयो पर पद्यबद्ध विचार गुप्त जी के राष्ट्रकवि रूप का पूर्वाभास देते हैं। इस 'सग्रह' को हम भारत-भारती की परम्परा मे रख सकते हैं। यद्यपि इसका क्षेत्र उतना विशद, विशाल एव व्यापक नही है तथापि दोनो की मूलभावना एक ही है, अन्तर है केवल परिधि-विस्तार का।

## भारत-भारती

प्रचार की दृष्टि से भारत-भारती गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह सर्वप्रथम स० १९६९ मे प्रकाशित हुई। एक समय था कि जब भारत-भारती के पद्य प्रत्येक हिन्दी-भाषी के कठ पर थे। भारतीयो मे राष्ट्रीय चेतना की जागृति मे इस पुस्तक का बहुत हाथ रहा है। भारत-भारती के प्रचार की व्यापकता एव जन-जागरण की प्रचण्डता से सशक विहार गवर्नमेट ने इस पर प्रतिवध लगा दिया तव पुस्तक मे कुछ काट-छाट की गई। पर गुप्त जी का कथन है कि हाईकोर्ट के निर्णय के पश्चात् वही मैटर इसमें आ गया। इस प्रकार आज यह पुस्तक अपने वास्तविक रूप मे ही उपलब्ध है—परिवर्तित नही।

काव्य की दृष्टि से भारत-भारती काफी सरस है, भारतीयो की अवनति एव हीनता का करुण चित्रण द्रष्टव्य है। लाक्षणिक प्रयोग यद्यपि कम हैं, प्राय अभिधा का ही आश्रय लिया गया है—किन्तु शैली का प्रवाह एव भाषागत ओज प्रस्तुत काव्य को दीप्ति प्रदान करते हैं और भावनाओ को उद्वेलित करने की शक्ति तो इसमे है ही। अतएव कवि की प्रारभिक कृतियो मे समस्त दोषो के रहते हुए भी भारत-भारती सर्वश्रेष्ठ है।

## मुसद्दसे हाली, मुसद्दसे कैफी और भारत-भारती

ये तीनो एक ही प्रकार की रचनाएँ हैं। प्रथम दो का प्रकाशन भारत-भारती से पूर्व हुआ, अत गुप्त जी दोनो से प्रभावित हैं—पुस्तक की 'प्रस्तावना' मे उन्होंने स्वय लिखा है—"हाली और कैफी के मुसद्दसो से मैंने लाभ उठाया।"[1] वस्तुत मुसद्दसे हाली तो कवि का प्रेरणास्रोत है। उसकी रचना यवनो के लिए हुई थी, उसी के आदर्श पर हिन्दुओ के निमित्त भारत-भारती का प्रणयन हुआ। गुप्त जी के मित्र कुरीसुदौली के अधिपति ने मुसद्दसे हाली के ही ढग पर 'एक कविता-पुस्तक हिन्दुओ के लिए' लिखने का अनुरोध किया था।[2] अब हम भारत-भारती पर दोनो मुसद्दसो के प्रभाव का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

### मुसद्दसे हाली का प्रभाव

यह पुस्तक सर्वप्रथम सन् १८७९ मे प्रकाशित हुई थी और उस समय इसने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। यह यवन जाति को सजग करने के उद्देश्य से लिखी गई थी। इसमे मुसलमानो के प्राचीन गौरव, वर्तमान अवनति, भविष्य के लिए उद्बोधन का आलेखन है। अन्त मे उन्नति की आशा और भगवान् से प्रार्थना की गई है। भारत-भारती मे भी इसी क्रम को अपनाया गया है। पर दोनो की विषय-वस्तु एकदम भिन्न है क्योकि मुसद्दसे हाली का प्रणयन मुसलमानो की दृष्टि से हुआ—और भारत-भारती का हिन्दुओ के निमित्त। तथापि कई स्थलो पर भारत-भारती मे मुसद्दसे हाली की पक्तियो की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पडती है। दो-तीन उद्धरण ही पर्याप्त होंगे

---

१ भारत भारती, अष्टदश संस्करण, प्रस्तावना, पृष्ठ ३

२. दे० भारत-भारती, प्रस्तावना

(१) पै मेलो की रौनक हैं जाकर वढाते पडे फिरते हैं देखते और दिखाते

.... . . ....

मगर नाच गाने मे हैं सवसे आगे[1]

रहती उन्हीं के ठाठ की है धूम मेलों मे सदा,
आगे मिलेंगे वे थियेटर और खेलो मे सदा।[2]

(२) परेशां अगर क़हत से इक जहां है तो वे फिक्र हैं क्योंकि घर मे समा है[3]

दुर्भिक्ष आदिक दु ख से यदि देश जाता है मरा,
तो हैं प्रसन्न कि धाम उनका अन्न धन से है भरा।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसद्दसे हाली मे गुप्त जी ने भाव-ग्रहण अवश्य किया है किन्तु यह भी लक्ष्य करने की वात है कि अपनी शैली एव शव्दावली मे कवि प्राय म्वतत्र है और उसका ओज तो मुसद्दसे हाली मे अलभ्य ही है। एक पद्य देखिए—

हा लेखनी ! हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा,
हृक्कालिमा में डूव कर तैयार होकर सर्वथा।
स्वच्छन्दता से कर तुझे करने पडें प्रस्ताव जो,
जग जायें तेरी नोक से सोये हुए हो भाव जो॥[5]

कितना घनीभूत ओज है। प्रयास करने पर भी मुसद्दसे हाली मे ऐसा उदाहरण मिलना असभव है।

## मुसद्दसे कैफी का प्रभाव

प० व्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' विरचित 'भारत दर्पन' अथवा 'मुसद्दमे कैफी' सन् १९०५ ई० मे (भारत-भारती से ७ वर्ष पूर्व) प्रकाशित हुआ। इसमे हिन्दुओ के अतीत गौरव, वर्तमान पतन और भविष्य मे उन्नति की आशा का वर्णन हुआ है। गुप्त जी इससे वहुत प्रभावित हैं—भारत दर्पन (मुसद्दसे कैफी) और भारत-भारती में आरम्भ से अन्त तक भाव-साम्य तो है ही, उपशीर्षक भी प्राय एक ही हैं। कई स्थलो पर भारत-भारती मे स्पष्ट रूप से मुसद्दमे कैफी की प्रतिध्वनि श्रवणगत होती है पर यह भी निश्चित है कि गुप्तजी ने भाव को और भी अधिक साज-सँवार दिया है—भारत-भारती का शिल्प एव उक्ति-सौंदर्य निर्विवाद रूप से मुसद्दमे कैफी से उत्कृष्ट है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं .

(१) मुनासिव है सर फूट का पहले फोडो
और आपस मे रिश्ता अखव्वत का जोड़ो

---

१. मुसद्दसे हाली, सदी एडीशन, पृष्ठ ७८

२ भारत भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ११५

३ मुसद्दसे हाली, सदी एडीशन, पृष्ठ ५५

४. भारत भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ११२

५ " " " पृष्ठ १

यह बंधन जो हैं जाहिरी इन को तोडो
फिर इन इखतलाफो की गरदन मरोडो[1]
विषपूर्ण ईर्ष्या-द्वेष पहले शीघ्रता से छोड़ दो,
घर फूँकने वाली फुटैली फूट का सिर फोड दो।
मालिन्य से मुंह मोड़कर मद-मोह के पद तोड दो,
टूटे हुए वे प्रेम बंधन फिर परस्पर जोड दो ॥[2]

(२) गये थे वड़े नाज़ोनेमत से पाले
रखे इन पं थे नौकरो के रसाले
हुए जब के नामे खुदा होश वाले
तो फिर पेट से पाव ऐसे निकाले
के अब घर मे मुश्किल इन्हे थामना है
नए फितनो का आए दिन सामना है[3]

यो तो सभी का बीतता है बाल्यकाल विनोद मे,
वे किन्तु सोते जागते रहते सदा हैं गोद मे।
इस भांति पल कर प्यार मे जब वे सपूत वड़े हुए,
उत्पात क साथ ही घर मे अनेक खडे हुए ॥[4]

उपर्युक्त उद्धरणो के निरीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि भारत-भारती अभिव्यजना की दृष्टि से मुसद्दसे कैफी से अपेक्षाकृत उत्कृष्ट रचना है।

हाली और कैफी के मुसद्दसो मे प्रभूत प्रभाव-ग्रहण करने पर भी भारत-भारती मे कवि का अपना रग कम नही—उसने अपनी लेखनी के स्पर्श से विषय को और भी प्रभावक्षम बना दिया है। अतएव भारत-भारती ने प्रसिद्धि की दृष्टि से दोनो मुसद्दसो को मात कर दिया। उत्तर भारत मे इसका इतना प्रचार था कि स्कूलो-पाठशालाओ मे इसके पद्य गाए जाते थे, स्वतत्रता के पुजारी देशसेवक इसका गान करते हुए सत्याग्रह आन्दोलनो मे भाग लेते थे। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद और काका कालेलकर आदि नेताओ एव विद्वानो ने इसके महत्व को, राष्ट्रीय आन्दोलनो मे इसके योगदान को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है। भारत-भारती के राष्ट्रव्यापी प्रचार एव प्रभाव को लक्ष्य करके ही बिहार गवर्नमेट ने इस पर प्रतिबध लगाया था—और अपनी इस प्रकार की कविताओ के कारण ही कवि को जेलयात्रा भी करनी पडी।

---

१ मुसद्दसे कैफी, संस्करण सन् १९५०, पृष्ठ ७१
२. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ १५६
३. मुसद्दसे कैफी, संस्करण सन् १९५०, पृष्ठ ४८
४. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ११४

## शकुन्तला

सवत् १९७१ मे प्रकाशित 'शकुन्तला' गुप्त जी की सर्वप्रथम रचना है जिसका प्रणयन शुद्ध रस की दृष्टि से हुआ है। अब तक इसके ग्यारह सस्करण निकल चुके हैं।

अपने आप मे सुन्दर कृति होने पर भी प्रस्तुत काव्य महाकवि कालिदास के जगद्विख्यात 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रभाव से मुक्त नही—प्रभाव ही क्यो ? अधिकाश स्थलो पर निस्सदेह कालिदास का अनुवाद है। मौलिकता यदि है भी तो सक्षेपण और उपस्थितीकरण मे है। नाटक की वस्तु को काव्य मे परिवर्तित करने मे है। कथा मे तो आदि से अन्त तक मौलिक उद्भावना का अभाव है।

समग्र पुस्तक के अनेक छदो पर अभिज्ञानशाकुन्तलम् की छाप स्पष्ट है। मैं समझता हूँ निम्नलिखित तीन-चार उदाहरण मेरे कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं—

स्रस्तासावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा—
दद्यापि स्तनवेपथु जनयति श्वास प्रमाणाधिक।
स्रस्त कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसा जालक,
वन्धे स्रसिनि चैकहस्तयमिता पर्याकुला मूर्द्धजा ॥[1]

घट-वहन से स्कन्ध नत थे और करतल-लाल,
उठ रहा था श्वास गति से वक्ष देश विशाल।
श्रवण पुष्प परिग्रही था स्वेद सीकर जाल,
एक कर से थी सभाले मुक्त काले बाल ॥[2]

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोनिधि वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वा न स बोधितोऽपि सन्
कथा प्रमत्त प्रथम कृतामिव ॥[3]

चिंता मे जिसकी निमग्न रहके देखा न तूने मुझे,
स्वामी मैं तप का, तथापि कुछ भी लेखा न तूने मुझे।
आवेगा तव ध्यान ही न उसको, कोई कहे भी न क्यों,
पीछे पूर्व-कथा प्रमत्त जन को है याद आती न ज्यों ॥[4]

निस्सदेह ये पद्य कालिदास का अनुवाद हैं—और निश्चय ही इनमे वह गुफित झकार नही जो अभिज्ञानशाकुन्तलम् के श्लोको मे है, वह माधुर्य भी नही। भाव-साम्य ही नही शब्द-साम्य भी देखिए

१ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अक १, श्लोक ३२
२ शकुन्तला, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ८
३ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अक ४, श्लोक १
४ शकुन्तला, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १७

अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र[1]
मुक्त है सर्वत्र ही भवितव्यता का द्वार[2]

कुछ पद्य अ० शा० का अनुवाद नही पर वे उसकी प्रतिध्वनि मे सर्वथा मुक्त भी नही, एक छद लीजिए—

भूत्वा चिराय सविगन्तमहीसपत्नी,
दौष्यन्तिमप्रतिरथ तनय प्रसूय।
तत्सनिवेशितधुरेण सहैव भर्त्रा
शान्ते करिष्यसि पद पुनराश्रमेऽस्मिन्॥[3]

रह कर चिरदिन भूमि सपत्नी, नृप की रानी,
रुके न जिसका मार्ग पुत्र पाकर कुलमानी।
करके उसका ब्याह, राज्य सिंहासन देकर—
आवेगी पति सग यहा फिर तू यश लेकर॥[4]

इस प्रकार अ० शा० ( कालिदास ) और शकुन्तला (गुप्त जी) की तुलना करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसे मौलिक मानना समीचीन नही। स्थानाभाव से मैंने बहुत कम उद्धरण दिए हैं, और भी बहुत से दिए जा सकते हैं। वैसे भावो की रक्षा मे गुप्त जी पूर्णत सफल हैं पर कही-कही उनका आदर्शवादी कवि बाधक हुआ है, उदाहरणार्थ दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेमालाप का वर्णन जहाँ कालिदास ने अत्यन्त मनोयोग से किया है वहाँ गुप्त जी केवल इतना कहते हैं—

हम हैं यहाँ अशक्त मिलन-सुख समझाने मे
प्रणयिजनों के चरित नहीं आते गाने मे।[5]

भाषा और शिल्प की दृष्टि से युवक कवि कालिदास का स्पर्श करने मे असमर्थ है, ऐसा सम्भव भी नही था। हाँ कविकुलगुरु की चित्रण-कला का अनुकरण करने का सफल प्रयत्न गुप्त जी ने किया, कम से कम खडी बोली के लिए तो अभूतपूर्व था ही।

## शकुन्तलोपाख्यान ( महाभारत ) एवं शकुन्तला

महाभारत मे आदिपर्व के ६८ से ७४ तक सात अध्यायो मे दुष्यन्त-शकुन्तला के वृत्त का आलेखन हुआ है। कथा का मूलसूत्र इस प्रकार है .

मृगयार्थ वन को गए हुए दुष्यन्त महर्षि कण्व के आश्रम मे पहुँचते हैं। कण्व निकटवर्ती वन मे फल लेने गए हुए थे अत शकुन्तला ने दुष्यन्त का सत्कार किया। दुष्यन्त के

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अक १, श्लोक १६
२. शकुन्तला, सस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ७
३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ४, श्लोक २२
४. शकुन्तला, सस्करण संवत् २००२, पृष्ठ २१
५. शकुन्तला, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १२

आग्रहवश शकुन्तला ने उन्हे विश्वामित्र तथा मेनका के सयोग से अपनी उत्पत्ति का वृत्तात सुनाया। दोनो का गाधर्व विवाह सम्पन्न हुआ, शकुन्तला गर्भवती हुई। दुष्यन्त उसे शीघ्र ही बुला भेजने का प्रण करके चले गए। थोडी देर बाद कण्व भी आ गए और अपने योगबल से सब कुछ जान कर उन्होंने शकुन्तला को आशीर्वाद दिया। समय पर शकुन्तला ने पुत्र को जन्म दिया, उसके काफी बडा होने पर कण्व ने अपने शिष्यो के साथ शकुन्तला को दुष्यन्त के पास भेज दिया। दुष्यन्त ने सब कुछ ध्यान रहने पर भी उस पुत्रवती को लोक-निंदा के भय से स्वीकार नही किया। तब आकाशवाणी हुई, मन्त्री शकुन्तला को ले आए—तब उन्होंने सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया।

गुप्त जी ने स्पष्टत कथा के इस रूप को नही अपनाया वरन् कालिदास द्वारा की गई समस्त उद्भावनाओ के साथ ग्रहण किया है। हमारा अनुमान है कि प्रस्तुत काव्य की रचना करते समय 'शकुन्तलोपाख्यान' कवि के स्मृतिपटल पर नही था अतएव इस पर निश्चित रूप से उसका कोई प्रभाव नही है।

शकुन्तला-सी रसमय कृति का आदर्शवादी कवि के साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान है—और खडी बोली का लालित्य तो सर्वप्रथम इसी मे दृष्टिगत होता है। उस समय खडी बोली को मधुर भावो की व्यजना के अनुपयुक्त माना जाता था—किन्तु गुप्त जी ने शकुतला के प्रणयन द्वारा निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया कि ब्रज के समान ही खडी बोली मे कोमल भावनाओ की सुष्ठु अभिव्यजना सम्भव है। इसके अतिरिक्त नाटक के खडित दृश्यो को काव्य-वस्तु का अविच्छिन्न प्रवाह प्रदान करके कवि ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है जो उसकी वृत्त-वर्णन-प्रतिभा के क्रमिक विकास का सूचक है।

## तिलोत्तमा

यह एक पौराणिक नाटक है, सर्वप्रथम स० १९७२ वि० मे प्रकाशित हुआ—अब तक इसके चार सस्करण निकल चुके है।

स्थूल शास्त्रीय दृष्टि से यह नाटक के सभी गुणो मे सम्पन्न है—पाच अक हैं, विष्कभक का निर्देश लेखक ने स्वय कर दिया है, पाचो सधिया तथा अन्य तत्त्व भी मिल सकते हैं पर तिलोत्तमा को नायक-प्रधान मानें अथवा नायिका-प्रधान यह एक विवादास्पद विषय है। नाटक का नाम देखते ही इसे नायिका-प्रधान माना जा सकता है। पर उसका सम्बन्ध समस्त नाटक से नही है। वह केवल अतिम अङ्क मे आती है। इन्द्र आदि देवता प्रारम्भ से अत तक विद्यमान हैं—किन्तु वे विजय प्राप्ति मे समर्थ नही, तिलोत्तमा ही उसमे सफल होती है। अत. निर्विवाद रूप से इस विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

प्राय सभी शास्त्रीय गुण मिल जाने पर भी तिलोत्तमा मे आधुनिक दृष्टि से चरित्र-चित्रण जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व का अभाव है। कथा का विकास तो क्रमिक एव स्वाभाविक है पर चरित्र-चित्रण मे कोई विशेषता नही, चरित्रो मे किसी का विकास नही है। देव एव दानवो को लेकर चलने वाले कथानक मे इसका स्थान भी नहीं है—क्योकि ये आदर्श पात्र हैं जिनके चरित्र मे काट-छाँट अथवा हेर-फेर की बिल्कुल गुजाइश नही होती। तथापि लेखक

ने यथासभव चित्रण को विश्वसनीय बनाने का प्रयत्न किया है। शुक्राचार्य मे वृद्धो के स्वभाव का, एक बात को बार-बार कहने का, आरोप किया गया है। सुन्द और उपसुन्द दोनों राक्षस हैं, फिर भी सुन्द (अग्रज) अपेक्षाकृत शान्त एव उपसुन्द (अनुज) उद्धत है। यद्यपि दोनो ही उद्दण्ड होने चाहिए, और हैं भी—किंतु युधिष्ठिर और भीम अथवा राम और लक्ष्मण के युगल के समान ही सुन्द और उपसुन्द का भी अपना युगल है। रभा मे स्त्रियो के प्रत्युत्पन्नमतित्व की प्रतिष्ठा है।

सवाद प्राय निर्जीव एव अस्वाभाविक है। सस्कृत के अव्यावहारिक एव अप्रचलित शब्दो से परिपूरित पद्यो के कारण यह दोष और भी उभर आया है। वातावरण की सृष्टि मे कौशल का परिचय नही मिलता।

अपने उद्देश्य के वाहन मे तिलोत्तमा का कथानक समर्थ है। पर सदेश व्यक्त होकर स्थूल उपदेश के रूप मे हमारे समक्ष आता है, वह अव्यक्त एव व्यग्य नही—अतएव उतना प्रभावक्षम भी नही।

प्रस्तुत नाटक की कोई घटना अनभिनेय नही—और कथानक भी रोचक है किन्तु निर्जीव एव पद्यपूर्ण सवादो के कारण प्रेक्षक को आकृष्ट करने मे असमर्थ है। गुप्त जी के अपने नाटको मे तिलोत्तमा अनघ से निम्नतर और चन्द्रहास मे उच्चतर कोटि का नाटक है।

## महाभारत (सुन्दोपसुन्दोपाख्यान) का प्रभाव

तिलोत्तमा तथा महाभारत के सुन्दोपसुन्दोपाख्यान का सदेश निस्सदेह एक है, कथा-वस्तु भी समान है—पर प्रतिपादन शैली मे कोई साम्य नही। एक सरल-स्पष्ट वर्णनात्मक आख्यान है तो दूसरे मे नाटकोचित विधान है। यत्र-तत्र मौलिक उद्भावनाए भी हुई हैं—जिनका उद्देश्य है रस-सचार, रोचकता की वृद्धि एव कौतूहल की सृष्टि तथा रुचि का परिष्कार। ब्रह्मा से प्राप्त जिस वर का उल्लेख महाभारत मे कथा के प्रारभ मे ही कर दिया गया है—

त्रिषु लोकेषु यद्भूत किंचित्स्थावरजगमम्।
सर्वस्मान्नौ भयं न स्यादृतेन्योऽन्यं पितामह॥[1]

तिलोत्तमा मे काफी समय तक देवता इसका पता न लगा सके। महाभारत के अनुसार तिलोत्तमा के दर्शन के लिए शिव के चार मुख एव इन्द्र के सहस्र नेत्र हो गए, अन्य देवता भी विचलित हो गए—पर गुप्त जी ने आदर्श की रक्षा के लिए इस बात को बड़ी सफाई से छोड दिया। इस प्रकार महाभारत से कथा का सूत्र मात्र लेकर लेखक ने उसका विकास अपने ढग से किया है।

## चन्द्रहास

चन्द्रहास सर्वप्रथम स० १६७३ मे प्रकाशित हुआ—और अब तक इसके छै सस्करण निकल चुके हैं। यह एक पौराणिक रूपक है, प्रतिपाद्य है भाग्यवाद—नियति जो चाहती है

१. महाभारत, आदिपर्व, अ० २०९, श्लो० २४

वही होता है, उसकी इच्छा के विना मानव अपने वुद्धि-कौशल मे कुछ भी करने मे असमर्थ है ।

शास्त्रीय दृष्टि से चन्द्रहास मे प्राय सभी नाटकीय तत्व मिल जाते हैं, इसमे परम्पराओ एव रूढियो का विधिवत् परिपालन हुआ है—नान्दी के पश्चात् नट-नटी के वार्तालाप से नाटक प्रारभ होता है—और समाप्ति भी भरत-वाक्य से होती है, अको की सख्या ठीक है, और खोजने पर सधियाँ भी मिल सकती है परतु आज का समीक्षक इसे सफल नाटक मानने मे असमर्थ है ।

चन्द्रहास की कथावस्तु मे नाटकोचित चमत्कार एव रोचकता अवश्य है, कौतूहल तथा औत्सुक्य भी प्रारभ से अत तक वरावर वना रहता है—किन्तु चरित्र-चित्रण सदोष है । पात्रो के व्यक्तित्व मे विकास का अभाव है, वे प्राय आरभ से अत तक एकरस हैं—आज के आलोचक की दृष्टि मे यह सव से वडा एव अक्षम्य दोप है । देश-काल की सृष्टि मे भी लेखक असफल है—पौराणिक रूपक के लिए आवश्यकता थी उस प्रकार के वातावरण की—और सस्कृतगर्भित भाषा तो अनिवार्य ही थी पर गुप्त जी ने केवल पौराणिक सज्ञाओ का प्रयोग करके सतोष कर लिया है । रगमच की दृष्टि मे भी चन्द्रहास निर्दोष नही । वैसे प्राय सभी घटनाएँ अभिनेय है पर स्थल-स्थल पर नियति का प्रवेश वहुत वडा दोप है । नियति के सवध मे लेखक का कथन है "नियति का प्रवेश सर्वत्र अदृश्य भाव से है । उसे केवल दर्शक देख सकेंगे ।"[१] नियति केवल प्रेक्षक को दृष्टिगत होगी, पार्श्ववर्ती अभिनेता को नही—कैसी असभव वात है । अतएव नाटक मे यह एक अपरिहार्य दोष है पर इस विपय मे यह भी ज्ञातव्य है कि उस युग के प्राय सभी नाटको मे इस प्रकार की वाते है । शैली मे नाटकोचित चापल्य का अभाव है, भाषा मे भी चाचल्य नही है । सवाद पर्याप्त हैं, कुछ तो काफी सजीव हैं—किंतु अधिकाशत पद्यो के कारण वोझिल एव अस्वाभाविक हो गए हैं ।

निष्कर्ष यह कि चन्द्रहास आज के नाट्य-विधान की कसौटी पर खरा नही उतर सकता फिर भी यह अपने युग ( हिन्दी नाटक के इतिहास मे सक्राति काल ) की विशिष्ट रचना है, उस काल के नाटको की सभी विशेषताओ का—दोषो का भी—पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है ।

## पत्रावली

'ऐतिहासिक आधार पर लिखित' सात पद्यात्मक पत्रो का सग्रह—पत्रावली सवत् १९७३ वि० मे प्रकाशित हुआ था । इन पत्रो मे असाधारण शक्तिसम्पन्न मानवो के स्खलन पर उनके इष्टजनो ने क्षोभ प्रकट करते हुए उन्हें सत्कर्म मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी है, अन्तिम पत्र मे अवला रूपवती की अपने त्राण के लिए करुण पुकार है । अत अनेक स्थलो पर लज्जा, आत्मग्लानि, विक्षोभ आदि की सुष्ठु व्यजना है, दो-एक जगह करुण का स्पर्श भी द्रष्टव्य है । शिल्प के निखार की अपेक्षा वस्तु-सज्जा की ओर ही कवि की दृष्टि रही है,

---

१. चन्द्रहास, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ १६

वातावरण का सृजन कवि ने वडे मनोयोग से किया है तथापि अन्त मे मानव को उसमे हर्षोत्फुल्ल एव चिर सजग रहने की शिक्षा ग्रहण करने का ही परामर्श दिया गया है। इस प्रकार वैतालिक मे प्रकृति-चित्रण साध्य न होकर साधन रूप मे—आलम्बन के रूप मे न होकर उद्दीपन के रूप मे हुआ है, तो भी यह कवि की उत्तरकालीन कृतियो के वाह्य दृश्य-विधान का पूर्वाभास है।

## किसान

किसान का प्रकाशन सर्वप्रथम स० १९७३ वि० मे हुआ। इसमे भारतीय किसान के उत्पीडित जीवन का करुण चित्रण छन्दोवद्ध है। इस काव्य का उद्देश्य किसानो के प्रति सहानुभूति की उद्‌भूति का प्रयत्न है। अतएव उनकी दारुण दशा का कारुणिक चित्र उपस्थित हुआ है जिससे काव्य मे करुण का प्राधान्य है, वैसे एकाध स्थल पर हास्य का भी स्पर्श है पर सामान्यत आद्यन्त करुणा का ही साम्राज्य है। शिल्प की दृष्टि मे 'किसान' कवि की आरम्भकालीन कृतियो मे वैतालिक एव शकुन्तला से निम्नतर ही है। इसमे सर्वथा अभिधा का ही प्रयोग है—अभिव्यक्ति मे वक्रता न होकर सहज आर्जव है। भाषा इसकी काफी विकसित एव व्यवस्थित है—किन्तु उसे प्रौढ नही कह सकते। हा, वह इस दिशा मे लेखक की निरन्तर प्रगति की परिचायक अवश्य है। वस्तुत प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन मे विशेष रूप से वृत्त की ओर ही प्रणेता का ध्यान आकृष्ट रहा है, उसने अपने इतिवृत्त को सजोने मे पर्याप्त कौशल का परिचय दिया है, और इस दृष्टि से यह 'उत्पाद्य' लघुकाय काव्य निस्सदेह प्रौढ कवि की प्रवन्ध-कल्पना का सूचक है। दो-एक छन्दो मे जो अग्रेज़ी सरकार की उदारता का महिमा-गान हुआ है वह कवि के सामान्य दृष्टिकोण से मेल नही खाता।

## अनघ

अनघ एक गीति-नाट्य है जो सर्वप्रथम सवत् १९८२ मे प्रकाशित हुआ था। अब तक इसके छ सस्करण निकल चुके है। यह सतरह खण्डो मे विभाजित है—प्रत्येक खण्ड मे एक नया दृश्य उपस्थित होता है अत इन खण्डो को निरापद रूप से नाटक के दृश्य भी माना जा सकता है, यद्यपि लेखक ने ऐसा कोई सकेत नही किया। अनघ का कथानक समसामयिक है।

जैसा कि पहले ही निवेदन किया जा चुका है अनघ एक गीति-नाट्य है पर इसमे उसका वाह्य स्वरूप मात्र है अन्तर्तत्व नही। गीति-नाट्य के लिए जिस सूक्ष्म-मधुर आन्तरिक विश्लेषण एव रससिक्तता की आवश्यकता है इसमे उसका प्राय अभाव है। यद्यपि सुरभि, मगध की रानी एव मघ की माँ की अवतारणा से रस-सचार अवश्य हुआ है पर वह अत्यन्त क्षीण है—आधिक्य है कर्मठ मघ की क्रियाशीलता का। तात्पर्य यह कि नायक के जीवन मे गीति के लिए अनिवार्य आन्तरिक सघर्ष न मिलकर बाह्य सघर्ष मिलता है। अतएव अनघ मे गीति तत्व क्षीण है। पर्याप्त रोचकता की अवस्थिति मे भी कथानक सरल एव स्थूल है। चरित्र-चित्रण मे कोई वैचित्र्य नही, प्राय विकास का अभाव है, कही भी पात्र की गति-विधि को प्रभावित करने वाली हार्दिक उथल-पुथल नही। जो प्रारम्भ मे जिस रूप मे हमारे समक्ष आता है अन्त तक उसी रूप मे चला जाता है। हाँ, मुखिया का

एक व्यवहार-कुशल चतुर सासारिक व्यक्ति के रूप मे चित्रण कर गुप्त जी ने अवश्य चरित्राकन-कौशल का परिचय दिया है, और मघ के भव्य चरित्र की कल्पना तो नाटक की जान है ही।

एक-दो स्थलों को छोडकर, प्रस्तुत नाटक के सवाद प्राय निर्जीव है। उनमे नाटकोचित चाचल्य का अभाव है और अनेक स्थलो पर आवश्यकता से अधिक लम्बे होने मे वे वार्तालाप न रहकर छन्दोबद्ध भाषण से प्रतीत होते हैं। भाषा की दृष्टि से कुछ व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ एव तुक के आग्रह से सस्कृत के अग्राह्य शब्दो का प्रयोग खटकता है पर इसमे खडी बोली के प्रगीत-तत्व का प्रस्फुटन स्पष्ट है।

निष्कर्ष यह कि गान्धी-नीति की साकार प्रतिमा मघ के आदर्श चरित्र की कल्पना अनघ की मूल विशेषता है। खडी बोली के निर्माण मे गीति के उपयुक्त कोमलता एव स्निग्धता का प्रस्फुटन इसका योगदान है। काव्य-रूप की दृष्टि मे इसमे यशोधरा का पूर्वरूप मिलता है।

## पंचवटी

प्रसिद्ध खण्डकाव्य पचवटी सर्वप्रथम सवत् १९८२ मे प्रकाशित हुआ था। यह काफी लोकप्रिय रहा है और अब तक इसके इकत्तीस संस्करण निकल चुके हैं। इसका कथानक रामसाहित्य का चिरपरिचित आख्यान—शूर्पणखा-प्रसङ्ग है। यद्यपि इसमे कतिपय नवीन उद्भावनाएँ भी है पर कथा का मूलसूत्र वही है। कथा-विकास एव प्रतिपादन शैली निश्चित रूप से कवि के अपने हैं, अतएव इसकी मौलिकता असदिग्ध है। रामायण के इस प्रसङ्ग को कवि ने अपनी लेखनी के स्पर्श से अधिक विश्वसनीय, अधिक मानवीय एव अत्यधिक रोचक तथा आकर्षक बना दिया है और साथ ही पिष्टपेषित कथानक मे तरल रसात्मकता एव स्निग्ध माधुर्य का सन्निवेश किया है—करुण-मधुर हास्य-विनोद ने इसे और भी सजीवता प्रदान की है। दृश्यो का नाटकीय परिवर्तन पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेता है।

चरित्र-चित्रण मे कवि ने प्राय परम्परा का ही अनुसरण किया है अर्थात् सीता, राम, लक्ष्मण एव शूर्पणखा के इतिहास-प्रतिष्ठित रूप को ही स्वीकार किया है—परन्तु फिर भी कवि के दृष्टिकोण पर आधुनिकता की छाप है। उसने इन ऐतिहासिक पात्रो की ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए भी उन्हे यथासम्भव मानवीय रूप मे प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है—राम के गुरु-गाम्भीर्य मे भी मानवोचित स्निग्धता एव कोमलता है, लक्ष्मण के औद्धत्य मे तारल्य है, सीता के आर्या-रूप मे भी मधुर हास्य की स्थापना है तथा शूर्पणखा की राक्षसता मे भी स्त्रीसुलभ मुग्ध भाव एव वाग्वैदग्ध्य है। सीता और लक्ष्मण का सवाद तो स्पष्ट रूप से आधुनिक युग के देवर-भाभी का चित्र प्रस्तुत करता है।

कला की दृष्टि से यह पुस्तक पूर्वकृतियो से कही श्रेष्ठ है। इसमे मानव मन की विचित्र एव अकथनीय स्थितियो के सफल अङ्कन के साथ सरस वाग्वैदग्ध्य सहज उपलब्ध

है। इसकी भाषा निखरी हुई खडी बोली है। यद्यपि वह प्रौढ नही है तथापि प्राजल एव कान्तिमयी है। पचवटी की भाषा की सबसे बडी विशेषता है उसका चाचल्य जिसमे सवादो मे एक नई चमक आ गई है। प्रस्तुत पुस्तक को सर्वाधिक चमत्कृत किया है इन सूक्ष्म-तरल हास्य से सस्पृष्ट मधुर-स्निग्ध सवादो ने। इनमे अपूर्व छटा है जो कवि की पूर्वकृतियो मे अलभ्य ही है। लक्ष्मण और सीता तथा शूर्पणखा एव लक्ष्मण के सवाद मेरे इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। पचवटी मे गुप्त जी के जीवन-दर्शन, जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण की झलक भर मिलती है, जैसे—

> **जितने कष्ट-कण्टको मे है जिनका जीवन-सुमन खिला।**
> **गौरव-गध उन्हें उतना ही अत्र, तत्र, सर्वत्र मिला॥**[1]

प्रस्तुत काव्य अपेक्षाकृत पूर्वकृतियो से अधिक प्रौढ है, वस्तुत यह कवि के विकास-पथ मे एक मार्ग-स्तम्भ है। यहाँ पर गुप्त जी के कृतित्व के प्रारम्भिक काल की समाप्ति एव मध्यकाल का आरम्भ होता है। अत गुप्त-साहित्य मे पचवटी का विशिष्ट स्थान है—यह उनके कृतित्व के आरम्भिक एव मध्यकाल का सधिस्थल है।

## स्वदेश-संगीत

गुप्त जी की स्वदेश सम्बन्धी कविताओ का सग्रह 'स्वदेश-सगीत' सवत् १९८२ मे प्रकाशित हुआ था। इसमे कुल मिलाकर ६५ कविताएँ सगृहीत हैं जिनमे से—स्वर्ग सहोदर, प्राचीन भारत, ब्रह्मचर्य का अभाव, ब्राह्मणो से विनय और श्रीरामनवमी—ये पाँच कविताएँ 'पद्य प्रबन्ध' (सवत् १९६९) मे भी सकलित हैं। इनमे से अधिकाश कविताएँ भिन्न-भिन्न पत्रो मे प्रकाशित हो चुकी हैं। कुछ ऐसी भी है जो अब तक (सवत् १९८२ तक) कही भी नही छपी।[2] पत्र-पत्रिकाओ मे छपने वाली स्वदेश-सगीत की कविताएँ एक समय अथवा स्थिति मे प्रणीत न होकर समय-समय पर तत्कालीन आन्दोलनो आदि से प्रभावित होकर लिखी गई हैं। अतएव इनका महत्व अस्थायी है। ये चिरप्रभावक्षम नही है—और प्रचारात्मक होने के कारण आज हमे नीरस, शुष्क एव स्थूल उपदेशपूर्ण प्रतीत होती हैं, तथापि इस प्रकार की कविताओ का अपना महत्व है, कम से कम ऐतिहासिक तो है ही।

मूल भावना की दृष्टि से प्रस्तुत 'सग्रह' भारत-भारती की परम्परा मे आता है। भारतवासियो को जागरण का सदेश देना ही इसका उद्देश्य है। किंतु दोनो मे अन्तर भी स्पष्ट है—भारत-भारती मे युवक कवि का ओजस्वी पौरुष है तो स्वदेश-सगीत मे प्रौढि का विचार-गाभीर्य है, प्रथम मे उग्र तारल्य है तो द्वितीय मे शुचि सारल्य अग्रेजो के निष्कासन का समर्थक भारत-भारती का प्रणेता अब उनसे सम-सम्बन्ध की कामना करता है—

---

१. पचवटी, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ११

२ स्वदेश-सगीत, प्रथम सस्करण, वक्तव्य

पर संगम गोरों से अपना,
गंगा यमुना तुल्य रहे।
दोनों के भीतर समता की,
सरस्वती का स्रोत बहे॥[1]

देश-भक्ति अपने आप मे अत्यन्त तीव्र भावना होते हुए भी अमिश्र मनोविकार नही है, इसमे राग और उत्साह का सम्मिश्रण है अतएव शास्त्रस्वीकृत नवरस मे से किसी एक का प्राधान्य अथवा परिपाक प्रस्तुत पुस्तक मे नही मान सकते। वैसे राग और उत्साह दोनो की अच्छी व्यजना हुई है—अपेक्षाकृत रागात्मकता का आधिक्य है, क्योकि भारतवर्ष के स्वर्णिम भविष्य के भव्य चित्रो के मूल मे राग ही तो है। स्वदेश-सगीत की सम्पूर्ण कविताओ के तल मे एक ही मूल चेतना होने पर भी उनके शिल्प मे वैषम्य है—क्योकि कविताओ का समय बारह-चौदह साल तक विस्तृत है, और इतने दीर्घकाल मे एक उदीयमान कलाकार के शिल्प मे परिवर्तन, परिशोधन-प्रवर्द्धन अनिवार्य था। अतएव इसकी कुछ कविताओ मे तो भरपूर कलात्मकता और कुछ मे नीरस तुकबदी दृष्टिगत होती है। भाषा स्वदेश-सगीत की शुद्ध खडी बोली है। सस्कृत शब्दो का अप्रचलित अर्थों मे प्रयोग बहुत खटकता है—कुछ ग्रामीण प्रयोग है और क्रियापदो पर ब्रज का प्रभाव भी शेष है, तथापि भाषा की सफाई और प्रसग-गर्भत्व द्रष्टव्य है, और इसकी कुछ कविताओ मे निस्सदेह उत्तरकालीन रचनाओ की प्रौढ, परिमार्जित एव व्यवस्थित भाषा का पूर्वरूप भी मिल जाता है।

कवि की विचारधारा का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रबधो की अपेक्षा ऐसी स्फुट रचनाएँ अधिक सहायक हैं क्योकि इनमे वह अनावृत होकर—कथा के आवरण को त्यागकर हमारे समक्ष आता है। फलत स्वदेश-सगीत के माध्यम से हम कवि की नवीन-प्राचीन-समन्वय की भावना, अग्रेजो के प्रति विद्वेष के अभाव, आदर्श जीवन की कल्पना इत्यादि से सहज रूप मे परिचित हो सकते है। इस प्रकार काव्यगुण क्षीण होने पर भी भाषा एव विचारधारा के विकास का सूचक होने के कारण गुप्त-साहित्य मे प्रस्तुत 'सग्रह' का ऐतिहासिक महत्व है।

## हिन्दू

यह पुस्तक सर्वप्रथम सवत् १९८४ मे प्रकाशित हुई थी और प्रतिपाद्य की दृष्टि से यह पुस्तक भारत-भारती की परपरा मे आती है। किंतु इस सबध मे यह ज्ञातव्य है कि यहाँ पर गुप्त जी का हृदयस्थ हिन्दू अनावृत किंवा उग्र रूप मे हमारे समक्ष आता है। भारत-भारती के समान खण्डो मे विभक्त न होने पर भी 'हिन्दू' का क्रम प्राय. वही है। किंतु इसका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत सीमित है—यहाँ गुप्त जी जातीयता से ऊपर नही उठ सके, यद्यपि यत्र-तत्र राष्ट्रीयता के भी दर्शन हो जाते हैं किंतु नाममात्र को। वस्तुत: इस

१. स्वदेश-संगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२६

काव्य मे कवि का हृदयस्थ हिन्दू प्रकृत रूप मे उपस्थित हो गया है—पुस्तक का नाम और उसकी मूल प्रेरणा—

हिन्दू धन्य तुम्हारी सृष्टि
तदपि हाय तुम अस्त व्यस्त,
इसीलिए यह रुदन समस्त[1]

मेरे इस कथन के साक्षी है पर इस सबध मे यह भी उल्लेख्य है कि गुप्त जी की हिन्दुत्व-विपयक धारणा अत्यन्त विशद एव व्यापक है—अछूत, जैन एव बौद्ध ही नही कवि ने सिक्खो तक को हिन्दुत्व मे अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त कवि का दृष्टिकोण रूढिग्रस्त नही है, वह नवीन एव प्राचीन संस्कृतियो का सुदर सयोग चाहता है—दोनो के उत्तम गुणो का चयन करके नूतन सस्कृति के निर्माण की कामना करता है।

'हिन्दू' मे कवि का उपदेष्टा उसके कलाकार पर हावी हो गया है अत शिल्प अत्यत निम्न कोटि का है। वस्तुत भूमिका मे प्रतिपादित[2] उपयोगिता के सिद्धान्त को गुप्त जी इतनी दूर तक ले गए है कि शिव के चक्कर मे फँसकर सुदर को एकदम भूल गए हैं। आश्चर्य होता है कि पचवटी-सी सरस कलामयी कृति का प्रणेता शिल्प की दृष्टि मे अग्रसर होने के स्थान पर 'हिन्दू' मे नीरस तुकवदी करने लगता है। और, साथ ही अभाव है रस का—भारतवासियो के पतन तथा विधवा आदि के वर्णन मे एकाध स्थल पर करुण का स्पर्श अवश्य है पर उसमे आवेग नही है। भाषा इस काव्य की सस्कृत-मिश्रित खडी बोली है—सस्कृत के वाक्यो एव वाक्याशो का प्रचुर प्रयोग खटक सकता है पर भाषा को विषयानुकूल बनाने के लिए वह अनिवार्य था। किंतु आरभ से अत तक लालित्य एव कान्ति का अभाव है जिससे पुस्तक अरुचिकर हो गई है—वह काव्यमय वातावरण के सृजन मे असमर्थ है। गुप्त-साहित्य मे इसका कोई साहित्यिक मूल्य नही है—किंतु कवि के विचार—उसकी राजनैतिक विचारधारा, जातीय भावना, जीवन दर्शन एव साहित्यिक सिद्धान्त ( भूमिका ) स्पष्ट रूप मे यहाँ उपलब्ध है। 'जय हिन्दू जय हिन्दुस्तान'[3] वाले जयकार मे जहाँ गुप्त जी की जातीयता की घोषणा है वहाँ अग्रेजो के प्रति विद्रोह की भावना भी प्रत्यक्ष है—राजनैतिक बन्धनो की लौह-शृंखला मे आबद्ध भारत-भारती का कवि उनकी उपेक्षा कर 'हिन्दू' मे अग्रेजो पर उन्मुक्त प्रहार करता है।

---

१ हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ११३

२ "सुनते हैं, वह ( काव्य का ) लक्ष्य है—'सुन्दरम्' और केवल 'सुन्दरम्'। 'सत्यम्' और 'शिवम्' उसके पहले की बातें हैं। कला मे उपयोगिता के पक्षपातियो से कहा जाता है कि सच्चे सौन्दर्य का विकाश होने पर अशोभन के लिए अवकाश ही नहीं रहता फूलो मे स्वभावत सुगन्धि ही होती है, दुर्गन्धि नहीं। ठीक है। परन्तु सब 'फूल सूघकर' ही नहीं रह सकते और यह भी तो परीक्षित हो जाना चाहिए कि कहीं फूलो मे तक्षक नाग तो नहीं छिपा बैठा है।—हिन्दू, तृतीय सस्करण, भूमिका, पृष्ठ १०-१२

३. हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ १२६

मैं समझता हूँ अपनी इस प्रकार की कविताओं के कारण ही कवि को जेल-यात्रा भी करनी पड़ी। राजनैतिक विचारधारा के अतिरिक्त गुप्त जी के आशावादी दृष्टिकोण की प्रतिच्छाया तो प्रत्येक पृष्ठ पर है ही अत प्रस्तुत काव्य कवि को—उसकी विचारधारा को—हृदयगम करने मे अत्यन्त सहायक है किन्तु रस-क्षीणता के कारण इसका स्वागत कवि की अन्य कृतियो के समान उदारता मे नही हुआ अत अभी तक इसके केवल तीन सस्करण निकल सके हैं। इस पुस्तक का प्रथम प्रकाशन सवत् १९८४ मे हुआ था।

## शक्ति

'सघे शक्ति' के सिद्धान्त का प्रतिपादक प्रस्तुत खण्डकाव्य सर्वप्रथम सवत् १९८४ मे प्रकाशित हुआ—विषयवस्तु है पौराणिक देव-दानव सग्राम। कवि की मान्यता है 'व्यक्ति-व्यक्ति मे शक्ति अलौकिक रहती हैं सर्वत्र'[1] यदि किसी प्रकार उस व्यष्टिगत शक्ति का एकत्रीकरण हो जाए तो कोई विघ्न-बाधा सामने नही टिक सकती। गुप्त जी के इस सदेश को वहन करने मे प्रस्तुत काव्य पूर्णत समर्थ है।

'शक्ति' मे आद्यत रण-चर्चा है अत. वीर रस के सुष्ठु चित्रण की आशा कर सकते हैं पर युद्ध का वर्णन अधिकतर शस्त्र-सचालन तक ही सीमित है—अनुभाव-योजना द्वारा भाव-व्यजना अपेक्षाकृत कम है। वीर के सहायक के रूप मे भयानक आया है और आरभ मे करुण का भी स्पर्श है। शिल्प की दृष्टि से गुप्त जी की चित्रण कला द्रष्टव्य है, युद्ध के कई अच्छे चित्र अकित हुए हैं। महिषासुर का वध करती हुई महाशक्ति का चित्र तो अत्यन्त सजीव एव आकर्षक है। शक्ति की भाषा समासगुणप्रधान ओजमयी खड़ी बोली है। यद्यपि सस्कृत के भारी-भरकम शब्दो का प्रचुर प्रयोग हुआ है पर वह भार न होकर ओजगुण-वर्द्धन मे सहायक ही है—ग्राम्य एव स्थानीय प्रयोगो का प्राय अभाव हो गया है, हाँ एकाध स्थान पर मुहावरा ठीक नही है जो खटकता है।

प्रस्तुत काव्य के समान वीर-दर्पपूर्ण उक्तियाँ एव ऊर्जस्वित भावना गुप्त जी के कृतित्व के मध्यकाल मे अन्यत्र दुर्लभ है। 'शक्ति' की समस्त भाषा मे तो प्रौढ़िकालीन भाषा की समाहारशक्ति एव गुफित झकार का निश्चित सकेत है।

## सैरन्ध्री

पचमवेद महाभारत से, अज्ञातवास के समय 'सैरन्ध्री' छद्म-नामधारिणी द्रौपदी एव कीचक के चिरप्रसिद्ध कथानक को लेकर प्रस्तुत काव्य सर्वप्रथम सवत १९८४ मे प्रकाशित हुआ था, और अब तक इसके आठ सस्करण निकल चुके है। मौलिकता इसमे है पर वस्तु की नही, शैली की—सैरन्ध्री की प्रतिपादन शैली सर्वथा नवीन है अतएव अन्त तक रोचकता बनी रहती है विशेषत सजीव कथोपकथन ने इसे नूतन जीवन प्रदान किया है।

रस की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य काफी सफल है—सम्यक् परिपाक तो इसमे भी नही किंतु पूर्वकृतियो के समान उसका अभाव नही है। अधिकाशत करुण रस की सृष्टि हुई है

1. शक्ति, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ८

एकाध स्थान पर भयानक भी मिल जाता है। हाँ, मैरध्री मे कवि का विकसित काव्य-शिल्प उपलब्ध है, यद्यपि सूक्तियो एव सिद्धान्त-वाक्यो की यहाँ भी भरमार है, और स्पष्ट शब्दो मे स्थूल उपदेश का इसमे भी अभाव नही है। किन्तु गुप्त जी का उपदेशक उनके कलाकार को 'हिन्दू' के समान इस काव्य मे दबा नही सका। वैतालिक के पश्चात् प्रथम वार कवि का शिल्पकार विचारो के आवरण से मुक्त होता है—पुस्तक के मजीव उपमान, चित्राकन एव चित्रमयी वर्ण-योजना मेरे इस कथन के साक्षी हैं।

## वन-वैभव

इस काव्य के कथानक का आधार महाभारत है। इसका शील मौलिक नही है पर शैली सर्वथा नवीन है। नूतनता मे सवाद विशेपत सहायक सिद्ध हुए है। इसकी दूसरी विशेपता है वैपम्य-चित्रण—यहाँ पर वैषम्य है पाण्डवो की पूर्व और वर्तमान स्थिति मे तथा पाण्डवो और कौरवो की दशा मे।

'वन-वैभव' मे रस का अभाव तो नही है—किंतु है वह बहुत विरल। वैसे आद्यत करुणा का अवतरण है पर हृदय को उद्वेलित करने मे समर्थ स्थल गिनती के ही हैं। पूर्वार्द्ध मे करुण के एक-दो अच्छे उदाहरण है, उत्तरार्द्ध मे वीर का स्पर्श है। वस्तुत यहाँ द्रष्टव्य है काव्य-शिल्प, ध्वनि-चित्रण एव सफल अप्रस्तुत-विधान प्रस्तुत काव्य की अपनी विशेपताएँ हैं, और द्रौपदी के करुण-स्निग्ध चित्र तो बरबस ही पाठक को आकृष्ट कर लेते हैं। वन-वैभव के सवादो की भाषा काफी तरल-चपल है जो कि साकेत मे उर्मिला-लक्ष्मण के प्रेम-परिहास के स्निग्ध-तारल्य की ओर सकेत करती है। वन-वैभव मे गुप्त जी की मजती हुई कला का आभास निस्सदेह वर्तमान है—किंतु इसका सपूर्ण महत्व अवलम्बित है युधिष्ठिर के भव्य चरित्र पर। युधिष्ठिर परम्परा से धीर-प्रशात चरित्र के रूप मे प्रतिष्ठित हैं—पर गुप्त जी ने उन्हे और भी उदात्त रूप मे प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त वन-वैभव मे कवि के युद्ध-विषयक विचार भी द्रष्टव्य हैं। गुप्त जी लोभवश किए गए युद्ध के विरुद्ध हैं—किंतु धर्मार्थ होने वाले युद्ध के पक्ष मे हैं—धर्म की हानि मे युद्ध को अनिवार्य मानते हैं।

प्रस्तुत काव्य पहली वार सवत् १९८४ मे प्रकाशित हुआ था। अव तक इसके कई सस्करण निकल चुके हैं।

## वक-संहार

इस काव्य का प्रतिपाद्य महाभारत की चिरप्रसिद्ध कथा है। यत्रतत्र उसमे कवि के आदर्शवाद, रुचि एव विचारो के प्रभाव से कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी हुआ है, उदाहरणत महाभारत की ब्राह्मणी स्वय मरने का प्रस्ताव करती हुई कहती है—

> उत्सृज्यापि हि मामार्य प्राप्स्यस्यन्यामपि स्त्रियम्।
> तत प्रतिष्ठितो धर्मो भविष्यति पुनस्तव॥
> न चाप्यधर्म कल्याण बहुपत्नीकृता नृणाम्।[1]

---

१. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १५७, श्लोक ३४-३६

पर आदर्शवादी कवि मैथिलीशरण गुप्त की ब्राह्मणी निश्शक घोषणा करती है—

मैं एक तुममें रत यथा,<br>
तुम एकपत्नीव्रत तथा।<br>
मैं जानती हूँ, तुम कहो न कहो इसे।[1]

कथा को अधिक रोचक एव कुतूहलपूर्ण बनाए रखने के लिए कुछ परिवर्तन भी हुआ है, एक उदाहरण लीजिए महाभारत मे कुन्ती के रुदनरत ब्राह्मण-परिवार के पास जाने से पहले भीम प्रतिज्ञा कर लेते हैं—

ज्ञायतामस्य यद्दुःखं यतश्चैव समुत्थितम्।<br>
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम्।[2]

इस प्रकार कथा की गति कुछ सरल-स्पष्ट एव स्थिर-सी हो जाती है किंतु बक-संहार की कुन्ती का मातृ-हृदय विप्रकुल को सान्त्वना देकर, अपने पुत्र को भेजने की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् भी एकान्त मे रो उठता है—कुन्ती के इस अन्तर्द्वन्द्व को, उसके हृदय मे अभिघटित कर्त्तव्य और प्रेम के इस सघर्ष को गुप्त जी ने ही पहली बार देखा है। वस्तुत महाभारतकार के समक्ष तो भावनाओ के द्वन्द्व का प्रश्न ही नही था क्योकि वहाँ कुन्ती भीम की अतिमानवीय शक्ति से परिचित एव आश्वस्त है अतएव भीम को भेजने का प्रस्ताव सजग-सतर्क रहते हुए करती है—

न चासौ राक्षस. शक्तो मम पुत्रविनाशने।<br>
वीर्यवान्मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम॥[3]<br>
तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पाण्डव।<br>
प्रतिकार्ये च विप्रस्य तत कृतवती मतिम्॥<br>
नेदं लोभान्न चाज्ञानान्न च मोहाद्विनिश्चितम्<br>
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया॥[4]

पर बक-संहार मे कुन्ती अपने किसी पुत्र को भेजने की प्रतिज्ञा केवल कृतज्ञतावश कर बैठती है—और बाद मे कार्य की भीषणता पर विचार कर—

बाहर अटल थी किन्तु भीतर हत हुई

× × ×

भगवान, ·· ··<br>
जाने उन्हें दूँ इस तरह<br>
क्या मारने को ही उन्हें मैंने जना?

× × ×

---

१. बक-संहार, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १४

२. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १५६, श्लोक १६

३. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १६०, श्लोक १४

४. " " " १६१, " १६-२०

जो थी शिला-सी निश्चला,
अब रुंध गया उसका गला,
वह देर तक जल-मग्न सी लेटी रही।[१]

इस प्रकार कवि ने वीर क्षत्राणी कुन्ती के मातृ-हृदय को हृदयगम किया है—यह अन्तर्दर्शन ही परम्परागत कथा मे नूतन जीवन का मचार करता है।

काव्यगुण की दृष्टि मे भी यह कृति श्रेष्ठ है—पूर्वार्द्ध मे विप्रगृह का वर्णन शात वातावरण की मर्जना मे ममर्थ है, उत्तरार्द्ध मे करुण का परिपाक है—द्विजकुल की दारुण दशा करुण के उद्रेक मे मफल है। वैसे कुन्ती की उक्तियो मे ओज भी है पर वह रस कोटि तक नही पहुँच मका क्योकि रम की उत्पत्ति मे मात्र उक्ति पर्याप्त नही, उमके लिए अनिवार्य है विभावानुभाव-मयोजन। कवि का शिल्प वक-महार मे और भी निखरा हुआ है, उमकी तूलिका अब मध गई है—अनेक चित्र दर्शनीय है विप्रगृह-वर्णन मे म्थूल वस्तुओ के साथ-साथ उसके शात वातावरण एव सात्विक प्रभाव तक का मटीक अकन है। इसके अतिरिक्त शब्द-मैत्री, उक्ति-सौंदर्य एव अप्रस्तुत-विधान भी मराहनीय है—और सजीव सवादो के कारण तो पुस्तक की रोचकता द्विगुणित हो गई है। इमकी भाषा पूर्वकृतियो के ममान ही है फिर भी काति कुछ अधिक है। गुप्त-साहित्य मे वक-महार शिल्प की दृष्टि से पचवटी के ममकक्ष है।

वक-महार का प्रकाशन पञ्चवटी से प्राय दो वर्ष पश्चात् मवत् १९८४ मे हुआ था, और अब तक अनेक सस्करण निकल चुके है।

## विकट भट

गुप्त जी की मर्वप्रथम अतुकान्त काव्य-पुस्तक विकट भट सवत् १९८५ मे प्रकाशित हुई, और अब तक इसके पाँच सस्करण निकल चुके हैं। इसका प्रतिपाद्य राजपूत इतिहास की एक अप्रमिद्ध पर शिक्षाप्रद कथा है।

विकट भट की कथा अत्यन्त आकर्षक एव हृदयद्रावक है। कथा का विकास महज-स्वाभाविक है और कथानक का अनिवार्य तत्त्व रोचकता आद्यत विद्यमान है। इस ओजस्विनी पुस्तिका मे राजपूती आन, उनके दर्प-अभिमान आदि का अच्छा वर्णन हुआ है जो वातावरण के सृजन मे सफल है।

प्रस्तुत काव्य मे दो रसो का मणि-काचन-सयोग है एक वीर और दूसरा करुण। यद्यपि विकट भट वीर-दर्पपूर्ण उक्तियो मे परिपूर्ण है फिर भी वीर की अपेक्षा करुण का परिपाक अधिक सुदर हुआ है, वह अधिक प्रभावक्षम है—क्योकि वीरता का कथन अधिक है, अभिव्यजना कम। इसके विपरीत करुण का चित्रण मात्रा मे कम होने पर भी उद्वेगजनक अतएव हृदयाकर्षक है।

शिल्प की दृष्टि से द्रष्टव्य है तेजोमय चित्र। कोमल स्निग्ध चित्रण तो इससे पहले भी कवि

---

१. वक-संहार, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ३२-३४

ने काफी किया था पर प्रस्तुत काव्य मे जैसे रुद्ध-क्रुद्ध, वीर-दर्पमय ओजपूर्ण चित्र उपलब्ध हैं वैसे किसी अनुभवी लेखनी द्वारा ही सभव है। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत-योजना भी श्लाघ्य है। सवाद अत्यन्त सजीव एव नाटकोचित हैं—पाठक को ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके सामने ही वात-चीत हो रही हो। भाषा शुद्ध खडी वोली है, उसके ओजमय रूप के दर्शन होते हैं—यो तो खोज करने पर स्थानीय शब्द भी मिल जाएगा और व्याकरण सवन्धी त्रुटि भी मिल सकती है पर समस्त पुस्तक मे ऐसा एकाध प्रयोग साधारण वात है।

विकट भट की मुख्य विशेषता यह है कि इसकी कविता अतुकान्त है और जैसा कि मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ, यह गुप्त जी का सर्वप्रथम अतुकान्त काव्य है। यद्यपि कई पक्तियो मे गतिभग हो गया है फिर भी यह उनका सराहनीय प्रयास है।

## गुरुकुल

सवत् १९८५ मे प्रथम वार प्रकाशित इस काव्य का प्रतिपाद्य है सिक्ख गुरुओ की जीवनी एव उनके जीवन-कृत्यो का विवरण।

प्रस्तुत काव्य का नाम 'गुरुकुल' कुछ खटकता है प्रथम तो आर्य समाज की कृपा से 'गुरुकुल' शब्द का सवन्ध एक विशिष्ट सस्था से हो गया है, दूसरे पुस्तक मे गुरुओ के अतिरिक्त अन्यान्य गण्यमान्य सिक्खो का भी वृत्तान्त है। यद्यपि गुरुओ के चरित को छोडकर शेष सव वर्णन 'परिशिष्ट' तथा 'परम्परा' शीर्षको के अन्तर्गत हुआ है तथापि इससे पुस्तक का प्रतिपाद्य सिक्ख इतिहास हो जाता है। गुरुकुल की काव्यकोटि भी अनिर्णीत है। निस्सदेह यह प्रवन्ध-काव्य है किंतु न तो खण्डकाव्य है और न इसमे महाकाव्योचित विशदता एव व्यापकता है। वस्तुत इसे प्राचीनो द्वारा स्वीकृत एकार्थ काव्य ही मानना चाहिए।

'गुरुकुल' मे काव्य गुण प्राय क्षीण है—रस का एकान्ताभाव न होते हुए भी यह नीरस एव शुष्क है। वास्तव मे कवि की वृत्ति इसमे नहीं रमी—एक सिक्ख सज्जन की प्रार्थना अथवा अनुरोध पर प्रस्तुत काव्य का निर्माण हुआ है।[1] अभिप्राय यह कि गुरुकुल के प्रणयन मे हृदय की सहज प्रेरणा न होकर वाह्य आग्रह है।—और हृद्गत प्रेरणा के अभाव मे रस-सृष्टि हो ही नही सकती। वौद्धिकता के प्राधान्य के कारण सूक्तियाँ तो अनेक मिल जाती हैं, करुणोक्तियो एव वीर घोषणाओ की भी कमी नही पर क्षीणता है रस की। यदि वलिदान, धर्म-पालन आदि को वीरता के अन्तर्गत परिगणित न करें तो रस का अभाव ही परिलक्षित होगा। शिल्प की दृष्टि से गुरुकुल सफल है। वास्तव मे अव कवि अनेक मनोरम चित्र अकित करने मे समर्थ है। ध्वनि-चित्रण, अपूर्व अप्रस्तुत-विधान, सटीक उपमान एव सूक्ष्म वर्ण-योजना आदि गुरुकुल की अपनी विशेषताएं हैं।

भाषा इसकी शुद्ध खडी वोली है। खडी वोली के अधिकाश कवियो के समान गुरुकुल के रचयिता ने भी संस्कृत शब्दकोष का आश्रय ग्रहण किया है। प्रातिक शब्दो का प्रयोग भी हुआ है। अपने आप मे मनोरम भावनाए एव भव्य कल्पनाए सजोए हुए भी ये प्रान्तिक

---

१. दे० गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, उपोद्घात, पृष्ठ २

प्रयोग सार्वदेशिक साहित्य के लिए यथासंभव त्याज्य हैं। तुक के आग्रह से भी गुप्त जी ने कई अप्रचलित संस्कृत शब्द तथा स्थानीय शब्दों का प्रयोग किया है। इनके संवाद काफी अच्छे हैं, उनमे सजीवता तथा चमक है और भाषा भी संवादों के उपयुक्त ही है। इनके अतिरिक्त प्रस्तुत काव्य में युगीन प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है—प्राचीन कथानक भी समकालीन प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता।

सब मिलाकर गुरुकुल कवि की असाम्प्रदायिक दृष्टि और विकासमान कला का परिचायक है।

## झंकार

मैथिलीशरण गुप्त के आध्यात्मिक गीतों का संकलन—झंकार—सर्वप्रथम संवत् १९८६ मे प्रकाशित हुआ। उस समय साहित्य क्षेत्र में छायावाद का बोलबाला था अत प्रतिनिधि कवि ने उसकी शैली को भी सयत्न अपनाया। मूलत गुप्त जी मानव-संघर्षों के कवि हैं तथैव उनकी काव्य-प्रतिभा का उपयुक्त माध्यम गीत न होकर कथा है। अतएव उनके लिए छायावादी गीतों की रचना सहज-संभव न थी। झंकार के अधिकांश गीत भक्तिपरक है—और भक्ति कवि का स्वानुभूत विषय है। किन्तु गीत के लिए मूलत माधुर्य अपेक्षित है जो दास्यभावाविष्ट गुप्तजी के संस्कारी हृदय के अनुकूल नहीं पड़ा। अत इनमे निश्चित रूप से उनकी वृत्ति नहीं रमी इसीलिए पुस्तक के अनेक गीत प्रयत्नसाध्य प्रतीत होते हैं। कुछ गीत रहस्यवादी हैं पर वे भी व्यक्तिगत साधना पर आवृत न होकर जिज्ञासा-मात्र हैं। दो-एक गीत नीति-परक हैं—कवि अपने प्रकृत रूप मे वहीं प्रकट होता है। किन्तु नीति-विवेचन के कारण उनमे रमणीयता एव स्निग्धता का अभाव होने से गीति-तत्त्व क्षीण हो गए हैं।

प्रस्तुत संग्रह मे रस का पूर्ण परिपाक कम है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस काव्य मे हृदय-संप्रेरित गीत कम ही हैं। इसके निर्माण मे युग का आग्रह है, यों भक्तिपरक होने के कारण शृङ्गार है ही पर उसका परिपाक नहीं। तन्मयता, रागात्मकता आदि गीति-तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा मे मिल जाते हैं, संगीतात्मकता भी है परन्तु स्वर-ताल की ही—शब्द-संगीत एक-दो गीत मे ही उपलब्ध होता है।

झंकार के गीतों के शिल्प मे वैषम्य है। कहीं स्निग्ध कला है तो कहीं नीरस तुकबंदी। समग्रत पुस्तक मे खोजने पर ध्वनि-चित्रण, गति-चित्रण, मानवीकरण आदि के उदाहरण मिल सकते हैं, व्यंजनापूर्ण विशेषणों एव प्रतीकों का भी सफल प्रयोग हुआ है। मानवीकरण का एक उत्कृष्ट उदाहरण लीजिए—

> शंका समाधान दोनों का
> यों ही चिर आलाप चला।[1]

भाषा संस्कृतबहुला न होने पर भी संस्कृतमिश्रित अवश्य है। व्याकरण सम्बन्धी

---

१. झंकार, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०१

कुछ त्रुटिया पाठक को क्षुब्ध करती हैं। 'मुँह वाना', 'टटके टटके' आदि कुछ ग्राम्य शब्द भी खटकते हैं। किन्तु उन भावो की अभिव्यक्ति के लिए ये अनिवार्य हैं। साधारणत भाषा भावानुकूल ही सरल-चपल, मथर अथवा गतिमयी है। भावो के अनुसार ही ऋजु-कुंचित छन्दो की योजना हुई है।

झकार में छायावाद के बाह्यावरण को ग्रहण करके भी कवि छायावादी शील को नही अपना सका। और स्पष्ट शब्दो मे यहाँ छायावादी शिल्प तो है परन्तु भावना नही क्योंकि उसका अनुकरण सभव नही। वैसे युगचेतना एव शैली के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से कवि का प्रयास सफल है, श्लाघ्य है। किन्तु कवि के व्यक्तित्व मे असम्पृक्त होने के कारण यह सग्रह उसकी अन्यान्य कृतियो के समान लोकप्रिय न हो सका—अभी तक इसके केवल दो सस्करण निकले हैं।

## साकेत

आधुनिक युग के श्रेष्ठतम महाकाव्यो मे परिगणित साकेत मैथिलीशरण गुप्त की अमर कृति है। इसके सृजन की भी अपनी एक कहानी है। काफी दिन से सुनते आए हैं कि कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'काव्येर उपेक्षिता' शीर्षक एक निबध लिखा था जिसमे उन्होंने भारतीय साहित्य की उपेक्षिताओ की ओर सकेत किया था। उस निबध से ही प्रभावित होकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कवियो की उर्मिला-विषयक उदासीनता' पर एक लेख लिखा। कवियो द्वारा उर्मिला के विस्मृत होने पर आचार्य द्विवेदी ने विक्षुब्ध होकर उनकी इस उच्छृखलता पर खेद प्रकट किया है। फलत उनके प्रिय शिष्य मैथिली बाबू ने इस क्षतिपूर्ति का निश्चय किया—साकेत मे वह सकल्प ही प्रतिफलित हुआ है। वैसे तो इसके प्रकाशन मे बहुत पहले ही 'उर्मिला काव्य' की रचना हो चुकी थी पर कवि हृदय से रामभक्त है इसलिए बहुत दिन तक उसमे परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहा, और अन्त मे उसे वर्तमान साकेत का रूप देकर ही प्रकाशित किया गया।

साकेत का काव्य-वैभव अत्यन्त समृद्ध एव श्लाघ्य है। इसमे शास्त्रविहित नवरसों मे से न्यूनाधिक मात्रा मे सभी उपलब्ध हैं· शृगार अगी-रूप से तथा अन्य रस अग-रूप मे आए हैं। किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण से रसावयवो का अन्वेषण निरर्थक होगा—क्योकि आज का कलाकार रीतिकालीन कवियो के समान रस के समस्त उपकरणो का सयत्न एकत्रीकरण नही करता। तथापि उर्मिला-लक्ष्मण-परिहास मे सयोग शृगार, उर्मिला-विरह मे विप्रलभ तथा लका-युद्ध मे वीर रस के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

शिल्प की दृष्टि से यह अब तक की कृतियो मे सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुत इतने विपुल साहित्य के सृजन के पश्चात् कवि की लेखनी मज और तूलिका सध गई है। अब वह वर्णन करने मे ही नही वरन् वर्ण्य का चित्र प्रस्तुत करने मे भी समर्थ है। साकेत मे अनेक स्थिर तथा गतिमय, रम्य एव आकर्षक, कलात्मक और भावपूर्ण चित्र अनायास ही उपलब्ध है। मुद्राओ का सफल अकन भी प्रचुर मात्रा मे हुआ है। अप्रस्तुत-योजना इस काव्य की स्तुत्य है सादृश्य, साधर्म्य, वर्ण-साम्य एव प्रभाव-साम्य के श्रेष्ठ उदाहरणो ने तो पुस्तक

आद्यत आपूर्ण है। युक्तियुक्त सटीक उपमान का एक प्रयोग लीजिए—

पगडंडी थी गई मार्ग से ठीक यों
शास्त्र छोड़ वन जाय लोक की लीक ज्यों।[1]

प्रभाव-साम्य के उदाहरण-स्वरूप वैधव्य के कारण निर्जीव, निष्प्राण एव नि स्पन्द कौशल्या का अकन उल्लेख्य है।[2]

साकेत की भाषा प्रौढ एव प्राजल खडी बोली है। खडी बोली के अन्यान्य लेखको के समान गुप्त जी ने भी सस्कृत शब्दकोष को आधारस्वरूप ग्रहण किया है किन्तु 'जय गगे, आनद तरगे, कलरवे'[3] के समान शुद्ध सस्कृत पक्तियो के उपलब्ध होने पर भी इसकी भाषा प्रियप्रवास के समान क्लिष्ट एव सस्कृतप्राय नही है—तथापि कुछ बोझिल शब्द हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नही हैं।

प्रस्तुत काव्य की शैली राम साहित्य के लिए एकदम नवीन एव अपरिचित है। अपनी बात को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कवि ने उसे सहज-सरल ढग से न कहकर अनेक युक्तियो का आश्रय लिया है। अन्योक्ति, समासोक्ति आदि के चिर-परिचित प्रयोग के अतिरिक्त प्रतीक-योजना, पूर्ण के स्थान पर अश का और अश के स्थान पर पूर्ण का, आधार के स्थान पर आधेय और आधेय के स्थान पर आधार का, व्यक्ति की जगह भाव तथा भाव की जगह व्यक्ति का, साधक के लिए साधन और कर्ता के स्थान पर कार्य का प्रयोग बडी योग्यता से किया गया है। एक-दो उदाहरण लीजिए—

उनके मुंह की ओर देखकर आग्रह आप ठिठकता है,
कहना क्या, कुछ सुनने मे भी हाय! आज वह थकता है।[4]

यहाँ पर आग्रही व्यक्ति की बजाए आग्रह के ठिठकने का कथन हुआ है। साकेत के रससिक्त, तरल-मधुर तर्कसगत एव प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्न सवाद उसकी शैली के प्राण ही हैं। सवादो की दृष्टि से प्रथम सर्ग मे लक्ष्मण-उर्मिला का प्रेम-परिहास पठनीय है।

साकेत मे कवि के जीवनव्यापी अनुभवो का सार तथा उसका जीवन-दर्शन सहज लभ्य है। उसकी उपपत्ति राम, सीता, लक्ष्मण आदि मान्य एव प्रतिष्ठित पात्रो द्वारा हुई है। आस्तिक हृदय श्री मैथिलीशरण का व्यक्तित्व भारतीय, और स्पष्ट शब्दो मे, हिन्दू सस्कृति का प्रतीक है। साकेत मे उसकी झलक सर्वत्र वर्तमान है, एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। प्रत्येक भारतीय की यह मान्यता है कि ईश्वर जो कुछ करता है वह हमारे लिए निर्विवाद रूप मे मागलिक है। गुप्त जी भी इसी विश्वास के पोषक हैं—

---

१. साकेत, सस्करण सवत्, २००५, पृ० १०५
२. ” ” ” ” ” १७३
३. ” ” ” ” ” १०३
४. ” ” ” ” ” २७०

होता है हित के लिए सभी,
करते हैं हरि क्या अहित कभी ।[1]

देश-प्रचलित रीति-नीति का आलेखन भी यथास्थान हुआ है—

अपनी सुध ये कुलस्त्रियां लेती नहीं,
पुरुष न लें तो उपालंभ देती नहीं ।[2]

कवि के जीवन-दर्शन की परिचायक पक्तियो ने तो सूक्तियो का रूप धारण कर लिया है। जीवन और जीवन से सवद्ध उपकरणो के प्रति कवि के दृष्टिकोण को परिव्यक्त करनेवाली ये सूक्तियाँ देखते ही वनती हैं, जैसे—

(१) सुख धन-धरती मे नहीं, किंतु निज मन मे ।[3]
(२) जहाँ हाथ मे लौह वहां पैरो मे सोना ।[4]

इस प्रकार साकेत के ऐतिहासिक वृत्त मे कवि के अपने जीवनव्यापी अनुभवो का सार, उसकी जीवन-दृष्टि सगुम्फित है। इसीलिए उसे भी प्रस्तुत काव्य के प्रति अतिरिक्त मोह है—वह इसे 'निज कवि-धन' मानता है ।[5]

साकेत मे दोषो का भी एकान्ताभाव नही है—इतने वडे काव्य मे वैसा होना सभव भी नही तथापि वे उसके विपुल काव्य-वैभव के समक्ष उपेक्षणीय हैं। सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर यह पुस्तक विकासमान कवि गुप्त के प्रौढि-पथ मे एक मार्गस्तभ है और उसकी अव तक की रचनाओ मे सर्वश्रेष्ठ है। भारतीय सस्कृति के प्रतीक मैथिलीशरण के व्यक्तित्व के दर्शन साकेत मे ही सम्यक्-रूपेण होते हैं। साकेतोत्तर रचनाओ मे कवि की भाषा तथा शिल्प निरन्तर उन्नत एव प्रौढ होते चले गए हैं पर उनमे वह आत्म-व्यक्ति एव आत्म-द्रव नही है जो साकेत मे सहज ही उपलब्ध है। वस्तुत उसी मे कवि को आत्मसाक्षात्कार हुआ है अत उसके प्रति सर्वाधिक मोह उचित ही है। कतिपय विद्वान् आलोचक यशोधरा को श्रेष्ठतर मानते हैं। किंतु शिल्प-विधान की दृष्टि से ऐसा मान लेने पर भी यह स्वीकार करना ही पडेगा कि अपेक्षाकृत अधिक महत्व की वात—कवि का आत्मलय—तो साकेत मे ही हुआ है। अत मेरी विनम्र सम्मति मे साकेत महत्तर है—मानवीय सवधो के कवि की सर्वश्रेष्ठ रचना महाकाव्य ही हो सकती है।

## यशोधरा

यशोधरा का प्रकाशन साकेत के लगभग एक वर्ष पश्चात् सवत् १९८९ मे हुआ। कवि के अनुज श्री सियारामशरण गुप्त उनसे गद्य-पद्य, नाटक-उपन्यास, कविता-कहानी आदि

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २१५
२. ” ” ” ” १०७
३. ” ” ” ” १८५
४. ” ” ” ” ३०७
५. ” ” ” ” समर्पण

लिखने का अनुरोध करते रहते हैं।[1] उन्ही के तुष्ट्यर्थ गुप्त जी ने यशोधरा मे इन सभी विधाओ का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। यशोधरा का उद्देश्य है पति-परित्यक्ता यशोधरा के हार्दिक दुख की व्यजना तथा वैष्णव सिद्धान्तो की स्थापना। एक वर्ष पूर्व कवि ने साहित्य की चिर-उपेक्षिता उर्मिला को वाणी प्रदान की थी। वही मे प्रेरणा ग्रहण कर गुप्त जी ने उसी के समान विस्मृत तथा शोकपूर्ण स्थिति वाली पर अपने करुण-क्रन्दन को पी जाने वाली यशोधरा का जीवन-वृत्त कवितावद्ध किया। अमिताभ की आभा से चौंधियाए हुए भक्तो को अदृष्ट यशोधरा की पीडा का, मानवीय सवन्धो के अमर गायक, मानव-सुलभ सहानुभूति के प्रतिष्ठापक श्री मैथिलीशरण की अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि ने ही सर्वप्रथम साक्षात्कार किया। यशोधरा के मानस मे उमडती हुई भावनाओ की परिव्यक्ति के निमित्त लेखक ने कथानकगत अनेक नूतन उद्भावनाए की—वस्तुत अश्रुतपूर्व कथा की सफल कल्पना की है।

कथा का पूर्वार्द्ध चिरविश्रुत एव इतिहासप्रसिद्ध है पर उत्तरार्द्ध कवि की अपनी उर्वर कल्पना की सृष्टि है। इस प्रकार साहित्य के उपेक्षित पात्र यशोधरा का पुरस्करण हुआ है। किन्तु यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि यशोधरा की चरित्र-सर्जना के साथ-साथ वौद्ध सिद्धान्तो का खण्डन करके वैष्णव विश्वासो का सस्थापन अथवा मण्डन भी निश्चित रूप से कवि का उद्देश्य रहा है, ठीक उसी तरह जैसे कि साकेत के निर्माण मे उर्मिला की परिकल्पना के साथ-साथ रामकाव्य का प्रणयन भी उसका ध्येय रहा है। कथानक अत्यन्त सरस, सजीव एव रोचक है।

यशोधरा का प्रमुख रस शृङ्गार है—शृङ्गार मे भी केवल विप्रलभ, सयोग का तो एकान्ताभाव है। शृङ्गार के अतिरिक्त यशोधरा मे करुण, शान्त एव वात्सल्य भी यथास्थान उपलब्ध हैं। करुण तो वस्तुत विप्रलभ का ही अग बनकर आया है, उसी को उद्‌बुद्ध करने के लिए। पुस्तक के आदि और अन्त मे शान्त है—तात्पर्य यह कि जहाँ बुद्ध हैं वही शान्त है। यद्यपि कथा का पर्यवसान शान्त मे हुआ है तथापि मुख्य रस शृङ्गार ही है। यशोधरा जाया ही नही जननी के रूप मे भी आती है। राहुल के कारण वात्सल्य का अच्छा परिपाक हुआ है। लोरी के रूप मे जो गीत अवतरित हुए हैं वे वात्सल्य के सुन्दर निदर्शन हैं।

प्रस्तुत काव्य मे छायावादी शिल्प का आभास है। केवल शिल्प की दृष्टि से यह कवि की अब तक की सम्पूर्ण कृतियो मे श्रेष्ठतम है। इसमे उक्ति को चमत्कृत एव सप्रभाव वनाने के लिए अनेक युक्तियो का सफल व्यवहार हुआ है। भाव के स्थान पर व्यक्ति का और व्यक्ति के स्थान पर भाव-ग्रहण, प्रतीक-योजना, व्यजनापूर्ण विशेषणो का प्रयोग, सटीक अप्रस्तुत का चयन आदि बडे कौशल से हुए हैं।—और मानवीकरण से तो यशोधरा आद्यत आपूर्ण ही है।

यशोधरा की भाषा शुद्ध खडी वोली है। इसमे खडी बोली का काफी प्रौढ और कातिमय रूप मिलता है। यह गीतिकाव्योपयुक्त मृदुल-मसृण है। दो-तीन गीत तो भाषा की दृष्टि से

---

१. यशोधरा, सस्करण, संवत २००७ शुल्क

प्रथम कोटि के हैं। भारत-भारती की भाषा का उग्र ओज द्रष्टव्य है तो यशोधरा की भाषा का ललित मार्दव।

'यशोधरा' नायिका-प्रधान काव्य है, और उसकी चरित्र-सर्जना मे कवि ने पर्याप्त परिश्रम किया है। इसके प्रणयन का मूलोद्देश्य भी यही था। गौतम तो परम्परा से एक उदात्त चरित्र के रूप मे प्रतिष्ठित हैं, यथासभव उनके इसी रूप की रक्षा का प्रयत्न यशोधरा मे हुआ है। यद्यपि कवि ने गौतम के विश्वासो एव सिद्धान्तो को असत्य ठहराया है तथापि उनके चिरप्रसिद्ध रूप की रक्षा के लिए अत मे यशोधरा और राहुल को उनका अनुगामी बना दिया है। किन्तु यशोधरा को भक्तगण भूल ही चले थे, उसके माध्यम से गुप्त जी ने अपनी नारी भावना का अकन किया है।

यशोधरा के प्रणयन का एक उद्देश्य, चाहे वह गौण ही क्यो न हो, बौद्ध-सिद्धान्तो का खण्डन भी रहा है। तथागत के अनुभवो एव मान्यताओ को लेखक ने पुस्तक के आरभ मे ही 'सिद्धार्थ' और 'महाभिनिष्क्रमण' शीर्षक उपखण्डो मे रख दिया। यशोधरा के शेष भाग मे उन्ही की समीक्षा-परीक्षा हुई है। 'यशोधरा' शीर्षक उपखण्ड की अवतारणा तो स्पष्टत 'महाभिनिष्क्रमण' मे प्रतिपादित विचारो के खण्डन के लिए ही हुई है।

यशोधरा एक उत्कृष्ट रचना है। शिल्प की दृष्टि से तो अब तक की सम्पूर्ण कृतियो से—साकेत से भी—श्रेष्ठतर है। किन्तु सर्वांगीण दृष्टिपात करने पर यह साकेत से निम्नतर ही ठहरती है क्योकि इसमे उसके समान कवि की जीवन-साधना का उसके जीवन-व्यापी अनुभवो, आदर्शों एवं सिद्धान्तो का समाहार नही। शेप सभी रचनाओ मे निर्विवाद रूप से यशोधरा श्रेष्ठतम है।

## द्वापर

सवत् १९८९ मे यशोधरा के प्रणयन के पश्चात् कवि तीन-चार वर्ष मौन रहा। १९९३ मे द्वापर का प्रकाशन हुआ, यही से उसके कृतित्व का उत्तरकाल प्रारभ होता है। द्वापर का आधार श्रीमद्भागवत है पर यत्र-तत्र परिवर्तन-परिवर्द्धन एव नवोद्भावनाएँ भी हैं। द्वापर १६ खण्डो मे विभक्त है, प्रत्येक खण्ड मे कोई अथवा कुछ पात्र आते हैं तथा अपने विषय मे कुछ कथन करते है। खण्ड को उन्ही के नाम से अभिहित किया गया है।

यद्यपि 'द्वापर' की कथा का आधार तो आर्ष ग्रथ श्रीमद्भागवत ही है, पर इसकी मौलिकता मे कोई सदेह नही। रचना-कौशल एव नूतन प्रतिपादन शैली ने चिरपेषित कथानक को पर्याप्त सरस एव रोचक बना दिया है। यह काव्य गुप्त जी की प्रिय वर्णनात्मक शैली मे न होकर आत्मनिवेदन प्रणाली पर लिखा गया है। प्रत्येक खड मे कोई पात्र अपना जीवन-दर्शन, अपने दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओ की व्याख्या प्रस्तुत करता है। किन्तु इन सब खण्डो के तल मे प्रबन्धत्व एकतार अनुस्यूत है, अत- यह निश्चित रूप से कथा-काव्य है। दो एक स्थलो पर मौलिक उद्भावनाए भी हुई हैं। श्रीमद्भागवत मे 'विधृता' का वर्णन केवल एक श्लोक मे चलता कर दिया है। गुप्त जी ने पहली बार उसका सविस्तर आलेखन किया है। 'विधृता' की नारी ने नरकृत अत्याचारो का विरोध किया है, उन पर क्षोभ प्रकट किया

है। दूसरे आदर्शवादी कवि ने कुब्जा को राधा की सौत न बनाकर अनन्य सेविका-पद ही प्रदान किया है। तीसरे गोपियो को राधा की परमप्रिय सखियो के रूप मे उपस्थित किया गया है—वे सब राधा को लेकर जीवित हैं अतएव उसके दुख से अत्यन्त दुखी हैं। इस प्रकार गुप्त जी ने परम्परागत परकीयत्व का निवारण करके भारतीय सस्कृति की रक्षा की है।

द्वापर मे करुण का अच्छा परिपाक हुआ है। यद्यपि रौद्र एव वात्सल्य के भी दो-चार अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं पर इस काव्य मे आद्यत विपाद का आवरण है। विपादाविष्ट करुण ही रस कोटि तक पहुँचा है, शेप सब भावो की पूर्णरूपेण व्यजना नही हो पाई। शिल्प की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य काफी समृद्ध है और इसकी भापा काति एव द्युतिमयी खडी वोली है। अब कवि की भापा प्रौढ हो चुकी है—उसके प्राजल रूप के ही दर्शन द्वापर मे होते हैं। किन्तु वह सर्वथा निर्दोप नही है अनेक क्रियापदो पर अभी तक व्रज का प्रभाव वना हुआ है—प्रान्तीय अथवा स्थानीय शब्दो से भी मुक्ति नही मिली और इनसे भी अधिक खटकने वाली बात है हिन्दी व्याकरण के कतिपय नियमो की अवहेलना तथा सस्कृत शब्दो का अप्रचलित एव अप्रसिद्ध अर्थों मे प्रयोग। तथापि वह निश्चित रूप से सुष्ठु, सप्रभाव एव सशक्त है—प्रसगगर्भत्व और भी चारुत्व-विधायक सिद्ध हुआ है।

'द्वापर' की कथा को लेकर चलने वाले अन्यान्य सभी काव्यो के समान इसका सदेश भी यही है कि नृशस पापी अपने कुकर्मों के परिणामस्वरूप ही दुर्गति के गह्वर मे पतित होता है। इस काव्य मे कवि की नारी भावना तथा जीवन और जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत स्पष्टतर रूप मे अभिव्यक्त हुए हैं। 'यशोधरा' मे पुरुष द्वारा 'सिद्धि मार्ग की बाधा' मानी जाने पर नारी ने क्षोभ प्रकट किया है। किन्तु द्वापर की नारी उसके अत्याचारो की तीव्र आलोचना करती है।

'द्वापर' कवि के कृतित्व के उत्तरकाल का सर्वप्रथम काव्य है। भाषा, शिल्प आदि की दृष्टि से यह प्रौढ एव पर्याप्त परिष्कृत है। अत कवि की भाषा एव शिल्प के परिमार्जन एव विकास मे इसका अपना स्थान है। कवि का जीवन-दर्शन भी यहाँ अनावृत रूप मे आया है पर इस दृष्टि से यह साकेत से निम्नतर ही ठहरता है।

## सिद्धराज

भारत के मध्यकालीन वीरो के चरित्र-परिदर्शनार्थ प्रणीत सिद्धराज का प्रकाशन सवत् १९९३ मे हुआ। इसका कथानक अत्यन्त रोचक एव सुरुचिपूर्ण है, कथा का विकास क्रमिक एव सुसगत है। इतिवृत्त ऐतिहासिक है, लेखक ने स्वय इस बात का उल्लेख किया है—"पुस्तक मे जो घटनाए हैं, वे ऐतिहासिक हैं।"[1] परतु कवि ने घटनाओ का क्रम अपनी सुविधानुसार रखा है, इससे कथानक सगतिपूर्ण हो गया है। दो-एक स्थलो पर कवि की अपनी मौलिक उद्भावनाए भी हैं पर वे सब प्रासगिक हैं, उनसे मुख्य कथा की ऐतिहासिकता मे कोई वाधा नही।[2]—और ऐसा करने का साहित्यकार को अधिकार भी है। चरित्र-चित्रण

---

१. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, निवेदन
२. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, निवेदन

मे पात्रगत इतिहास की रक्षा करते हुए भी कवि ने पर्यवसान आदर्श मे किया है। अत वह इतिवृत्त के अतिरिक्त पाठक को और भी कुछ दे सका है।

प्रस्तुत काव्य मे रस का अच्छा परिपाक हुआ है। सयोग-वियोग शृगार, करुण तथा रौद्र के उत्कृष्ट उदाहरण अनायास ही उपलब्ध हैं। एकाध स्थान पर हास्य का भी स्पर्श है, और वीर का सचार तो प्रारभ से अन्त तक है ही। चित्र-विचित्र उपमान, लाक्षणिक प्रयोग तथा मानवीकरण आदि शिल्प को औज्ज्वल्य प्रदान करने मे सहायक सिद्ध हुए हैं। इस काव्य की भाषा सर्वथा भावानुकूल एव प्रसगोचित है—कथोपकथन आवश्यकतानुसार तरल-चपल हैं। यत्र-तत्र दो-चार दोष भी हैं पर वे पुस्तक के अतुल काव्य-वैभव के समक्ष नगण्य हैं।

निष्कर्षत रस-परिपाक, काव्य-शिल्प एव भाषा की शुद्धि तथा शक्ति की दृष्टि से सिद्धराज एक प्रौढ रचना है। अतुकान्त होने के कारण तुक-प्रिय गुप्त जी के साहित्य मे इस का विशेष स्थान है। इसमे मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एव सस्कृति का सजीव अकन तथा इन विषयो पर कवि के अपने विचारो का यथास्थान प्रकटीकरण भी हुआ है अतएव यह काव्य काफी लोकप्रिय रहा है और अब तक इसके तेरह सस्करण निकल चुके हैं।

## मंगल-घट

बहुत दिनो से गुप्त जी की कविताओं के सग्रह की माग हो रही थी, परिणामस्वरूप सवत् १९९४ मे मगल-घट का प्रकाशन हुआ। इसमे सवत् १९६५ से लेकर सवत् १९९३ तक की उनकी सभी प्रकार की कविताओ का सकलन है। भिन्न-विभिन्न विषयगत इन कवि-ताओ मे से कुछ तो कथात्मक, कुछ भावप्रधान और कुछ नीतिपरक हैं। मगल-घट मे कुल मिलाकर ६२ कविताए सगृहीत है, जिनमे से—निवेदन, मातृभूमि, स्वर्ग-सहोदर, मेरा देश, स्वप्नोत्थित, कर्त्तव्य, भाषा का सदेश, भारतवर्ष, बाजीप्रभु देशपाण्डे, न्यायादर्श, निन्नानवे का फेर, ससार तथा आर्यभार्या—ये तेरह कविताए पद्य-प्रबन्ध एव स्वदेश-सगीत मे भी सकलित हैं। 'प्रणाम' शीर्षक कविता झकार मे भी सगृहीत है। महाराज पृथ्वीराज का पत्र (महाराणा प्रताप के प्रति) 'पत्रावली' मे और 'नकली-क़िला' रग मे भग मे सम्मिलित हैं। 'विकट भट' पुस्तक-रूप मे प्रकाशित हो चुका है।

विभिन्न विषयो पर लिखी हुई कविताओ के कारण मगल-घट मे प्राय सभी रस उप-लब्ध हैं। किन्तु रौद्र, वीभत्स आदि का स्पर्श एकाध स्थान पर ही मिलेगा। शिल्प की दृष्टि से इसमे वैषम्य है। लगभग तीस वर्ष के सुदीर्घ काल की कविताओ के सकलन मे ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त गुप्त जी वस्तुत इतिवृत्त के कवि हैं अतएव मगल-घट की वर्णन-प्रधान कथात्मक रचनाए पर्याप्त रोचक, रसमय एव कलापूर्ण हैं। किन्तु अन्य कवि-ताओ मे या तो स्थूल उपदेश है या फिर नीरस तुकबन्दी अथवा शुष्क नीति-विवेचन है। वैसे सम्पूर्ण ग्रन्थ मे साधर्म्य, प्रभाव-साम्य, चित्रणकला, मानवीकरण तथा लाक्षणिक विशेषणो के अच्छे उदाहरण भी मिल सकते हैं।

मगल-घट की सब रचनाओ की भाषा भी एक जैसी नही है। कारण स्पष्ट

है—कविताओं के रचनाकाल मे दीर्घ अन्तराल । पूर्वकालीन की भाषा प्राय कान्तिहीन, अपरिमार्जित तथा अनगढ है, इसके विपरीत उत्तरकालीन रचनाओं मे भाषा अपेक्षाकृत कातिमयी, ओजगुणयुक्त एव परिष्कृत है। वैसे आद्यत खडी बोली का ही प्रयोग हुआ है, सस्कृत के अव्यावहारिक शब्दो को भी नि शक अपना लिया गया है।

समय-समय पर प्रणीत कविताओं का सग्रह होने के कारण इस पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व है। कवि की कला, सौंदर्य भावना तथा विचारधारा को समझने मे मगल-घट अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

## नहुष

नहुष की सबसे बडी विशेषता है मानव का गौरव-गान—

**नारायण ! नारायण ! धन्य नर साधना,**
**इन्द्र-पद ने भी की उसी की शुभाराधना ![1]**

साथ ही कवि ने मानव को चेतावनी भी दी है कि जहाँ वह सत्कार्यों से उन्नत होता है वहाँ कुकर्म करते ही उसका पतन भी सभव है। किन्तु पतित होकर भी मनुष्य को प्रगति के लिए सक्रिय प्रयत्न करना चाहिए, हतोत्साह होकर निश्चेष्ट बैठ जाना श्रेयस्कर नही—यही नहुष का सदेश है।

नहुष की कथा पौराणिक आख्यान पर आधृत है। महाभारत के उद्योगपर्व मे मद्रराज शल्य युधिष्ठिर को धैर्यपूर्वक कष्ट-सहन का उपदेश देते हैं, और बताते है कि विपत्ति केवल तुम्हारे पर ही नही है अपितु इन्द्र-इन्द्राणी से महार्घ दम्पति को भी उसका सामना करना पडा था। युधिष्ठिर के जिज्ञासा प्रकट करने पर उन्होने प्रस्तुत आख्यान सुनाया। किन्तु गुप्त जी का कथानक मौलिक है, उन्होंने महाभारत से केवल कथा-सूत्र ग्रहण किया है। कथा का विकास कवि का अपना एव सर्वथा मौलिक है। महाभारत एव गुप्त जी के सदेश मे भी अतर है। वहाँ (महाभारत मे) इसका अवतरण कष्ट-सहिष्णुता के उपदेशार्थ हुआ था किन्तु यहाँ इसके द्वारा मानव-स्तवन किया गया है। वस्तुत गुप्त जी ने उपाख्यान की आत्मा को ही बदल दिया है। प्राचीन पडित योगी को इन्द्र बनाकर और कामी को पतित दिखाकर सतुष्ट था, पर आज का विचारक नही। आज का कवि मनुष्य के देवत्व मे उसके राक्षसत्व से अधिक विश्वास करता है। अतएव गुप्त जी को नहुष के शापित होने पर भी उसकी प्रगति का, उन्नति का पूर्ण निश्चय है। फलत कथानक मे परिवर्तन अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त कवि ने आदर्श रक्षा-हेतु, रोचकता-सवर्द्धनार्थ तथा आख्यान को सुसगत, विश्वसनीय तथा बुद्धिसम्मत बनाने के लिए यत्र-तत्र नूतन उद्भावनाए की जिनसे मूल कथानक और भी सज-सँवर गया है। उदाहरणत महाभारतकार चिर-तपस्वी नहुष को एकदम कलुषात्मा कहने लगते हैं, उनके स्वर्ग मे पहुँचते ही बिना किसी स्पष्ट कारण के उन्हे पापात्मा बना दिया जाता है—

---

१. नहुष, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १२

सुदुर्लभं वर लब्ध्वा प्राप्य राज्य त्रिविष्टपे
धर्मात्मा सतत भूत्वा कामात्मा समपद्यत[1]

परन्तु हमारा कवि मनोवैज्ञानिक कारण प्रस्तुत करके इसे अधिक विश्वसनीय वना देता है—गुप्त जी के नहुष के अनुसार स्वर्ग की प्रजा इतनी विशिष्ट है कि उसके लिए किसी राजा की आवश्यकता ही नही।[2]—और उधर उर्वशी उन्हें लुभाने का प्रयत्न करती है। परिणाम-स्वरूप निष्क्रिय नहुष कह उठते हैं—तो फिर तुम्ही लो कुछ काम इस देह से[3]—इस प्रकार Idle mind is devil's workshop की उक्ति चरितार्थ होती है। मनोविज्ञान-सम्मत होने के साथ-साथ वात तर्कसगत तथा सहज ग्राह्य एव अधिक रोचक वन जाती है। महाभारत मे शची की प्राप्ति के अपने प्रस्ताव की पुष्टि मे नहुप इन्द्र के दूपित कर्मो का उल्लेख करते हैं—

अथ देवानुवाचेदमिन्द्र प्रति सुराधिप.।
अहल्या धर्षितापूर्वमृषिपत्नी यशस्विनी॥[4] इत्यादि।

नहुप के कवि ने आदर्श की रक्षा के लिए वडी सफाई से इस उक्ति को छोड दिया, और नहुप के पक्ष मे केवल एक ही चिरप्रसिद्ध तर्क उपस्थित किया—'इन्द्राणी रहेगी वही इन्द्र जो हो सो सही।'[5]

एकाध स्थान पर व्यर्थ के वौद्धिक ऊहापोह के निवारणार्थ भी परिवर्तन हुआ है—महाभारतकार के अनुसार उपश्रुति एव इन्द्राणी पद्मनालस्थित सुसूक्ष्म-रूपधारी इन्द्र के पास पहुँचती है। शची के दुख से अवगत इन्द्र उन्हें उपाय वताते हैं—

गत्वा नहुषमेकान्ते ब्रवीहि च सुमध्यमे।
ऋषियानेन दिव्येन मामुपैहि जगत्पते।
एव तव वशे प्रीता भविष्यामीति तं वद॥[6]

किन्तु गुप्त जी इसके लिए और ही भूमिका प्रस्तुत करते हैं—देव-सभा नहुष के पक्ष मे निर्णय करती है तव शची क्रुद्ध हो कहती हैं—

आहुतिया देके इस नहुष अभाग को,
दूध ऋषियो ने ही पिलाया काल-नाग को।
अच्छा तो उठाके वही कंधों पर शिविका,
लावें उस नर को वना के वर दिवि का।[7]

१. महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय ११, श्लोक १०-११
२. नहुप, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १८
३. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ २२
४. महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १२, श्लोक ५-६
५. नहुप, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ २५
६ महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १५, श्लोक ३-४
७ नहुप, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३५

मैं समझता हूँ कि कवि ने यथासम्भव अतिप्राकृत तत्व को दूर कर उसे सहज स्वाभा-रूप देने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार गुप्त जी ने इस चिरपरिचित आख्यान को .चकता, स्वाभाविकता एव विश्वसनीयता के समावेश से अभूतपूर्व औज्ज्वल्य प्रदान किया है।

नहुष मे करुण का अच्छा परिपाक हुआ है—सम्पूर्ण काव्य पर करुण का आर्द्र आवरण पडा हुआ है। करुण के अतिरिक्त शृगार एव रौद्र का स्पर्श भी सहज ही उपलब्ध है। भाषा भी परिमार्जित खडी बोली है। यद्यपि व्रज का प्रभाव पूर्ववत् शेष है तथापि प्रान्तीय प्रयोगो का अभाव है। सस्कृत के अप्रचलित शब्दो का अवाछनीय प्रयोग भी अपेक्षाकृत कम है।

मानव-स्तवन की दृष्टि से गुप्त-साहित्य मे नहुष का अद्वितीय स्थान है—यह कवि की प्रौढ चिन्ता का द्योतक है। गुप्त जी मनुष्य की उन्नति मे पूर्ण विश्वास रखते हैं। अभिशप्त नहुष के स्वर्गभ्रष्ट होने पर कवि उसके प्रगति के दृढ निश्चय को प्रकट कराता है।[1]—और राष्ट्रीय भावाभिभूत कवि प्रगति भी अकेले नहुष की नही अपितु समग्र देश की चाहता है—

**उठना मुझे ही नहीं एकमात्र रीते हाथ,**
**मेरी देवता भी और ऊँची उठे मेरे साथ।[2]**

इतनी उदार एव उदात्त भावना व्यक्तिगत पुरुषार्थ के अभिलाषी उन प्राचीन पडितो मे भला कहाँ थी?

यह काव्य सर्वप्रथम सवत् १९९७ मे प्रकाशित हुआ था, अब तक इसकी नौ आवृत्तियाँ हो चुकी है।

## कुणाल-गीत

कुणाल-गीत का प्रतिपाद्य भारतवर्ष की एक लोक-प्रचलित कथा है। कथानक के प्राय सभी गुण इसमे वर्तमान हैं। कुणाल-गीत की कथा पर्याप्त रोचक एव प्रख्यात है अत साधारणीकरण मे सर्वथा समर्थ है। किन्तु इसकी काव्य-कोटि विवादास्पद है—एक ओर तो यह अपने आप मे पूर्ण ९५ गीतो का सकलन है, दूसरी ओर इन गीतो मे पूर्वापर सम्बन्ध का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। हमारी विनम्र सम्मति मे कुणाल-गीत एक प्रगीतात्मक खण्डकाव्य है। यह सूरसागर, कवितावली, उद्धवशतक आदि उन प्रबन्ध मुक्तकों की परम्परा में आता है जिनमे कि मुक्तक शैली होने पर भी कथा-सूत्र अखण्ड है। इस प्रकार गुप्त जी ने दो विरोधी तत्त्वो के समन्वय का सफल प्रयास किया है।

रस परिपाक इस काव्य मे उचित मात्रा मे नही हो पाया, यद्यपि विषय ऐसा था कि इसे लेकर करुण का स्रोत प्रवाहित किया जा सकता था। कारण स्पष्टत प्रगीत शैली है। यदि कवि गीतो के स्थान पर अपनी चिरप्रिय प्रबन्ध-शैली मे इसी विषय को कवितावद्ध

---

१. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३९
२. ,, ,, पृष्ठ ३९

करता तो निश्चित रूप से करुण की अबाध स्रोतस्विनी तरगायित दृष्टिगत होती। कुणाल-गीत की भाषा सुष्ठु, प्राजल एव कान्तिमयी खडी बोली है। कुछ पडताऊ तथा प्रान्तीय प्रयोग भी हैं पर यहाँ दर्शनीय है भाषा का माधुर्य। यद्यपि पन्त, महादेवी आदि की कृतियो मे कुणाल-गीत की रचना से पहिले भी यह गुण देखा जा सकता है परन्तु गुप्त-साहित्य में इतनी कोमल-कान्त पदावली के दर्शन इससे पूर्व नही होते।—और प्रसग-गर्भत्व के प्राचुर्य ने तो भाषा को अपूर्व सौष्ठव प्रदान किया है। छोटे-बडे उचित छन्दो का चयन भी यथावसर हुआ है और छोटे-बडे चरणो का प्रयोग कर कवि ने एकरसता भग करने का भी प्रयत्न किया है। किन्तु अन्य गीति-तत्त्व प्राय परिक्षीण हैं। स्वच्छन्द-प्रकृति गीतियो को प्रबन्धत्व की शृखला मे आबद्ध करना दुष्कर है अतएव कुणाल-गीत मे तन्मयता एव आवेग की न्यूनता परिलक्षित होती है। कुछ गीतियो मे सगीत मिल सकता है पर है वह स्वर-ताल का ही शब्दो का नही।

प्रस्तुत काव्य मे कुणाल के महान् व्यक्तित्व का विशेष महत्त्व है। लोक-प्रसिद्ध सच्चरित्र व्यक्ति मे लोक-मागल्य एव आशावाद की प्रतिष्ठा करके कवि ने उसे और भी निखार दिया है। इस पुस्तक की रचना कारावास मे प्रारम्भ हुई थी और मुक्त होने पर शीघ्र ही यह प्रकाशित हो गई। फलत इन गीतो मे कुणाल के माध्यम से कवि की जीवन और जगत् मे आस्था तथा उसके आशावादी दृष्टिकोण की सहजाभिव्यक्ति है। गुप्त जी स्पष्ट शब्दों मे कहते है कि दुख आता है और आकर चला जाता है पर अमर है जीवन।[1] यदि जीवन क्षणभगुर भी है तो उसके अस्तित्व का क्षण ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतएव मानव के लिए सतत कर्मरत रहना ही श्रेयस्कर हैं।[2]

कुणाल-गीत का प्रकाशन सवत् १९९९ मे हुआ था—और इसके अनेक सस्करण निकल चुके है।

## अर्जन और विसर्जन

'अर्जन' और 'विसर्जन' शीर्षक दो लघुकाय खण्डकाव्यो का सग्रह यह पुस्तक सर्वप्रथम सवत् १९९९ मे प्रकाशित हुई। अब तक इसके दो सस्करण निकले हैं। इन दोनो की कथावस्तु अत्यन्त सक्षिप्त है पर है रोचक और प्रभावक्षम। कथा का विकास, गठन एव सम्बन्ध-निर्वाह सभी सहज-स्वाभाविक हैं। ऐसे लघुकाय काव्यो मे अस्वाभाविकता की सभावना भी नहीं। दोनो काव्यो का अपना पृथक्-पृथक् सदेश है। अर्जन का सदेश स्वस्थ एव रचनात्मक है, कवि के अपने शब्दो मे—

**फलता नहीं है कभी अर्जन अधर्म का[3]**

यह भारतीय विचारधारा एव सस्कारी-हृदय कवि के सर्वथा अनुकूल है। किन्तु विसर्जन का सदेश अस्वस्थ है, वह पराजित मन की बात है—

---

१. कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १३४

२. कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १०३

३. अर्जन और विसर्जन, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १५

नष्ट करो वह निज धन, जिस पर
पडी पापियो की दुर्द ष्टि,
आज न हो, अन्यथा उसी से
होगी कल वन्धन की सृष्टि।[1]

वस्तुत तत्कालीन सघर्षो ने कवि को ऐसा सोचने के लिए वाध्य किया। कवि का विचार है—और भी अनेक विद्वानो का ऐसा विश्वास रहा है—कि यदि भारतवर्ष वैभवहीन होता तो वह विदेशियो द्वारा इतना आक्रान्त न होता। किन्तु यह स्वीकार करना ही पडेगा कि इस दृष्टिकोण के तल मे निश्चित रूप से कही न कही पराजय की भावना निहित है।

काव्य-शिल्प की दृष्टि से यह पुस्तक काफी निखरी हुई है। क्षीण-कलेवर पुस्तिका मे भी साधर्म्य, प्रभाव-साम्य, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण आदि के श्रेष्ठ उदाहरण अनायास ही उपलब्ध हैं। प्रस्तुत काव्य की मूल विशेषता है इसकी प्रौढ एव परिमार्जित खडी वोली। इन खण्डकाव्यो मे 'अर्जन' अतुकान्त एव 'विसर्जन' तुकान्त है। विसर्जन की भाषा मे तो पूर्वोल्लिखित प्राय सभी दोष विद्यमान हैं। किन्तु अर्जन की भाषा सर्वथा शुद्ध एव सशक्त है। नाटकोचित सवादो ने भाषा को और भी सजीवता प्रदान की है।

## कावा और कर्वला

अर्जन और विसर्जन के समान इसमे भी 'कावा' और 'कर्वला' शीर्षक दो खण्डकाव्य सगृहीत है। इन खण्डकाव्यो के कथानको मे एकाध स्थल को छोडकर कोई विशेष नूतनता नही—चिरपरिचित हैं। विशिष्टता है तो केवल यह कि ये मुस्लिम इतिहास से सम्बद्ध हैं। इनके प्रणयन का उद्देश्य सुस्पष्ट है, गुप्त जी के अपने शब्दो मे—"अपने देश मे आन्तरिक सुख-शान्ति के लिए हमको हिलमिल कर ही रहना होगा।· हमे एक दूसरे के प्रति उदार और सहिष्णु होना होगा, एक दूसरे से परिचय और प्रेम वढाना होगा।"[2] इसीलिए कवि ने 'कावा' मे हज़रत मुहम्मद के साथ शेरशाह सूरी एव अकबर से स्वीकृत समन्वयवादी मुस्लिम सम्राटो का उल्लेख किया है और 'कर्वला' मे आर्यगण पुरस्कृत हुए हैं।

"लेखक सहानुभूति और सम्मानपूर्वक ही इस कार्य मे प्रवृत्त हुआ है।"[3] किन्तु यह 'सहानुभूति एव सम्मान' है वौद्धिक ही अतएव इस पुस्तक मे रस-परिपाक प्राय नही हो पाया। रस-क्षीणता का दूसरा कारण है सिद्धान्त-विवेचन। 'हिन्दू' मे नीति तथा सिद्धान्त-व्याख्या के कारण ही नीरसता है। फिर भी कर्वला की करुणाकलित कहानी मे करुण के दो-एक उदाहरण सहज प्राप्य हैं। इस पुस्तक के निर्माण मे काव्य-शिल्प की ओर भी कवि का विशेष ध्यान नही था तथापि शैली के अनेक प्रसाधनो का यथायोग्य व्यवहार हुआ है—प्रौढ अवस्था में यह स्वाभाविक ही है। भाषा पूर्वकृतियो के समान ही है। वीच-वीच मे उर्दू शब्दों का अनिवार्य प्रयोग हुआ है। सवाद भी पात्रानुकूल है।

---

१. अर्जन और विसर्जन, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २८
२ कावा और कर्वला, द्वितीयावृत्ति, आवेदन
३ कावा और कर्वला, द्वितीयावृत्ति, आवेदन

समग्रत' रस, शिल्प तथा भाषा आदि की दृष्टि मे कावा और कर्बला का कोई विशेष महत्त्व नही। किन्तु यह कवि की उदार धार्मिकता एव विशाल हृदयता का ज्वलन्त प्रमाण है।

सम्वत् १९९९ मे प्रकाशित इस पुस्तक की अभी तक दो आवृत्तियाँ हुई हैं।

## विश्व-वेदना

ससार-व्यापी युद्ध के दाहो मे व्यथित विश्व की वेदना को वाणी प्रदान करने वाली इस पुस्तक का प्रकाशन सम्वत् १९९९ मे हुआ था। अब तक इसके चार सस्करण निकल चुके हैं। कवि आज के अनैतिक एव ध्वमकारी युद्ध मे खिन्न है। रचनाकाल (सन् १९४२) के युद्ध का परिणाम देखकर वह अत्यन्त विक्षुब्ध है पर है भरपूर आशावादी। सम्पूर्ण पुस्तक मे युद्ध की विभीपिकाओ तथा उसके कुपरिणामो का वर्णन करने के पश्चात् अन्त मे गुप्त जी यही कहते हैं—

मानकर इसे भाग्य का भोग
छोड बैठें क्या हम उद्योग ?
यही तो आशा हमे निदान,—
शेष है अब भी अनुसंधान।[1]

'विश्व-वेदना' मे आद्यत एक ही वात की चर्चा है कि आज ज्ञान-विज्ञान तथा नूतन आविष्कारो से निर्माण के स्थान पर ध्वस ही हो रहा है तथापि प्रत्येक पद्य अपने आप मे पूर्ण अथवा स्वतन्त्र भी है। अत इसे प्रवन्धात्मक मुक्तको की कोटि मे रख सकते हैं।

प्रस्तुत काव्य मे वौद्धिकता का प्राधान्य है फिर भी प्रारभ से अत तक करुण का साम्राज्य है। केवल आलवन के द्वारा ही रस का अच्छा चित्रण हुआ है। एकाध स्थान पर वीभत्स का स्पर्श भी मिल सकता है। शिल्प की दृष्टि से यह पुस्तक काफी अच्छी है।

भाषा इसकी शुद्ध खडी वोली है, इसमे भाषा की शुद्धि एव भावानुकूलता दर्शनीय है। स्थानीय एव प्रातीय शब्दो का प्रयोग अपेक्षाकृत न्यून है परन्तु अप्रसिद्ध अर्थो मे सस्कृत शब्द पहिले से भी अधिक आगए हैं तथापि भाषा काफी परिमार्जित, मृदु एव प्रसादगुणमयी है।

'विश्व-वेदना' के प्रणेता का अपना व्यक्तित्व इतना विशद, विशाल एव व्यापक है कि सपूर्ण विश्व की वेदना उसकी अपनी वेदना वन जाती है, और वह पीडा से कराह उठता है।—तडफडाता हुआ कवि-हृदय दुख के कारणो की ओर सकेत करता है, उनका उल्लेख करता है। वैपम्योत्पादक असम-वितरण से कवि दुखी है[2] तो दूसरी ओर अत्यधिक करो ( taxes ) पर वह खीझ उठता है—

प्रजा की रक्तार्जित यह ऋद्धि
खा रही है सेना की वृद्धि[3]

अन्तत' गुप्त जी एक आदर्श नेता अथवा शासक की कामना करते हैं।

---

१. विश्ववेदना, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ४७
२ विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १०
३. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७

## अजित

सिद्धराज के दस वर्ष पश्चात् एक अनत्यल्प कथानक को लेकर 'अजित' का प्रकाशन सर्वप्रथम सवत् २००३ मे हुआ। इसका दूसरा सस्करण सवत् २०१२ मे निकला है। अजित वर्णनात्मक काव्य है। इसमे प्राधान्य है वस्तु का, भाव-तत्व की अपेक्षाकृत न्यूनता है। अत रस का पूर्ण परिपाक कम हुआ है तथापि कुछ स्थलो पर वीर, करुण, विप्रलभ एव वात्सल्य के अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं। काव्य-शिल्प की दृष्टि मे अजित मे वैपम्य है। स्थिर चित्र, गति-चित्र, रेखाचित्र, मुद्रा-अकन, प्रभाव-साम्य, विशेपण विपर्यय तथा अन्यान्य प्रसाधनो का सफल प्रयोग हुआ है।—किन्तु साथ ही अनेक स्थलो पर काव्य का धरातल निम्न भी हो गया है।

प्रस्तुत काव्य की भापा प्रौढ पर कान्तिहीन खडी वोली है। उसमे स्थानीय तथा असाहित्यिक शव्दो की भरमार है। सस्कृत के अप्रचलित शव्द एव प्रचलित शव्दो का अप्रचलित अर्थो मे प्रयोग पाठक के मन मे क्षोभ उत्पन्न करता है। यहाँ पर गुप्त जी ने पहिली वार अग्रेज़ी के वहु-प्रचलित शव्दो को अपने काव्य मे स्थान दिया है जिससे भापा अधिक व्यावहारिक वन गई है। यथावसर उर्दू शव्द भी प्रयुक्त हुए हैं। भापा के स्वर मे पात्रो के अनुरूप परिवर्तन एव भिन्नता है तथा प्रसग-गर्भत्व के प्रचुर व्यवहार ने भापा को और भी सौष्ठव प्रदान किया है।

अजित को कवि की आत्मकथा मानने का भ्रम हो सकता है। किन्तु यह निश्चित रूप से आत्मकथा नही है। यद्यपि घटनाए प्राय सच्ची हैं—केवल 'देश, काल और पात्र ही विभिन्न हैं'[1], फिर भी यह काव्य कवि की व्यक्तिगत कथा नही है। वास्तव मे यहाँ कवि जीवनी-लेखक के रूप मे हमारे समक्ष आया है, आत्मकथा-लेखक के रूप मे नही।

## प्रदक्षिणा

इसका प्रकाशन सर्वप्रथम सवत् २००७ मे हुआ—और अव तक नौ (९) सस्करण निकल चुके हैं। रचना का मूलोद्देश्य है रामभक्ति। १८-१९ वर्ष पहिले साकेत मे कवि की इस भावना की व्यक्ति हुई थी—उसके पश्चात् तो वह सामाजिक-राजनैतिक पचडो मे ऐसा उलझा कि एक प्रकार से अपने इष्टदेव को भुला ही चला था। मगलाचरण के अतिरिक्त और कही राम का नाम दृष्टिगत ही नही हुआ। इतने दीर्घ अन्तराल के पश्चात् इस काव्य मे कवि की हार्दिक भावनाए प्रकट हुई हैं।

प्रदक्षिणा मे अत्यन्त सक्षेप से रामकथा वर्णित है।—और वह किसी भी प्रकार के विश्राम के बिना कह दी गई है। वस्तुत कथानकगत सक्षेप एव अनवरत प्रवाह के ही कारण 'प्रदक्षिणा' नाम सार्थक सिद्ध होता है। रामायण मे जिन विपयो का विशद वर्णन कई-कई पृष्ठो मे हुआ है उन्हे यहाँ एक-दो छन्द मे आवद्ध कर दिया गया है।

रस एव काव्य-शिल्प की दृष्टि से प्रदक्षिणा अत्यन्त प्रौढ है। वस्तुत इसके अधिकाश छन्द गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ एव प्रसिद्ध कृतियो—पचवटी तथा साकेत से लिए गए हैं। पचवटी

---

१. अजित, प्रथम संस्करण, निवेदन

के 'पूर्वाभास' के छ' छन्द ज्यो के त्यो प्रदक्षिणा मे पृष्ठ २४-२५ पर उद्धृत हैं।—और साकेत से लिए गए छन्दो का तो कोई हिसाव ही नही। युद्ध-वर्णन तो सारा साकेत से ही लिया गया है। साकेत के आठवें सर्ग से भी अनेक छन्द उद्धृत हैं। अतएव इस काव्य मे आरभ से अत तक एक भी छन्द शिथिल नही मिल सकता। साकेत की रचना के समय उन छन्दो मे यदि कोई न्यूनता रह भी गई थी तो वह पुनस्स्पर्श से दूर हो गई है।

प्रस्तुत काव्य की कान्तिमयी भापा एकदम टकसाली है। प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्न सवादो ने इसमे और भी चमक, लोच एव तरलता उत्पन्न की है। किन्तु प्रदक्षिणा की भापा की सर्वाधिक दर्शनीय विशेपता है उसका समासगुण—थोडे मे वहुत कहने की शक्ति का अपूर्व विकास मिलता है।

## पृथिवीपुत्र

दिवोदास, जयिनी एव पृथिवीपुत्र—इन तीन सवादो का सग्रह 'पृथिवीपुत्र' सर्वप्रथम सवत् २००७ मे प्रकाशित हुआ। वैसे पृथक्-पृथक् ये सवाद पहले भी प्रकाशित हो चुके हैं—"दिवोदास 'प्रतीक' के पहले अङ्क में छपा था। जयिनी उसके भी कई वर्प पूर्व 'सुघा' मे छपी थी। पृथिवीपुत्र इसी वर्प 'नया समाज' मे प्रकाशित हुआ है।"[१] तीनो ही सवादो का कथानक अत्यन्त रोचक, सुगठित तथा स्वसन्देशवाहन मे समर्थ है। इनमे दिवोदास पौराणिक, जयिनी ऐतिहासिक और पृथिवीपुत्र काल्पनिक है।

ये तीनो अत्यन्त प्रौढ कृतियाँ हैं—यहाँ कवि की कला की चरम प्रौढि दृष्टिगत होती है। भापा की गुम्फित झङ्कार विशेपत' दर्शनीय है। ऐसी व्यवस्था, परिमार्जन एव कान्ति पूर्वकृतियो मे अप्राप्य है। कही भी शैथिल्य अथवा विशृङ्खलता नही। यद्यपि सस्कृत के दो-चार अग्राह्य शब्द भी हैं तथापि भापा की गठन एव समासगुण अद्भुत है। तात्पर्य यह कि पृथिवीपुत्र की अभिव्यजना अत्यन्त समर्थ है।

गुप्त जी आशावादी कवि हैं—अनेक दोपो की अवस्थिति मे भी वे मानव की सर्वकार्य-सामर्थ्य मे विश्वास रखते हैं—

> हम दयनीय नहीं भागी हैं देवों के ही साथ,
> हृदय नहीं वा बुद्धि नहीं वा नहीं हमारे हाथ ?[२]

किन्तु आज का मनुप्य तो अधिकाधिक विलासी वनता जा रहा है। चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति की इच्छा करने वाला पूर्णपुरुप वह नही है—

> किन्तु दीखती है आज वाहर से अर्थ की
> भीतर से काम की ही मुख्यता मनुज मे,
> धर्म और मोक्ष दो विनोद उन दोनों के।[३]

मानवता-कामी कवि युद्ध का एकदम विरोधी है। सदुद्देश्य का दावा करके ही सव युद्ध करते हैं—और एक युद्ध की समाप्ति के साथ दूसरे का आरम्भ जुड़ा हुआ है। अत.

---

१. पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, भूमिका
२. पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २३
३. ,, ,, पृष्ठ ६०

युद्ध एक असाध्य रोग है। इसका उपचार शस्त्र-विजय न होकर प्रेम-विजय है क्योंकि—

पहले भी हुए कितने विजेता हैं
किन्तु जनता ने उन्हें नेता कहाँ माना है ?[१]

गुप्त जी के विचार मे जनता के सच्चे नेता, प्रजा के आदर्श राजा वे ही बन सकते हैं—'इष्ट नही कुछ अधिक प्रजा से जिन्हे स्वय निज हेतु'[२]

निष्कर्षत प्रौढ कला, समासगुणप्रधान कान्तिमयी भाषा, समर्थ अभिव्यजना तथा मार्मिक जीवन-सन्देश के कारण गुप्तजी की प्रौढ रचनाओ मे पृथिवीपुत्र का उच्च स्थान है।

## हिडिम्बा

सम्वत् २००७ मे प्रकाशित इस खण्डकाव्य का कथानक महाभारत से गृहीत है। किन्तु कथा का विकास एव प्रतिपादन शैली निश्चित रूप से कवि की अपनी तथा सर्वथा मौलिक है। अनेक स्थलो पर कवि ने कथा का सस्कार-परिष्कार करने का प्रयत्न किया है। दो-तीन उदाहरण काफी होगे पाण्डवो के हननार्थ स्वय हिडिम्ब को आते देखकर महाभारत की हिडिम्बा उसे गालियाँ देने लगती है—

आपतत्येष दुष्टात्मा सङ्क्रुद्ध पुरुषादक ।[३]

एक राक्षसी द्वारा भी स्वरक्षक एव सहोदर भ्राता के लिए प्रयुक्त ये शब्द कितने अनुचित तथा अस्वाभाविक हैं। किन्तु गुप्त जी ऐसी परिस्थिति उपस्थित होने ही नही देते—वे हिडिम्ब के आगमन का स्वय उल्लेख करते हैं—

आगया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओ की कल्पना का सच्चा भयभूत-सा।[४]

भीमसेन प्रख्यात वीर योद्धा हैं, युद्ध-वीर मे गर्वोक्ति अनिवार्यत रहती है। किन्तु महाभारतकार ने इस प्रसङ्ग मे भीम की गर्वोक्ति को हास्य तक पहुँचाकर उन्हे एक 'जोकर'-सा बना दिया है। एक स्त्री को अपनी सुदृढ भुजाएँ दिखाते हुए भीम का कथन देखिए—

नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसा ॥
पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ।
ऊरू परिघसकाशौ सहतं चाप्युरो महत् ॥[५]

भीम का इस प्रकार शरीरावयवो का प्रदर्शन कैसा हास्यास्पद अभिनय-सा प्रतीत होता है। इसके विपरीत गुप्त जी ने केवल दो पक्तियो मे भीम की उद्धत वीरता का सटीक अङ्कन किया है—

---

१ पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ६२
२. „ „ „ पृष्ठ २७
३. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १५३, श्लोक ४
४. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८
५. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १५३, श्लोक ८-९

प्रेम करने वा कृपा करने तू आई है ?
जा, बुला ला, देखूं कौन तेरा वह भाई है ।[1]

अत्यधिक स्पष्टता भी दोष हो जाती है । वहिन के प्रति क्रुद्ध हिडिम्ब को महाभारत-कार के भीम वताते हैं कि हिडिम्वा के परिवर्तन मे उसके मन का नही कामदेव का दोष है—

न हीयं स्ववशावाला कामयत्यद्य मामिह ।
चोदितैषा ह्यनगेन शरीरान्तरचारिणा ॥
भगिनी तव दुर्वृत्त रक्षसां वै यशोहर ।
त्वन्नियोगेन चैवेय रूप मम समीक्ष्य च ॥
कामयत्यद्य मां भीरुस्तव नैषापराध्यति ।
अनगेन कृते दोषे नेमा गर्हितुमर्हसि ॥[2]

पर 'हिडिम्वा' का कवि केवल एक ही रेखा मे वडे साकेतिक ढग से सुरुचि की रक्षा करता हुआ कहता है—

इसका क्या दोष, तुझे भूख, इसे प्यास है ।[3]

महाभारत की हिडिम्वा भी कुछ वाचाल दृष्टिगत होती है । भीम को प्राप्त करने के लिए काम-पीडा की दुहाई देती है—

आर्ये जानासि यद्दु:खमिह स्त्रीणामनंगजम् ।
तदिद मामनुप्राप्त भीमसेनकृतं शुभे ॥
× × ×
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद् व्रवीमि ते ।[4]

हिडिम्वा राक्षसी है पर है तो स्त्री—उसके मुख मे ऐसे शब्द शोभा नही देते । कम से कम आज का परिष्कृत रुचिसम्पन्न कवि ऐसा नहीं कहला सकता । फलत स्त्री के प्रति श्रद्धालु आदर्शवादी कवि मैथिलीशरण गुप्त इसी वात को स्त्री-जनोचित दूसरे शब्दो मे कहते हैं तथा इससे भी अधिक सवल एक तर्क प्रस्तुत करते हैं—

.... ..... किन्तु मेरे भी हृदय है,
औरो का नहीं तो मुझे अपना ही भय है ।
न्याय से उन्हीं पर न भार मेरा सारा है
रक्षक जिन्होंने एकमात्र मेरा मारा है ।[5]

इसी प्रकार कवि ने यथासभव अतिप्राकृत तत्त्व के वहिष्कार का भी प्रयत्न किया

१. हिडिम्वा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७
२. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १५३, श्लोक २५-२७
३. हिडिम्वा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २१
४. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १५५, श्लोक ५, ८
५. हिडिम्वा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३३

है। निष्कर्ष यह कि स्वाभाविकता एव आदर्श की रक्षा के लिए गुप्त जी ने कथा का मूलरूप वही रखते हुए यत्र-तत्र परिवर्तन-परिवर्द्धन किया है। परिणामस्वरूप परम्परागत चिरविश्रुत कथानक अधिक रोचक, सुसगत एव सुरुचिपूर्ण तथा विश्वसनीय वन गया है।—और ऊच-नीच की भावना छोडकर प्राणिमात्र से प्रेम करने के अपने सदेश के वाहन मे भी सर्वथा समर्थ है।

प्रस्तुत काव्य काफी सरस है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी आदि का सयोजन मिलना कठिन है तथापि शृगार, हास्य, वीर एव रौद्र के श्रेष्ठ उदाहरण सहज ही उपलब्ध हैं। काव्य-शिल्प की दृष्टि से इसमे पूर्वकृतियो के उच्च स्तर की रक्षा हुई है। प्रभाव-साम्य, धर्म-साम्य, ध्वनि-चित्रण, रेखा-चित्रण, मुद्राकन का कुशल प्रयोग हुआ है।

हिडिम्वा मे भावानुकूल भाषा के कान्तिमय, ओजमय अथवा सरल-तरल रूप का प्रयोग हुआ है—किन्तु प्रौढि की एक झकृति सर्वत्र विद्यमान है। खडी वोली का समुचित सस्कार करने पर भी कवि सस्कृत के अप्रचलित शव्दो के व्यवहार के अपने स्वभाव को नही छोड पाया। हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल अतिदीर्घ समास भी खटकते हैं। पर प्रत्युत्पन्न-मतित्वसम्पन्न सवादो तथा प्रेममय हास-परिहास ने भापा को अनुपम दीप्ति प्रदान की है।

## अंजलि और अर्घ्य

हिडिम्वा के कुछ दिन पश्चात् सवत् २००७ मे ही इस काव्य का प्रकाशन हुआ। इसमे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी की मृत्यु से शोकग्रस्त विह्वल कवि के हार्दिक उद्गारो का प्रस्फुटन है। अत्यन्त सक्षेप मे वापू के जीवन की मुख्य घटनाओं का निर्देश करते हुए गुप्त जी ने उनके अपार गुणो, असख्य उपकारो तथा भारतवासियो की कृतघ्नता का द्रावक चित्र उपस्थित किया है। वापू का निधन समग्र राष्ट्र के लिए असह्य वेदना का कारण था। सवेदनशील गुप्त जी का हृदयस्थ कवि भी चीत्कार कर उठा—अजलि और अर्घ्य मे उसी के करुण-क्रन्दन को वाणी प्रदान की गई है। अन्त मे कवि ने राष्ट्रपिता के चरणो मे कविजनोचित श्रद्धाजलि अर्पित की है।

काव्य तत्वो की दृष्टि से यह रचना काफी अच्छी है। यद्यपि भाव की अभिव्यक्ति सीधी एव सरल है तथापि शोक स्थायी की आद्यत सप्रभाव व्यजना है—सघनता और गहनता दर्शनीय है। महात्मा जी का हत्यारा एक हिन्दू था, गुप्त जी इसे अपनी जाति पर—हिन्दू जाति पर—अमिट कलक मानते हैं। अतएव वेदना का दश द्विगुणित है। परिणामस्वरूप अजलि और अर्घ्य में शोक की सघन अभिव्यजना हुई है। राष्ट्रपिता के तेजोमय ऊर्जस्वित व्यक्तित्व के लिए प्रयुक्त सटीक विशेषण-उपमान भी सराहनीय हैं। भाषा इस काव्य की प्रसगगर्भित तथा परिमार्जित खडी वोली है। गति, प्रवाह एव दीप्ति की छटा सर्वत्र विद्यमान है।

## जय भारत

महाभारत की वृहत् कथा के आधार पर लिखित साढे चार सौ पृष्ठ का विशालकाय प्रवन्धकाव्य जय भारत सवत् २००६ मे प्रकाशित हुआ। यह ४७ खण्डो (प्रकरणो) मे

विभक्त है। प्रत्येक प्रकरण को घटना, व्यक्ति अथवा घटनास्थल के नाम से अभिहित किया गया है। किन्तु इसका प्रबन्ध-सूत्र अत्यन्त शिथिल है—वस्तुत समग्र ग्रन्थ एक ही समय की कृति न होकर भिन्न-विभिन्न समयो पर की गई रचनाओ का सग्रह है। यद्यपि कवि ने उनमे कही-कही कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन करके उन्हे ग्रथित करने का प्रयत्न अवश्य किया है तथापि खण्ड रूप मे निर्मित काव्यो मे अखण्डता लाना असम्भव है। महाभारत की घटनासकुल कथा को कवि ने सागोपाग ग्रहण किया है—नहुष के आख्यान से लेकर पाण्डवो के स्वर्गारोहण तक एक भी ऐसी घटना नही जिसे कवि ने अछूता छोड दिया हो। किन्तु अनेक स्थलो पर उसने घटना का वर्णन न करके सकेत-भर किया है। वस्तुत गुप्त जी पाठक मे महाभारत की सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटनाओ के ज्ञान का आरोप करके चले हैं। अत यदि केवल तथ्य-वर्णन की दृष्टि से देखा जाए तो उनकी कला और भी निखर आई है—आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग वडे कौशल से हुआ है।

मौलिकता जय भारत की प्रश्नातीत है। प्रथम तो इसकी प्रतिपादन शैली ही सर्वथा नवीन है। दूसरे गुप्त जी ने अपूर्व कौशल से आवश्यक का ग्रहण एव अनावश्यक का त्याग करते हुए महाभारत की विस्तृत तथा विशाल एव सहस्रो पृष्ठो मे प्रकीर्ण वस्तु को केवल ४४२ पृष्ठो मे समाहित कर दिया है। प्रौढ़ प्रबन्धकवि ने सक्षेपण ही नही अपितु पूर्वापर-क्रम में भी सुखद परिवर्तन कर दिया है। यथास्थान नवीन उद्भावनाएँ भी हुई हैं। जय भारत के पूर्वप्रकाशित अशो का विवेचन पहिले ही किया जा चुका है—तत्सवधी मौलिक उद्भावनाओ का उल्लेख भी वहाँ कर चुका हूँ। अन्यान्य खण्डो मे भी नूतन उद्-भावनाएँ कम नही, दो-तीन स्थल—द्रौपदी-चीरहरण, द्रौपदी-पचपत्नीत्व तथा शाति-सदेश (अथवा कृष्ण दूतत्व) आदि—विशेषत अवलोकनीय हैं। किन्तु इन प्रसगो के सम्बन्ध मे भी यह ज्ञातव्य है कि गुप्त जी ने अधिक स्वतन्त्रता से काम नही लिया। उनके सस्कारी हृदय ने बौद्धिकता एव श्रद्धा तथा विश्वास का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

इस काव्य मे प्राय सभी रसो के उत्कृष्ट उदाहरण विना प्रयास ही उपलब्ध हैं। अनेक स्थानो पर हृदय को उद्वेलित करने वाला सरस भावपूर्ण वर्णन हुआ है। प्रस्तुत काव्य का अगीरस वीर है—कर्मठ वीरो के जीवन-काव्य का प्रमुख रस वीर ही हो सकता है। किन्तु युधिष्ठिर के प्रयत्नो से उसका पर्यवसान शान्त मे होता रहा है। शेष सभी रस अग रूप मे आए हैं—करुण, शृगार तथा रौद्र का चित्रण प्रचुर मात्रा मे हुआ है। हास्य एव वीभत्स अपेक्षाकृत कम हैं। काव्य-शिल्प की दृष्टि से जय भारत मे वैषम्य है। इसमे केशो की कथा आदि दो-एक खण्ड तो गुप्त जी की आरभिक रचनाएँ हैं, सैरन्ध्री, वन-वैभव और वक-सहार उनके कृतित्व के मध्यकाल मे प्रणीत हैं और शेष हैं उत्तरकालीन। कवि के कृतित्व काल के विभिन्न भागो मे रचित इन अशो मे जहाँ विचार-प्रौढि की दृष्टि से भेद है वहाँ शिल्प मे भी असमानता है। उत्तरकालीन कृतियो में लक्षणा एवं व्यजना का सुष्ठु प्रयोग है—किन्तु आरभिक अशो मे अभिधा ही व्यवहृत है। वैसे सम्पूर्ण पुस्तक मे प्राय सभी शिल्प-प्रसाधनो का कुशल व्यवहार हुआ है।

प्रस्तुत काव्य की भाषा मे भी विषमता है। यद्यपि आद्यत शुद्ध खडी बोली ही प्रयुक्त

है तथापि आरभिक एव उत्तरकालीन खण्डो की भाषा बिल्कुल एक नही है। प्रथम मे अभिधाप्रधान व्यस्त भाषा है तो द्वितीय मे व्यजनापूर्ण समस्त। यथोचित सवादो ने भाषा को काफी सजीवता प्रदान की है। करुण-मधुर, वीर-दर्पपूर्ण तथा तीव्र व्यग्यात्मक सवाद अवलोकनीय हैं।

चरित्र-चित्रण में गुप्त जी ने युगधर्म का सफल सस्थापन किया है। प्राचीन कथानक मे भी कवि अपने युग—अपने युग-विवेक की उपेक्षा नही कर सकता। अतएव जय भारत के प्रमुख पात्र युधिष्ठिर मे बीसवी शताब्दी के युगधर्म—मानववाद की प्रतिष्ठा हुई है। वैसे तो युधिष्ठिर परम्परा से ही मानवता के प्रतीक हैं पर जय भारत मे उनका चरित्र और भी निखर गया है। वक-सहार प्रसग मे कुन्ती के सबध मे पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ। साकेत की कैकेयी के समान कवि ने महाभारत के दूषित पात्रो का भी दोष-परिहार किया है। दुर्योधन का धैर्य, उसकी अडिगता देखते ही बनती है। दु शासन मे भी गुप्त जी ने भ्रातृभक्ति जैसी भव्य पर दुर्लभ भावना का सधान कर लिया है। महादानी कर्ण के वीर-दर्पपूर्ण सात्विक जीवन के लिए पाप-सभा मे भाग लेना एक कलक की बात थी। कर्ण उस धिक्कृत सभा मे उपस्थित ही नही थे वरन् सक्रिय भाग ले रहे थे। परन्तु लज्जा-विगलित कर्ण के पश्चात्ताप द्वारा कवि ने उस कलक के मार्जन का प्रयत्न किया है।

कथा के पुनर्व्याख्यान के साथ-साथ जय भारत मे प्रौढ कवि के जीवनगत अनुभवो पर आधृत विचार भी व्यक्त हुए है। बीसवी शताब्दी का विचारक 'जन्मना' के स्थान पर 'कर्मणा' जाति का निर्धारण करता है—

**कुल से नहीं, शील से ही तो होता है कोई जन आर्य।**[1]

और कर्मार्जित आर्यत्व-प्राप्त व्यक्ति के लिए कुछ भी असभव नहीं। मानव की असीम शक्ति का विश्वासी कवि घोषणा करता है—

**आया पृथ्वी-पुत्र, उठा उत्सुक सुरलोक,**
**उसका पथ कब कौन कहाँ सकता है रोक ?**[2]

प्रस्तुत काव्य के वस्तुगत कतिपय दोष भी उल्लेख्य हैं। सब से बड़ा दोष है गति-वैषम्य। कही कथा अत्यन्त मन्थरता से चलती है, और कही-कही गति इतनी क्षिप्र है कि पाठक उस के साथ दौड नही पाता। द्वितीयत कवि ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्कथाओ को भी सप्रयत्न गुम्फित किया है—किन्तु पर्याप्त पौराणिक पृष्ठभूमि न होने के कारण आवश्यक विवरण के अभाव मे आज के पाठक के लिए वे अन्तर्कथाएँ सहज ही बुद्धिगम्य नही हैं। इसके अतिरिक्त सस्ती तुकबदी तथा अकाव्योचित शब्दों का प्रयोग भी प्रयास करने पर मिल सकता है—किन्तु बहुत कम।

गुप्त जी की रचनाओ मे परिमाण की दृष्टि से जय भारत सर्वाधिक विशालकाय काव्य है। प्रबन्धत्व एव मौलिकता मे साकेत को छोडकर यह काव्य कवि की और किसी भी कृति

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३
२. " " " पृष्ठ १५१

से निम्न नही है। महाभारत-पुराण आदि पर आधृत जय भारत भारतीय संस्कृति के आख्यान मे तो साकेत के समकक्ष ही ठहरता है। अनेक दोषो की अवस्थिति मे भी इसका विपुल काव्य-वैभव एव प्रौढ विचाराभिव्यक्ति समभिनन्दनीय है। सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के धरातल पर देखें तो रामचरितमानस, कामायनी तथा साकेत जैसे दो-तीन महार्घ एव श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्यो को छोडकर अन्य किसी से भी कम नही है।

## युद्ध

जय भारत का 'युद्ध' शीर्षक अध्याय स्वतन्त्र पुस्तक के रूप मे भी प्रकाशित हो चुका है। इसमे महाभारत का युद्ध वर्णित है—और युद्ध के विषय में भी कवि के विचार प्रकट हुए हैं। यह जय भारत का उत्तरकालीन अश है। अतएव काफी प्रौढ रचना है। यह पुस्तक आद्यत रस-दीप्त है—और इसकी अभिव्यजना शैली अत्यन्त समृद्ध है।

## राजा-प्रजा

इसमे, जैसा कि पुस्तक के नाम से ही प्रकट है, राजा और प्रजा के विषय मे कवि के विचार प्रकट हुए हैं। पुस्तक दो खण्डो मे विभक्त है। 'राजा' शीर्षक प्रथम खण्ड मे प्रजा को सबोधित कर राजा का अभिकथन है। वह प्रजा को, प्रजातन्त्र के समर्थको को उसके दोषो का उल्लेख कर सावधान रहने की चेतावनी देता है। 'प्रजा' शीर्षक द्वितीय खण्ड मे प्रजा बोल रही है। वह राजा को अपने मे ही मिल जाने का परामर्श देती है। राजतन्त्र के स्थान पर प्रजातन्त्र का वह सहर्ष अभिनन्दन करती है—किन्तु अपनी अनेक त्रुटियो से भी अवगत है। अत प्रजा अपने ही सदस्यो को स्वार्थ त्याग कर देश के विकास और समृद्धि मे सहायक बनने को प्रेरित करती है।

इस प्रकार कवि ने राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनो के पक्ष को प्रस्तुत किया है। स्वय कवि अपने पूर्वोक्त सस्कारो के कारण राजा और राजतन्त्र का ही एकान्त विश्वासी था। राजा के मुख से गुप्त जी का वह सस्कारी ही उद्‌गीर्ण है। किन्तु मैथिलीशरण मे देशकालानुसरण की अद्‌भुत क्षमता है—युगधर्म उनको कभी अग्राह्य नही रहा। अत उन्होंने युगधर्मानुकूल प्रजातन्त्र का भी पोषण किया है। 'प्रजा' खण्ड मे उनका यह देशकालानुसारी ही मुखर है। परन्तु बद्धमूल धारणाओ का त्याग इतना सहज नही है। घूम-फिर कर कवि का मन राजा पर ही आकर टिकता है। वह अनेक के नही एक के ही शासन का सस्तोता है, फिर चाहे उसे राजा कहा जाए अथवा प्रधान मन्त्री—

> होगा क्या अब भी एक न जन-रति भाजन,
> फिर कहो भले ही उसे न अब तुम राजन्।[1]

प्रस्तुत काव्य मे रस और शिल्प की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय बात नही है। वास्तव मे यह चिन्तन-प्रधान काव्य है, शिल्प आदि पर कवि का ध्यान ही नही रहा। भाषा प्रौढ और परिमार्जित है। राजा-प्रजा गुप्त जी की नवीन रचना है। इसका प्रकाशन सवत् २०१३ मे हुआ है।

---

१. राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २३

## विष्णुप्रिया

सवत् २०१४ मे प्रकाशित विष्णुप्रिया गुप्त जी की नवीनतम रचना है। इसमे श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनकी गृहिणी विष्णुप्रिया का चरित कवितावद्ध हुआ है। वस्तुत इस काव्य का प्रणयन विष्णुप्रिया के उपेक्षित चरित्र के पुरस्करण के निमित्त हुआ है।

काव्यगुण की दृष्टि से विष्णुप्रिया उत्कृष्ट रचना है—करुण के कई श्रेष्ठ उदाहरण विना प्रयास ही उपलब्ध हैं। इसकी भाषा परिमार्जित तथा शिल्प उज्ज्वल है। प्रस्तुत काव्य का अद्‌भुत प्रवाह भी दर्शनीय है।

---

# भाव-पक्ष

साधारणत काव्य के दो पक्ष है—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। भाव-पक्ष के अन्तर्गत आता है समग्र वर्ण्य विषय तथा कला-पक्ष मे सम्मिलित है सम्पूर्ण वर्णन-कौशल। यद्यपि शील और शैली का आत्यन्तिक विभाजन सम्भव नही है—उनमे घट और पट का-सा एकान्त पार्थक्य नही है। पर साथ ही वे व्यवहारबुद्धि से अविभाज्य भी नही हैं। वस्तुत काव्य के लिए दोनो ही अनिवार्य हैं—"भाव-पक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का सम्बन्ध आकार या शैली से है। वस्तु और आकार एक दूसरे से पृथक् नही हो सकते। कोई वस्तु आकारहीन नही हो सकती है और न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है।"[1] रही बात सापेक्षिक महत्व की।—सो उसमे किसी मतभेद का अवसर ही नही। भाव-पक्ष ही सर्वमत से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वशाली है। भाव-पक्ष और कला-पक्ष मे निश्चय ही आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। पहला साध्य है तो दूसरा साधन। पण्डित रामदहिन मिश्र ने अपने काव्य-दर्पण मे ठीक ही कहा है कि "कविता का कला-पक्ष उसकी प्रेपणीयता या प्रभावोत्पादकता है। (पर) प्रेपणीयता काव्य का साधन है साध्य नही।"[2] वास्तव मे यह महत्व-निर्धारण आदि ही व्यर्थ है। काव्य के लिए ये दोनो ही अपेक्षित है। दोनो पक्ष एक दूसरे के सहयोगी हैं, प्रतियोगी नही। दोनो के यथावत् सयोग मे ही सत्साहित्य का अस्तित्व अन्तर्निहित है। अस्तु।

पहले गुप्त जी के भाव-पक्ष का अध्ययन कर लिया जाए :

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन वाबू गुलावराय, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १२५
२. द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७४

# (क) भाव-क्षेत्र का विस्तार

## भाव का अभिप्राय और उनकी संख्या

सस्कृत के आचार्य ने भाव की परिभाषा नही दी। स्थायी और सचारी अथवा व्यभिचारी भावो का विस्तृत विवेचन करने वाले आचार्य भी निर्विशेषण 'भाव' को शायद स्वत व्यक्त समझकर छोड गए। वस्तुत यह विशेष रूप से मनोवैज्ञानिको के अध्ययन-क्षेत्र मे आता है। फिर भी काव्य (साहित्य) की आधार-शिला होने के कारण शास्त्र की परिधि के बिल्कुल बाहर भी नही है। अत काव्य-शास्त्र के आधुनिक विद्वानो ने इस पर थोडा-बहुत विचार किया है। बाबू गुलाबराय के अनुसार—"सुख और दु ख को हम भाव कहते हैं।"[१] किन्तु भाव की यह परिभाषा अत्यन्त सरल है—उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराने मे असमर्थ है। हाँ, मूल भावो की ओर सकेत इसमे अवश्य है। 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' के लेखक[२] के अनुसार—"मनुष्य के हृदय मे बाह्य जगत् की सवेदनाओ के कारण विकार उठते हैं, जो मिलकर भाव की सज्ञा प्राप्त करते हैं।"[3] इस परिभाषा मे भाव को बाह्य जगत् के सस्पर्श से मानव-मन मे उठने वाली प्रतिक्रिया कहा गया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिको का भी लगभग यही मत है।[४] हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बडे स्पष्ट और सशक्त शब्दो में इस बात की घोषणा की है—

"प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनो के गूढ सश्लेष का नाम 'भाव' है।"[५]

यहाँ 'वेगयुक्त प्रवृत्ति' से आचार्य का अभिप्राय है 'प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा'। निश्चय ही जब तक अनुभूति और प्रवृत्ति अथवा प्रयत्न नही होगा तब तक भाव का अस्तित्व नही माना जा सकता।

ऊपर सकेत किया जा चुका है कि भाव मूलत दो ही हैं—सुख और दु ख। शास्त्रीय शब्दावली मे इन्ही को राग और द्वेष कहा जाता है।[६] ये राग और द्वेष ही आलम्बन-भेद

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १७५

२. श्री लक्ष्मीनारायण सुधाशु

३. द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ३

4 " The emotions are organised manifestations of the life of the feelings , they are the reactions of the individual on everything which touches the course of his life, or his amelioration, his being, or his better being " —The Psychology of the Emotions by TH RIBOT, edition 1897

५. रस-मीमासा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १६८

६ पातजल योगदर्शन .

सुखानुशयी राग ।२।७

दु खानुशयी द्वेष ।२।८

से विभिन्न रूप धारण करते हैं। उदाहरण के लिए श्रेष्ठ के प्रति राग सम्मान अथवा श्रद्धा का, समान के प्रति प्रीति का तथा हीन के प्रति करुणा का रूप धारण कर लेता है। द्वेष भी अधिक वलवान् के प्रति भय मे, समवल के प्रति क्रोध मे तथा हीनवल के प्रति दर्प मे परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार मानव-मन के प्राय सभी भाव—सुख और दुःख—दो मे ही समाहित हो जाते हैं। मनोविश्लेषण-शास्त्री इससे भी आगे वढे। उन्होंने केवल एक ही मूलभाव माना है। फ्रायड ने उसे काम, एडलर ने हीन-भावना तथा युङ्ग ने जिजीविषा कहा है।—इन विद्वानो के अनुसार और सब तो उस एक ही मूलभाव के प्रोद्भास हैं। उपर्युक्त अभिमतो मे से युङ्ग महाशय का जीवन-रक्षा की इच्छा (भारतीय दर्शन की शब्दावली मे अहङ्कार) को मूलभाव स्वीकार करने वाला मत ही अधिक मान्य है। भारतीय विचारको मे महाराज भोज ने भी शृङ्गार को इसीलिए रसराज माना है कि उसका सम्वन्ध जीवन की मूलवृत्ति अहङ्कार से है।

किन्तु ये तो सव दर्शन अथवा मनोविज्ञान-शास्त्र की वातें हैं। काव्य-शास्त्रियो ने साधारणतया वयालीस भावो का उल्लेख किया है। यह सख्या-निर्धारण भी अन्तिम और सर्वथा निर्दोष नही है। लेकिन फिर भी यह अधिक व्यावहारिक और काव्य की दृष्टि से अधिक उपयोगी है।

वयालीस मे से नौ को स्थायी और शेष तेतीस को सचारी भाव माना गया है। मनोविज्ञान शास्त्र को इस प्रकार का कोई विभाजन स्वीकार्य नही, उसके लिए यह आवश्यक भी नही है। किन्तु काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अपेक्षाकृत स्थिर मनोवेगो—रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय, शोक और निर्वेद—को स्थायी की सज्ञा दी है। चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा आदि अपेक्षया अस्थिर भावो को सचारी अथवा व्यभिचारी के नाम से अभिहित किया गया है। साहित्यदर्पणकार के शब्दो में—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा.,
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीति संमत·।[1]

अर्थात् विरुद्ध वा अविरुद्ध भाव जिसे तिरोहित करने मे असमर्थ हो तथा जो आस्वाद का मूल कारण (आस्वाद रूपी अकुर की जड) हो उसे स्थायी भाव कहते हैं। इसके विपरीत (रत्यादि) स्थायी भाव मे व्यभिचरण (सचरण) करने वाले तेतीस भाव सचारी कहलाते हैं—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदा।[2]

अत स्थायी भाव स्थिर और सवल मनोदशा अथवा मनोवृत्ति है—किन्तु सचारी भाव अस्थिर एव तरग-तुल्य क्षणभगुर मनोविकार है। मैं समझता हूं कि दोनो के नाम ही इस अन्तर के द्योतन मे पर्याप्त समर्थ हैं। रहा प्रश्न काव्य मे इस प्रकार के विभाजन की

---

१ साहित्यदर्पण, ३।१७४
२. साहित्यदर्पण ३।१४०

उपयोगिता का। इसका सहज उत्तर यह है कि काव्य का 'सम्बन्ध भाव के जीवनगत उपयोग से है'। अत व्यावहारिक दृष्टि से स्थिर और तीव्र फिर अधिक प्रभावक्षम तथा अस्थिर और कम प्रभावशाली भावो का निर्धारण कोई असगत अथवा असम्बद्ध बात नही है। हाँ, स्थायी एव सचारी की परिधि तथा सख्या का निश्चय काफी विवादग्रस्त विषय है। क्या स्थायी भाव केवल नौ ही हो सकते हैं? क्या सचारी भाव तेतीस से कम-ज़्यादा नही हो सकते?

सचारियो मे तो नही पर स्थायी भाव को लेकर सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे ही काफी घटा-बढी हुई है। भरत ने स्थायी केवल आठ माने थे। बाद मे शम अथवा निर्वेद भी जोड दिया गया। भक्ति एव वात्सल्य को लेकर भी काफी वाद-विवाद हुआ। आधुनिक युग मे रामचन्द्र शुक्ल शायद एक प्रकृति रस भी चाहते हैं। स्पष्ट शब्दो मे उन्होंने ऐसा कही नही कहा। फिर भी उनके विशद विवेचन और प्रकृति के प्रति उनके सबल अनुराग से ऐसा भासित होने लगता है।[1]—और गर्व, ग्लानि, असूया आदि के विषय मे डा० नगेन्द्र तो स्पष्ट ही कहते हैं—" परन्तु कम से कम कुछ एक मे—जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि मे रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पडेगी।"[2]

इस विषय मे हमारा विनम्र निवेदन है कि ये सब भावनाएँ शास्त्रोल्लिखित स्थायी भावो के समान दीर्घकालस्थायी नही हैं अतएव उन्हे स्थायी-पद नही दिया जा सकता। भक्ति का शृगार और शान्त मे अन्तर्भाव हो सकता है। हाँ, वात्सल्य को निश्चय ही रति के अन्तर्गत नही माना जा सकता। यद्यपि फ्रायड-प्रतिपादित व्यापक काम के अन्तर्गत वह भी आ सकता है, फिर भी हमारा मानस-कोश वात्सल्य और रति मे अश-अशी-भाव मानने को कदापि तैयार नही होगा। और यह भाव है भी बहुत तीव्र—पुत्रैषणा से इसका सीधा सबध है। सूर, तुलसी, मीरा आदि के काव्य के अध्ययन के पश्चात् भक्ति की स्थायित्व-क्षमता मे भी सदेह नही रह जाता। वास्तव मे चारो खूंट बाँध लेने वाला कोई निश्चित नियम इस दिशा में असम्भव है।

सचारियो को सख्याबद्ध करना तो और भी दुष्कर है। क्योकि मनोविकार तो सीमातीत हैं। कौन कह सकता है कि सभी मनोविकारों का सन्धान एव नामकरण भी हुआ है अथवा नही। ऐसी दशा मे उनकी सख्या निश्चित करने का प्रश्न ही नही उठता—वह सभव ही नही है।[3] और फिर ये विकार-वीचियाँ सदा-सर्वदा अमिश्र ही नही रहती। वरन् अधिकाशत लवण-नीर-तुल्य एक दूसरे मे मिलकर अनेक नूतन मनोविकारो को जन्म देती

१ दे० रस-मीमासा मे विभाव का विवेचन

२. रीतिकाव्य की भूमिका, सस्करण सन् १९४९, पृष्ठ ८२

३. "वास्तव में जैसा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है, मनोविकारों की गणना करना तथा उनको पृथक् रूप मे वर्णन करना केवल कठिन ही नहीं असम्भव भी है। क्योकि मनोविकार तो मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है, जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है।"—रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र (१९४९) पृष्ठ ८१

हैं। हमारे विचार मे सचारी भाव के नाम से आख्यात इन मिश्र और अमिश्र मनोविकारो के सीमा-निर्धारण का प्रयत्न ही व्यर्थ है। लेकिन शास्त्र मे उनकी गणना हुई है—सचारियो की सख्या ३३ मानी गई है। जैसा कि हम ऊपर निवेदन कर चुके हैं यह ठीक नही है। इन तेतीस मे भी मरण, आलस्य, अपस्मार, निद्रा आदि शारीरिकता-प्रधान सचारियो को मनोविकार कहना असगत होगा। इस प्रकार उनकी सख्या और भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त आदर, श्रद्धा, दया, उदासीनता आदि कुछ जाने-बूझे मनोविकार छूट भी जाते हैं—गिनती मे आते ही नही। परम्परा-दृढ विद्वान् प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र व्यभिचारी-परिगणन का कारण 'शास्त्रचर्चा की सुविधा' मानते हैं—

" ·· सचारियो के सम्बन्ध मे दो बातें और हैं। ये स्थायी भावो की तरह परिमित नही होते। ये बहुत से हो सकते हैं। किन्तु काव्य मे शास्त्रचर्चा की सुविधा के लिए प्रमुख तेतीस ही सचारी कहे गए हैं। ३३ की सख्या निश्चित हो जाने से कभी लोगो को भ्रम हो जाया करता है। जैसे हिन्दी मे कुछ लोगो को यह भ्रम हुआ कि कवि 'देव' ने 'भावविलास' मे 'छल' नामक चौतीसवाँ सचारी लिखकर रस के क्षेत्र मे बहुत बडा अन्वेपण किया। पर बात ऐसी नही है। छल ही क्या दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि न जाने कितने भाव हैं जिनकी गणना तेतीस सचारियो मे नही है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण मे आप देख रहे हैं कि मिश्र जी स्वय मानते हैं कि सचारी स्थायी भावो के समान 'परिमित नही होते'—'वे बहुत से हो सकते हैं'। दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि की गणना सचारियो मे न होने के तथ्य की ओर भी उनका ध्यान गया है। फिर भी पता नही सख्या '३३' मे उन्हे शास्त्रचर्चा की कौन-सी सुविधा दृष्टिगत होती है। क्या इससे अधिक सख्या मे सुविधा कम हो जाती ? मैं समझता हूँ कि सख्या का प्रतिबन्ध हटा देने से सुविधा और भी बढ जाती। फिर यदि मिश्र जी का कहना ठीक भी मान लें तो क्या शास्त्र मे सुविधा के लिए अतथ्य-कथन भी हुआ करेगा ?

हमारी विनम्र सम्मति मे सचारी भावो के अध्याय मे काफी सशोधन-परिशोधन की आवश्यकता है।—और उनके सख्या-निर्धारण का निष्फल प्रयत्न तो सर्वथा त्याज्य ही है।

## गुप्त जी द्वारा सभी भावो (रसो) का ग्रहण

आलोच्य कवि अत्यन्त व्यापक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति है। जीवन मे जितनी भिन्न-विभिन्न स्थितिया और परिस्थितिया सभव हैं उनमे मे अधिकाश को उसने अपने काव्य का विषय बनाया है। आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर कहा है—"पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें।"[2] इस दृष्टि से हमारा कवि पूर्ण

१. वाड्मय-विमर्श, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२७
२ गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ७३

भावुक की कोटि मे आता है। सचमुच उसकी भाव-परिधि वहुत व्यापक है। व्यापकता की दृष्टि से आधुनिक साहित्यकारो मे प्रेमचन्द के अतिरिक्त और कोई भी मैथिलीशरण के समकक्ष नही है।

भावो का सवध रसो से है। भारतीय काव्यशास्त्र मे भाव की चरम परिणति को रस कहा जाता है।—और रसो की सख्या साधारणत नौ मानी जाती है। नौ रसो मे भी शृगार, वीर, शान्त और करुण का सवध जीवन के अधिक प्रवल और उपयोगी भावो से है। अत वे प्रमुख हैं। गुप्त जी के काव्य मे इन चार रसो का विशेषत और शेष पाँच का साधारणत चित्रण हुआ है। इस प्रकार उनके काव्य मे सभी रसो का समावेश है। रति भाव अथवा शृगार रस की व्यजना के लिए रग मे भग, शकुन्तला, साकेत (विशेषत प्रथम, नवम और दशम सर्ग), यशोधरा के 'यशोधरा' शीर्षक खण्ड, सिद्धराज, हिडिम्बा और जय भारत के कुछ अध्याय देखे जा सकते हैं। रग मे भग, वक-सहार, विकट भट, सिद्धराज तथा साकेत जय भारत और भारत-भारती के कुछ अशो मे उत्साह (वीर) का उद्भास है। निम्नलिखित पुस्तको और स्थलो पर करुण की धारा देखी जा सकती है—

भारत-भारती, जयद्रथ-वध, कुणाल-गीत, किसान, साकेत (दशरथ-मरण प्रसग), कावा और कर्वला, विश्व-वेदना, अजलि और अर्घ्य तथा जय भारत के कुछ खड।

शान्त का प्रसार देखना हो तो झकार और प्रदक्षिणा का अवलोकन कीजिए। जयद्रथ-वध, शक्ति, विकट भट, साकेत (तृतीय सर्ग मे लक्ष्मण), जय भारत (युद्ध तथा हत्या खण्ड) आदि मे रौद्र, जयद्रथ-वध (अर्जुन की प्रतिज्ञा के पश्चात् जयद्रथ की घवराहट), शक्ति आदि मे भयानक, जयद्रथ-वध और जय भारत (युद्ध खण्ड) मे वीभत्स, शक्ति और साकेत मे अद्भुत तथा पचवटी (सीता-लक्ष्मण सवाद), सिद्धराज (काचनदे-मीलनदे सवाद), साकेत आदि मे हास्य भी सहज उपलब्ध है। अब गुप्त जी के काव्य से रसो के कुछ उदाहरण लीजिए :

**शृङ्गार रस**

> हो चुका शृगार जब पूरा यथोचित रीति से,
> ले चलीं वर के निकट सखियां उसे तव प्रीति से।
> ललित लज्जा-भार से ग्रीवा रुचिर नीची किये,
> मन्द गति से वह गई अवलम्ब उन सवका लिये।[1]

वधू को विवाह-मण्डप मे ले जाने का दृश्य है। यहाँ पर वधू आश्रय और वर आलम्बन है। वर का सामीप्य उद्दीपन, हर्ष और लज्जा सचारी तथा गर्दन झुकना अनुभाव है। इस प्रकार रस की सम्पूर्ण सामग्री उपस्थित है। साकेत के तो प्रथम सर्ग मे ही लक्ष्मण-उर्मिला के सुखी दाम्पत्य का वर्णन है। नवदम्पति की मधुर-तरल विनोद-वार्ता ही रस-परिणति मे समर्थ है। किन्तु कवि ने मर्यादा का सदैव ध्यान रखा है। यद्यपि आलिगन तक का स्पष्ट चित्रण हुआ है—

---

१ रग मे भग, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १०

हाय लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये
और बोले—"एक परिरम्भण प्रिये!
सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किन्तु घाते मे उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।[1]

परन्तु सभोग पर गार्हस्थ्य का पावन आवरण झिलमिला रहा है। रीतिकालीन वर्णन की झलक भी कही-कही दृष्टिगत होती है, जैसे—

हलधर बन्धु को उठाये गिरिराज सुन,
आई वृषभानुजा मराल की सी चाल से।
देख सखियों के संग सुन्दर लता-सी उसे,
मुग्ध गिरिधारी हुए चंचल तमाल से।
डगता जान कम्प से करस्थ शैल क्रीड़ा का
व्रीडावश बन्द किये लोचन विशाल से।[2]

पर इसमे उस युग की अमर्यादित उच्छृङ्खलता नाम को भी नही है। रस के विभिन्न अवयव तो उपर्युक्त उद्धरण मे स्पष्ट हैं ही। बस, सिद्धराज से एक अवतरण और देख लीजिए—

पहुँची परन्तु ज्यो ही मन्दिर मे सुन्दरी
दीखा आप अर्णोराज सम्मुख अलिन्द मे,
.... ...... ....

ललित-गभीर, गौर, गौरव का गृह-सा,
एकाकी विलोक जिसे गरिमा ने भेंटा था।
. .. . ... .... . ..... ....

संकुचित होके कहा जाती राजनन्दिनी?
वन्दी के समक्ष स्वय वन्दिनी-सी हो उठी!
आके जडता ने उसे जकड लिया वहीं,
स्तम्भ वह भी था, अवलम्ब लिया जिसका!
हो गये अचल एक पल को पलक भी,
किन्तु वह रूप-भार कब तक झिलता?
आहा दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई।[3]

यहाँ काचनदे और अर्णोराज आलम्बन-आश्रय है। अर्णोराज का लालित्य एव

---

१. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०
२. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८
३. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ९३-९४

सौंदर्य तथा गौरव और गरिमा उद्दीपन हैं। स्थान भग्न देवालय तो नही पर देवालय का अलिन्द है। एकान्त के कारण वह भी उद्दीपन विभाव ही है। व्रीडा, स्तम्भ एव जडता आदि सचारी हैं, अपलक दर्शन, कम्प तथा दृष्टि का नत होना आदि अनुभाव हैं। इन सबसे पुष्ट स्थायी रति की शृङ्गार रस मे सफल परिणति हुई है।

अभी तक जितने उदाहरण दिए गए वे सब शृङ्गार के एक ही पक्ष—सयोग अथवा सभोग के थे। किन्तु रति की सघनता और व्यापकता की वास्तविक व्यजना उसके दूसरे रूप—वियोग अथवा विप्रलम्भ मे ही सभव है। दूसरे सयोग मे तो व्यक्ति घर की चारदीवारी मे ही सीमित रहता है। किन्तु वियोग मे व्यक्तित्व का असीम विस्तार हो जाता है। सीता के विरह में राम पशु-पक्षियो तक से वार्तालाप करना चाहते हैं—

हे खग, मृग हे मधुकर स्रेनी।
तुम देखी सीता मृगनैनी॥ आदि।

हमारे कवि ने शृङ्गार के इस पक्ष का ही अपेक्षाकृत अधिक चित्रण किया है—

मैं निज अलिंद मे खडी थी, सखि एक रात,
रिमझिम बूँदें पडती थीं घटा छाई थी,
गमक रहा था केतकी का गंध चारो ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी,
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चचला थी चमकी घनाली घहराई थी,
चौंक देखा मैंने चुप कोने मे खडे थे प्रिय,
माई मुख-लज्जा उसी छाती मे छिपाई थी।[1]

इस छन्द मे 'स्मृति' की ध्वनि मानी जा सकती है—किन्तु ऐसा नही है। प० रामदहिन मिश्र ने प्रस्तुत पद्य के विषय मे स्पष्ट लिखा है—"यहा पूर्वानुभूत सुखोपभोग की स्मृति का वर्णन रहने पर भी उसकी प्रधानता सिद्ध न होने से भाव ध्वनि नहीं है।"[2] वस्तुत यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार के सभी अवयव उपस्थित हैं। आश्रय है उर्मिला तथा आलवन लक्ष्मण हैं। एकान्त स्थान, बून्दों का पडना, झिल्ली की झनकार तथा केतकी की गध का प्रसार आदि उद्दीपन हैं। मुख का आरक्त हो जाना तथा छाती मे मुह छिपाना अनुभाव और हर्ष, स्मृति, विबोध आदि सचारी हैं। सब मिलाकर रति स्थायीभाव विप्रलम्भ शृङ्गार के रूप मे ध्वनित है।

विप्रलम्भ के चार भेद होते हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। इनमे से प्रवासजन्य विरह ही वास्तविक विरह है—उसी मे सर्वाधिक तीव्रता रहती है। पूर्वराग, सयोग से पूर्व की स्थिति है अत वह लालसा मात्र है। मान को विरह मानना ही उचित

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २१४

२ काव्य-दर्पण, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७४

नहीं—क्योकि उसमे वियोग ही कहाँ ? रहा करुण !—नायक-नायिका मे से किमी एक की मृत्यु से पहले उसकी स्थिति नही, और मृत्यु होते ही रति का स्थान शोक ले लेता है। अत वह रसान्तर का विषय वन जाता है। फिर भी उक्त चारो भेदो के तल मे रति का एक सूक्ष्म तन्तु तो अनुस्यूत रहता ही है अत. सर्वथा निर्दोप न होते हुए भी आचार्यकृत यह भेदीकरण अनर्गल प्रलाप नही है। मैथिलीशरण जी के काव्य मे विप्रलम्भ के ये सभी भेद उपलब्ध हैं। हा, आधिक्य प्रवास-विप्रलभ का ही है। यशोधरा से उसका एक उदाहरण लीजिए—

> उनका यह कुंज-कुटीर वही झड़ता उड़ अंशु अवीर जहां,
> अलि, कोकिल, कीर शिखी सब हैं सुन चातक की रट 'पीव कहां ?'
> अब भी सब साज-समाज वही तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
> सखि, जा पहुचे सुघ-संग कहीं यह अन्ध सुगन्ध समीर वहां ?[1]

गौतम के प्रति यशोधरा का हृद्‌गत रति भाव कोयल, मोर, भ्रमर, लता-मण्डप आदि से उद्दीप्त, ( प्रतीयमान ) वितर्क, औत्सुक्य आदि से परिपुष्ट तथा विवर्णता आदि से परिव्यक्त होकर वियोग की तीव्रता और सघनता को प्रकट कर रहा है। अव पूर्वराग का भी अवलोकन कीजिए—

> और कहीं चित्त नहीं लगता था उसका,
> सूना तन छोड मन जाता था वहीं-वहीं।
> 'आह' ! नींद आई उसे रात वडी देर में,
> और वह जाग पडी वहुत सवेरे ही।
> कौन कहे, उसने क्या स्वप्न देखा सोने मे,
> आप भी 'न जाने' कह मौन वह हो रही।[2]

देव-मन्दिर के अलिन्द मे अर्णोराज को आंख भर देख लेने के वाद राजकुमारी काचनदे का 'और कही' चित्त ही नही लगता। रात को देर मे नीद आती है—स्वावो की दुनिया मे भी पता नही कौन छा जाता है ? 'आप भी 'न जाने' कह मौन वह हो रही'—सचमुच जव प्रेम का प्रथम स्फुरण होता है तव 'न जाने' मन कैसा-कैसा होने लगता है।

विप्रलम्भ के शेप दो प्रकार भी रग मे भग, जयद्रथ-वध, यशोधरा और साकेत मे देखे जा सकते हैं। परम्परानुमोदित दस काम-दशाओ—अभिलापा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मृति—मे से भी मृति के अतिरिक्त सभी का आलेखन हमारे कवि ने किया है। वास्तव मे मरण को काम-दशाओ के अन्तर्गत मानना ही ठीक नही है—क्योकि वह रस-विरोधी है। इसीलिए तो आचार्य विश्वनाथ मरण-तुल्य दशा तथा आकांक्षित मरण आदि के वर्णन की ही अनुमति देते हैं—वास्तविक मृति की नही।[3]

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ४४
२. सिद्धराज, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ६१
३. दे० साहित्यदर्पण ३। १९३-१९४

आलोच्य कवि ने भी आकांक्षित मरण का अंकन किया है। उर्मिला की मृत्यु-कामना देखिए—

आप अवधि बन सकू कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ।[1]

गुप्त जी के काव्य से और दो काम-दशाओ के उदाहरण देकर इस प्रसग को समाप्त करते हैं—

जड़ता—

नारियां रनवास में सब रो रही थीं शोक से,
किन्तु बैठी मौन थी वह भिन्न ही ज्यों लोक से।
ज्ञात होता था कि मानों मूर्ति रक्खी है वहाँ,
जल गया अन्त करण जब, फिर भला आँसू कहाँ।[2]

स्मृति—

एकान्त मे हँसते हुए सुन्दर रदों की पाति से,
धर चिबुक मम रुचि पूछते थे नित्य तुम बहु भाँति से।
वह छवि तुम्हारी उस समय की याद आते ही वहीं,
हे आर्य्यपुत्र! विदीर्ण होता चित्त जानें क्यों नहीं॥[3]

'उनका यह कुज-कुटीर' आदि यशोधरा के पूर्वोद्धृत पद्य में उद्वेग की व्यजना है।

## वीर

"वीर रस का अत्यन्त उत्साह से प्रादुर्भाव होता है।"[4] आलम्बन, उद्दीपन आदि के भेद से उत्साह के चार मुख्य रूप हो सकते हैं। उन्ही के अनुसार वीर रस के भी भेद होते हैं—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर। सर्वप्रमुख इनमे युद्धवीर ही है। हमारे कवि ने युद्धवीर का बहुत कम वर्णन किया है। उसके काव्य मे युद्ध का चित्रण न मिलकर कथन अधिक है, यथा—

कर्ण था अटूट सार-धारा का प्रपात-सा,
सामने जो आया वही डूबा-बहा उसमे!
आशा भी किसी के बचने की रही किसको?
सीमा छोड मानो महासिन्धु वहा उमडा।[5]

फिर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। बिना अधिक प्रयास के ही कई अच्छे

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २३५
२. रग मे भग, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ १७
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृष्ठ २३
४ काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग)—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पचम सस्करण, पृष्ठ २१५
५ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३८२-३८३

उदाहरण मिल सकते हैं। गुप्त जी की सर्वप्रथम रचना रग मे भग से ही निम्न उद्धरण देखिए—

"वीर कुम्भ ! विचार ऊचे हैं तुम्हारे सर्वथा,
किन्तु दोषारोप अब मुझ पर तुम्हारा है वृथा।
वीर बूदी के स्वय मौजूद हो जब तुम यहां,
तो कहो, प्रण पालना झूठा रहा मेरा कहां ?"
क्रुद्ध हो तब कुम्भ ने शर से उन्हें उत्तर दिया,
किन्तु राना ने उसे झट ढाल पर ही ले लिया।
फिर वहां कुछ देर को पूरी लडाई मच गई
वध किये उस वीर ने मरते हुए भी रिपु कई ॥[1]

यहां राणा और हाडा कुम्भ आलम्बन तथा आश्रय हैं। राणा के वचन तथा उनके प्रहार उद्दीपन हैं। कुम्भ का शरसधान तथा अन्य शस्त्रो द्वारा प्रहार अनुभाव हैं। रोप तथा ( मातृभूमि के निमित्त वलिदान का ) हर्ष सचारी हैं।—और उत्साह स्थायी तो है ही ! इस प्रकार वीर के सम्पूर्ण अवयव नियोजित हैं। शक्ति की निम्न पक्तियां भी द्रष्टव्य हैं—

गरजी अट्टहास कर अम्वा देख ठट्ट के ठट्ट,
दहल उठे जल-थल अम्वर तल घटा विकट संघट्ट।[2]

इस अवतरण मे महाशक्ति और राक्षसो के युद्ध का वर्णन है। रस की दृष्टि से शक्ति आश्रय तथा राक्षस आलम्वन हैं। राक्षसो का वहुसख्या मे एकत्रीकरण तथा उनकी विरूपता एव विकरालता उद्दीपन हैं। चण्डी का अट्टहासपूर्ण गर्जन तथा युद्ध मे रिपु-दलन अनुभाव हैं। राक्षसो के पूर्व-कृत्यो की स्मृति एव धैर्य सचारी हैं। इन सव तत्त्वो से परिपुष्ट उत्साह (स्थायी) रस-रूप मे व्यजित है।

'साकेत' से भी एक उदाहरण लीजिए—

दल-बादल भिड गए, धरा धंस चली धमक से,
भडक उठा क्षय कड़क तडक से, चमक दमक से।
रण-भेरी की गमक, सुभट, नट-से फिरते थे,
ताल-ताल पर रुण्ड-मुण्ड उठते-गिरते थे ![3]

यहां भी उत्साह (युद्ध) वीर रस के रूप मे ध्वनित हो रहा है। अव वीर के अन्य भेदो को लीजिए

भीम, शरणागत का अपमान !
कहां है आज तुम्हारा ज्ञान ?
* * *

---

१. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २९
२. शक्ति, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १२
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३२०

वत्स अर्जुन, सत्वर जाओ,
और तुम उन्हे छुड़ा लाओ।
शत्रु समझो, तो भी आओ,
द्विगुण जय यों उनपर पाओ।
भीम, सहदेव, नकुल सब लोग;
करो जाकर समुचित उद्योग।[1]

वन-विहार के समय दुर्योधनादि चित्ररथ द्वारा पकडे जाते हैं। तब वृद्ध सचिव वन-वासी पाण्डवों के पास सहायता के लिए जाते हैं। दुर्योधन और उसके मित्रो की दुर्दशा का समाचार सुन भीम प्रसन्न होते हैं। किन्तु युधिष्ठिर भीम का मोह-भग करते हुए अपने भाइयो को उन्हे बन्धन-मुक्त कराने के लिए प्रेरित करते हैं—उक्त अवतरण का यही प्रसग है। इसमे दुर्योधनादि आलम्बन तथा युधिष्ठिर आश्रय हैं। उनकी दुर्दशा तथा मन्त्री द्वारा साहाय्य-याचना उद्दीपन हैं। आपत्ति के समाचार पर वृकोदर की प्रसन्नता भी उद्दीपन के अन्तर्गत ही आती है। धर्मपुत्र के उपर्युक्त वचन अनुभाव तथा धृति, हर्ष आदि सचारी हैं। इस प्रकार दया-वीर व्यजित है। निम्नाकित पक्तियो मे धर्म वीर का औज्ज्वल्य भी देखिए—

कहने लगे अर्जुन...... . . . ... .. .. ...
रहते हुए तुम-सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं!
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-बल ही सब कहीं।
जल कर अनल मे दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी,
अच्युत! युधिष्ठिर आदि का सब भार है तुम पर सभी॥[2]

करुण

मैथिलीशरण जी के काव्य मे करुण रस का ही प्राधान्य है। इस विशेषता से प्रभावित एव प्रेरित होकर डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने तो गुप्त जी के काव्य की कारुण्यधारा नामक एक पुस्तक ही लिखी है। सबसे पहले कवि की आरभकालीन पुस्तक जयद्रथ-वध से एक उदाहरण लीजिए—

मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी,
भूलो न मुझको नाथ, हूँ मैं अनुचरी चिरसगिनी।
जो अगरागाकित-रुचिर-सित-सेज पर थी सोहती,
शोभा अपार निहार जिसकी मैं मुदित हो मोहती,
तव मूर्ति क्षत-विक्षत वही निश्चेष्ट अब भू पर पड़ी!
बैठी तथा मैं देखती हूँ, हाय री छाती कडी!
हे जीवितेश! उठो, उठो, यह नींद कैसी घोर है,
.. .. . . . .. .......।[3]

---

१. वन-वैभव, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३२—३३
२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा संस्करण, पृष्ठ ८३
३. " " " पृष्ठ २५

यहा अभिमन्यु का शव आलवन तथा उत्तरा आश्रय है। पति की सुन्दरता, वीरता तथा प्रेम का स्मरण आदि उद्दीपन हैं। चिन्ता, दैन्य आदि सचारी तथा उत्तरा का विलाप अनुभाव है। इन सवसे परिपुष्ट स्थायी भाव शोक की करुण रस मे परिणति होती है। एक उद्धरण और देखिए—

आज मैं विदेशिनी हूँ, अपने ही देश मे
वन्दिनी-सी आप निज निर्मम निवेश मे
हा ! दुःस्वप्न हो मैं इसे मान नहीं सकती
कैसे समझाऊँ मन जान नहीं सकती
मेरी यह दिव्य धरा आज पराधीना है
इन्द्राणी अभागिनी है, देवेश्वरी दीना है।[1]

इन्द्र के स्वर्ग-भ्रष्ट होने पर नहुप इन्द्र वनते हैं। इस स्थिति से इन्द्राणी वहुत दुखी हैं। यहाँ इन्द्र का पराभव आलवन, इन्द्राणी आश्रय, स्वर्ग की परावीनता (मानव द्वारा इन्द्रासन ग्रहण करने के कारण) आदि उद्दीपन हैं। ग्लानि, चिन्ता, विपाद आदि सचारी एव उच्छ्वास, विवर्णता तथा इन्द्राणी का उक्त वचन अनुभाव हैं। इस प्रकार करुण रस ध्वनित है। विकट भट का यह अवतरण—

"जा, वेटा कदाचित् सदा के लिए" हाय रे !
करुणा से कठ भर आया ठकुरानी का।
जाकर अन्धेरी एक कोठरी मे वेग से,
पृथ्वी पर लौट वह रोई ढाढ़ मार के,
व्योम की भी छाती पर होने लगी लीक-सी ![2]

भी द्रष्टव्य है। कुमार सवाईसिंह आलम्वन, ठकुरानी आश्रय तथा जोधपुर-नरेश विजयसिंह का सवाईसिंह को दरवार मे वुलाना एव उसके पूर्वकृत्यो का स्मरण उद्दीपन हैं। ठकुरानी का वेग से जाना, पृथ्वी पर लोटना, रोना चिल्लाना आदि अनुभाव है। दैन्य, विपाद, उन्माद आदि सचारी हैं। इन सभी अवयवो के अवलम्व मे स्थायीभाव शोक की रस मे परिणति हुई है। साकेत के दशरथ-मरण प्रसग से भी करुण की आर्द्रता का एक उत्कृष्ट निदर्शन देखिए—

वस, यहीं दीप-निर्वाण हुआ, सुत-विरह वायु का वाण हुआ।
धुंधला पड गया चन्द्र ऊपर, कुछ दिखलाई न दिया भू पर।
अति भीषण हाहाकार हुआ, सूना-सा सव संसार हुआ।
अर्द्धांग रानिया शोककृता मूर्च्छित हुईं या अर्द्ध-मृता ?
हाथों से नेत्र वन्द करके, सहसा यह दृश्य देख डरके,
'हा स्वामी!' कह ऊचे रव से, दहके सुमन्त्र मानो दव से।

---

१. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १०
२. विकट भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ९

अनुचर अनाथ से रोते थे, जो थे अधीर सब होते थे।
थे भूप सभी के हितकारी, सच्चे परिवार-भार धारी।[1]

यह बन्धु-नाश-जन्य करुण है। रसावयव सहज-स्पष्ट हैं—महाराज दशरथ आलम्बन हैं, रानियाँ, सुमन्त्र तथा अन्य भृत्य अभिप्राय यह कि जो भी वहाँ उपस्थित थे वे सभी आश्रय हैं। दशरथ के शव का दर्शन, सर्वहितकारिता, परिवार-पालन-कुशलता आदि उनके प्रशसनीय गुणो का स्मरण आदि उद्दीपन हैं। रोदन, नेत्र-निमीलन, प्रलाप, मूर्च्छा आदि अनुभाव तथा आवेग, दैन्य, जडता, विषाद आदि सचारी भाव हैं। उपर्युक्त सामग्री से परिपुष्ट शोक की करुण रस के रूप मे चरम परिणति हुई है।

शान्त

क्या भाग रहा हूँ भार देख ?
तू मेरी ओर निहार देख ?
मैं त्याग चला निस्सार देख,

* * *

रूपाश्रय तेरा तरुण गात्र,
कह, वह कब तक है प्राण-पात्र ?
भीतर भीषण कंकाल मात्र,

* * *

प्रच्छन्न रोग हैं, प्रकट भोग ;
सयोग मात्र भावी वियोग !
हा लोभ-मोह मे लीन लोग,
भूले हैं अपना अपरिणाम !
ओ क्षणभंगुर भव, राम-राम ![2]

ये पक्तिया गौतम के 'महाभिनिष्क्रमण' से उद्धृत हैं। गौतम आश्रय तथा असार ससार आलम्बन है। प्राणी का अनिवार्य मरण, मानव की भीतरी ककालता, भोग मे रोग का निहित रहना तथा सयोग का अनिवार्यत· वियोग मे परिवर्तन आदि उद्दीपन हैं। गृह-त्याग, ससार को इस प्रकार सम्बोधित करना आदि अनुभाव हैं। सचारी हैं वितर्क, मति, धैर्य आदि। सहृदयो के हृदय मे वासना-रूप से स्थित निर्वेद पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव और सचारी से शान्त रस का रूप धारण करता है। पचवटी के निम्न पद्य मे भी शान्त का सौंदर्य है—

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढते हैं शुक सारी भी आश्रम के,
मुनि-कन्याएँ यश गाती हैं क्या ही पुण्य पराक्रम के।

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १२३
२. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १६-१७

**अहा ! आर्य्य के विपिन-राज्य मे सुखपूर्वक सब जीते हैं,**
**सिंह और मृग एक घाट पर आकर पानी पीते हैं।[1]**

'स्वच्छ शिला' पर बैठे हुए 'धीर, वीर, निर्भीकमना' लक्ष्मण पचवटी की शोभा निहार रहे हैं। पचवटी ही यहाँ आलम्बन है, आश्रय हैं लक्ष्मण। पचवटी का शान्त वातावरण, शुक और शारिका का 'शुभ सिद्धान्त वाक्य' पढना, सवका सुखपूर्वक जीना—सिंह और मृग का एक घाट पर पानी पीना आदि उद्दीपन हैं। एकान्त वातावरण मे रमना, ससार के तथाकथित सुख-वैभव से पराङ्मुखता आदि अनुभाव हैं। हर्ष, मति आदि सचारी है। इन सभी अवयवो से पोषित शम रस-रूप मे व्यजित है।

निर्वेद भी यहाँ सचारी के रूप मे है। मै समझता हूँ कि निर्वेद और शम दोनो मे से कोई भी स्थायी बन सकता है। आचार्यों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[2]

रौद्र

प्रस्तुत कवि ने युद्धवीर का तो नही—किन्तु रौद्र का प्रचुर चित्रण किया है। दो एक उदाहरण लीजिए—

**श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे,**
**सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।**
**"संसार देखे अब हमारे शत्रु रण मे मृत पडे,"**
**करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खड़े।[3]**

यहाँ पापकर्मा कौरव तथा उनके सहायक आलम्बन हैं। अर्जुन आश्रय तथा उनका हाथ मलना, खडे हो जाना एव उनके आरक्त नेत्र तथा उपर्युक्त गर्वोक्ति अनुभाव हैं। उद्दीपन हैं कृष्ण के वचन और अभिमन्यु-से पुत्र की मृत्यु। गर्व और आवेग सचारी हैं। रस के सम्पूर्ण अवयवो का कैसा सफल सयोजन है। निम्नाकित सक्षिप्त किन्तु सप्रभाव अवतरण भी द्रष्टव्य है—

**"अरे पापी तुझको तो मैं**
**व्योम मे रसातल मे खोजकर मारता**
**भाग्य से तू भू पर ही मिल गया मुझको"[4]**

शास्त्राभ्यासियो के लिए यहाँ पर भीम और दु शासन आश्रय-आलम्बन हैं। दु शासन के पूर्वकृत्य उद्दीपन तथा भीम की (अनुमित) आकुचित भौहें और फूले हुए नथने अनुभाव हैं। दु शासन पर प्रहार, कठोर भाषण आदि भी अनुभाव के अन्तर्गत ही आएगे। उग्रता तथा स्मृति आदि सचारी हैं। इस प्रकार रौद्र का सावयव निरूपण हुआ है। मुक्तक-सग्रह मगल-घट से भी एक उद्धरण देखिए—

---

१. पंचवटी, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ १२
२. दे० काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग)—कन्हैयालाल पोद्दार, पंचम संस्करण, पृष्ठ २३४
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ३६
४. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३८४

ठाकुर ने त्योरियो के साथ तलवार भी
खींच ली तुरन्त और क्रोध[1] कर यों कहा—
"मार कर दूंगा अभी आतें गिर जाएगी,
कहता हूँ फिर भी उतार दे उतार दे !"[2]

भयानक

बोला तब कातर होकर वह भूल यशोलिप्सा सारी—
"देखो, देखो वृहन्नले, यह सेना है कैसी भारी !
इसे देखकर धैर्य छूटता, अग कापते हैं, थकते,
मैं क्या, इसे स्वय सुरगण भी रण में नहीं हरा सकते।
मैं किस भाँति लडूंगा इससे मोडो रथ के अश्व अभी,
. . . . . ।"[3]

कौरव-सेना विराट की राजधानी पर आक्रमण करती है। महाराज का पुत्र उत्तर वृहन्नला नाम-धारी अर्जुन को सारथी बना युद्ध के लिए जाता है। किन्तु शत्रु की विशाल वाहिनी को देखकर वह घबरा जाता है। इसमे कुरुराज की सेना आलम्बन, राजकुमार उत्तर आश्रय हैं। शत्रु-सेना की विशालता, विकरालता और दुर्जेयता उद्दीपन हैं। कातर-वचन, अवीरता, कम्प, श्रम, ( प्रतीयमान ) वैवर्ण्य आदि अनुभाव तथा चिन्ता, आवेग, त्रास आदि सचारी है। काव्य-वर्णित ये विभाव, अनुभाव और सचारी वासना-रूप मे रसिक के हृदयस्थ भय को रस-दशा मे परिवर्तित करने मे सक्षम हैं। जयद्रथ-वध से अवतरित निम्न पद्य मे भी भयानक की उत्कृष्ट व्यजना है—

जो प्रण किया है पार्थ ने सुत-शोक के सन्ताप से
हे कुरुकुलोत्तम ! क्या अभी तक वह छिपा है आपसे ?
'मारू जयद्रथ को न कल मैं तो अनल मे जल मरू',
की है यही उसने प्रतिज्ञा, अब कहो मैं क्या करूँ ?
कर्त्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है,
भय और चिन्ता-युक्त मेरा जल रहा सब गात है।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए,
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए ॥[4]

यहाँ रस के सभी अवयव सहज-सुलभ हैं। किन्तु भयानक के चित्रण मे भय का स्पष्ट कथन ('भय और चिन्ता-युक्त' आदि पक्ति मे) दोप है। इसीलिये श्री कन्हैयालाल पोद्दार और प० रामदहिन मिश्र ने क्रमश: काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग) और काव्यदर्पण मे भयानक

---

१ यह स्वशब्दवाच्यत्व दोष है।

२ मगल-घट, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २०५

३ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २७१

४ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां सस्करण, पृष्ठ ४१

रस के निदर्शन-स्वरूप उपर्युक्त पक्तियो मे से अतिम चार को उद्धृत करते समय 'भय और चिन्ता-युक्त . मे 'भय और' के स्थान पर 'कुरुराज' शब्द का प्रयोग किया है।[1] जिससे कि पूर्वोल्लिखित दोष का परिहार हो जाता है—अन्यथा वह मूलपाठ नही है।

### हास्य

स्वभावत हमारा कवि हास-प्रिय है—गभीर से गभीर परिस्थिति मे भी वह हास का अवसर निकाल लेता है। उदाहरण के लिए सात्यकि के यह कहने पर कि कृष्ण और अर्जुन मुझे आपकी रक्षा के लिये छोड गए हैं, युधिष्ठिर का अधोलिखित कथन कैसा हास्य-तरल है—

**सीता के समीप जैसे लक्ष्मण को छोड के**
**माया-मृग मारने गये थे राम वन मे ![2]**

यहाँ पर यह उक्ति आलवन और युधिष्ठिर का स्वभाव उद्दीपन है। आश्रय कवि और पाठक को ही मानना चाहिए। वास्तव मे हास्य की यह विशेषता है कि कोई भी उसका आश्रय वन सकता है। सिद्धराज की निम्न पक्तियों का सरल हास्य भी दर्शनीय है—

**औषधि का रत्न-पात्र देने चली दादी को,**
**किन्तु 'नहीं' सुन, हस वोली—"वड़ी मीठी है !"[3]**

राजकुमारी काचनदे अपनी दादी मीलनदे को औषधि सेवन कराने के लिए जाती है। किन्तु दादी औषधि लेने से इन्कार कर देती है। तव काचनदे उन्हे वहलाना-फुसलाना चाहती है, कहती है कि दवाई "वडी मीठी है"। साधारणत वडे-वूढे इस तरह से वच्चो को वहलाया करते हैं—किन्तु यहाँ विपरीत वात है। यह वैपरीत्य ही हास्य का मूल है।

### अद्भुत

"आश्चर्य-जनक विचित्र वस्तुओ के देखने से अद्भुत रस व्यक्त होता है।"[4] मैथिली-शरण जी के काव्य मे अद्भुत का चित्रण वहुत कम हुआ है, फिर भी प्रयत्न करने पर दो-एक अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं। यथा—

**खींच कर श्वास आस-पास से प्रयास विना**
**सीधा उठ शूर हुआ तिरछा गगन मे,**
**अग्नि-शिखा ऊंची भी नहीं है निराधार कहीं,**
**वैसा सार-वेग कव पाया साल्व घन मे ?**

---

१. (क) काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग), पचम सस्करण, पृष्ठ २२५
(ख) काव्य-दर्पण, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १८९

२ युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १७

३. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ८३

भूपर से ऊपर गया या वानरेन्द्र मानो
एक नया भद्र भौम जाता था लगन मे,
प्रकट सजीव चित्र-सा था शून्य पट पर,
दण्ड-हीन केतन दया के निकेतन मे ![1]

हनुमान के आकाश-आरोहण का चित्रण है। इसमे अद्‌भुत का चमत्कार है। भरत, माण्डवी, शत्रुघ्न तथा अन्य दर्शक-वृन्द आश्रय हैं। आलम्बन है उपर्युक्त अलौकिक घटना। विना प्रयास एकदम ऊपर चढते चले जाना उद्दीपन तथा (प्रतीयमान) रोमाच, नेत्र-विस्फारण आदि अनुभाव हैं। हर्ष, चपलता, औत्सुक्य आदि सचारी भी सहज-अनुमित हैं। इन सवसे पुष्ट विस्मय की अद्‌भुत रस के रूप मे प्रतीति होती है।

वीभत्स

गोल-कपोल पलटकर सहसा वने भिडो के छत्तो-से,
हिलने लगे उष्ण सासो से ओठ लपालप लत्तों-से !
कुन्दकली-से दात हो गये वढ़ वराह की डाढो-से,
* * *
जहाँ लाल साडी थी तनु मे वना चर्म का चीर वहाँ,
कन्धों पर के वडे वाल वे वने अहो ! आतो के जाल,
फूलो की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल ![2]

राम-लक्ष्मण दोनो से निराश शूर्पणखा के विकृत रूप-धारण का अकन है। इसमे राम, लक्ष्मण ( सीता भी ) तथा अन्य दर्शक ( यदि कोई उपस्थित था तो ! ) आश्रय हैं। शूर्पणखा की रूप-विकृति (निर्लज्ज काम-लिप्सा-जन्य) आलम्बन है। भिड के छत्तो जैसी कुरूपता, दातो की विकरालता, चर्म-चीर, आत-जाल एव मुण्डमाला की विगर्हणा आदि उद्दीपन हैं। अध्याहृत थुत्कार, मुँह फेर लेना आदि अनुभाव है तथा वैवर्ण्य, मोह आदि व्यभिचारी हैं। इन सव अवयवो से पोपित जुगुप्सा रस-रूप मे व्यग्य है। निम्न पक्तियो मे भी वीभत्स की ध्वनि है—

रक्त से हरी धरा को सींच,
पड़े हैं दुर्विध आँखें मींच।
... . . . ......
गीध खाते हैं आँखें खींच।[3]

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २६३
२. पंचवटी, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ४२
३. विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ४३

## वत्सल और भक्ति रस

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि वात्सल्य और भक्ति का रसत्व विवादग्रस्त विषय है। फिर भी इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि इन दोनो भावो मे रस-दशा तक पहुँचने की क्षमता है। प० रामदहिन मिश्र ने तो इन्हें स्वतन्त्र रस के रूप मे परिभाषाबद्ध भी कर दिया है—

( १ ) "जहाँ ईश्वर-विषयक प्रेम विभावादि से परिपुष्ट होता है वहाँ भक्तिरस जाना जाता है।"[१]

( २ ) "जहाँ पुत्रादि के प्रति माता, पिता आदि के वात्सल्य परिपूर्ण स्नेह की विभावादि द्वारा पुष्टि हो वहाँ वत्सल रस होता है।"[२]

गुप्त जी के काव्य से दोनो के निदर्शन प्रस्तुत करते हैं—

धनुर्वाण या वेणु लो, श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम ! दूसरा रंग।[3]

यह निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रथारम्भ मे लिखा गया मगलाचरण है। स्थायी भाव है ईश्वरानुराग। राम आलम्बन हैं—उनका श्यामल सौंदर्य तथा धनुर्वाण अथवा वेणु-धारण उद्दीपन हैं। आश्रय तो यहाँ स्वय कवि ही है। हर्ष, मति, औत्सुक्य आदि सचारी तथा गद्गद वचन आदि अनुभाव हैं। भक्ति रस की कैसी कुशल अभिव्यजना है। निम्न अवतरण भी भक्ति रस से आप्लावित है—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व मे रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममे रमा करे।[४]

राम मे गूढानुरक्ति का यह अन्यतम उदाहरण है। अब निम्न पक्तियो मे यशोधरा के वत्सलता-वरिष्ठ मानस का उद्वेलन भी देखिए—

किलक अरे, मै नेंक निहारूँ,
इन दाँतों पर मोती वारूँ !
पानी भर आया फूलों के मुँह मे आज सवेरे,
हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल ! मुख मे तेरे।
लटपट चरण, चाल अटपट-सी मनभाई है मेरे,

---

१. काव्य-दर्पण, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २१४
२. „ „ , पृष्ठ २१८
३. द्वापर, मंगलाचरण

तू मेरी अगुली धर अथवा मैं तेरा कर धारूँ ?
इन दाँतों पर मोती वारूँ ![1]

स्नेह-सवलित, ममतामयी माँ का पुत्र के प्रति हार्दिक उद्गार प्रकट हुआ है। उपर्युद्धृत अवतरण मे राहुल और यशोधरा आलम्बन-आश्रय है। राहुल के छोटे-छोटे दुग्ध-धवल दाँत, अटपटी चाल, चलने की शिशु-सुलभ असमर्थ उत्सुकता तथा फेनोज्ज्वल हास आदि उद्दीपन हैं। स्नेहसिक्त उक्त कथन, पुलक तथा अनुमित नेत्र-विकास, शीश और हस्त-सचालन आदि अनुभाव हैं। हर्ष तथा 'हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल! मुख मे तेरे' से व्यग्य गर्व सचारी हैं। रस का कितना सुष्ठु परिपाक है। लक्ष्य साहित्य से ऐसे स्थलो के रस-ग्रहण के पश्चात् भी क्या लक्षणकार वत्सल को रस स्वीकार न करने की हठधर्मी करते ही रहेगे ?

## आलम्बनों का वैविध्य

भाव की चरम परिणति रस की विविधता हम गुप्त जी के काव्य मे देख चुके हैं। वैसे तो रसो के मूलाधार और स्पष्ट शब्दो मे, भाव-उद्बुद्धि के कारण-स्वरूप आलम्बनो का भी यत्किंचित् दिग्दर्शन हो चुका है। किन्तु यहाँ पर उनके वैविध्य के परिदर्शन का प्रयत्न किया जाएगा। 'मनुष्य से लेकर कीट, पतग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ' आलम्बन बन सकता है। जिसके काव्य मे सृष्टि के विस्तृत प्रागण से जितनी अधिक वस्तुएँ गृहीत होगी वह उतना ही महान् कवि होगा—कवि के महत्ता-निर्धारण की एक कसौटी उसके द्वारा स्वीकृत क्षेत्र की व्यापकता और विस्तार भी है। हमारे कवि के आलम्बनो मे अपार वैविध्य है। उसने चेतन-अचेतन, क्षुद्र-विराट्, मानव-दानव, पशु-पक्षी, शुभ-अशुभ, राजा-रक सभी को समस्त विभिन्नता के साथ अपनाया है।

लक्षणकारो ने रसो मे शृगार का और आलम्बनो मे उसी की मुख्य आधार नायिका का विशद विवेचन किया है। शृगार के ही सम्बन्ध मे वर्णन नायक का भी हुआ है पर नायिका का भेदोपभेद-व्याख्यान तो—वर्ण, जाति, देश, पति-प्रेम, सामाजिक स्थिति आदि—न जाने कितने आधार ग्रहण करता हुआ उपहासास्पद कोटि तक पहुँच गया था। एक युग ऐसा भी आया था कि लक्ष्यकारो ने उन्ही के उदाहरण प्रस्तुत करने मे अपनी कवित्व-शक्ति की इति-श्री समझ ली थी। सौभाग्य से अब उस कुप्रवृत्ति का अत हो गया है। नायक-नायिका का चित्रण तो आज भी होता है (क्योकि यह तो काव्य का चिरन्तन विषय है), किन्तु अब वह रूढि-मुक्त हो गया है। गुप्त जी की नायिका का सहज सौंदर्य देखिए—

अरुण-पट पहने हुए आह्लाद मे,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट मूर्तिमती ऊषा ही तो नहीं ?
× × ×
कनक लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला !
× × ×

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ४६

झलकता आता अभी तारुण्य है,
आ गुराई से मिला आरुण्य है।[1]

शास्त्रनिष्ठ पण्डित यहाँ भी मुग्धा का सन्धान किए बिना नही रहेगा—किन्तु इस सहज चित्रण मे शास्त्रीयता का आग्रह कहाँ है ? हमारा विश्वास है कि इन पक्तियो को लिखते समय कवि के मन मे मुग्धा की शास्त्रीय परिभाषा नही थी। इसीलिए इसे 'सहज चित्रण' कहा गया है। यह तो हुआ एक सम्भ्रान्त कुल की—'जाई राजघर, व्याही आई राजघर'—नायिका का अकन। निम्न अवतरण मे निम्न श्रेणी की श्रमशीला नायिका का भी अवलोकन कीजिए—

थी श्रम से उद्दीप्त और भी तप्तस्वर्णशोभाभरणी।
उभरे अग साँस वढने से हिलकोरे-से लेते थे,
स्वेद-विन्दु माथे के मोती भाग्य-सूचना देते थे।
लम्वा वाँस लिये थी कर मे निज विजयध्वज-दण्ड यथा,
× × ×
अलकें वा यमुना लहरों से सूंघ रही थी सिर उसका,
भोले मुख पर खेल रहा था वाल्यभाव अस्थिर उसका।
खडा कछोटा, किन्तु कंधेला पड़ा-पड़ा उड चलता था,
गोरे वाहु मूल मे यौवन फूला-फूला फलता था।[2]

वय सधि का कैसा परम्परामुक्त प्रसन्न चित्र है। गतानुगतिकता की गध भी नही! और अव देखिए निर्लज्जा कामिनी के अनावृत रूप की जगमगाहट—

रत्नाभरण भरे अंगो मे ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ जुगनू जगमग जगते थे।
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगो से झलक रही,
कमलो की मकरन्द-मधुरिमा मानों छवि से छलक रही।[3]

यह अभुक्त-काम शूर्पणखा का वासना-पकिल वृत्तान्त है। इसके विपरीत आलेखन है साकेत के चौथे सर्ग मे मर्यादा-सकुचित सीता के नियन्त्रित-काम कुलवधू-रूप का।

पुरुषो में राम तो कवि के आराध्य हैं—उनके सौंदर्य, शक्ति और शील-समन्वित रूप का तो उसने वडी उमग से वखान किया ही है। सिद्धराज जयसिंह के धीरोदात्त्य के भी दर्शन कीजिए—

युवक उदार-वीर उच्च उदयाद्रि के
शिखर-समान, चित्र भानु-सा किरीट था,
सहज प्रसन्न-मुख, लोचन विशाल थे,

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २२

भाल पर भौंहें दृढ़ निश्चय की रेखा-सी ।
लाल-लाल होठों पर सूक्ष्म मसि-लेखा थी ।

* * *

पीन वृष-स्कन्ध, क्षीण सिंह-कटि, साहसी,
दीर्घ हस्ति-हस्त, मानो पशुता के गुण्य की
देव-साधना का वह पुण्य-नर क्षेत्र था ![1]

उधर अनुकूल नायक नन्द के विषय मे यशोदा कह रही हैं—

मेरे पति कितने उदार हैं, गद्‌गद हूँ यह कहते—
रानी-सी रखते हैं मुझको, स्वयं सचिव से रहते ।[2]

अर्जुन की रोषाविष्ट उग्र मुद्रा भी दर्शनीय है—

· · दृगों का जल गया शोकाश्रुजल तत्काल ही
तब निकल कर नासा-पुटों से व्यक्त करके रोष त्यों
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों—
जिस भाँति हरने पर किसी के, प्राण से भी प्रिय मणी,
करके स्फुरित फिर-फिर फणा फुंकार भरता है फणी ।[3]

क्रोध की उपर्युक्त प्रचण्ड ज्वाला का ही प्रतियोगी है ब्राह्मण का सर्वथा शान्त व्यक्तित्व—

द्विजवर्य विघ्नो से रहित,
वेदी निकट, शिशु सुत सहित,
सानन्द सन्ध्योपासना था कर रहा ।
परितृप्त गृह-सुख-भोग से,
मन्त्र-स्वरो के योग से,
मानों भुवन की भावना था हर रहा ।[4]

ब्राह्मण की प्रशान्त सन्ध्योपासना के उपरान्त भगवदवतार श्रीकृष्ण के शयन-सौन्दर्य का दर्शन-सुख भी लूटिए—

ओढ़े मनोहर पीत पट वे दिव्य रूप-निधान थे,
प्रत्यूष-आतप-युक्त यमुना-ह्रद-सदृश सुविधान थे ।
यो लग रहे उनके निमीलित नेत्र युग्म ललाम थे,
भीतर मधुप मूँदे हुए ज्यों सुप्त सरसिज श्याम थे ।

* * *

---

१. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २१
२ द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १४
३ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ३७
४. वक-संहार, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ७

नीलारविन्द समान तनु की अति मनोहर कान्ति थी,
गलहार के गज मौक्तिकों मे नीलमणि की भ्रान्ति थी ![1]

भगवद्लीला के साथ ही असुरकृत उत्पात पर भी दृष्टिपात कीजिए—

पटके पैर दैत्य दुर्द्धर ने धँसी मेदिनी मूक ;
पटकी पूँछ जलधि चिल्लाया 'निज मर्यादा चूक !
उछला असुर—हुए शृंगो से मेघो के सौ टूक,
मारी जो हुकार महिष ने उठी प्रलय की हूक ।[2]

ऐसे राक्षसो का उन्मूलन करने मे समर्थ है शक्ति का निम्नांकित चण्डी-रूप—

दोनों सन्ध्याओ के गतिमय थे उनके भ्रूभग,
उठते थे उनकी त्रिवली मे क्या ही त्रिगुण-तरंग !
वज्रि-विभा मे था अदृश्य-सा उनकी कटि का ढंग,
भिन्न-भिन्न सुर तेजोमय थे उनके सारे अंग ।[3] आदि ।

—और वालक के वात्सल्य-उद्दीपक चित्र का अपना ही आकर्षण है—

वैठी वहन के स्कन्ध पर
रक्खे हुए निज वाम कर,
कुल-दीप सा वालक खडा था स्थिर वहाँ ।
पाकर समय उसने कहा,
थी तोतली वाणी अहा
"मालूं अचुल को मैं अभी, वह है कहाँ ?"[4]

वालक की तोतली वाणी की तुलना कीजिए मधुप की मधुर गुजार से—

गुन-गुन सगुण गान करके,
मधु मकरन्द पान करके ।
मधुकर मुक्त घूमते हैं
कुसुम कपोल चूमते हैं ।।[5]

पट्पद-से क्षुद्र जीव की क्रीडाओ मे भी कैसा मोहन भाव है ! ("कीरी" तो नही पर) मधुकर के साथ ही तुरग और कुजर का गति-चित्र भी लीजिए—

धरा को धसका कर मातंग
वढ़े दिखलाकर निज गति-रंग ।

---

१. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २८८
२. शक्ति, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५
३. शक्ति, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ६
४ वक-संहार, " " २००२, पृष्ठ २०
५. वैतालिक, " " २००८, पृष्ठ १२

उडाकर उसकी धूल तुरंग,
चले ज्यों चपल अपांग सभग ।[1]

और शायद कवियो की ऊट-विषयक उदासीनता का परिहार करने के लिए कवि ने इस स्थान पर ऊट को भी याद कर लिया है—

भूमि पर संकट-सा आया,
उसे ऊँटों ने उकसाया ।[2]

पक्षियो के मानवीकृत व्यापारो का सौंदर्य देखना हो तो अघोलिखित पद्य देखिए—

नाटक के इस नये दृश्य के दर्शक थे द्विज लोग वहाँ,
करते थे शाखासनस्थ वे समधुप रस का भोग वहाँ ।
झट अभिनयारम्भ करने को कोलाहल भी करते थे,
पचवटी की रगभूमि को प्रिय भावो से भरते थे ।।[3]

मनुष्य आज तक पक्षियो का तमाशा देखता आया है । किन्तु कुशल कवि ने पचवटी के पक्षियो को ही मानव-अभिनीत नाटक का प्रेक्षक वना दिया है—अभिनेता हैं सीता, लक्ष्मण और शूर्पणखा ।

मूर्त और सचेतन ही नही अमूर्त भावनाएँ और अचेतन पदार्थ भी आलम्बन-स्वरूप गृहीत हैं । खण्डकाव्यो और महाकाव्यो के प्रसग मे 'विविध-वस्तु-वर्णन' के अन्तर्गत कुछ उदाहरण दिए जा चुके हैं । यहाँ दो-चार अवतरण और प्रस्तुत करता हूँ । सवसे पहले तो एक आश्रम—किसी मुनि के नही, एकलव्य के साधना-आश्रम का अवलोकन कीजिए—

एक ओर थी कुज शिला पर उनकी[4] मूर्त्ति गभीर,
अर्पित थे चरणो मे टटके पत्र-पुष्प-फल-नीर ।
धन्वा की टंकार वहाँ थी घटा-ध्वनि अविराम,
और झलकते बाण-फलक थे पूजा-दीप ललाम ।
झूल रहे थे वृक्षो पर बहु चक्राकृति चल लक्ष ।[5] आदि ।

इसके विपरीत घनीभूत वैभव की प्रतिमूर्ति, अमरावती के मित्र-से गगन-चुम्वी नृप-सौध भी देखिए—

कर रहे नृप-सौध गगन-स्पर्श हैं,
शिल्प-कौशल के परम आदर्श हैं ।
कोट-कलशों पर प्रणीत विहग हैं,
ठीक जैसे रूप, वैसे रग हैं ।

× × ×

१. वन-वैभव, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ६
२. वन-वैभव, " " २००५, पृष्ठ ६
३. पंचवटी, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २८
४ गुरु द्रोणाचार्य की
५. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४६

ठौर-ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं;
जो सुसंवत् के निदर्शन रूप हैं ।[1]

वन-वैभव से सरोवर का वर्णन लीजिए—

उसी वन मे था एक तड़ाग,
जहाँ उड़ता था पद्म-पराग ।
वहाँ का हरा-भरा भू-भाग,
आप उपजाता था अनुराग ।
चौखटे मे ज्यो हरे जड़ा,
धरा पर हो सुर-मुकुर पडा ।[2]

यदि इच्छा हो तो नरक की ओर भी दृष्टिपात कर लीजिए । युधिष्ठिर कह रहे हैं—

अब मुझे दीखते हैं, उडते व्यालों से बिखरे बाल कटे,
ये सडे-गले चलते-फिरते कंकाल कराल, कपाल फटे ।[3]

अधोलिखित पक्तियो मे भीषरण युद्धस्थल का वीभत्स दृश्य भी द्रष्टव्य है—

भर गई सारी रणभूमि रुण्ड-मुण्डो से,
रक्त के प्रवाह छूटे पानी की पुकार थी ।
लाल-लाल भूमि सब ओर विकराल थी,
* * *
कर्तित थी कन्धराएँ, नर्तित कवन्ध थे !
टूटे रथ आँतें-सी बिखेर कर अंगों को,
तड़प रहे थे जन्तु शीघ्र मर जाने को ![4]

निष्प्राण को कही-कही सप्राणता भी प्रदान की गई है—निदर्शन-स्वरूप साकेत की 'कही सहज तरुतले कुसुम-शय्या बनी' आदि चिर-प्रशसित और बहु-उद्धृत पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं । इतना ही नही अन्य कुशल अधुनातन कवियो के समान ही गुप्त जी ने अमूर्त और अरूप को भी आलम्बन के रूप मे ग्रहण किया है, यथा—

दुरदृष्ट, बता दे स्पष्ट मुझे—क्यो है अनिष्ट ही इष्ट तुझे ?
तू है बिगाडता काम बना, रहता है बहुधा वाम बना ।
प्रतिकार-समय तक दिये बिना, छिपकर कुछ अकधक किये बिना—
करता प्रहार तू यहाँ वहाँ, धोखा देता है जहाँ तहाँ ।[5]

यहाँ चिर-अभिशसित अदृष्ट, जो कि अमूर्त है, को ही मूर्तिमन्त कर आलम्बन बनाया

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १४
२. वन-वैभव, " " २००५, पृष्ठ २१
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३९
४. युद्ध, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६
५ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ११७

गया है। निम्न पक्तियो मे भी अरूप भाव को सरूप-रूप में उपस्थित किया गया है—

प्रेम भूख नींद ही भुलाता हुआ आता है[1]

अथवा

जो संकोच घटता है परिचय होने से
हाय ! वही बढता है मुझमे न जाने क्यों ?[2]

प्रेम और सकोच दोनो ही अमूर्त हैं—किन्तु उनका चित्रण मूर्तवत् हुआ है। अस्तु !

हमारा विश्वास है कि आलोच्य कवि के आलम्बनगत वैविध्य को हृदयगम करने के लिए इतना विवेचन ही काफी है। उपर्युद्धृत अवतरणो के पठन के पश्चात् उसकी विस्तार-ग्राहिणी प्रतिभा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

## आलम्बन-चित्रण में परिस्थिति का विधान

"हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलम्बन है, अत उपचार से वह हमारे भावो का भी आलम्बन है।"[3] अभिप्राय इसका यह हुआ कि मात्र आलम्बन के रूप-विन्यास से रस-कोटि का भावोद्रेक सम्भव नही है। उसके लिए अपेक्षित है परिस्थिति का अकन ! और स्पष्ट शब्दो मे अपने आस-पास के चारो तरफ के वातावरण मे ही आलम्बन का प्रकृत स्वरूप प्रस्फुटित होता है—अन्यथा वह 'शून्य मे खडा' प्रतीत होता है। कुशल कवि आलम्बन और परिस्थिति के सश्लिष्ट चित्रण द्वारा बिब-ग्रहण कराते हैं—किन्तु असमर्थ लेखक के केवल आलम्बन पर केन्द्रित रहने पर भी उसका सौन्दर्य अर्द्ध-व्यक्त ही रह जाता है।

प्रस्तुत कवि ने परिस्थिति का पूरा ध्यान रखा है। वह पार्श्ववर्ती दृश्यो के मध्य ही प्राय आलम्बन की प्रतिष्ठा करता है। प्रमाण-स्वरूप केवल दो उदाहरण पर्याप्त होगे—

पचवटी की छाया मे है सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर, वीर, निर्भीकमना।
जाग रहा यह कौन धनुर्धर जब कि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है॥[4]

कैसा सरस चित्र है !—सरसता का कारण है आलम्बन और परिस्थिति दोनो का सश्लेषण। यदि यहाँ पचवटी (पाँच प्रकार के वृक्षों का समाहार) और उसकी छाया, पर्ण-कुटीर तथा स्वच्छ शिला का निर्देश न होता तो चित्र अधूरा और नीरस होता—पाठक के प्रभावित होने का तो प्रश्न ही नही उठता। सचमुच परिस्थिति के योग ने आलम्बन को समृद्ध बना दिया है। योजनगधा पर मुग्ध होते हुए महाराज शान्तनु और उनके चतुर्दिक् वातावरण का अकन भी देखिए—

---

१. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ९९
२ सिद्धराज, तृतीय " पृष्ठ ९९
३ रस-मीमासा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १११
४. पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ६

गंगा-तीर समान भाग्य से यमुना-तट भी उन्हे फला,
लेकर दिव्य सुगन्धि एक दिन शीतल-मद समीर चला।
चौंक पडे वे उसे सूंघ कर हुई ऊँघ-सी उनकी दूर,
* * *
खिलती हुई कली-सी आगे दीख पडी योजनगधा,
हुआ निमेष मात्र मे उनका मोहित मनोमधुप अधा।[1]

शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर चल रहा हो, और सामने अर्द्धस्फुट-यौवन (खिलती हुई कली-सी) सुरभि बिखेरती हुई कामिनी हो तो एक शान्तनु क्या भला किसका मनोमधुप मोहान्ध नही हो जाएगा ! आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर कहा है—"उसी परिस्थिति मे—उसी ससार मे—उन्ही दृश्यो के बीच जिनमे हम रहते हैं, राम-लक्ष्मरण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-सम्बध का अधिक अनुभव करते हैं, जिससे साधारणीकरण पूरा-पूरा होता है।"[2] प्रस्तुत प्रकरण मे शान्तनु को उन परिस्थितियो मे ही मुग्ध होते हुए देखकर जिनमे कोई भी प्राकृत (Normal) जन हो सकता है उनके साथ पाठक का तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यदि यहाँ वातावरण की पृष्ठभूमि न होती तो कदाचित् हम शान्तनु को कामुक, वासना-लिप्त आदि न जाने क्या-क्या कह जाते !—तादात्म्य तो असम्भव ही हो जाता।

इस प्रकार आलम्बन के परिदर्शन मे परिस्थिति का चित्रण अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। सच तो यह है कि परिस्थिति-मुक्त आलम्बन का चित्र ही पूर्ण नही हो सकता। इस विषय मे प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र उचित ही कहते हैं—"परिस्थितियो के बीच मे आलम्बन का जो चित्र अकित किया जाता है वह पूर्ण हुआ करता है और पाठक या दर्शक ऐसे ही आलम्बन से तादात्म्य का अनुभव कर सकने मे समर्थ हो सकता है।"[3]

## उद्दीपनगत विविधता

"जो रति आदि स्थायी भावो को उद्दीपित करते हैं—उनकी आस्वाद-योग्यता बढाते हैं वे उद्दीपन विभाव हैं।"[4] प्रत्येक रस के अपने पृथक् उद्दीपन हुआ करते हैं। उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—पात्रस्थ और बाह्य। पात्रस्थ के अन्तर्गत आती हैं पात्र की और स्पष्ट शब्दो मे आलम्बन की चेष्टाएँ तथा दूसरे मे आती हैं 'तदितर बाह्य परिस्थिति'। इस सम्बन्ध मे यह भी ज्ञातव्य है कि—"आलम्बनगत चेष्टाएँ तो सभी रसो मे हुआ करती हैं, पर बाह्य परिस्थितियो का उद्दीपन के रूप मे शृगार मे ही विधान दिखाई देता है। अन्य रसो मे भी ये परिस्थितियाँ थोडी-बहुत लाई जा सकती हैं। पर काव्यो मे इनका उल्लेख बहुत कम पाया जाता है।"[5]

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २२
२ रस-मीमांसा, प्रथम " " १११
३. वाङ्मय-विमर्श, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १३५
४. काव्य-दर्पण : पं० रामदहिन मिश्र, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ५५
५ वाङ्मय-विमर्श · प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १२४

रसों के विवेचन मे आनुषंगिक रूप से उद्दीपनगत वैविध्य और विस्तार भी देखा जा चुका है—क्योंकि प्रत्येक रस के विभिन्न उद्दीपन हुआ करते हैं। यहाँ उन पर थोड़ा और विचार कर लिया जाए। पहले पात्रस्थ उद्दीपनों को लीजिए :

सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपाग ही उसने दिया।[1]

उर्मिला की चेष्टाओं का वर्णन है। उसकी 'गति, स्थिति आदि व्यापारों तथा मुख-नेत्रादि की चेष्टाओं की विलक्षणता' से लक्ष्मण तो अभिभूत हो गए—उस अपाग मे कितना तीक्ष्ण आकर्षण रहा होगा! लक्षणकार इसे ('लीला' स्वभावज अलकार कहकर) अनुभाव मानेंगे—किन्तु यह अनुभाव से अधिक उद्दीपन है तभी तो लक्ष्मण उसे (अपाग को) 'घाते मे कर' अपना प्राप्य (परिरम्भण) ले लेते हैं। निम्न पंक्तियों मे वीर के उद्दीपन भी देखिए—

आगया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओं की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा।
बोला दूर से ही वह—"व्यर्थ होगा भागना!"

* * *

राक्षस बहन को हटाके भिडा भीम से,
कौशल मे बल मे वे दोनो थे असीम-से।
लड-लड जाते क्रुद्ध गडकों से मुड थे,
टागें मारते थे मत्त वारणों के शुड थे।[2]

भीम और हिडिम्ब का घोर युद्ध है। हिडिम्ब का अतुल पराक्रम, उसकी प्रचण्डता और अपनी बहन हिडिम्बा को एक ओर धकेलना तथा 'व्यर्थ होगा भागना' से व्यजित पाडुओं को धमकी आदि उद्दीपन है।

एकान्त मे हँसते हुए सुन्दर रदों की पाँति से,
धर चिबुक मम रुचि पूछते थे नित्य तुम बहु भाँति से।
वह छवि तुम्हारी उस समय की याद आते ही वहीं,
हे आर्यपुत्र! विदीर्ण होता चित्त जानें क्यों नहीं॥[3]

करुण-सिक्त इस पद्य मे आलम्बन हैं अभिमन्यु। उनका सौंदर्य और 'धर चिबुक मम ...' से व्यग्य उत्तरा के प्रति अतिशय प्रेम उद्दीपन हैं। निश्चय ही अभिमन्यु का अनिंद्य सौंदर्य और अतिशय पत्नी-प्रेम अथवा अनुकूलपतित्व उत्तरा के शोक को द्विगुणित कर रहे हैं।

लक्ष्य करने की बात है कि पूर्वोल्लिखित तीनों उदाहरणों के उद्दीपनों मे पर्याप्त वैभिन्न्य

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३०
२ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १८, २१, २३
३ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ २३

है—वरन् कुछ भी साम्य नही। अन्य रसो के भी उदाहरण देकर इस बात को और विशद रूप मे सिद्ध किया जा सकता है।

## उद्दीपन के रूप में प्रकृति (परिस्थिति)

पात्रस्थ उद्दीपनो का ऊपर निरूपण हो चुका है। अब वहिर्गत के विवेचन की अपेक्षा है। वहिर्गत उद्दीपन से अभिप्रेत है पात्र-इतर उद्दीपक पदार्थ। मैं उन्हे प्रकृति कहता हूँ—मानवेतर सृष्टि को ही तो प्रकृति के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रकृति आलवन के रूप मे भी गृहीत होती है, आलोच्य कवि ने भी की है—किन्तु उसके काव्य मे वह अधिकाशत. उद्दीपन-रूप मे ही आई है। इस अध्याय के पूर्वोद्धृत अवतरणो मे अधिकाश उद्दीपन प्राकृतिक अथवा वाह्य ही हैं। सयोग शृ गार के परस्थ उद्दीपन देखिए—

साँझ को ही रात हुई उनको गहन मे
धारे गगनस्थली ने तारे रत्न चुनके
चमके वे नपुरो की रुन-झुन सुनके
सुन पडी राग की नई-सी टेक उनको
दीख पडी सुन्दरी समक्ष एक उनको
उत्थित वसुन्धरा से रत्नो की शलाका थी
किवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी।[1]

प्रहरी-रूप मे स्थित भीम के पास मानव-रूप-धारिणी हिडिम्बा के आगमन का वर्णन है। उसका अपना सौंदर्य प्रभूत प्रभावशाली है। पर गहन कान्तार की साझ जो अन्धकार और निस्तब्धता मे जनपद की रात्रि के ही समान होती है तथा गगन-स्थित नक्षत्र सुन्दर हिडिम्बा की मन्द्र-मधुर झकार के मोहक प्रभाव को और भी घनीभूत कर देते हैं। लक्ष्मण भी 'ढलती रात' मे अकेली शूर्पणखा को देखकर अत्यन्त विस्मित हुए थे।[2] ये सब वहिर्गत उद्दीपन हैं।

कूक उठी है कोयल काली!
ओ मेरे वनमाली!
चक्कर काट रही है रह-रह, सुरभि मुग्ध मतवाली,
अम्बर ने गहरी छानी यह, भूपर दुगुनी ढाली![3]

यहाँ वाह्य पदार्थ अथवा परिस्थिति वियोगिनी यशोधरा के विरह को उद्दीपित कर रही है।

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि वहिर्गत उद्दीपन शृ गार मे ही मिला करते हैं। अन्य रसो मे प्राय उनका अभाव रहता है। हमारे कवि के बारे मे भी यही सत्य है।

---

१. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १२
२. पचवटी
३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ४४

फिर भी श्रृंगार-इतर रसो मे बाह्य उद्दीपनो की योजना के दो-चार उदाहरण मिल ही जाएँगे, यथा—

तम के तन मे कुछ घाव लगे-से दिये दीख पडते थे,
दूरागत श्वान-श्रृगाल-शब्द ही कानों में गडते थे।
दिन भी दुपहर मे स्तब्ध, रात थी यह तो, गाढी-गहरी,
* * *
भीतर अबाध घुस गया चोर-सा वह[1] जीवन का ज्वारी।
* * *
हलचल होने से चौंक-चौंककर इधर-उधर जन जागे,
हक्के-बक्के से—"कौन-कौन ?" कह जिधर बना उठ भागे।[2]

भयानक के इस चित्रण मे भी प्राकृतिक परिस्थिति—टिमटिमाते हुए लघु-दीप, दूरागत श्वान-श्रृगाल-शब्द तथा निशा की निस्तब्ध प्रगाढता—बाह्य उद्दीपन ही हैं।

हडप रहे थे स्यार गीध शव नोच के।[3]

इस पक्ति मे वीभत्स के बहिर्गत उद्दीपन का आलेखन है। और भी कुछ उदाहरण सुगमता से मिल सकते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि गुप्त जी के काव्य मे राशि-राशि उद्दीपन उपलब्ध हैं।—वे पात्रस्थ भी हैं, और बाह्य भी। सब से बडी बात यह है कि वे विभिन्न क्षेत्रो से गृहीत हैं—सुन्दर भी हैं, असुन्दर भी हैं, सुखद हैं और दुखद भी हैं।

## रसाभास

रस के साथ ही रसाभास पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। अनुचित प्रवृत्ति-मूलक रस ही रसाभास के नाम से अभिहित किया जाता है अर्थात् अपात्र अथवा अनुपयुक्त पात्र के प्रति किसी भाव की परिणति ही रसाभास के रूप मे अभिशसित है। रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य के सामने जब नैतिकता अथवा औचित्य-अनौचित्य का सवाल आया तब उसने मानव-मन के सभी अनैतिक और औचित्यरहित उद्वेलनो की परिव्यक्ति को रसाभास कहकर निन्दित ठहराया। स्पष्ट शब्दो मे अभिप्राय यह कि रसाभास अनुचित, अनैतिक और अनुपयुक्त सबन्धो-ससर्गों पर आधृत है। अनौचित्य और अनैतिकता की सभी विचारक मनीषियो ने निन्दा की है—हमारा कवि भी इनका घोर शत्रु है। किन्तु जीवन मे तो इनका अनस्तित्व नही है। फलत व्यापक जीवन को अपने काव्य का विषय बनाने वाला कवि अनुचित और अनैतिक भाव-तरगो से भी एकदम अछूता नहीं रह सकता। इसीलिए गुप्त जी के काव्य मे रसाभास के भी उदाहरण सहज-उपलब्ध हैं, जैसे—

---

१ अश्वत्थामा

२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४०५

३ युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ६

हे अनुपम आनन्द-मूर्ति, कृशतनु, सुकुमारी,
वलिहारी यह रुचिर रूप की राशि तुम्हारी !
क्या तुम हो इस योग्य, रहो जो बनकर चेरी,
सुध-बुध जाती रही देखकर तुमको मेरी।
इन दृग्बाणों से विद्ध यह मन मेरा जब से हुआ,
है खान-पान-शयनादि सब विष-समान तब से हुआ।[1]

सैरन्ध्री नामधारिणी द्रौपदी के प्रति कीचक के वचन हैं। साधारणत रस के सभी अवयव उपस्थित हैं। द्रौपदी-कीचक आलंबन-आश्रय है। द्रौपदी का सौन्दर्य और सौकुमार्य तथा एकान्त स्थान उद्दीपन हैं। हर्ष, आवेग तथा 'क्या तुम हो इस योग्य, रहो जो बनकर चेरी' मे व्यग्य वितर्क आदि सचारी है। अनुभाव हैं उक्त वचन तथा टकटकी लगाकर द्रौपदी को देखना आदि। किन्तु यह सब अनौचित्यपूर्ण है। परस्त्री के प्रति प्रेम-रूप अनैतिक कार्य है अतएव यह शृंगार रस न होकर उसका रसाभास है। दृढ शास्त्रीय दृष्टि से निरिन्द्रिय वनस्थली पर रति-विषयक आरोपण—

लेकर सुख की सास स्वस्थ थी आगतपतिका वनिका,
चौमासे भर तक चिन्ता से मुक्त हुई वह धनिका।[2]

—भी शृंगार रसाभास ही है। किन्तु ऐसे चित्रणो को अभिशसनीय न मानकर कल्पना का वरदान ही समझना चाहिए।

शृंगार के ही समान अन्यान्य रसो के भी रसाभास होते हैं। पर साहित्य मे अधिकतर शृंगार, रौद्र और हास्य के ही रसाभास का आलेखन हुआ करता है। कही-कही वीर का रसाभास भी देखने को मिल जाएगा। किन्तु शेष की कल्पना ही असगत है—सम्पूर्ण लक्ष्य साहित्य इस बात का प्रमाण है। मैथिलीशरण जी के काव्य से रौद्र और हास्य के रसाभास का एक-एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?
पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?
* * *
चण्डि ! सुन कर ही जिसे, सातक,
चुभ उठें सौ विच्छुओं के डक,
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प ?—
है तुषानल तो कमल-दल-तल्प !
जो द्विरसने ! हम सभी को मार,
कठिन तेरा उचित न्याय विचार।
* * *

१. सैरन्ध्री, अष्टमावृत्ति, पृष्ठ २६
२. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १७३

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
खा गया जो भून कर पति-देह ![1]

यह बात एक पुत्र अपनी माता को कह रहा है।—भरत जैसा शीलवान् पुत्र अपनी जननी कैकेयी पर क्रुद्ध है। शास्त्राभ्यासियो के लिए रस-परिपाक की सम्पूर्ण सामग्री उपस्थित होने पर भी वह अनुचित है, अशिष्ट है। पूज्या, श्रद्धास्पदा माता के प्रति प्रकट किया गया यह रोष अनैतिक है—'भरत से सुत' के लिए लज्जा की बात है। पापकर्मा कैकेयी की भी स्वपुत्र के द्वारा ऐसी अवहेलना अवाछनीय है। परिणामत उपर्युद्धृत पक्तियो मे रौद्र रसाभास है। हास्य रसाभास का निम्न उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

तुम्हारे भाई बेचारे,
जुए मे जो सब कुछ हारे,
विपिन मे दीन भाव धारे,
भटकते हैं मारे मारे।
खबर लें उनकी चलो जरा,
कि वन मे होगा हृदय हरा।

* * *

विकट यह तीन टिकट मिल के,
हँसा फिर खिल खिल कर खिलके।[2]

दुर्योधन का मामा दुष्ट शकुनि तपस्वी, सहिष्णु और न्यायी पाण्डवो का उपहास करता है—उन पर व्यग्य करता है। और तब वह कुटिल तीन टिकट (दुर्योधन, कर्ण और शकुनि) अट्टहास करता है। किन्तु पाण्डु-पुत्र उपहास के पात्र नही है—उन्हे हास का आलम्बन बनाना अनुचित है। इसीलिए यहाँ हास्य रस नही है, उसका आभास है।

इस प्रकार गुप्त जी के अपने काव्य मे जीवन के अनन्त विस्तार मे से अनैतिक, अनुपयुक्त, अभिशसनीय और अवाछनीय परिस्थितिया भी गृहीत हैं, और रसाभास के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं।

## शास्त्रीय दृष्टि से भाव-कोटि

'विभाव, अनुभाव और सचारी के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है'—किन्तु जहाँ इनमे से किसी के अभाव अथवा अपूर्णता के कारण रस निष्पन्न नही होता वहाँ रस-दशा के स्थान पर भाव-दशा मानी जाती है। इस प्रकार शास्त्र मे अपुष्ट रस को ही भाव कहा गया है। पडित रामदहिन मिश्र ने अपने काव्य-दर्पण मे लिखा है—"प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि सचारी, देवता-आदि-विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्बुद्ध-मात्र-रति

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १३६-१३७
२. वन-वैभव, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३-४

आदि स्थायी भावो को भाव कहते हैं ।"[१] साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का भी यही वक्तव्य है—

सचारिण. प्रधानानि देवादिविषया रति. ।
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥[२]

इस विषय मे मुझे इतना ही निवेदन करना है कि 'देवादिविषया रति' के अन्तर्गत परिगणित—भगवद्-विषयक रति, सन्तति-विषयक रति, राज-विषयक रति, गुरु-विषयक रति, मातृ-भूमि-विषयक रति आदि—मे से कम से कम प्रथम दो मे रस-परिणति की क्षमता है। अत उन्हे क्रमशः भक्ति रस और वत्सल रस मान कर मैं उदाहृत भी कर चुका हूँ। आलोच्य कवि की रचनाओ से शेष मे से कुछ का निदर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जाएगा—

आया एक नवयुवक, उसने गुरु को किया प्रणाम
* * *
पर विरक्ति से नहीं भक्ति से अपना ध्यान समेट,
रक्खी उसने गुरु-चरणों मे मजुल मधु की भेट ।[3]

अल्हड युवक वनचर एकलव्य और राजगुरु द्रोणाचार्य की प्रथम भेंट का उल्लेख है। नागरिक शिष्टाचार की कृत्रिमता से एकदम मुक्त! रस-चर्वणा मे सक्षम न होने पर भी गुरु-विषयक रति का कैसा भोला—किन्तु मोहक चित्रण है। अधोलिखित पक्तियो मे महाकवि-विषयक रति भी दर्शनीय है—

तुलसी, यह दास कृतार्थ तभी—मुँह मे हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे, जो निज मानस-कवि-कथा कहे ।[४]

यहाँ तुलसी और उनके अमर महाकाव्य रामचरितमानस के प्रति कवि के घनीभूत राग अथवा रति भाव की मधुर व्यजना है।—और,

"नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।"[५]

—आदि उनके बहु-उद्धृत पद्य मे मातृ-भूमि-विषयक रति भाव परिव्यक्त है। प्रकृति-प्रेम को भी साधारणत प्रकृति-विषयक रति भाव ही माना जाता है। गुप्त-साहित्य मे पचवटी, वन-वैभव तथा साकेत मे इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। अनेक प्रसगो मे उनमे से कई पहले ही उद्धृत किए जा चुके हैं—पुनरुद्धरण अनावश्यक है। पचवटी, सैरन्ध्री आदि रचनाओ मे उद्बुद्ध-मात्र रति स्थायी भी देखा जा सकता है। वीर की भाव-दशा का अकन भी देखिए—

कर्ण था अटूट सार-धारा का प्रपात-सा,
* * *

---

१ द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २२३
२. साहित्यदर्पण ३।२६०
३. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४३-४४
४. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ११५
५. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २६

बात क्या युधिष्ठिर-नकुल-सहदेव की ?
उनको डुवाकर न उसकी तरगो ने,
फेंक दिया एक ओर दूर दारुखण्ड-सा ।
आप भीम भी क्या इस बार पार पा सके ?
* * *
रक्षा नहीं पा सके वे । किन्तु उन्हें उसने
मारा नहीं, कुन्ती को वचन जैसा था दिया ।[1]

अन्तिम पक्ति पर आकर भाव-धारा को झटका लगता है। उसी के कारण वीर परिपुष्ट नही हो पाता—अपुष्ट रह जाता है । अत यहाँ रस न होकर वीर भाव है—अपुष्ट रस ही तो भाव होता है ।

अब प्रधानतया अभिव्यजित व्यभिचारी भाव के भी दो उदाहरण लीजिए—

हे मित्र मेरा मन न जाने हो रहा क्यों व्यस्त है ?
इस समय पलपल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है ।
तुम धर्मराज समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो ।
भगवान् मेरे शत्रुओं की सब दुराशाए दलो ।[2]

यहाँ अर्जुन का हृद्गत शका सचारी भाव ही मुख्यत प्रकट होने के कारण शास्त्रानुसार भाव-ध्वनि है । निम्न पद्य मे भी प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेद सचारी-रूप भाव-व्यजना है—

भव-विभव-भरे गृह से निस्पृह,
निज धर्म-कर्म कर भले भले,
सम्पूर्ण प्रपचों से ऊपर
उठ पाँच पच ये कहाँ चले ?[3]

इस प्रकार मैथिलीशरण जी के काव्य मे भाव-दशा के असख्य उदाहरण विद्यमान हैं । निदर्शन-स्वरूप कुछ उपर्युद्धृत हैं। अन्यान्य स्थायी एव सचारी भावो की भाव-व्यजना से पूर्ण स्थल भी पुष्कल परिमाण मे उपलब्ध हैं । उन सबके अवतरण की न अपेक्षा है और न वह रुचिकर ही होगा । इतने से ही भली-भाति अनुमान लगाया जा सकता है । भाव-दशा के साथ ही लक्षण-ग्रन्थो मे भावोदय आदि का भी जिकर हुआ करता है । हमारे कवि की रचनाओ मे उनका भी प्राचुर्य है । अपनी बात की पुष्टि के लिए सभी का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं

भावोदय

गये लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,

---

१ युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३०-३१
२ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ ३१
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४२६

रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते गाते ?[1]

यहाँ प्रथम और द्वितीय पंक्तियो मे मति और तीसरी मे हर्ष की ध्वनि है—किन्तु अन्तिम पर आते ही उनका तिरोभाव और विषाद का उदय होता है। इस उदय मे ही अधिक चमत्कार होने से 'भावोदय' है।

भाव-शान्ति

"खडी है माँ बनी जो नागिनी यह,
अनार्या की जनी हतभागिनी यह,
अभी विषदन्त इसके तोड़ दूँगा,
न रोको तुम, तभी मैं शान्त हूँगा।
बने इस दस्युजा के दास हैं जो,
इसी से वे रहे बनवास हैं जो,
पिता हैं वे हमारे या—कहूँ क्या ?
कहो हे आर्य ! फिर भी चुप रहूँ क्या ?"
कहा प्रभु ने कि—"हाँ, बस चुप रहो तुम,
अरुन्तुद वाक्य कहते हो अहो ! तुम !"
जताते कोप किस पर हो, कहो तुम ?
सुनो, जो मैं कहूँ, चचल न हो तुम।
मुझे जाता समझ कर आज वन को,
न यों कलुषित करो प्रेमान्ध मन को ![2] आदि।

राम-लक्ष्मण का वार्तालाप है। रोषाविष्ट अनुज को राम समझा रहे हैं—क्रोध और उग्रता की शान्ति तथा शम का आविर्भाव है। उपर्युक्त पंक्तियो का सौंदर्य क्रोध एव उग्रता की शान्ति मे ही निहित है। अत यहाँ भावशान्ति है।

भावसन्धि

सम चमत्कारक दो भावो की योजना को भावसधि कहा जाता है। निम्न अवतरण में दो तुल्य बल भावो का मणि-काचन-सयोग द्रष्टव्य है—

पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न-नीर-समीर से
मैं समर्थ हुआ सभी विध रह विरोग शरीर से।
यदपि कृत्रिम रूप में वह मातृभूमि समक्ष है,
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है ?[3]

यहाँ मातृभूमि-विषयक रति और उसकी रक्षा का उत्साह इन समान चमत्कारी दो

---

१ यशोधरा, सस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २५
२. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६१
३. रंग में भंग, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ २६

भावो के सम्मिलन से भावसधि की प्रतिष्ठा हुई है।

भावशबलता

धीरज धरूँ हे तात कैसे ? जल रहा मेरा हिया,
क्या हो गया यह हाय ! सहसा दैव ने यह क्या किया।
जो सर्वदा ही शून्य लगती आज हम सबको धरा,
जो नाथ-हीन अनाथ जग मे हो गई है उत्तरा,
हूँ हेतु इसका मुख्य मैं ही, हा ! मुझे धिक्कार है,
मत 'धर्मराज' कहो मुझे, यह क्रूर जन भू-भार है ॥[1]

अभिमन्यु की मृत्यु पर युधिष्ठिर का आत्मोद्गार है। यहाँ क्रमश. विषाद, वितर्क, स्मृति, निर्वेद तथा शुक्ल जी द्वारा उद्भावित 'क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा'[2] का सयोजन हुआ है। एक के बाद एक कई भावो की योजना के कारण इस उद्धरण मे भावशबलता है। अस्तु !

## अनुभाव-विधान

रस के विभिन्न अवयवो मे अनुभाव का भी परिगणन होता है। अनुभावो के द्वारा रस परिव्यक्त होता है या यह कहिए कि अनुभाव उद्बुद्ध स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं—"अनुभाव्यन्ते—अनुभवविषयीक्रियन्ते, रत्यादिस्थायिभावा एभि इति अनुभावा ।"[3]

अनुभाव चार प्रकार के माने गए हैं—१ कायिक, २ मानसिक, ३ आहार्य, ४ सात्त्विक। इन चारो प्रकारो मे स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभग आदि सात्त्विक अनुभाव ही प्रमुख एव सर्वाधिक प्रभावशाली हैं। मैथिलीशरण जी के काव्य से इनमे से दो-एक के उदाहरण लीजिए

स्तम्भ

रानकदे आप न थी मानो इस लोक मे;
मानों एक मौन मूर्ति मन्दिर मे बैठी थी,
होकर तटस्थ शोक और हर्ष दोनों से।
व्यर्थ परिचारिकाएँ करती प्रतीक्षा थीं,
वह इस जन्म की समाधि लिए बैठी थी।[4]

पति-मृत्यु से विषाद-सकुल रानकदे का शरीर चेष्टाहीन है—अग-सचालन एकदम अवरुद्ध है। कितना करुण-तरल स्तम्भ-चित्र है !

अश्रु

"क्या कर्त्तव्य यही है भाई ?" लक्ष्मण ने सिर झुका लिया,
"आर्य्य, आपके प्रति इस जन ने कब-कब क्या कर्त्तव्य किया ?"

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ २८-२९
२ दे० गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ९४
३ वाग्भटालकार, वाचस्पति प्रेस, चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ १८०
४ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ७१

"प्यार किया हैं तुमने केवल !" सीता यह कह मुसकाई,
किन्तु राम की उज्ज्वल आँखें सफल सीप-सी भर आई ॥[1]

वन-गमन का प्रसग है। राम, लक्ष्मण को साथ जाने से रोकना चाहते हैं। पर लक्ष्मण जाने के लिए कटिबद्ध हैं। भावातिरेक से राम के नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हैं। सचमुच भ्रातृ-भाव-जन्य इस आनन्द के आधिक्य की व्यजना के निमित्त अश्रु से अधिक सवल माध्यम और कोई नही हो सकता था। प० वालकृष्ण भट्ट ने ठीक ही कहा था—"मनुष्य शरीर में आँसू भी गडे हुए खजाने के माफिक हैं हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावो को प्रकट करने मे जब सब इन्द्रियाँ स्थगित होकर हार मान वैठती हैं, तव आँसू ही उन भावो को प्रकट करने मे सहायक होते है।"[2]

प्रलय

चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानो, रह गई हत उत्तरा !
संज्ञा-रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पडी,
उस काल मूर्च्छा भी अहो ! हितकर हुई उसको वडी ॥[3]

अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार श्रवण कर उत्तरा का हृदय धक् से वैठ जाता है। वह निश्चेष्ट हो जाती है, मूर्च्छित हो जाती है। लीनता की यह चरमावस्था है। मगध मे गौतम का आगमन सुनकर मोहाधिक्य के कारण यशोधरा की भी यही दशा हुई थी—

मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो
लहरा रहा है, किन्तु पार पर मैं पड़ी
प्यासी मरती हूँ; हाय इतना अभाग्य भी
भव मे किसी का हुआ ? कोई कहीं जाता है,
तो मुझे वता दे हा ! वता दे हा ! वता दे हा ![4]

यह कहते-कहते भावावेश मे वह गिर पडी होगी ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है।

अलकाराभिधेय नायिकागत चेष्टाओ को भी आचार्यो ने अनुभाव ही कहा है। किन्तु जैसा कि मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ वह अधिक सगत नही है। उनमे से अधिकाश तो वास्तव मे अनुभाव न होकर उद्दीपन ही हैं। फिर भी किलकिंचित्, मोट्टायित, विहृत, कुतूहल आदि कुछ 'अलकारों' के अनुभावत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। किलकिंचित् का एक उदाहरण लीजिए—

डाल के विजय-दृष्टि, साथ ही विनय से,
राना के समक्ष नत रानकदे होगई।

---

१. पञ्चवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ४
२. आँसू (निवध) से
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ २१
४. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १२६

दोनों के दृगों मे नीर, होठो पर हास्य था,
ओस भरे फूल खिले जा रहे थे सृष्टि मे।[1]

प्रिय के लाभ के हर्ष से रानकदे मे एक-साथ हास, लज्जा, रोदनाभास आदि प्रकट हो रहे है। इस सम्मिश्रण के कारण ही यहाँ किलकिंचित् है।

## सञ्चारी-भाव

रस-चर्वणा मे सक्षम भाव स्थायी होते हैं—शेष सब अस्थायी। इन अस्थिर भावों को ही सचारी अथवा व्यभिचारी कहा जाता है। सञ्चारी भाव अन्य ( स्थायी ) भावो को रसावस्था तक पहुँचाने मे सहायक तो होते हैं, किन्तु स्वत रस-परिणति मे समर्थ नही होते। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दो मे—"अस्थायी भाव वे हैं जो निरन्तर बने नही रहते, प्रत्युत समय-समय पर जिनका उदय हुआ करता है और जो क्षणिक होते हैं। यदि ये किसी स्थायी भाव के साथ दिखाई पड़ते हैं तो उसके सहायक हो जाते हैं, और यदि स्वतन्त्र रूप मे भी आते हैं तो थोडे ही समय के बाद मन से हट जाते हैं।"[2]

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि सचारियो को सख्याबद्ध करना असम्भव है—वे असख्य हैं। किन्तु लक्षणकारो ने उनकी सख्या तेतीस मानी है। उन तेतीस मे भी मरण, अपस्मार, व्याधि आदि कतिपय 'सचारी' तो भाव ही नही हैं अर्थात् उनमे शारीरिक स्थूलता का प्राधान्य है। इस विषय मे आलोचक-द्वय प० रामचन्द्र शुक्ल और प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के निम्न वाक्य द्रष्टव्य हैं—

"जो तेतीस सचारी कहे गए हैं वे उपलक्षण मात्र हैं, सचारी और भी हो सकते हैं।"[3] (शुक्ल जी)

"सब सञ्चारियो को भाव कहना उपलक्षण मात्र है।"[4] (मिश्र जी)

हम इन दोनो बातो को एक साथ मानना चाहते हैं अर्थात् हमारी सम्मति मे न तो सचारियो की सख्या तेतीस है—और न ही शास्त्रोल्लिखित सभी सञ्चारी वास्तव मे भाव ही है। फिर भी लक्षण ग्रथो का सचारी-विवेचन अनर्गल प्रलाप नही है। उसमे बहुत कुछ सत्य और तथ्य है। शास्त्र-वर्णित अधिकाश सञ्चारी निश्चयात्मक रूप से शुद्ध सञ्चारी हैं। आलोच्य कवि की रचनाओ से उनमे से अनेक के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं.

शका

क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बडा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही।

× × ×

---

१ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६५

२ वाङ्मय-विमर्श, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १२६

३ रस-मीमासा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २१५-२१६

४. वाङ्मय-विमर्श, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२८

अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिए,
मत जाइए सम्प्रति समर मे, प्रार्थना यह मानिए ।[1]

उत्तरा चक्र-व्यूह-भेदन के निमित्त गमनोद्यत अभिमन्यु को रोकना चाहती है । उसकी उपर्युक्त पक्तियो मे शका सञ्चारी की व्यञ्जना है ।

असूया

"भेद ?"—दासी ने कहा सतर्क—
"सवेरे दिखला देगा अर्क ।
राजमाता होंगी जब एक,
दूसरी देखेंगी अभिषेक ?"[2]

कैकेयी के राम और भरत मे भेद पूछने पर मथरा की यह उक्ति है । यहाँ मथरा की असूया ध्वनित है । असूया साधारणत बराबर के लोगो मे हुआ करती है । किन्तु यहाँ दोनो पक्षो मे आकाश-पाताल का अन्तर है । कहाँ राजा भोज, और कहाँ गँगू तेली !—कहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम राम की माता कौशल्या—और कहाँ दासी मन्थरा । उसकी असूया का कारण है कैकेयी के प्रति अनन्य अनुराग जो तादात्म्य की सीमा तक पहुँच गया है । कैकेयी के अतिरिक्त और किसी का भी उत्कर्ष उसकी जलन का विषय है ।

दैन्य

उधर द्रौपदी का दुकूल जब तक न दुष्ट ने हरण किया,
नारी ने नर से निराश हो नारायण का शरण लिया ।
"हा हृदयस्थ हरे ! तुमको भी यदि अभीष्ट यह गति मेरी,
तो फिर मुझ को ही क्या लज्जा, कहे और क्या मति मेरी ?"[3]

इस अवतरण मे दैन्य अभिव्यजित है ।

व्रीडा

पंचवटी की कुटी खोलकर
खडी स्वयं क्या ऊषा थी !

* * *

वह मुख देख, पाण्डु-सा पड कर,
गया चन्द्र पश्चिम की ओर,
लक्ष्मण के मुँह पर भी लज्जा
लेने लगी अपूर्व हिलोर ॥[4]

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ ६
२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३३
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३८
४. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २६

अन्तिम चरण मे लक्ष्मण की व्रीडा का अकन है। साधारणत स्त्रियो मे व्रीडा का प्रदर्शन किया जाता है, यह ठीक भी है—लज्जा नारीणा भूषणम्। किन्तु पुरुषो मे उसका एकान्ताभाव नही है। 'प्रखर ज्योति की ज्वाला' शूर्पणखा के साथ सीता द्वारा देखे जाने पर बिचारे लक्ष्मण का तो रग ही उड गया। लक्ष्मण की वह झेंप सचमुच देखने लायक होगी।

विषाद

> भारत, कहो तो आज तुम क्या हो वही भारत अहो!
> हे पुण्यभूमि! कहा गई है वह तुम्हारी श्री कहो?
> अब कमल क्या जल तक नहीं सर-मध्य केवल पंक है;
> वह राज-राज कुबेर अब हा! रक का भी रक है॥[1]

इष्ट-हानि तथा असहायावस्था आदि के आलेखन द्वारा यहाँ विषाद की व्यजना है।

उग्रता

> सोने के कटोरो मे अफीम घुलने लगी।
> देवीसिंह को भी वह ठीकरे मे मिट्टी के
> भेजी गई, देखते ही मानी सरदार से
> अब न सहा गया, रहा गया न मौन भी—
> "अधम अधर्मी, अकृतज्ञ अनाचारी रे,
> ऐसा अपमान!" कोडा खाके भला घोडा ज्यों—
> तडपे, त्यों ठाकुर ने एक झटका दिया,
> टूट गये बन्धन तडाक, . . . . ।[2]

अपमान एव दूषित व्यवहार-जन्य उग्रता ध्वनित है। साकेत से—'मैं निज अलिंद मे खडी थी सखि, एक रात' आदि पूर्वोद्धृत पद्य मे स्मृति तथा प्रलय (अनुभाव) के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत—'मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो' आदि पक्तियो मे आवेग सचारी व्यजित हैं।

## शास्त्र में अनुल्लिखित कतिपय संचारी

'दधि-मन देत तरग नित रग-रग विस्तार।'[3] निश्चय ही मानव-मन रूपी गम्भीर अम्बुनिधि मे अनेकरगी भाव-वीचियाँ उद्वेलित हैं। लक्षणकारों ने अनेक को परिभाषाबद्ध भी कर दिया है—किन्तु बहुत-सी भाव-तरगो का अभी नामकरण भी नही हो पाया। वे अख्यात और अनाम, स्पष्ट शब्दो मे, शास्त्र-बाह्य तरगें भी गुप्त जी के काव्य मे देखी जा सकती हैं

१ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ८५
२ विकट भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ६
३ पेम-प्रकाश · शाह बरकत-उल्लाह पेमी

उदासीनता

कहा दासी ने धीरज त्याग—
"लगे इस मेरे मुंह मे आग।
मुझे क्या मैं होती हूँ कौन ?
नहीं रहती हूँ फिर भी मौन ?"[1]

कैकेयी के धमकाने पर मथरा के वचन हैं। 'मुझे क्या मैं होती हूँ कौन ?' मे उदासीनता व्यग्य है। आचार्य शुक्ल ने 'मानस' के इसी स्थल—

हमहुँ कहब अब ठकुरसुहाती। नाहित मौन रहव दिन-राती॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाडि अब होव कि रानी॥

—की मार्मिक व्याख्या करते हुए उदासीनता का वैभव दिखलाया है।[2]

उदासीनता की प्रभावशाली व्यजना की दृष्टि से यदि इन दोनो अवतरणो की तुलना करें तो निश्चय ही गुप्त जी की पक्तियाँ हल्की पडती हैं, फिर भी हमारे कवि की पूर्वोल्लिखित पक्तियो मे उदासीनता की व्यजना तो है ही।

चकपकाहट

अकस्मात् किसी असम्भावित बात के हो जाने पर हमारे मन मे आश्चर्य से मिलते-जुलते जिस भाव का उदय होता है उसे 'कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही यह नाम दिया है।[3] पचवटी से इसका एक उदाहरण लीजिए—

मग्न हुए सौमित्र चित्र-सम नेत्र निमीलित एक निमेष,
फिर आँखें खोलें तो यह क्या, अनुपम रूप, अलौकिक वेष !
चकाचौंध-सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला
निस्सकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्यवदनी बाला ![4]

लक्ष्मण ने कभी स्वप्न मे भी नही सोचा होगा कि ढलती रात मे कानन के एकान्त कोने मे इस प्रकार कोई रमणी आ सकती है। पर वह आ गई—लक्ष्मण विचारे तो चकपका गए, चकित रह गए। यह घटना असम्भव तो नही है—किन्तु असम्भावित अवश्य है। इसीलिए इसमे चकपकाहट है अन्यथा अद्भुत की व्यजना होती।

सारल्य

सरलता भी शृगार, करुण और वत्सल का सचारी बनकर आ सकती है। नूरजहाँ के भोलेपन पर ही तो जहाँगीर मुग्ध हो गए थे। देखिए अधोवतरण मे राहुल का भोलापन कैसे वात्सल्य को परिपेपित कर रहा है—

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३४
२. दे० गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ९२-९३
३. दे० गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ९३
४. संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १५

ओ माँ, आँगन मे फिरता था
कोई मेरे सग लगा,
आया ज्यों ही मैं अलिन्द मे
छिपा, न जाने कहाँ भगा ![1]

—और निम्न पक्तियों मे मातृ-प्रेम की पोषक सरलता की व्यजना का भी अवलोकन कीजिए—

बोलीं वे हँसकर—"रह तू, यह न हँसी मे भी कह तू।
तेरा स्वत्व भरत लेगा ? वन मे तुझे भेज देगा ?
वही भरत जो भ्राता है, क्या तू मुझे डराता है ?
लक्ष्मण ! यह दादा तेरा, —धैर्य देखता है मेरा ?"[2]

राम द्वारा वनवास का समाचार मिलने पर माता कौशल्या का यह उद्‌गार है। कैसा भोला सारल्य है!—कितना आकर्षक!! महाराज दशरथ की तीनो रानियो मे कौशल्या के प्रति जो हमारे मन मे अपेक्षाकृत अधिक श्रद्धा, पूज्य बुद्धि और अपनत्व है उसका एक कारण जहाँ राम की माता होना है वहाँ दूसरा मुख्य कारण उनका सुख-सरल भोलापन ही है।

**विदग्धता**

"अधिक असुविधा तो आपको नहीं यहाँ ?"
"धन्यवाद ! जो-जो मुझे प्राप्य सो सभी तो है,
दुर्लभ है और कहीं ऐसी सहृदयता।"
ऐसा ह्रद एक सुना मैंने आपके यहाँ,
जो भी गिरे उसमे सलौना बन जाता है।
अद्‌भुत है !" राजा मुसकाया और बोला "हाँ"
"मधुर रहेगी तू वहाँ भी !" कहा भट ने।
"निस्सदेह ?" अर्णोराज बोला ![3]

काचनदे, अर्णोराज तथा काकभट के इस मधुरालाप की अन्तिम पक्तियो मे विदग्धता की व्यजना है। इस विदग्धता को रति का सचारी मान सकते हैं।

**नैराश्य**

" तो भी गुण कर्म से
तुझको महान मानने को विश्व बाध्य है।
* * * *

---

१. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ५०
२. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७४
३. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६६

किन्तु क्षमा होती कहीं दानि, तेरे दड मे,
तो इस प्रचण्ड वैर का भी यत्न तू ही था।
पूरक है तेरा एक यहाँ युधिष्ठिर ही।"
वृद्ध मुसकाए फिर बोले आह भरके—
"राम और भरत सदा ही नहीं मिलते!
जान लिया मैंने अब प्रेम नहीं होने का
जूझना भले तू, किन्तु द्वेष दूर करके।"[1]

अपने सदैव दोपी किन्तु सम्प्रति क्षमा-प्रार्थी कर्ण से वाण-शय्या-शायी भीष्म पितामह यह वात कह रहे हैं। यहाँ कुल के क्षय का घोर विषाद तो है ही पर साथ ही निराशा भी ध्वनित है। 'राम और भरत सदा ही नही मिलते! जान लिया मैंने अब प्रेम नही होने का।' —इस पक्ति मे विपाद से अधिक नैराश्य की झलक है।

साराश यह कि मैथिलीशरण जी के काव्य मे परम्परा-प्रसिद्ध ही नही अनेक अपरिगणित सचारी भी मिलते हैं।

## निष्कर्ष

मैथिलीशरण जी के काव्य मे सभी रसो एव मूल अथवा प्रधान भावो का निरूपण किया जा चुका है। प्रधान ही नही सचारी नामधारी सम्पूर्ण गौण भाव भी उनके काव्य में जगमगा रहे हैं। कुछ के उदाहरण प्रस्तुत किए जा चुके हैं—शेप को भी सहज ही उदाहृत किया जा सकता है। अनपेक्षित समझकर मैंने उन्हे छोड दिया है। इन विपय मे यह उल्लेखनीय है कि शास्त्र मे उक्त ही नही कतिपय अनुक्त सचारी भी गृहीत हैं। वहुत से तो ऐसे भी होंगे जिन्हे (किसी प्रकार के लक्षण आदि के अभाव मे) हम पकड ही नही पाए। इसी प्रकार रसाभास और भाव कोटि आदि के भी अनेक उदाहरण आलोच्य कवि की रचनाओ मे प्राप्त हैं। साथ ही आलम्वनगत वैविध्य और उद्दीपनगत वैभिन्न्य तथा अनुभाव-योजना-कौशल पर भी सम्यक् रूपेण दृष्टिपात किया जा चुका है। आलम्वन तो कवि की दृष्टि मे परिस्थिति सहित ही आते हैं, उससे पृथक् नही।—और परिस्थिति के चित्रण मे उसकी सार-ग्राहिणी प्रतिभा कुशलता मे आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग करती है। अनुभाव-विधान मे सामान्यत कुछ उल्लेख्य नही है, लेकिन सभी रसो एव भावो के उपयुक्त अनुभावो का निरूपण ही कवि की सफलता है।

पूर्व-विवेचन एव परिदर्शन के पश्चात् पूर्ण विश्वास एव अधिकार के साथ कहा जा सकता है कि हमारे कवि का भावक्षेत्र अत्यन्त विशद, विशाल एव व्यापक है। शृ गार, वीर, शान्त, करुण और भक्ति रस कवि को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय है—इनमे सिंचित राशि-राशि स्थल विना प्रयास ही लभ्य हैं। देखा जाए तो आलम्वनो मे भी इन्ही रसो के आलम्वनो का विशेप मनोयोग से चित्रण हुआ है जो पाठक के मन पर चिरस्थायी कोमल-करुण प्रभाव

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६८

छोड जाता है। वस्तुत अन्य रसान्तर्गत आलम्बन तो परिष्कृत रुचि-सम्पन्न आलोच्य कवि को सहज-ग्राह्य ही नही है। रसाभास भी अनौचित्यपूर्ण होने के कारण उसे स्वभावत सह्य नही है, फिर भी जीवन की पूर्णता का चित्रण करने वाला इनका त्याग नही कर सकता। इनके भी प्रसगप्राप्त दो-दो चार-चार श्रेष्ठ उदाहरण मिल जाना कठिन नही है।

सब मिलाकर प्रस्तुत कवि के भावक्षेत्र का अपरिमित विस्तार पाठक को विस्मय-विमुग्ध करने वाला, उसकी प्रतिभा के व्यापकत्व एव जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे रमने की उसकी अद्भुत शक्ति का परिचायक है।

# (ख) प्रबलता, सूक्ष्मता और संवेदनीयता

## प्रबलता और सूक्ष्मता

कवि के भावक्षेत्र का विस्तार देखा जा चुका है। आलम्बन और उद्दीपनगत वैविध्य का परिदर्शन भी कर चुके हैं। हम देखते हैं कि मैथिलीशरण जी प्रिय और अप्रिय, व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत सभी को अपने काव्य का विषय वनाते हैं। यह उनकी वहुत वडी विशेपता है। कोलरिज तो इसे प्रतिभा का एक लक्षण ही मानते हैं।[१] फिर भी केवल वैविध्य-विस्तार अपने आप मे विशेप महत्त्वपूर्ण नही है। प्रवलता, तीव्रता, गहराई, सूक्ष्मता आदि भी अपेक्षित हैं।—इनके अभाव मे विविधता एव विस्तीर्णता निरर्थक एव निष्प्रयोजन हैं। क्योकि साहित्य 'जीवन के विशिष्ट क्षणो' की—उन वरद क्षणो की रचना है जव कवि आवेशाविष्ट तथा किसी भाव-विशेष की गहराइयो मे निमग्न होता है। गहन अनुभूति ही तो काव्य की उद्भावक है। तुलसीदास की भावुकता का विश्लेषण करते हुए इसीलिए शुक्ल जी ने कहा है—"भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावो मे पूरी गहराई या तीव्रता भी है?"[२] गुप्त जी मे ये दोनो गुण विद्यमान हैं—अपरिमित विस्तार के साथ-साथ उनके भावो मे चिर-प्रभावक्षम सूक्ष्मता और प्रवलता भी है। यो तो रस-निरूपण मे प्रकारान्तर से प्रवलता एव गहनता का तथा सचारियो की विवेचना मे सूक्ष्मता का निदर्शन भी प्रस्तुत किया जा चुका है, फिर भी यहाँ उन पर थोडा और विचार कर लिया जाए।

पहले प्रवलता को लीजिए। गुप्त जी स्वभाव से अत्यन्त सवेदनशील हैं। यह सवेदनशीलता ही भावना को शक्ति प्रदान करती है। कुछ प्रसग लेकर बात को स्पष्ट करते हैं—

---

1 A second promise of genius is the choice of subjects very remote from the private interests and circumstances of the writer himself
Writers on writing Walter Allen
Edition 1948, page 41

२ गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ७४

चला गया लो, चला गया हो,
चला गया सो पुण्यश्लोक,
ओ विक्षिप्त मनुज, अब तुम सब
हर्ष मनाओ चाहे शोक।
अन्तरिक्ष आहें भरता है,
धरती आज कराह रही,
हा! मनुष्य से ही मनुष्यता
हटकर बचना चाह रही।[1]

ये पंक्तियाँ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के निधन मे शोक-संकुल कवि के करुणोच्छ्वास 'अंजलि और अर्घ्य' से अवतरित हैं। गांधी जी सच्चे अर्थों मे राष्ट्र के पिता थे। किस देशभक्त को उनकी मृत्यु पर दुःख नहीं हुआ? हमारा कवि तो उनका चिरभक्त है। रेडियो द्वारा यह दुखद समाचार सुनते ही उसे तो मानो काठ मार गया—गहन शोक से अभिभूत वह 'अरे राम!' कहते-कहते स्तब्ध हो गया।'[2] वह हार्दिक शोक ही यहाँ उद्वेलित है। निम्न दोहे मे राम-भक्ति की तीव्र-गहन अनन्यता भी द्रष्टव्य है—

धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझपर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग॥[3]

राम के प्रति तुलसी की चिरप्रशमित अद्भुत अनन्यता से इसका संतोलन कीजिए।

यह तो हुई स्वानुभूत अर्थात् व्यक्तिगत राग-विराग की बात। किन्तु कवि का आत्म जनसाधारण की अपेक्षा विशद एवं विशाल हुआ करता है, उसमे परस्थ भावनाओं को आत्मवत् अनुभव करने की शक्ति होती है। साधारणतः वे ही तो काव्य-प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति होते हैं जो व्यक्तिगत अनुभव के बिना ही भाव-ग्रहण मे, तद्वत् अनुभूति मे समर्थ हो।[4] कहते हैं सभी कवियो के अन्तस् मे एक विरहिणी निवास करती है। गुप्त जी के विषय मे भी यही सत्य है। उर्मिला और यशोधरा के रूप मे उनकी हृदयस्थ वियोगिनी ही प्रकट हुई है।

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?[5]

—आदि प्रगीत मे पूर्वोक्त विरहिणी का ही सघन और तीव्र उच्छ्वास है। कवि

---

१. अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ११
२. अंजलि और अर्घ्य का 'निवेदन'
३ द्वापर का मंगलाचरण
4 The poetic gifts are generally found in men who can realize what they portray without actually experiencing it
The Principles of Criticism W B Worsfold
Edition 1923, page 169
५. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २४

छोड जाता है। वस्तुत अन्य रसान्तर्गत आलम्बन तो परिष्कृत रुचि-सम्पन्न आलोच्य कवि को सहज-ग्राह्य ही नही हैं। रसाभास भी अनौचित्यपूर्ण होने के कारण उसे स्वभावत. सह्य नही है, फिर भी जीवन की पूर्णता का चित्रण करने वाला इनका त्याग नही कर सकता। इनके भी प्रसगप्राप्त दो-दो चार-चार श्रेष्ठ उदाहरण मिल जाना कठिन नही है।

सब मिलाकर प्रस्तुत कवि के भावक्षेत्र का अपरिमित विस्तार पाठक को विस्मय-विमुग्ध करने वाला, उसकी प्रतिभा के व्यापकत्व एव जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे रमने की उसकी अद्‌भुत शक्ति का परिचायक है।

# (ख) प्रबलता, सूक्ष्मता और संवेदनीयता

## प्रबलता और सूक्ष्मता

कवि के भावक्षेत्र का विस्तार देखा जा चुका है। आलम्बन और उद्दीपनगत वैविध्य का परिदर्शन भी कर चुके हैं। हम देखते हैं कि मैथिलीशरण जी प्रिय और अप्रिय, व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत सभी को अपने काव्य का विषय बनाते हैं। यह उनकी बहुत बडी विशेषता है। कोलरिज तो इसे प्रतिभा का एक लक्षण ही मानते हैं।[1] फिर भी केवल वैविध्य-विस्तार अपने आप मे विशेष महत्त्वपूर्ण नही है। प्रबलता, तीव्रता, गहराई, सूक्ष्मता आदि भी अपेक्षित हैं।—इनके अभाव मे विविधता एव विस्तीर्णता निरर्थक एव निष्प्रयोजन हैं। क्योकि साहित्य 'जीवन के विशिष्ट क्षणो' की—उन वरद क्षणो की रचना है जब कवि आवेशाविष्ट तथा किसी भाव-विशेष की गहराइयो मे निमग्न होता है। गहन अनुभूति ही तो काव्य की उद्‌भावक है। तुलसीदास की भावुकता का विश्लेषण करते हुए इसीलिए शुक्ल जी ने कहा है—"भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावो मे पूरी गहराई या तीव्रता भी है?"[२] गुप्त जी मे ये दोनो गुण विद्यमान हैं—अपरिमित विस्तार के साथ-साथ उनके भावो में चिर-प्रभावक्षम सूक्ष्मता और प्रबलता भी है। यो तो रस-निरूपण मे प्रकारान्तर से प्रबलता एव गहनता का तथा सचारियो की विवेचना मे सूक्ष्मता का निदर्शन भी प्रस्तुत किया जा चुका है, फिर भी यहाँ उन पर थोडा और विचार कर लिया जाए।

पहले प्रबलता को लीजिए। गुप्त जी स्वभाव से अत्यन्त सवेदनशील हैं। यह सवेदनशीलता ही भावना को शक्ति प्रदान करती है। कुछ प्रसग लेकर बात को स्पष्ट करते हैं—

---

1 A second promise of genius is the choice of subjects very remote from the private interests and circumstances of the writer himself
Writers on writing Walter Allen
Edition 1948, page 41.

२ गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ७४

चला गया लो, चला गया हो,
चला गया सो पुण्यश्लोक,
ओ विक्षिप्त मनुज, अब तुम सब
हर्ष मनाओ चाहे शोक।
अन्तरिक्ष आहें भरता है,
धरती आज कराह रही,
हा ! मनुष्य से ही मनुज्यता
हटकर वचना चाह रही ![1]

ये पक्तियाँ राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के निधन मे शोक-सकुल कवि के करुणोच्छ्वास 'अजलि और अर्घ्य' से अवतरित हैं। गाधी जी सच्चे अर्थो मे राष्ट्र के पिता थे। किस देशभक्त को उनकी मृत्यु पर दुख नही हुआ ? हमारा कवि तो उनका चिरभक्त है। रेडियो द्वारा यह दुखद समाचार सुनते ही उमे तो मानो काठ मार गया—गहन शोक से अभिभूत वह 'अरे राम ! कहते-कहते स्तब्ध हो गया।'[2] वह हार्दिक शोक ही यहाँ उद्वेलित है। निम्न दोहे मे राम-भक्ति की तीव्र-गहन अनन्यता भी द्रष्टव्य है—

धनुर्वाण वा वेणु लो, श्याम रूप के सग।
मुझपर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रग ॥[3]

राम के प्रति तुलमी की चिरप्रशमित अद्भुत अनन्यता से इसका सतोलन कीजिए।

यह तो हुई स्वानुभूत अर्थात् व्यक्तिगत राग-विराग की वात। किन्तु कवि का आत्म जनसाधारण की अपेक्षा विशद एव विशाल हुआ करता है, उसमे परस्थ भावनाओ को आत्मवत् अनुभव करने की शक्ति होती है। साधारणत वे ही तो काव्य-प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति होते हैं जो व्यक्तिगत अनुभव के विना ही भाव-ग्रहण मे, तद्वत् अनुभूति मे समर्थ हो।[4] कहते हैं सभी कवियो के अन्तस् मे एक विरहिणी निवास करती है। गुप्त जी के विपय मे भी यही सत्य है। उर्मिला और यशोवरा के रूप मे उनकी हृदयस्थ वियोगिनी ही प्रकट हुई है।

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?[5]

—आदि प्रगीत मे पूर्वोक्त विरहिणी का ही सघन और तीव्र उच्छ्वास है। कवि

---

१. अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ११
२ अजलि और अर्घ्य का 'निवेदन'
३ द्वापर का मंगलाचरण
4 The poetic gifts are generally found in men who can realize what they portray without actually experiencing it
The Principles of Criticism W B Worsfold
Edition 1923, page 169
५. यशोधरा, संस्करण सवत् २००७, पृष्ठ २४

का अपना जन्मजात पौरुष विरहिणी के नारीत्व मे विलीन हो जाता है। वह इतना तल्लीन होता है कि यशोधरा मे और उसमे कुछ अन्तर ही नही रह जाता। कवि का यशोधरामय हृदय फूट उठता है—

हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा?
जिसने अपनाया था, त्यागा;
रहें स्मरण ही आते![1]

विरह और विरहजन्य विषाद कितना तीव्र है! यह तीव्रता ही कवि और अकवि का निर्णय कराती है। उर्मिला की उक्तियो मे और भी अधिक तीव्रता है—

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बांध न लूंगी तुम्हें, तजो भय भारी।[2]

नव-परिणीता वधू उर्मिला का अपने पति लक्ष्मण के प्रति यह कथन है। कैसा करुण-मधुर उपालम्भ है। हम समझते हैं कि ऐसी पक्तियो के प्रणयन-काल मे कवि या तो स्वय उर्मिला बन गया है या फिर उर्मिला ही उसके अन्तस् मे आ बैठी है।—यही तो भावयोग है। इसी के प्रताप से उत्तरा के शोक मे प्रबलता आ सकी है। उससे कुछ पक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

प्रिय मृत्यु का अप्रिय महा सवाद पाकर विष भरा,
चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानो रह गई हत उत्तरा!
सज्ञा-रहित तत्काल ही वह फिर धरा पर गिर पड़ी,
उस काल मूर्च्छा भी अहो! हितकर हुई उसको बड़ी
कुछ देर तक दुर्दैव ने रहने न दी यह भी दशा
. . . . . . . .

तब तपन नामक नरक से भी यातना पाकर कड़ी
विक्षिप्त-सी तत्क्षण शिविर से निकल कर वह चल पड़ी
* * *
प्राणेश-शव के निकट जाकर चरम दुख सहती हुई,
वह नव-वधू फिर गिर पड़ी "हा नाथ! हा!" कहती हुई॥[3]

शोक की कैसी प्रबल व्यजना है! अन्तर्प्रेरणा के अभाव मे केवल शास्त्र-परिगणित अनुभावो और सचारियो के एकत्रीकरण मे इतनी शक्ति कहाँ? प्रबलता की इससे भी अधिक सघनता देखनी हो तो यशोधरा की निम्न उक्ति का पाठ कीजिए—

---

१. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ २५
२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १९३
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ २१

'जहाँ जाने से जगत मे
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से,
फिर भी जहाँ मैं आप इच्छा रहते हुए,
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठ रहती मैं ? छान डालती धरित्री को।
सिंहनी-सी काननों मे, योगिनी-सी शैलो मे,
शफरी-सी जल मे विहगिनी-सी व्योम मे,
जाती तभी और उन्हे खोज कर लाती मैं।

* * *

. .. .. ...हाय इतना अभाग्य भी
भव मे किसी का हुआ ? कोई कहीं ज्ञाता है,
तो मुझे वता दे हा ! वता दे हा ! वता दे हा ![1]

पाठक को झकझोड डालनेवाला घनीभूत प्रावल्य है !—मानो कोई महानद गभीर नाद करता हुआ प्रवल वेग से वह रहा हो—ऐसे वेग से जिसमे सव कुछ आत्मसात् कर लेने की क्षमता तो हो पर इधर-उधर देखने का, वीचि-विलास का अवकाश न हो। यशोधरा के व्यक्तित्व की यह प्रवलता ही उसे उर्मिला से अलग करती है। यशोधरा और उर्मिला मे प्रकृतिगत अन्तर है एक प्रवल है तो दूसरी तीव्र ! किन्तु दोनो का चरित्र ही अपने आप मे आकर्षक है।

उपर्युक्त स्थलो के अतिरिक्त भरत की ग्लानि (साकेत), गौतम का निर्वेद (यशोधरा), शची का रोप (नहुप), ठकुरानी का शोक ( विकट भट ), यशोदा का वात्सल्य (द्वापर), यशोवरा का वात्सल्य (यशोवरा), गौतम के आगमन पर यशोधरा का मान ( यशोवरा ), चित्रकूट-सभा मे कैकेयी का पश्चात्ताप (साकेत) तथा कौरव-पाण्डव-युद्ध (जय भारत) आदि भी तीव्रता, प्रवलता एव गहराई की दृष्टि से विशेपत. अवलोकनीय हैं। तीक्ष्ण तीव्रता, अप्रतिवद्ध प्रवलता और गभीर-गहनता-सम्पन्न ऐसे और इतने स्थल साधारणत किसी एक कवि की रचनाओ मे मिलने दुष्कर हैं। यह गुप्त जी की भावुकता का वरदान है।

किन्तु उनमे सूक्ष्मता नही है। सूक्ष्मता के इस अभाव के लिए उनकी अतिशय भावुकता ही उत्तरदायी है। वास्तव मे सूक्ष्मता, तीव्रता और प्रवलता प्राय एक साथ नही मिला करते। मीरा के काव्य मे तीव्रता है पर सूक्ष्मता नहीं। इसके विपरीत पन्तजी की कविताओ मे सूक्ष्मता तो है—किन्तु प्रवलता का अभाव है। गुप्तजी के विपय में भी यह वात सोलह आने सही है, फिर भी उनके काव्य मे सूक्ष्मता का सर्वथा अभाव ही हो सो वात नही है। जीवन और जगत् के प्रवुद्ध पारखी की रचनाओ मे उसका अत्यन्ताभाव सभव ही नही है। ऊपर यशोधरा और उर्मिला के प्रकृतिगत अन्तर की ओर सकेत किया जा चुका है। यद्यपि दोनो सम्भ्रान्त कुल की वियोगिनिया हैं—दोनो को पति-वियोग की दु सह व्यथा सहन करनी

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १२५-१२६

पड रही है, फिर भी वे कितनी पृथक् हैं।—उनमे शील-वैभिन्न्य है। शील दशा को पहुँचे हुए इन भावो की व्यजना कवि ने दोनो के चरित्र मे आरभ से अन्त तक की है। यह उसकी सूक्ष्म-ग्राहिणी प्रतिभा की ही द्योतक है। दो-एक प्रसग और लीजिए। कौशल्या और सीता देवार्चन की सामग्री सजो रही हैं।[1] 'पवित्रता मे पगी हुई' सद्य स्नाता 'कौशल्या कोमल-काया' बैठी हुई हैं, और सीता—

'मा ! क्या लाऊ ?' कह कह कर —पूछ रही थीं रह रह कर।
सास चाहती थीं जब जो, —देती थीं उनको सब सो।
कभी आरती, धूप कभी, सजती थीं सामान सभी।[2]

सद्‌गृहस्थी का उज्ज्वल एव आदर्श चित्र है।—सास-बहू के आधुनिक वैमनस्य से इसकी तुलना कीजिए। आरती का सामान सज ही रहा था कि राम भी अनुज सहित वहाँ पहुँच जाते हैं। माँ उन्हे देखते ही, प्रणाम की प्रतीक्षा किए बिना ही—आशीर्वाद देने लगती हैं। कौशल्या की निस्स्वार्थता अथवा अहकार-शून्यता की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक था—क्योकि प्रणाम की प्रतीक्षा भी तो अह की ही द्योतक है। खैर, माँ तो आशीर्वाद मे व्यस्त थी, किन्तु—

हँस सीता कुछ सकुचाईं, आँखें तिरछी हो आईं।
लज्जा ने घूघट काढ़ा— मुख का रग किया गाढ़ा।[3]

शास्त्राभ्यासी यहाँ व्रीडा सचारी और किलकिंचित् भाव की खोज करेंगे। किन्तु इसमे कुछ ऐसी बात है जिसे उन दोनो के कटघरे मे बन्द नही किया जा सकता। क्योकि उक्त पक्तियो मे परिव्यक्त 'मधुर सकोच' का कारण केवल रति नही है वरन् रति से भी अधिक मर्यादा है। इसीलिए तो सीता के अभ्यस्त हाथ घूंघट काढ लेते हैं। रति और मर्यादा-जन्य इस सकोच की व्यजना का अवसर भी कवि ने उपयुक्त ही ढूंढा है। यदि मन्द हास, सकुचाना, नेत्र-वक्रता, घूंघट काढना आदि ये ही व्यापार इस समय और स्थान पर न दिखा कर कही और, मान लीजिए वन मे जाते हुए पथ मे अथवा वन मे, दिखाए जाते तो अमर्यादित माने जाते। मर्यादा-मण्डित इस मनोहर व्यक्तित्व के विपरीत है शूर्पणखा का निर्लज्जता-कलुषित चरित्र। देखिए वह स्वयदूतिका किस प्रकार लक्ष्मण के समक्ष अपना कुत्सित प्रस्ताव रखती है—

अरे, कौन है, वार न देगी जो इस यौवन-धन पर प्राण ?
खोओ इसे न यों ही हा हा ! करो यत्न से इसका त्राण।
किसी हेतु ससार भार-सा देता हो यदि तुमको ग्लानि,
तो अब मेरे साथ उसे तुम एक और अवसर दो दानि ?[4]

---

१ साकेत, चतुर्थ सर्ग

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ७२

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ७३

४. पचवटी, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २१

लक्षणकारो ने व्रीडा को सचारियो मे परिगणित किया है, निर्लज्जता को नही। यहाँ वही प्रमुख है, और उसके लिए पात्र भी सर्वथा उपयुक्त—राक्षसी शूर्पणखा है। उसके अतिरिक्त और किसका इतना साहस हो सकता है कि ढलती रात मे अकेले ही जगल मे घूमती फिरे तथा पर-पुरुष से ऐसा प्रस्ताव करे। पात्र और परिस्थिति का ऐसा सुष्ठु सयोग अन्तप्रवेशिनी दृष्टिसम्पन्न कवियो के द्वारा ही सभव है। उर्मिला के विरह-वर्णन मे तो कवि और अधिक सूक्ष्मता तक पहुँचा है। वियोगिनी उर्मिला की अर्द्ध-विस्मृति का सूक्ष्म-तारल्य दर्शनीय है—

**भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी—'आओ।'**
**किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर—'जाओ।'** [1]

विरह-मूढ उर्मिला को जब कभी अवधि विस्मृत हो जाती है तो वह प्रियतम का आकुल आह्वान करती है—किन्तु स्वप्न मे भी यदि वे अपने पास दिखाई दे जाते हैं तो वह चौंक कर उठती है और उन्हे जाने के लिए कहती है। जिसके लिए मर रही है उसी को जाने के लिए क्यो कह देती है? डा० सहल तो 'आओ' और 'जाओ' को क्रमश. काम और लज्जा के द्योतक मानकर उसे मध्या नायिका कहना चाहते हैं।[2] बल्कि उपर्युक्त पक्तियो को उद्धृत करने से पूर्व उन्होंने स्पष्ट ही लिखा है—"निम्नलिखित छन्द मे मध्या नायिका की भाँति उर्मिला का चित्रण कवि ने किया है।"[3] किन्तु हम गुप्त जी के काव्य का अध्ययन करते समय मुग्धा-मध्या-प्रौढा आदि के प्रपच मे न पडने का अनुरोध करते हैं। सचमुच वह कवि और उसकी कामना के प्रति अन्याय होगा।

'आओ' और 'जाओ' की बात चल रही थी। उर्मिला 'जाओ' कहती है मर्यादा-भग की आशका से—इसीलिए की अभी चौदह वर्ष पूरे नही हुए। उसे अवधि की पूर्ति से पहले स्वप्न मे भी प्रिय का आगमन असह्य है। यदि ऐसा न होता तो उर्मिला और शूर्पणखा मे अन्तर ही क्या रह जाता? निश्चय ही पूर्वोल्लिखित अर्द्ध-विस्मृति का चित्रण उर्मिला के मध्या-रूप के पुरस्कार के लिए नही वरन् श्रेय के निमित्त प्रेय के बलिदान के लिए हुआ है।

मथरा-कैकेयी सवाद मे भी सूक्ष्मता देखी जा सकती है। किन्तु वह पूर्ववर्ती कवियो—वाल्मीकि और तुलसी से ज्यो की त्यो गृहीत है। फिर भी उसका सफल निर्वाह स्तुत्य ही है—क्योकि सूक्ष्मता का अन्तरण भी तो दुष्कर है।—और दो-एक स्थलो पर कवि का हास्य तो काफी सूक्ष्म हो गया है। शब्द-लिंग पर आधृत लक्ष्मण-उर्मिला का सूक्ष्म परिहास देखिए—

उर्मिला बोली—"अजी, तुम जग गये?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये?"
"मोहिनी ने मन्त्र पढ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ!"[4]

---

१ साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १९५
२. दे० साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५
३ साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५
४. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २१

किसी कवि की सूक्ष्म-ग्राहिणी प्रतिभा के मूल्याकन का एक और उपाय है। जिस कवि मे सूक्ष्म-निरीक्षण की जितनी अधिक शक्ति होगी उसके काव्य मे उतने ही अधिक सचारी—परम्परा-प्रसिद्ध मोटे-मोटे सचारी नही वरन् शास्त्र मे अनुल्लिखित छोटे-छोटे सूक्ष्म भाव—मिलेंगे। प्रस्तुत कवि के काव्य से ऐसे कुछ छोटे-छोटे अप्रसिद्ध सचारियो को उदाहृत किया जा चुका है। यहा दो उदाहरण और प्रस्तुत करते है—

किन्तु जगद्देव नत मस्तक खडा रहा
मानो कुछ सोचता था, बोला कुछ देर मे—
"सचमुच महाराज, आज महाकाल ने
आपको प्रसाद दिया, इच्छा यही देवी की
भय से पराजय न मानूं किन्तु आपके
वीरोचित विनय-विवेक व्यवहार से
हार मानता हूँ, और होता हूँ अधीन मैं।"[1]

शायद यहा मति की व्यजना बताई जाएगी। लेकिन यह ठीक नही है। वस्तुत इस अवतरण मे जयसिंह की उदारता पर मोहित वीर जगद्देव की कृतज्ञता व्यग्य है। अब शास्त्र मे उसका उल्लेख हो या न हो—किन्तु जीवन मे तो उसके अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। गुहराज के निम्न वचनो का अपूर्व मार्दव भी दर्शनीय है—

मृगयाशील कभी फिर भी यहाँ—
पड सकते हैं चारु चरण ये, पर कहाँ
आ सकती हैं, बार-बार माँ जानकी ?
कुलदेवी-सी मिली मुझे हाँ, जानकी।
भद्रे, भूले नहीं मुझे आह्लाद वे,
मिथिला पुर के राजभोग हैं याद वे।
पेट भरा था, किन्तु भूख तब भी रही !
एक ग्रास मे तृप्त न कर दूँ तो सही ![2]

परम्परागत किसी भी व्यभिचारी की स्थिति यहा नही है। किन्तु सौजन्य या विनम्रता जैसे किसी कोमल सचारी की सहज ही कल्पना की जा सकती है। वास्तव मे, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं, जब उग्रता को सचारी माना जाता है तो उसके प्रतियोगी सौजन्य या विनय की गणना भी सचारियो मे की जानी चाहिए।[3] गुहराज की इस उक्ति मे उसी की व्यजना है।

यह सब कहने का तात्पर्य यह कि मैथिलीशरण जी के काव्य मे सूक्ष्मता भी मिल सकती है। किन्तु ऐसे प्रसग कम हैं—अन्य महाकवियो की तुलना मे बहुत कम हैं। वास्तव

---

१ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ४७-४८
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ९७
३ दे० रस-मीमासा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २२०

मे वे प्रवलता के कवि हैं—सूक्ष्मता के नही।—और जैसा कि मैं पहले भी निवेदन कर चुका हूँ ये दोनों गुण प्राय एक साथ नही मिला करते। इन दोनो का मणि-काचन सयोग तो किसी एकाध कविपुगव मे ही देखने मे आता है। हिन्दी मे तुलसीदास के वाद प्रसाद ही उसके अधिकारी हुए हैं। निश्चित रूप से हमारे कवि मे वह वात नही है। भाव-प्रवलता की दृष्टि से तो वह प्रथम कोटि का ही कवि ठहरता है—प्रसाद से किसी प्रकार भी कम नही। किन्तु सूक्ष्मता की दृष्टि से मैथिलीशरण उनकी स्पर्धा नही कर सकते।

## संवेदनीयता

यह काव्य का सबसे पहला और अनिवार्य उपवध है। उसका तो सारा प्रपच ही सवेदनीयता को लेकर रचा गया है। अपने भावो, अनुभूति अथवा मनोदशा को सवेद्य वनाना—पाठक को भी उसी स्थिति मे ले आना—कवि-कर्म का प्रमुख अग है। उसे अपनी अनुभूति को सहृदय-सवेद्य बनाना ही पडेगा। किन्तु प्रेषणीयता-सम्पादन का यह कार्य सुनिश्चित और सुसयोजित नही हुआ करता। सवेदनीयता तो अनुभूति की सुष्ठु व्यजना मे अन्तर्निहित रहती है। काव्य के लिए अनिवार्य होते हुए भी अनुभूति से पृथक् इसकी कोई सत्ता नही है। जव इसे पृथक् माना जाने लगता है तव जैसा कि रिचर्ड्स कहते हैं, यह काव्य के लिए घातक सिद्ध होती है।[1] अस्तु।

सवेदनीयता के निमित्त सबसे पहले कवि के भावो मे प्रावल्य की अपेक्षा है। हमारे कवि मे पर्याप्त प्रवलता है, यह अभी देख चुके हैं। पुनरावृत्ति अनावश्यक है। दूसरी अपेक्षित शक्ति है सहृदय को विम्वग्रहण कराने की। इस विपय का विस्तृत विवेचन तो कलापक्ष पर विचार करते समय किया जाएगा—किन्तु यहाँ भी विहगम दृष्टि डालना अनुचित नही होगा। काव्यकार अपने मानस मे उद्भूत रूप अथवा भाव-कल्पना को सहृदय तक यथावत् पहुँचाने के लिए एक विम्व खडा करता है। वह विम्व ही पाठक मे अभिलषित भाव जगाता है। भावना के प्रेपक अथवा भाव-प्रेषण मे सहायक विम्व भी मूलस्रोत की दृष्टि से कई प्रकार के हो सकते हैं—उनका चयन प्रकृति से हो सकता है, मानव जीवन से हो सकता है या फिर परिचित और प्रख्यात पुस्तको, कथाओ आदि के द्वारा यह कार्य सम्पादित किया जा सकता है। प्रस्तुत कवि को प्रकृत विम्व अधिक प्रिय है। यद्यपि आलम्वन रूप मे उसने प्रकृति-चित्रण वहुत कम किया है, फिर भी उसके काव्य मे अधिकाश अप्रस्तुत प्रकृत जीवन से गृहीत हैं।—और उनके द्वारा प्रस्तुत को सवेद्य वनाने मे उसे काफी सफलता भी मिली है। केवल दो उदाहरण दिए जाते हैं—

---

1 If he (artist) considered the communicative side as a separate issue would be fatal in most serious work

Principles of Literary Criticism,
Sixth impression, Page 27

किन्तु कुछ चिन्तित से दीखते हो तुम क्यो ?
भाराक्रान्त तुहिन-कणो से भी कुसुम ज्यो ।[1]

कवि पाठक के मानस-पटल पर चिन्ता-सकुल व्यक्ति अकित करना चाहता है—वही उसकी अपनी चेतना पर भी अधिकृत है। पर 'चिन्तित से दीखते हो तुम क्यो' से तो लक्ष्य-सिद्धि नही होती—पाठक के मन पर अभिप्रेत प्रभाव नही पडता। अत कवि उसे स्पष्ट करने के लिए, हृदयगम कराने के लिए तुहिन-कणो से भाराक्रान्त कुसुम का चित्र उपस्थित करता है। कैसा जाना-पहचाना और अनुभूत विम्व उपस्थित किया गया है। इसके द्वारा कवि पाठक की चेतना को प्रभावित कर अपने अनुभव को वहाँ पहुँचाने मे समर्थ हो सका है। अर्थात् चिन्तित व्यक्ति की उसके अपने मन मे जो मूर्ति घूम रही थी वह पाठक के मन मे भी जा बैठी। इस प्रकार कवि की अनुभूति पाठक के लिए सवेद्य वन गई। कीर्ति-शेप महात्मा गाधी के विपय मे लिखित निम्न पक्ति देखिए—

कुछ न सूझते अँधियारे मे उजियाला सा आया तू ।[2]

जव भारतवर्ष दास था; गौराग प्रभुओ के असह्य अत्याचार जिनकी स्मृति भी लोमहर्पक है हो रहे थे। अत्याचार के घटाटोप से देश मे अन्धकार छाया हुआ था—सचमुच दासता-निगडित भारत के लिए वह युग अन्धकार का ही था। किन्तु महात्मा जी के राजनैतिक मच पर आते ही वह अन्धकार, वे अत्याचार दूर होने लगे।—और आखिर एक दिन उन्ही के प्रयत्नो से हम स्वतन्त्र हुए। राष्ट्रपिता के इसी रूप को कवि प्रतिष्ठित करना चाहता है। कैसे करे ? कालिमा का कदन करता हुआ प्रकाश तो सभी ने देखा है—उसका विम्व-ग्रहण भी सुगम है। अर्थात् सभी का उससे रागात्मक सम्वन्ध स्थापित हो सकता है, चिर-साहचर्य के कारण। अत अपनी अनुभूति को प्रेपणीय वनाने के लिए वह उसी को माध्यम वनाता है। कैसा सक्षिप्त, सटीक—किन्तु प्रभावशाली विम्व है।

'जिस पर पाले का एक पर्त्त-सा छाया' आदि साकेत के प्रसिद्ध पद्य मे भी यह विशेषता देखी जा सकती है। किन्तु एकान्तत प्राकृतिक विम्व ही गृहीत नही है। अपने विचार और अनुभवो के सवेदन के लिए उसने दूसरे प्रकार का विधान भी किया है, जैसे—

(१) फूल-काँटे एक से कृतज्ञ होके विधि के
पार्षद वने थे, निज जीवन के निधि के[3]

(२) कट जावेंगे पुण्यभूमि की पराधीनता के सव पाश,
पांचाली की लाज रहेगी होगा दु शासन का नाश।[4]

---

१ पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३१
२. अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३८
३ हिडिम्वा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ११
४. गुरुकुल, सस्करण संवत् २००४, पृष्ठ १०२

(३) कृषक अथक तेरे उद्योगी
जैसे कूट-काव्य-रस भोगी![1]

इनमे से प्रथम मे मानवीय व्यापार का, द्वितीय मे महाभारत की कथा का और तृतीय मे काव्यजगत् का आश्रय लेकर अनुभव-प्रेषण का प्रयत्न हुआ है। इन सबसे सहृदय का सनातन परिचय है। अत ये प्राकृतिक बिम्ब के समान ही उपयोगी हैं।

ध्वन्यात्मक शब्द-योजना द्वारा भी कविगण बिम्ब खडा किया करते हैं—वे ध्वनि-चित्रण के द्वारा ही पाठक के लिए अपना अनुभव ग्राह्य बना देते है। इसके लिए ध्वनि की सूक्ष्म चेतना अपेक्षित है। हिन्दी मे सुमित्रानन्दन पन्त मे यह चेतना बहुत विकसित है। किन्तु हमारे कवि को ध्वनि का वैसा परिज्ञान नही है, फिर भी दो-चार उदाहरण मिल सकते हैं, यथा—

**रिमझिम-रिमझिम रस की बूंदें बरसौ जो ऊपर से[2]**

वर्षा का दृश्य मनश्चक्षु के समक्ष उपस्थित करने मे समर्थ होने पर भी यह ध्वनि चिर-प्रसिद्ध और सर्वपरिचित है अत इसके लिए ध्वनि के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नही है। पर मैथिलीशरण जी के काव्य मे तो ऐसे उदाहरणो की सख्या भी अल्प ही है।

काव्य को सवेद्य बनाने के लिए तीसरी आवश्यकता है कवि की ईमानदारी अर्थात् निश्छलता। उसे अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार होना चाहिए। क्योकि सहृदय को भाव-मग्न करने से पूर्व यह अपेक्षित है कि स्वय कवि ने भी उसका प्रत्यक्षत अथवा कल्पना द्वारा अनुभव किया हो।—और कवि का यह अनुभव जितना गहन और सघन होगा उसमे सहृदय के मन मे वह भाव उद्बुद्ध करने की उतनी ही अधिक क्षमता होगी। यह आवश्यक नही कि हर बात मे कवि विश्वास करता हो, फिर भी रचना-काल मे उसे तद्गत होना ही पडेगा।—"रावण की बात करते हुए राम के विषय मे, स्वय तुलसीदास तुच्छ भावना प्रदर्शित करने के लिए बाध्य होते हैं।"[3] अन्यथा रचना नीरस और प्रभावहीन होगी। मैथिलीशरण जी की असदिग्ध निश्छलता तो सर्वमान्य है। सचमुच वे मनसा, वाचा, कर्मणा छल मे दूर हैं। उनके काव्य की सवेदनशीलता का सबसे बडा कारण भाव की निश्छलता ही है।—और इसीलिए उनमे इतनी प्रबलता आ सकी है। केवल एक प्रसग उपस्थित करता हूँ। बौद्ध-दर्शन से कवि पूर्णत सहमत नही है—वह मूलत वैष्णव है, फिर भी यशोधरा के 'महा-भिनिष्क्रमण' खण्ड मे गौतम से उसका मानसिक तादात्म्य हो जाता है। अमिताभ के साथ-साथ वह घोषणा करता है—

वह कर्म-काण्ड-ताण्डव-विकास
वेदी पर हिंसा-हास-रास,
लोलुप-रसना का लोल-लास,

---

१. कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ७६
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १७३
३. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ५

तुम देखो ऋग्, यजु और साम ।
ओ क्षणभंगुर भव, राम-राम ![1]

निर्वेद की पर्याप्त प्रबल व्यंजना है। इस प्रबलता का मूल कारण क्या है? प्रस्तुत पात्र से तादात्म्य। यही भावना की ईमानदारी है। गुप्त जी के काव्य की प्रभावक्षमता का एक और कारण है अभिव्यंजना की अद्भुत् ऋजुता, जैसे—

हरे! हाय! क्या से यहाँ क्या हुआ?
उड़ा ही दिया मथरा ने सुआ![2]

पाठक के हृदय पर कोमल-करुण प्रभाव छोड़ जाने वाली उर्मिला की यह उक्ति कितनी ऋजु-सरल है, फिर भी अत्यन्त प्रभावशाली!

किन्तु संवेदनीयता की दृष्टि से यह कवि एकदम निर्दोष भी नहीं है। भारत-भारती का निम्न पद्य लीजिए—

सुख-शान्तिमय सरकार का शासन समय है अब यहाँ,
सुविधा समुन्नति के लिए है प्राप्त हमको सब यहाँ।
अब भी न यदि कुछ कर सके हम तो हमारी भूल है,
अनुकूल अवसर की उपेक्षा हूलती फिर शूल है॥[3]

निश्चित रूप से यह भारत-भारती की भाव-धारा (वल्कि विचारधारा कहिए) में व्याघात उपस्थित करता है। यद्यपि यह स्थिर सत्य है कि ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से भारतवर्ष में पूर्व उपद्रवों का शमन हुआ, अपेक्षाकृत शान्ति का प्रसरण हुआ, फिर भी गुप्त जी की—स्वातन्त्र्य के पुजारी राष्ट्रकवि की यह भावना नहीं हो सकती। कवि के अस्वीकार करने पर भी मैं ऐसे स्थलों पर वाह्य दवाव ही मानता हूँ। और स्पष्ट शब्दों में यहाँ कवि की उक्ति और मान्यता में अन्तर है—इसीलिए यह प्रभावहीन है। इसमें प्रेरणा-दान की सामर्थ्य नहीं है। इस दृष्टि से गुरुकुल सर्वाधिक सदोष है। उसका अधिकांश भाग संवेदनाहीन है—क्योंकि उसकी रचना हृद्गत अनुभूति से नहीं एक सिक्ख सज्जन के अनुरोध पर हुई थी।

कुछ स्थलों पर भाव-प्रेषण में समर्थ बिम्ब भी प्रस्तुत कवि खड़ा नहीं कर पाया, यथा—

आकाश-जाल सब ओर तना,
रवि तन्तुवाय है आज बना,
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी-सी भिन्ना रही मही![4]

---

१ यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २०
२ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३९
३ भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ १७५
४ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २०८

आकाश-स्थित सूर्य की परिक्रमा करती हुई पृथ्वी का दृश्य हृदयगम कराने के लिए मकडे द्वारा प्रहृत मक्खी का रूपक बांधा गया है। डा० सहल तो यहाँ विराट् रूपक की योजना बताते हैं।[1] परन्तु यह विराटता सहृदय-सवेद्य नही है, केवल बौद्धिक ऊहापोह है। कहाँ सूर्य और कहाँ मकडा ?—कहाँ पृथ्वी और कहाँ मक्खी ? कोई अनुपात भी तो हो ! अननुपात और उस पर भी अकाव्योचित ! हम समझते हैं कि इस रूपक की कवित्वहीनता के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है। तब फिर यह सवेदना का साधक कैसे हो सकता है ? और कलाओ मे जो उपकरण साधक नही बन पाता वह बाधक बन जाया करता है। प्रस्तुत रूपक के विषय मे भी यही सत्य है। पर सौभाग्य से ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं।

सब मिलाकर गुप्त जी का अधिकाश काव्य सवेदनापूर्ण है। अपरिमित प्रबलता, प्रौढ बिम्ब-विधायिनी शक्ति तथा अपूर्व निश्छलता के कारण उसमे उत्कट सवेदनीयता आ गई है।

## (ग) मार्मिक प्रसंगों की पहचान

जीवन एक अविश्रान्त हृदय-सग्राम है—निरन्तर सघर्षशील है। उसके प्रत्येक क्षण की अपनी कहानी है। फिर भी कतिपय विशिष्ट क्षण अपेक्षाकृत मर्म-स्पर्शी होते हैं। ये मर्म-स्पर्शी क्षण ही काव्य का विषय हैं—काव्योचित हैं। काव्य के सभी रूपो के विषय मे यह सत्य है। प्रबन्ध मे यद्यपि समग्र जीवन अथवा खण्ड-जीवन आता है। किन्तु उसके प्राण हुआ करते हैं कतिपय मर्म-स्थल ! इन मर्म-स्थलो का ही तो प्रबन्धकाव्य मे महत्व होता है—बाकी सब कुछ उन्ही के परिदर्शनार्थ आया करता है या फिर जैसा कि शुक्ल जी कहते हैं शेष इतिवृत्त इन स्थलो तक पहुँचने के लिए ही होता है।[2] वास्तव मे कथा के मार्मिक प्रसगो का चयन और सप्रभाव पुरस्करण ही सच्चे प्रबन्धकार का लक्षण है।—यही उसकी कुशल प्रबन्ध-कल्पना का परिचायक है। आलोच्य कवि मुख्यत प्रबन्धकार ही है। उसने दो महाकाव्यो और उन्नीस खण्डकाव्यो का प्रणयन किया है। नवीन काव्य-रूप—यशोधरा, द्वापर और कुणाल-गीत—भी निश्चित रूप से प्रबन्ध ही हैं। इन सबकी रचना मे अनेक मार्मिक प्रसग

---

१. दे० साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४५

२. जिसके प्रभाव से सारी कथा मे रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य-जीवन के मर्म-स्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच मे आते रहते हैं। यह समझिए कि काव्य मे कथा-वस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुचने के लिए होती है।

जायसी ग्रन्थावली, चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ ६६

सामने आए—और हमारे कवि ने बडी तत्परता एव कुशलता से उनका निपेवण किया। कवि की इस महत्यात्रा मे आने वाले प्रमुख भाव-रमणीय स्थान निम्नलिखित हैं—

कन्या का विवाह और विदाई प्रसग, वारुजी का अपमान और आत्म-हत्या, वर की वीरगति तथा वधू का सहमरण, हाडा कुभ का धर्म-सकट और अन्तत आत्म-वलिदान (रग मे भग), अभिमन्यु का रणोत्साह, उत्तरा का विलाप, अर्जुन का शोक और कोप, अर्जुन की विफलता की कृष्ण-कृपा से सफलता मे परिणति (जयद्रथ-वध), देश और विदेश मे किसान पर किए गए अत्याचार (किसान), लक्ष्मण-शूर्पणखा सवाद, लक्ष्मण, सीता और शूर्पणखा की वार्ता, निराश शूर्पणखा का विकृत रूप-धारण (पचवटी), महाशक्ति द्वारा असुर-सहार ( शक्ति ), द्रौपदी का वचनाघात-सहन, द्रौपदी-सुदेष्णा सभाषण (सैरन्ध्री), दुर्योधन-मण्डली की कपट-योजना, दुर्योधन का जल-विहार और चित्ररथ से तकरार, वृद्ध मन्त्री की युधिष्ठिर से साहाय्य-याचना (वन-वैभव), ब्राह्मण-परिवार पर सकट, कुन्ती के हृदय मे कर्त्तव्य और प्रेम का सघर्ष (वक-सहार), देवीसिंह जी का क्षोभ, ठकुरानी का उद्वेलित वात्सल्य, कुवर सवाई सिंह की कुलक्रमागत मृगेन्द्रता (विकटभट), शची की शोचनीय दशा, ऋषि-कोप और नहुष का पतन (नहुष),हसन और हुसैन की पिपासाकुल मृत्यु (काबा और कर्वला), भीम और हिडिम्वा का वार्तालाप, भीम-हिडिम्वा-युद्ध, कुन्ती-हिडिम्वा वार्ता (हिडिम्वा), गुरु तेगवहादुर की हत्या, गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रो का दीवार मे चुना जाना, वन्दा वीर वैरागी का पीडन (गुरुकुल), निरपराध अजित का कारा-वधन, कारागृह का कटु वैचित्र्य (अजित), सोमनाथ की कर-मुक्ति के निमित्त राजमाता मीलनदे का यात्रा-स्थगन, राजा नरवर्मा की मृत्यु पर भी वीर जगद्देव का पराजय स्वीकार न करना, रानकदे का वरण, पति की मृत्यु के वाद लोभ और अत्याचार की अवस्थिति मे भी सतीत्व की रक्षा एव गौरव-व्यजना, काचनदे के हृदय मे प्रेम का प्रथम स्फुरण, मदनवर्मा से मैत्री (सिद्धराज), कुणाल द्वारा विमाता के आदेश का शिरोधारण, अन्ध राजकुमार कुणाल और उसकी पत्नी काचनमाला का भिक्षाटन (कुणाल-गीत), यशोदा का वियुक्त वात्सल्य, लाछित विधृता का देह-त्याग, वासुदेव-देवकी का वात्सल्य-विक्षोभ, गोपी-विरह (द्वापर), जरा, रोग और मृत्यु आदि की विभीपिका का दर्शन कर गौतम का मानसिक सघर्ष, यशोधरा का लाछना-जन्य खेद और विरह, गौतम को लेकर चलनेवाला राहुल और यशोधरा का वार्तालाप, वुद्ध का आगमन और यशोधरा का मान और उत्सर्ग (यशोधरा), लक्ष्मण-उर्मिला का प्रेमालाप, मथरा-कैकेयी सवाद, कैकेयी की वर-याचना, राम का अयोध्या-त्याग, गुहराज-मिलन, भरत का आगमन और आत्म-ग्लानि, वनवासी राम-सीता की गृहस्थी, चित्रकूट-सभा, उर्मिला-विरह, भरत-माण्डवी का वैराग्यपूर्ण गार्हस्थ्य, लक्ष्मण-शक्ति प्रसग, साकेतवासियो की रण-सज्जा, लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध, राम-रावण-युद्ध, राम-सीता,लक्ष्मण का पुनरागमन, लक्ष्मण-उर्मिला मिलन (साकेत), योजनगधाप्रसग, दुर्योधन की अपरिमित ईर्ष्या, एकलव्य की गुरुभक्ति, लक्ष-वेध प्रसग, कपट-द्यूत तथा द्रौपदी का केश-वस्त्र-कर्पण, पाण्डवो का वन-वास, कृष्ण को कौरव-पाण्डवो की ओर से रण-निमन्त्रण, मद्रराज की विपम स्थिति, कुन्ती-कर्ण सवाद, अर्जुन का मोह, महाभारत युद्ध, पाण्डव-पुत्रो की छल से हत्या, गान्धारी का विलाप, युधिष्ठिर का

दुःख, पचपाण्डवो और द्रौपदी का स्वर्गारोहण तथा नहुष, हिडिम्बा, वक-सहार, वन-वैभव और सैरन्ध्री के पूर्वोल्लिखित प्रसग (जय भारत)।

ऊपर गुप्त-साहित्य के मार्मिक स्थलो की सक्षिप्त सूची दी गई है। अब इनमे से कुछ प्रसंगो पर विचार कर लिया जाए.

## हाडा कुभ प्रसंग

लाखा नृपति सीसोदिया राणा चित्तौर के सिंहासन पर वैठते ही प्रतिज्ञा करते हैं—

> दुर्ग वूदी का स्वय तोडे विना जो अव कहीं—
> ग्रहण अन्नोदक करूँ तो मैं प्रकृत क्षत्रिय नहीं।[1]

किन्तु वूंदी-दुर्ग-भजन उतना सहज कार्य नही है। अत शुभैषी सचिव राजप्रतिज्ञा की पूर्ति के निमित्त वूदी का कृत्रिम दुर्ग वनवाते हैं जिसे तोडकर राणा अन्न-जल ग्रहण कर सकें। राणा का भृत्य वूदी-निवासी हाडा कुभ भी उस दुर्ग को देखता है। वूदी दुर्ग की उस प्रतिकृति को देख स्वभावत उसके मन मे कुतूहल जागृत होता है, लोगो से इसका कारण पूछता है। और कारण जानते ही तो—

> हो गया गभीर मुख, सम्पूर्ण आतुरता गई,
> भृकुटि-कुंचित भाल पर प्रकटी प्रभा तेजोमयी।[2]

वह राणा का दास है—किन्तु उसने शरीर वेचा है, धर्म नही। तव मातृभूमि की ऐसी तिरस्क्रिया वह क्यो सहने लगा?—निश्चय ही देश-प्रेम यदि अन्त करण का कोई भाव है तो वह देश की भूमि, पशु-पक्षियो, पेड-पौधो, देशवासियो, देश के ऐतिहासिक स्थानो, सरिता-सरोवरो आदि के प्रेम के अतिरिक्त कुछ नही है।[3] तो फिर जिसके मन मे उत्कट देश-प्रेम तरगायित होगा वह भला अपनी मातृभूमि के प्रसिद्ध दुर्ग—दुर्ग ही क्यो?—उसकी प्रतिकृति मे भी अनुरक्त क्यो न होगा? जव सर्वशक्तिमान् परमात्मा की भावना एक प्रस्तरखण्ड मे की जा सकती है तो किले की उसके प्रतिरूप मे क्यो न होगी?—वस, चाहिए भाव की तीव्रता और सघनता। अन्यथा जैसे कोई महमूद मूर्ति को खण्डित कर सकता है वैसे ही कोई देश-प्रेमहीन व्यक्ति अपने ही हाथ से ऐसे कृत्रिम दुर्ग को तोड सकता है, फिर चाहे वह अपनी मातृभूमि के इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग की प्रतिकृति ही क्यो न हो!—वरन् ऐसे मनुष्यो को तो यह पता भी नही चलेगा कि यह किस चीज की प्रतिकृति है। पर हाडा कुभ उन लोगो मे से नही है, वह तो—

> वन्दना उस दुर्ग की करने लगा अति भाव से,
> शीश पर उसने वहाँ की रज चढ़ाई चाव से।[4]

---

१. रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ २२
२ रग मे भग, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ २५
३ दे० आचार्य शुक्ल लिखित 'लोभ और प्रीति' (निवन्ध)
४. रग मे भग, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ २५

मातृभूमि-विषयक कितनी सघन रति है। अपने देश-प्रेम की घोषणा से गला सुखाने वालो मे क्या इसका एक अंश भी मिल सकेगा ? देश-भक्ति के ठेकेदार जहाँ धाराप्रवाह वक्तृता झाडने के पश्चात् निश्चेष्ट हो रहते हैं वहाँ यह वीर—

पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न-नीर समीर से,
मैं समर्थ हुआ सभी विध रह विरोग शरीर से।
यदपि कृत्रिम रूप मे वह मातृभूमि समक्ष है,
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है ?
जन्मदात्री, धात्रि ! तुझसे उऋण अब होना मुझे,
कौन मेरे प्राण रहते देख सकता है तुझे ?[१]

—आदि उद्गार प्रकट करने के पश्चात् उस कृत्रिम दुर्ग की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है। और जब राणा प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए आते हैं तब जैसे-जैसे वे निकट आते जाते हैं वैसे-वैसे कुंभ के भाव उग्र होते जाते हैं—तथा 'क्रोध से उसके वदन पर स्वेद-जल बहने लगा।'[२] वह राणा का वेतनभोगी भृत्य है अत उन्हे सावधान करता है, अन्यथा शर-संधान ही कर देता। बून्दी के कृत्रिम दुर्ग का भंजन भी उसे स्वीकार्य नही, उसका तर्क है—

तोडने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मान के,
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्ति को जड जान के ?
* * *
है न कुछ चित्तौर यह, बून्दी इसे अब मानिए,
मातृभूमि—पवित्र मेरी पूजनीया जानिए।[३]

अत —

कौन मेरे देखते फिर नष्ट कर सकता इसे ?
मृत्यु माता की जगत मे सह्य हो सकती किसे ?[४]

और अन्त मे वह 'राजपूतो की धरा को कीर्तिधवलित' करता हुआ, देशप्रेम की उज्ज्वल धारा प्रवाहित करता हुआ वीरगति को प्राप्त होता है।

## उत्तरा-विलाप

चक्र-व्यूह मे पाण्डुवंश-प्रदीप अभिमन्यु को छल से मार दिया जाता है—पाण्डव-पक्ष मे सर्वत्र शोक छा जाता है। और विचारी उत्तरा !—वह तो—

---

१. रंग मे भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २६
२. " " " पृष्ठ २७
३. " " " पृष्ठ २८
४. " " " पृष्ठ २८

चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानों रह गई हत उत्तरा !
सज्ञा-रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पडी ।[1]

नव-वय मे ही जिसके पति की मृत्यु हो गई हो—और पति भी अभिमन्यु-सा विश्रुत वीर ! उस रमणी के शोक का क्या ठिकाना ? उसे तो चारो ओर अधकार ही अधकार दिखाई देगा—और विचारी सज्ञा-शून्य होगी ही ! वरन् ऐसी दशा मे तो सज्ञाशून्यता ही वरदान है—किन्तु दुर्दैव को वह भी तो सह्य नहीं । मनुष्य पर दु ख आता है, उसे सहने के लिए उसे अधिक देर तक अचेत भी तो नही रहने दिया जाता—विधि का विधान कैसा कठोर है ! अनिष्टकारी अदृष्ट उत्तरा को भी हतचेत नही रहने देता—अविलम्ब ही दासियो द्वारा वह होश मे लाई जाती है । तब अर्द्ध-विक्षिप्त उत्तरा चरम दु ख सहती हुई प्राणेश-शव के निकट जाकर "हा ! नाथ ! हा !" कहती हुई फिर गिर पडती है ।[2]—कैसी घोर विषमता है, एकदम लोमहर्षक ! मृत पति की देह को अपनी गोद मे रखकर—

फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई
कुररी-सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई[3]

उत्तरा बहु-विध विलाप-प्रलाप करने लगती है । ऐसे दु ख की अवस्था मे स्त्रियो के लिए सिर और छाती पीटना सहज अनुभव की बात है । राजवधू उत्तरा भी यही करती है जो उसे लोक-सामान्य भूमि पर लाकर उसके दु ख को मानव मात्र के लिए अनुभवगम्य बना देता है । वस्तुत शोक-प्रसगो मे ही वह क्षमता है जिससे मानव मात्र समान भूमि पर आ खडे होते हैं ।

उत्तरा के विलाप की बात कर रहे थे । सचमुच उसका दुःख अत्यन्त गहन है—प्रिय-मरण से अधिक करुण प्रसग और क्या हो सकता है ? ऐसी दशा मे, ऐसे शोक के अवसर पर सिर और छाती पीटने के अतिरिक्त प्रिय का, प्रियकृत पूर्वसुखो—प्रिय-सम्पर्क से लब्ध आनन्द का स्मरण हुआ करता है । अपने को धिक्कारा जाता है तथा सदैव दोषी दैव को कोसा जाया करता है । इसका कारण किसी रूढ नियम का पालन नही है वरन् मानव की सहज प्रवृत्ति है । श्रेष्ठ कवियो की रचनाओ मे ऐसे प्रसगो मे इस प्रकार का चित्रण प्रमाण है । वस्तुत प्रिय-मृत्यु के अवसर पर निरवलम्बता का बोध, स्वय जीवित रहने मे अपनी स्नेह-शून्यता का भान आदि प्रेम की तीव्रता के परिचायक हैं । इसीलिए विश्व के श्रेष्ठ कलाकारो मे इस प्रकार का वर्णन मिल जाया करता है । उत्तरा के विलाप मे भी इन्ही तत्त्वो का सम्मिश्रण है—

हे कष्टमय जीवन ! तुझे धिक्कार बारम्बार है
था जो तुम्हारे सब सुखो का सार इस ससार मे

१ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृष्ठ २१
२ ,, ,, ,, , पृष्ठ २१
३. ,, ,, ,, , पृष्ठ २२

वह गत हुआ है अब यहा से श्रेष्ठ स्वर्गागार मे
हे प्राण ! फिर अब किसलिए ठहरे हुए हो तुम अहो ![1]

यह है उत्तरा का अपार शोक-व्यजक विलाप। किन्तु उसके हृदय का यह उद्वेलन विलाप तक ही सीमित नही है। वह भारतीय नारी है, इससे भी आगे वढती है—सहमरण का निश्चय करती है—

जो 'सहचरी' का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश ! तुमने ले लिया;
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्य-पद मुझको मिला,
है दूर हरना तो उसे सकता नहीं कोई हिला ॥[2]

सहृदय विद्वद्‌गण विचार करें कि क्या सती होने की इस कामना ने विलाप को अधिक प्रभावशाली नही वनाया है ?—कितना कारुणिक प्रसग है ! मैं तो इस विलाप को जयद्रथ-वध का सर्वाधिक मार्मिक प्रसग समझता हूँ। अभिमन्यु का युद्धोत्साह तथा अर्जुन का कोप भी काफी मर्मस्पर्शी हैं—किन्तु जयद्रथ-वध का मेरुदण्ड तो यही स्थल है। लोक-प्रसिद्धि भी मेरा समर्थन करती है—जयद्रथ-वध करुण-प्रवाह के लिए प्रख्यात है, ओज-प्रसार के लिए नही है।

## लक्ष्मण-शूर्पणखा सवाद

पचवटी का रमणीय स्थान है—प्रकृति पूर्ण यौवन पर है। प्राकृतिक छटा दर्शनीय है सर्वत्र दुग्ध-धवल ज्योत्स्ना का प्रसार है, शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर प्रवाहित है, मौक्तिकाभ हिमविन्दु विकीर्ण हैं और शान्ति का एकान्त साम्राज्य है—पक्षी तक नीरव निद्रा मे मग्न हैं। ऐसे शान्त-कान्त वातावरण मे मदन-शोभी वीर लक्ष्मण प्रहरी के रूप में कुटिया के वाहर स्वच्छ शिला पर विराजमान हैं। प्राकृतिक सौंदर्य के सस्पर्श से उनके मन में अनेक मधुर-तरल भावनाएँ उठ रही हैं। वे वन के शुचि-सारल्य पर विचार कर रहे हैं कि इतने मे ही कृत्रिमता और अपावनता की मूर्ति शूर्पणखा उपस्थित हो जाती है। लक्ष्मण तो ढलती रात मे अकेली अवला को देखकर चकित रह जाते हैं—वे तो कुछ सकोचवश, कुछ मर्यादा-वश और कुछ असभावनाजन्य चकपकाहट के कारण कुछ वोल भी नही पाते। किन्तु प्रगल्भा शूर्पणखा तो तीर छोड ही देती है—

शूरवीर होकर अबला को देख सुभग तुम थकित हुए,
ससृति की स्वाभाविकता पर चचल होकर चकित हुए ![3]

केवल लक्ष्मण पर ही व्यग्य करके वह सतुष्ट नही है वरन् सम्पूर्ण पुरुष जाति पर ही कटाक्ष करती है—

---

१ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृष्ठ २२
२ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ २३
३ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ १६

प्रथम बोलना पडा मुझे ही, पूछी तुमने बात नहीं,
इससे पुरुषों की निर्ममता होती क्या प्रतिभात नहीं ?[१]

निश्चय ही लक्ष्मण 'थकित' थे—और उनके व्यवहार से पुरुषो की निर्ममता भी स्पष्टत व्यजित है। कोई किसी के—विशेषत स्त्री पुरुष के स्थान पर आए—और वह उसकी बात भी न पूछे! लेकिन लक्ष्मण विचारे करें क्या ?—वे तो ऐसे समय और स्थान पर एक असम्भावित घटना—निस्सकोच सम्मुख खडी हुई हास्यवदनी अनिद्य सुन्दरी—को देखकर सकपका जाते हैं। यद्यपि वातावरण ऐसा मधुर-मधुर है कि लक्ष्मण मे रसभोगी ( साकेत, प्रथम सर्ग प्रमाण है ) कामिनी की कामना कर उठे होंगे—और उर्मिला के ध्यान मे ( एक निमेष के लिए ही सही ) वे मग्न हो भी जाते हैं।[२] फिर भी यह थोडे ही सोच सकते हैं कि सचमुच कोई आ ही जाएगी। शूर्पणखा को देखते ही एक बार तो वे धक् से रह जाते हैं—ऐसी अवस्था मे निश्चय ही कुछ बोलना सम्भव नही है। लक्ष्मण को 'थकित' दिखाकर यहाँ लेखक ने अपनी अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि का परिचय दिया है। बस, दो क्षण बाद ही लक्ष्मण सभल जाते हैं—और उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—

पर मैं ही यदि परनारी से पहले सभाषण करता,
तो छिन जाती आज कदाचित् पुरुषो की सुधर्म्मपरता।[3]

शूर्पणखा ने अपने वक्तव्य मे लक्ष्मण के व्यवहार मे निर्ममता का सकेत करते हुए पुरुष जाति पर आक्षेप किया है तो लक्ष्मण अपने व्यवहार को ही पुरुष जाति की 'सुधर्म्म-परता' का प्रतिष्ठापक सिद्ध करते हैं। पर यह तो सम्भलने के बाद की गढी हुई बात है। तथ्य तो यही है कि लक्ष्मण सुधर्म्मपरता की रक्षा की इच्छा मे नही वरन् चकपकाहट के कारण नही बोल सके। फिर भी उनका उत्तर प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्न है। पर इससे भी अधिक चमक और धार है—'शूरवीर होकर अवला को देख सुभग तुम थकित हुए'—के व्यग्य के प्रत्युत्तर मे—

शूरवीर कहकर भी मुझको तुम जो भीरु बताती हो,
इससे सूक्ष्मदर्शिता ही तुम अपनी मुझे जताती हो।[४]

यहाँ लक्ष्मण यदि भीरुता के लाछन के उन्मूलन के लिए अपने वीर कृत्यो का बखान करते तो उपहसित होते। किन्तु वे शूरवीरता और भीरुता जैसे दो सम्मुख विरोधी गुणो की एक साथ परिकल्पना को शूर्पणखा की सूक्ष्मदर्शिता बताने लगते हैं। विचारी कटकर रह गई होगी!

अब लक्ष्मण बिल्कुल सभल जाते हैं। पहले जिनके मुँह से एक शब्द भी नही निकलता

---

१ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ १७
२. " " " , पृष्ठ १५
३ " " " , पृष्ठ १७
४. " " " , पृष्ठ १८

था अब वे रमणी का परिचय तक पूछने का साहस रखते हैं—

तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो हे रंजित रहस्यवाली ?[१]

किन्तु वह भी चतुरा है। परिचय दिए बिना ही मन्तव्य प्रकट करती है—

समझो मुझे अतिथि ही अपना,
कुछ आतिथ्य मिलेगा क्या ?[२]

पर लक्ष्मण बड़ी शिष्ट कुशलता से अपनी साधनहीनता—किसी वैभव-शाली के आतिथ्य की अपनी असमर्थता का उल्लेख करते हैं—

तुम अनुपम ऐश्वर्यवती हो, एक अकिंचन जन हूँ मैं
क्या आतिथ्य करूँ, लज्जित हूँ, वनवासी निर्धन हूँ मैं।[3]

लक्ष्मण सहज ही सारी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं। अपनी 'अकिंचनता' का भी निश्छल संकेत है—हीनता और दीनता का स्पर्श भी नहीं। किसी भी प्रकार की ग्रन्थि का एकदम अभाव है। पौ फटने तक इसी प्रकार दोनों का वार्तालाप चलता रहता है जो काफी मर्म-स्पर्शी और मनोवैज्ञानिक है। लक्ष्मण-शूर्पणखा के इस संवाद की रोचकता तो असंदिग्ध है ही।

## देवीसिंह जी का रोष

दरबार खास लगा हुआ है। अकस्मात् जोधपुर-नरेश विजयसिंह होठों से सुरा-पात्र हटाकर पोकरणवाले सरदार देवीसिंह से पूछ बैठते हैं—"कोई यदि रूठ जाए मुझसे तो क्या करे ?"[४]—एकदम अप्रासंगिक और असंभावित प्रश्न है। देवीसिंह इसे कौतुक मात्र समझ कर साधारण उत्तर देते हैं—

"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या ?
ऐसा कौन होगा कि जो रूठ जाय आप से ?"[५]

विजयसिंह के फिर पूछने पर देवीसिंह कहते हैं—

जीवन से हाथ धोवे और मरे मुझसे[६]

इस प्रकार वे कुतूहल-शान्ति का प्रयत्न करते हैं। किन्तु अब राजा एक बिल्कुल अप्रत्याशित प्रश्न कर बैठते हैं—

और तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो ?[७]

---

१ पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १८
२. " " " , पृष्ठ १६
३ " " " , पृष्ठ १६
४. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३
५ " " , पृष्ठ ३
६. " " , पृष्ठ ३
७ " " , पृष्ठ ३

इस पर—

देवीसिंह चौंके—"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या !"[१]

निश्चय ही यह चौंकने की वात है। राजा का अपने सरदार से ऐसा पूछना कौतुक मात्र नही माना जा सकता। न जाने किसी ने द्वेपवश राजा को कुछ सिखा-वहका दिया हो—इसीलिए देवीसिंह चौंक उठते हैं और जानना चाहते हैं कि 'पृथ्वीनाथ' के मन मे ऐसा भाव क्यो आया ? विजयसिंह जी के यह वताने पर कि—

"मैंने पूछा है सहज ही,
यदि तुम रूठ जाओ तो वताओ, क्या करो ?"[२]

आश्वस्त देवीसिंह सहज सामन्तीय उत्तर देते हैं—

"खमा अन्नदाता, यह क्या ?
सेवक हूँ मैं तो और आप मेरे स्वामी हैं;
आपसे क्यो रूठूँगा भला मैं ? आप मुझको—
देते हैं टुकड़े और उनसे मैं जीता हूँ;
जाऊँगा कहाँ मैं फिर रूठकर आपसे ?"[३]

देवीसिंह जी के इस उत्तर मे ग्रथि-विश्लेपक शायद उनकी हीन-भावना और चापलूसी आदि का सधान करेंगे—किन्तु वास्तव मे ऐसी वात नही है। यह तो सामन्तीय सभ्यता और शिष्टाचार का निदर्शन है। आज भी जव कि वे सामन्त उखड गए हैं—वडे-वडे सामन्ती राज्य ढह गए हैं, राजस्थान मे उन पद-च्युत राजाओ को भी 'अन्नदाता' कहा जाता है। उनके मुंह पर ही नही अपितु उनके पीछे भी ऐसा कहा जाता है—जनसाधारण तक उन उपाधिशेप राजाओ को 'अन्नदाता' कहते हैं।—और वडौदा-प्रदेश मे तो लोग अभिवादन के समय तक 'जय सियाजी राव' कहते हैं। तात्पर्य कहने का यह कि सरदार देवीसिंह का उपर्युक्त वक्तव्य उनकी आत्मसम्मान-हीनता का नही वरन् तत्कालीन शिष्टाचार का ही परिचायक है।

लेकिन राजा विजयसिंह यह उत्तर सुनकर भी सतुष्ट नही हैं, आज उन पर कुछ और ही भूत सवार है। वे पुन पुन वही प्रश्न करते हैं कि यदि तुम मुझसे रुठ जाओ तो क्या करो ? राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी चूक भी सह्य है अत देवीसिंह प्रश्न को टालते रहते हैं। पर धैर्य की भी एक सीमा होती है—अन्तत देवीसिंह तिलमिला उठते हैं—

लाली दौड आई सौम्य, शान्त, गौर गात्र मे,
वदन गभीर हुआ . . . . . .।[४]

परन्तु फिर भी वे मौन ही रहते हैं—जिसका नमक खाया है यथासंभव उससे

---

१. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३
२. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३-४
३ विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४
४. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४

झगडा बचाना ही चाहिए। पर विजयसिंह इस मौन की गभीरता को न समझकर—

बोले फिर' —"देवीसिंहजी, कहा नहीं ?
यदि तुम रूठ जाओ मुझसे तो क्या करो ?"[१]

शायद वे आज कलह पर उतारू थे। निदान, वही होता है—वृद्ध वीर देवीसिंह के आत्म-सम्मान को ठेस लगती है और तब—

"पृथ्वीनाथ, मै जो रूठ जाऊँ" कहा वीर ने—
"जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तली मे ही,
मैं यो 'नवकोटी मारवाड' को उलट दूं।"
कहते हुए यो ढाल सामने जो रक्खी थी,
बायें हाथ से उन्होने उलटी पटक दी।[२]

इस तरह देवीसिंह क्रोधाभिभूत हो जाते हैं। राजपूतो के इतिहास मे ऐसी असख्य कथाए मिल जाएगी—ज़रा-ज़रा सी बात पर तलवारें खिच जाना मामूली बात थी। पर विकट-भट-वर्णित देवीसिंह जी के क्रोध के इस मनोविज्ञान-सम्मत उद्‌भव और अभिवृद्धि मे विचित्र मोहन भाव है।

## नहुष-पतन

महाप्रतापी राजा नहुष को इन्द्र-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। किन्तु वहाँ की विशिष्ट प्रजा स्वय सुशासित है—शासक को तनिक भी कष्ट करने की आवश्यकता नही। सदैव श्रेय-सम्पादन-रत नहुप का मन भी रिक्त होने पर विलास की ओर दौडता है। स्वय इन्द्राणी पर उनकी कुदृष्टि पडती है।—और तब उसकी प्रेरणा से वे सप्त-ऋषि-वाहित शिविका पर चढकर शची को लिवाने जाते हैं। वासनादग्ध नहुष को यह भी नही सूझता कि यह प्रस्ताव तो उनके अनिष्टार्थ किया जा रहा है—भोग-लिप्सा तप पूत मन को भी कैसे वशीभूत कर लेती है। गीताकार ने ठीक ही कहा है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन[३]

कामुक मनुष्य अनिष्ट को भी इष्ट समझे रहता है। नहुष भी शची के इस प्रस्ताव को अनिष्टकारी न मानकर यही समझते हैं कि वह उन्हे नूतन वाहन-विनोद ही देना चाहती है।[४] —काम का प्रभाव भी कितना गहन-व्यापक है जो मानव की सारी चेतनाओ को पराभूत कर देता है, निश्चय ही उस समय मनुष्य को कुछ नहीं सूझता। उसकी प्रवलता के समक्ष बडे-बडे देवता भी विचलित हो जाते हैं, नहुष विचारे तो मानव ही थे।

---

१. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४
२. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४, ५
३ गीता २।६०
४. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३५

हाँ, तो नहुष ऋषियो द्वारा उठाए गए अश्रुतपूर्व यान पर सवार हो इन्द्राणी के पास जा रहे हैं। अनेक लोग यह तमाशा देखते हैं। भार-धारण का ही व्यवसाय करने वाले यह अपूर्व दृश्य देखकर कहते हैं—

**आज कुछ होगा सही, अच्छे नहीं रग-ढंग**[1]

अपने ही व्यवसाय को लोग कठिनतर समझा करते हैं तथा दूसरो को उसे करने मे असमर्थ। 'सच्चे भारधारियों' की उक्त पक्ति मे इसी भाव की व्यजना है। यही नही वे और भी करारा व्यग्य करते है—

**पालकी उठाना कुछ संहिता बनाना है**[2]

कैसा सहज-परिचित व्यग्य है। श्रमजीवी बुद्धिजीवियो पर ऐसे ही व्यग्य तो किया करते हैं। कवि इससे भी आगे बढता है और उन भारवाहियो से अग्रिम पक्तियो मे कहलाता है—

**या कहीं निमन्त्रण मे जाके जीम आना है**[3]

पर हम समझते हैं कि यह ठीक नही हुआ—ऋषियो के गौरवानुकूल नही है। क्या ऋषि भी भोजन-भट्ट ही थे? लहू का घूट पीते हुए ऋषि वेचारे शनै शनै चलते हैं—अनभ्यस्त कधो को वदलने के लिए वे वार-वार रुकते हैं। किन्तु कामातुर नहुप को तो एक-एक पल युग के समान लगता है, वे उन पर वरस पडते हैं—

**वस क्या यही है वस, वैठ विधियाँ गढो**
**अश्व से अडो न अरे, कुछ तो वढ़ो, वढो।**[4]

काम का प्रवल प्रभाव देखिए। वही राजा नहुप जो किसी समय विधियो का सम्मान करते थे और ऋषियो की चरणरेणु के स्पर्श को अपना अहोभाग्य मानते थे, वासनालिप्त होकर विधियो और उनके प्रणेता ऋषियो का अपमान कर रहे हैं। आतुरतावश वे सरोष पैर पटकने लगते हैं और सयोग से—

**क्षिप्त पद हाय! एक ऋषि को जो जा लगा**[5]

तव तो सातो ऋषि क्रोध से जल उठते हैं—आखिर सहिष्णुता की भी तो सीमा होती है!—और तव क्रुद्ध ऋषि नहुप को सर्प योनि मे पडने का शाप देते हैं। शाप सुनते ही वे हततेज हो जाते हैं और होश ठिकाने आ जाते हैं।—काम का सारा नशा काफूर हो जाता है। पर अव क्या हो सकता था?—किन्तु यही पर कवि का आशावाद काम आता है—वह मानव की अदम्य शक्ति का विश्वासी है। अत गुप्त जी के नहुप कहते हैं—

---

१. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३६
२. ,, ,, , पृष्ठ ३६
३. ,, ,, , पृष्ठ ३६
४. ,, ,, , पृष्ठ ३६
५ ,, ,, , पृष्ठ ३७

चलना मुझे है बस अन्त तक चलना,
गिरना ही मुख्य नहीं मुख्य है सभलना।
* * *
फिर भी उठूँगा और बढके रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं।[1]

और उन्नति व्यष्टिगत नही समष्टिगत ही अपेक्षित है—

उठना मुझे ही नहीं एक मात्र रीते हाथ,
मेरी देवता भी और ऊँची उठे मेरे साथ।[2]

इस प्रकार पतन के इस प्रसङ्ग मे उत्थान का भी उपक्रम हुआ है। नहुप काव्य के सबसे अधिक मार्मिक इस स्थल को सभालने के लिए ऐसी ही कुशलता की आवश्यकता थी।—और इसका स्वाभाविक चित्रण तो अपने आप मे मनोरम है ही।

## राजमाता मीलनदे का तीर्थयात्रा-स्थगन

जेता जयसिह की माता मीलनदे राजमाता के अनुरूप गौरव के साथ सोमनाथ के दर्शनार्थ जा रही हैं। मार्ग मे शिविर की स्थापना होती है। रात्रि का समय है—"दुहाई राजमाता की!"—शव्द सुनकर मीलनदे चौंकती हैं, और यह शव्द करने वालो को वुलाने का आदेश होता है। एक माता और उसका पुत्र राजविद्रोही के रूप मे उनके समक्ष उपस्थित किए जाते है। राजमाता के कहने पर वह अपनी कहानी सुनाती है—सोमनाथ के दर्शनो पर लगने वाले कर का भी उल्लेख करती है—

राजकर लगता है यात्रियो से, उसको
दे जो नहीं सकते हैं, लौटा दिये जाते हैं—
दर्शन विना ही।[3]

देव-दर्शन पर भी राजकर की वात श्रवणकर उन्हे अपार दुख होता है। और—

उस रात राजमाता नहीं सो सकी,
हो सकी न स्वस्थ ही विचारो के प्रवाह मे।
लौटा दिया भोजन का थाल विना खाए ही।[4]

वास्तव मे धर्म-प्राण माता के लिए इससे अधिक दुख की वात और क्या होगी कि उसके पुत्र के राज्य मे भगवान् की प्रतिमा के दर्शन पर भी कर लगा दिया जाए। साथ चलने वाला मन्त्री भोजन न करने का कारण पूछता है। मीलनदे का उत्तर है—

---

१ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३९
२ " " , पृष्ठ ३९
३ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १०
४ " " , पृष्ठ १६

कैसे वह पाप-अन्न खाऊँ अब और मैं,
ऐसे पाप-कर से कमाते तुम हो जिसे ?[१]

आज तक तो राजमाता को इस बात का पता ही नही था—वे तो यही समझे बैठी थीं कि उनके राज्य मे कही कोई 'अनरीति' नही है। और इसीलिए—'करती थी शान्तिमयी मृत्यु की ही कामना।'[२] किन्तु अब तो दीपक के नीचे ही यह अँधेरा देखकर उनकी भूख-प्यास-नीद सब नष्ट हो गई।—शोकातिरेक मे यह सहज सभव है। मन्त्री उन्हें समझाता है। इसे पाप-कर नही वरन् यात्रियो को दी गई सुविधाओ के विनिमय-स्वरूप प्राप्त द्रव्य ही वताता है। किन्तु राजमाता इस स्थिति से सतुष्ट नही हैं, बल्कि सुविधाओ के प्रतिदानवाली बात पर व्यग्य करती हैं—

दान

देव, विप्र, वणिक, तुम्हारे सब उनसे
पाते हैं यथेष्ट पूजा, दान, लाभ, फिर क्यो
कोरे रह जाओ तुम्हीं करके भी इतना ![3]

और फिर देखिए उनकी क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा—

ओरे दीन मानवो, अकिंचन ओ साधुओ,
लौट जाओ, तुमको कहीं भी ठौर है नहीं।
भेंट गए-हेतु कुछ गाँठ मे नहीं है तो
हरके यहाँ भी सुनवाई वस हो चुकी ![४]

यहाँ वास्तव मे दीनो और अकिंचनो को सचेत करने का प्रयत्न नही है वरन् उनके प्रति किए गए अपने अथवा अपनो के दुर्व्यवहार के कारण मन मे उत्पन्न क्षोभ तथा क्षोभजन्य आत्मनिन्दा की ही परिव्यक्ति है। मीलनदे को अपने पुत्र के राज्य मे पाप-कर लगा देखकर घोर आत्म-ग्लानि होती है। साधारणत ग्लानि किसी अपने कुकृत्य के कारण हुआ करती है पर निकट सबंधियो के दुष्कृत्य भी ग्लानिजनक होते हैं। अत राजमाता देव-दर्शन किए बिना ही लौट पडती हैं।—और कारण पूछने पर मन्त्री से स्पष्ट कह देती हैं—

मन्दिर का द्वार जो खुलेगा सबके लिए,
होगी तभी मेरी वहाँ विश्वम्भर भावना।[५]

राजमाता के उपयुक्त ही यह कथन है—उनमे ऐसी उदार भावना होनी ही चाहिए।

सिद्धराज जयसिंह भी माता के पीछे-पीछे दर्शन के निमित्त आ रहे थे। किंतु उन्हे वापस लौटता देख वडे विस्मय मे पड जाते हैं। कारण से अभिज्ञ होने पर—

---

१. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १६
२ ,, ,, , पृष्ठ १७
३ ,, ,, , पृष्ठ १७
४. ,, ,, , पृष्ठ १७
५ ,, ,, , पृष्ठ २०

पचकुल लोगो से मगाया वहाँ उसने
कर का निदेश-पत्र और लेखा उसका
देखा, उससे है प्रतिवर्ष लाभ लाखो का।
फाड फेंका तो भी वह पत्र मातृभक्त ने,
माँ के चरणो पर चढाया पत्र-पुष्प-सा ।[1]

इस प्रकार 'पाप-कर' से मुक्ति मिलती है—राजमाता की अभिलाषा पूर्ण होती है। धन्य है वह पुत्र जिसकी माता मे ऐसी प्रगाढ श्रद्धा है और धन्य है वह ममतामयी माता जिसमे ऐसी सदभिलाषा एव औदार्य है। सोमनाथ मन्दिर के धनी और निर्धन, सभी दर्शक तो पुकार ही उठते हैं—

हर हर महादेव ! जै जै राजमाता की।[2]

## विधृता का देह-त्याग

द्वापर का यह प्रसग वास्तव मे कवि की अपनी उद्भावना है। सकेत तो उसे श्रीमद्-भागवत से ही मिला है[3]—किन्तु इस रूप मे उसका विस्तार कवि ने स्वय किया है। कृष्ण-सखाओ को भोजन देने जाती हुई अपनी कृष्ण-अनुरक्ता पत्नी को एक याज्ञिक ब्राह्मण बलपूर्वक रोकता है। वह कृष्ण को 'छैल-छोकडा' तथा अपनी पत्नी के सात्विक अनुराग को पाप-वासना मानकर अनेक दुर्वचन कहता है। कृष्ण की अनन्य भक्तिन वह विधृता उसी समय भौतिक शरीर छोड अपने आराध्य से जा मिलती है। पर मरने से पहले कुछ मर्म वचन कहती है। इस प्रसग मे इन वचनो का ही विशेष महत्व है। पति-पत्नी एक दूसरे के सहयोगी हैं, उनमे अधिकारी और अधिकृत का सम्बन्ध नही है। पर जिसे मुट्ठी भर देने का भी अधिकार न हो उसकी सत्ता क्या दासी से अधिक है ? विधृता को इसी बात का दुख है—

मुट्ठी भर भी जो न दे सके,
दासी थी, मैं आहा ![4]

—और फिर उसका पति याज्ञिक ब्राह्मण है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' आदि शास्त्रवाक्यो का निर्देश करता हुआ लोगो को नारी का आदर करने का उपदेश और प्रेरणा देता है। पर उसके अपने ही घर मे यह काण्ड होता है—कैसी विडम्बना है। विधृता इसी तथ्य को लेकर व्यग्य करती है—

अहा ! 'यत्रनार्यस्तु'—वाक्य की पूर्ण सफलता पाकर,
क्यो न रमेगे अमर तुम्हारे इस अध्वर मे आकर ![5]

याज्ञिक महाशय बालको को भोजन देने मे भी वासना का सधान कर बैठते हैं।

---

१ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ २३
२. ,, ,, ,, , पृष्ठ २३
३ दे० द्वापर का 'निवेदन'
४. द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ २६
५ ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ २६

विघृता इस लाछन से विचलित हो उठती है—क्या स्त्री के सब सम्बन्ध वासना-सम्बन्ध ही हैं ? 'तिरया चरित्र' के विशेषज्ञ तो शायद यही मानेंगे। किन्तु वे 'विशेषज्ञ' पारिवारिक जीवन के सहज सत्य को भुला बैठते हैं। विघृता के कटु-तीक्ष्ण शब्दो मे सुनिए—

हाय ! वधू ने क्या वर-विषयक एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई ?
नर के बाँटे क्या नारी की नग्न-मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय ! क्या सग नहीं वह लाई ?[1]

विघृता पर दुःशीलता का आरोपण करने वाला भी वह पाखण्डी याज्ञिक है जो व्रतियो की कुलस्त्रियो के प्रति अश्लील व्यवहार करता है। परन्तु फिर भी वह अपने को सुशील ही समझता है—होश्री जो ठहरा ! विघृता पति की इन कुचेष्टाओ से परिचित होने पर भी आज तक चुप थी—क्योकि स्त्री पति की त्रुटियो को सदैव क्षम्य समझती रही है। परन्तु आज लाछित हो वह बौखला उठी है। उपर्युक्त तथ्य का उद्घाटन करने के बाद व्यग्य करती है—

मैं भूखो को भोजन देने जाकर भी दुःशीला
ललना तो छलना है, ओ हो, धन्य तुम्हारी लीला।[2]

विघृता को चिर अविश्वसनीय नारीत्व के घोर अभिशाप पर अफसोस है—

अविश्वास, हा ! अविश्वास ही, नारी के प्रति नर का;
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का ![3]

निश्चय ही समाज के वर्तमान विधान मे नारी की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है—पहले भी रही है। न जाने इस विपर्यास का कब शमन होगा ? विघृता तो यह अन्याय न सहकर प्राण त्याग देती है—किन्तु पता नही कितनी स्त्रियाँ जीवित ही इस अभिशाप का भार-वहन कर रही हैं। बहुत ही कारुणिक प्रसग है !

## सिद्धि-लाभ के पश्चात् गौतम का आगमन और यशोधरा का मान

वर्षों की तपस्या से अमृत तत्त्व प्राप्त कर शुद्ध बुद्ध भगवान् गौतम मूढ जगती के अभ्युदय एव कल्याण-साधनार्थ फिर ससार मे लौट आते हैं। चलते-चलते कपिलवस्तु के पार्श्ववर्ती मगध-प्रदेश मे भी पहुँच जाते हैं। कतिपय व्यवसायियो द्वारा कपिलवस्तु मे भी शीघ्र ही यह समाचार पहुँचता है। राज्य-भर मे आनन्द की लहर दौड जाती है—लोग हर्षोत्फुल्ल हैं। जिस प्रियदर्शी राजकुमार के बिना—

खान-पान नीरस था, सोना बुरा स्वप्न था
रोना ही रहा था हाय ! जीवन मरण था।[4]

---

१. द्वापर, संस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ३०
२. द्वापर, सस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ३०
३. द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ३६
४. यशोधरा, संस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ११६

—उसका सधान कोई साधारण वात है । अनेक प्रजाजन लोचनो और श्रवणो के लाभ के निमित्त तुरन्त मगध को चल देते हैं—राज और प्रजा वर्गो का यह सघन और प्रिय सम्बन्ध कितना भव्य रहा होगा । पर अब तो ये वाते कहानी मात्र हैं । जब प्रजा को ही अपार हर्ष था तब महाप्रजावती और शुद्धोधन—अभ्यागत के माता-पिता के आनन्द का क्या ठिकाना । वे तो दौडकर यशोधरा के पास आते हैं और उसे साथ ले मगध जाने के लिए उतावले हैं । उनके प्रस्ताव की उत्सुकता और उसमे व्यग्य लालसा की तीव्रता दर्शनीय हैं—

> अब क्यो विलम्ब किया जाय बेटी, शीघ्र तू
> प्रस्तुत हो । यह रहा मगध, समीप ही,
> उसके लिए तो हम जगती के पार भी
> जाने को उपस्थित हैं और उसे पाने को
> जीवन भी देने को समुद्यत हैं—सर्वदा ।[1]

लक्ष्य कीजिए प्रथम पक्ति मे यशोधरा को धैर्य से समझाने के लिए तो थोडा-सा स्थैर्य है उसके पश्चात् तो वात्सल्य का दुर्धर प्रवाह सभाले नही सभलता । शब्द भी तीर की-सी तेज़ी से चलते हैं ।

लेकिन यशोधरा जाने के लिए तैयार नही है । वह 'उनका' निदेश पाए विना वह घर छोडने को प्रस्तुत नही है जहाँ वे उसे छोड गए थे । उसका तर्क है—

> आप मुझे छोडकर वे गये,
> जब उन्हें इष्ट होगा आप आके अथवा
> मुझको बुलाके, चरणो मे स्थान देंगे वे ।[2]

गौतम यशोधरा को सुप्तावस्था मे छोड गए थे । उसे वताए विना घर छोडकर उन्होंने उसे लाछित किया—विश्वासपात्री नही समझा । पत्नी के लिए इससे वडी लज्जा की बात और क्या हो सकती है । तो क्या यशोधरा अपने को परित्यक्ता समझे ?—या कुछ और ? बिचारी किसी को कुछ कह भी तो नही सकती । कैसी परवशता है । महाप्रजावती यशोधरा के उपर्युक्त तर्क के उपरान्त भी चलने का आग्रह करती हैं—पूछती हैं तुम्हे वहाँ चलने मे कौन-सी वाधा है ? कोई भी मानिनी (शास्त्रीय अर्थ मे नही) पत्नी यशोधरा की बाधा को समझ सकती है । किन्तु महाप्रजावती आज उसे नही समझ पा रही हैं । वे भी पत्नी हैं—पत्नी की टीस का अनुभव कर सकती है । पर आज उनका मातृत्व उभरा हुआ है, वह पत्नीत्व पर हावी है । वास्तव मे पुत्र-मिलन के आनन्द के महाप्रवाह मे बाधाओ के तटवर्ती सिकताकण बहे जा रहे हैं । स्वय उनके लिए तो कोई वाधा है ही नही—परन्तु हर्षातिरेक मे उन्हे दूसरो की बाधाए भी दृष्टिगत नही होती । जो हो यशोधरा गमन के लिए प्रस्तुत नही है । वह व्यञ्जना द्वारा अपना आशय—अपनी बाधा स्पष्ट करती है—

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १२४

२ यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२५

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी !
विघ्न भी यही है, जहाँ जाने से जगत मे
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से,
फिर भी जहाँ मैं आप इच्छा रहते हुए,
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठ रहती मैं ? [1]

यह कहते-कहते तीव्र उद्वेग के कारण मूर्च्छित हो जाती है। अन्तत शुद्धोदन और महाप्रजावती भी मगध को जाने का विचार छोड देते हैं। शुद्धोदन का कथन है—

गोपा-विना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको !
जाओ, अरे, कोई उस निर्मम से यों कहो—
झूठे सब नाते सही, तू तो जीव मात्र का,
जीव-दया-भाव से ही हमको उबार जा ![2]

यह आर्त पुकार आखिर गौतम को खीच ही लाती है—वे कपिलवस्तु पधारते हैं। राजभवन मे भी आते हैं। सब लोग उनके दर्शन करते हैं—प्रवचन सुनते हैं। पर गर्विणी गोपा अब भी बाहर नही आती—उसी कक्ष मे स्थित है जहाँ 'वे' छोड गए थे। वह कक्ष मे तो है—किन्तु मन उद्वेलित है। आज ही तो उसके मन की परीक्षा है। अब तक जो निग्रह था वह तो अभाव के कारण था—'लोभ न था, जब लाभ न यह था।'[3] उस निग्रह की वास्तविक परीक्षा तो आज है—जबकि 'सुधा-सिन्धु' सामने ही लहरा रहा है। यदि गौतम यशोधरा के समीप, उसके कक्ष तक आ जाते हैं तो उसकी लाज रह जाती है। जिसने त्यागा था यदि वह स्वय अपनाले तो उसकी सम्पूर्ण तपस्या सफल समझिए। और यदि गोपा स्वय दर्शन करने चली जाती है तो आज तक के सारे सयम पर पानी फिर जाता है। सारे कष्ट व्यर्थ हो जाते है। यशोधरा के हृदय मे प्रवृत्ति और विवेक का यही सघर्ष चल रहा है कि इतने मे गौतम स्वय उसके द्वार पर आ जाते हैं और कहते है—

मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान ![4]

निश्चय ही यशोधरा की 'बान' रह गई। उसका सारा तप-सयम सार्थक हुआ। इस मिलन से यशोधरा की गौरव-रक्षा ही नही हुई, गौतम की गौरव-वृद्धि भी हुई है—उनके व्यक्तित्व मे विचित्र आकर्षण आ गया है।

### साकेत का एक स्थल

साकेत गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ कृति है। यदि केवल एक पुस्तक पढकर उनकी समृद्ध भावुकता से परिचित होना है तो हम साकेत के ही अध्ययन का परामर्श देंगे। साकेत मे

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १२५-१२६
२. यशोधरा, सस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२६
३. यशोधरा, सस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १४०
४. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १४३

अनेक भावुकतापूर्ण प्रसग हैं। वास्तव मे वह है ही मार्मिक प्रसगो का सकलन। प्रोफेसर नगेन्द्र ने अपने साकेत एक अध्ययन के तीन परिच्छेदो—साकेत के गार्हस्थ्य चित्र, साकेत मे विरह और साकेत के भावपूर्ण स्थल—मे बडी विद्वत्ता से उन प्रसगो का विशद विवेचन किया है। मैं समझता हूँ कि उनका पुनराख्यान अनपेक्षित कलेवर-वृद्धि और पिष्ट-पेषण मात्र होगा। लेकिन आलोच्य कवि का कोई भी अध्ययन साकेत के एकाध भाव-रमणीय स्थल के व्याख्यान के बिना अपूर्ण ही कहा जाएगा। इसी भावना से प्रेरित होकर यहाँ एक स्थल उपस्थित किया जाता है

## भरत-मिलाप और चित्रकूट-सभा

रामकथा का यह अद्वितीय प्रसग है, इसका सौंदर्य अपूर्व है। तुलसीदास ने अपने करस्पर्श से इसे जीवन्त बनाया—और तब से इसका माहात्म्य अक्षुण्ण है। साकेत के भी महत्वपूर्ण स्थलो मे से यह एक है। चित्रकूट-प्रदेश मे जब राम, लक्ष्मण और सीता ठहरे थे एक दिन उन्हे दूर से उठती हुई धूलि, भयभीत भागते हुए खग, मृग आदि दिखाई देते हैं। लक्ष्मण को पता लगता है कि ससैन्य भरत आ रहे हैं। बस, फिर क्या था वे युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं—राम का प्रतिषेध भी उन्हे स्वीकार्य नही है। किन्तु उनका यह अनुमान गलत था। कुछ क्षण पश्चात् ही भरत और शत्रुघ्न धूलि-पटल से बाहर निकल आते है तथा—

**दोनों आगत आ गिरे दण्डवत् नीचे,**
**दोनों से दोनों गये हृदय पर खींचे।[1]**

भरत तो हृदय पर खीचे जाने पर भी धूलि मे ही लोटना चाहते हैं। राम का कथन है—

**रोकर रज मे लोटो न भरत, ओ भाई,**
**यह छाती ठण्डी करो सुमुख सुखदायी।[2]**

किन्तु भरत का दु ख तो अपार है। उन्हें इस ससार मे अनुताप, तिरस्कार, लाछन और ग्लानि के अतिरिक्त और कुछ नही सूझता। इसीलिए उत्तर देते हैं—

**हा आर्य, भरत का भाग्य रजोमय ही है[3]**

पर ससार उन्हें चाहे जो कहे। सब से अधिक खेद तो भरत को इस बात पर है कि आर्य दुष्टा कैकेयी की बात तो मानते है—किन्तु साधु भरत की भावनाओ का कुछ मूल्य और महत्व नही समझते—

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७२
२ साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७२
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७२

उस जड जननी का विकृत वचन तो पाला
तुमने इस जन की ओर न देखा-भाला ![1]

राम निरुत्तर हो जाते हैं। निश्चय ही वे कैकेयी के तुष्ट्यर्थ यह निष्क्रमण करते हैं, भरत की 'भायप भगति' का तो विचार भी मन मे नही उठता। राम अपने को अपराधी अनुभव करते हैं परन्तु फिर अपने कठोर कर्त्तव्य का उल्लेख करके अपने मन को तथा भरत को सात्वना देते हैं। इतने मे ही गुरुजन, पुरजन, परिजन, सचिव, माताएँ तथा प्रजाजन पहुँच जाते हैं।

रात्रि मे चित्रकूट-सभा का आयोजन होता है—भरत के प्रस्ताव पर विचार-विमर्श करने के लिए। सभा तो जुड जाती है पर बात कौन चलाए। कौन किस प्रकार इस अप्रिय प्रसग को प्रारभ करे ? आखिर राम ही मौन-भग कर प्रश्न करते हैं—

हे भरत भद्र अब कहो अभीप्सित अपना[2]

राम की गभीर गिरा सुनते ही सब सजग हो जाते हैं—सबका स्वप्न-सा भग हो जाता है। और भरत को तो यह प्रश्न मर्म-स्थल की चोट के समान विकल ही कर देता है। उनकी उद्रिक्त ग्लानि फूट पडती है—

हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तडप तडप कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।
अब कौन अभीप्सित और आर्य वह किसका ?
ससार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझसे मैंने ही आज स्वय मुँह फेरा,
हे आर्य बतादो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।[3]

यहाँ भरत अपने ऊपर ही व्यग्य कर रहे हैं—क्योकि उन्हे आत्म-ग्लानि है। ऐसे व्यक्ति को आत्म-निन्दा मे ही राहत मिला करती है। यद्यपि उन्होंने स्वय कोई पाप नही किया किन्तु पापकर्मा कैकेयी से उनका घनिष्ठ सबध है। इसीलिए उनके मन मे ग्लानि है, और वे कहते भी हैं—'निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।' ग्लानि के साथ ही भरत के इन शब्दो मे निश्छल भ्रातृ-प्रेम, दैन्य तथा करुणा भी व्यजित हैं।—और ये सब भावनाएँ दीप्त

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७२
२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७२
३. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७७

हैं आवेग से ! निश्चय ही यहाँ कवि और भरत एकाकार हो गए हैं।

पूर्वोक्त उद्धरण की अन्तिम पक्ति मे भरत अपने पर व्यग्य करते हुए राम से अपना अभीप्सित पूछते हैं। राम के पास भी ग्लानि-गलित भरत को ढाढस बँधाने का अचूक मन्त्र है—

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जनकर जननी ही जान न पाई जिसको ![1]

भरत तो मानो डूबते हुए बचते है, अब और क्या कहे ! परन्तु इन शब्दो से कैकेयी को बोलने का अवसर मिलता है, उस कैकेयी को जिसे—'महि न वीचु, विधि मीचु न देई।' वह एक साथ उठती है और अटल स्वर मे कहती है—

यह सच है तो तुम लौट चलो अब घर को
हा जन कर भी मैने न भरत को जाना
सब सुनलें तुमने स्वय अभी यह माना
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।[2]

—और माता के कृत्यो पर पक्षपातपूर्ण विचार होना ही चाहिए। वास्तव मे कैकेयी का मातृत्व सदैव मुखर है वरन् यो कहिए कि उसे अपने मातृत्व का ही गर्व है। वही उसके प्राणो का सम्बल है। किन्तु भरत को निर्विकार सिद्ध करने के लिए तो वह मातृत्व की कठोर परीक्षा—पुत्र की शपथ (जिसे प्रत्येक माता बचाना चाहती है)—तक के लिए प्रस्तुत है—

यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ
तो पति समान ही स्वय पुत्र भी खोऊँ[3]

वस्तुत यहाँ उसके मन की घोर व्यथा ही व्यजित है। वह सारा अपराध अपना ही मानती है—मथरा तक को कोई दोष नही देना चाहती, क्योकि—

क्या कर सकती थी मरी मथरा दासी
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी[4]

कैकेयी की ग्लानि उभर आती है, वह अपने मन को दुख-दग्ध करने मे ही सात्वना पाती है। और आगे बढकर वह प्रसिद्ध लोकोक्ति 'पुत्रो कुपुत्रो न च माता कुमाता'—का अवलम्ब लेकर घोर आत्मनिन्दा करती है—

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७८
२. ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ १७८
३. ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ १७८
४ , ,, ,, ,, , पृष्ठ १७९

कहते आते थे यही अभी नरदेही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,—
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'[1]

इससे अधिक आत्मनिन्दा और क्या होगी ! किन्तु कैकेयी के मन को चैन नही। वह तो अपने घोर पाप की शान्ति के लिए युग-युगो तक धिक्कार सुनना चाहती है—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल मे भी थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म-जन्म मे सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'[2]

आत्मग्लानि की पराकाष्ठा है। किन्तु शीलसमुद्र राम माता की ग्लानि-जन्य आत्म-निन्दा कब तक सुनते। वस्तुत राम की गरिमा इसी मे है कि वे इस काण्ड की मूल अपनी विमाता के मन मे भी आत्मग्लानि न रहने दें। अत वे उसे अपने को गौरवान्वित अनुभव करने के लिए उसके चिरसजग मातृत्व को ही सहलाते हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।[3]

गलदश्रु कैकेयी के दयनीय पश्चात्ताप को देखकर उसके प्रति अन्य उपस्थितगणो की घनीभूत घृणा भी विलीन हो जाती है। अत वे भावोन्मत्त हो राम के साथ ही चिल्ला उठते हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई

कैकेयी को इन शब्दो से कितनी सान्त्वना मिली होगी। यहाँ कवि ने अपने मनोविज्ञान-पाण्डित्य एव अतलस्पर्शी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। हमारे विचार मे कैकेयी के मातृत्व-गौरव की स्वीकृति के उपर्युक्त प्रयत्न के अतिरिक्त यदि कुछ और किया जाता तो वह अपर्याप्त किंवा व्यर्थ ही रहता। निस्सदेह इन शब्दो का सम्बल पाकर वह गरिमा-मण्डित हो उठी होगी। थोडी देर वाद—कुछ ग्लानि एव परिताप-व्यजक करुण उद्गारो के पश्चात्—तो हम इनका वाछित प्रभाव स्पष्ट ही देखते हैं, कैकेयी कहती है—

मैं रहूँ पंकिला, पद्मकोष है मेरा[4]

इस प्रकार राम के प्रशसनीय शील-सौष्ठव के प्रभाव से चिर अनुतप्त कैकेयी भी गौरव भावना से भर उठती है। यही तो राम का पतितपावन अथवा 'अधम-उधारण' रूप है।—और इस प्रसग को उपस्थित करनेवाला कवि भी स्रष्टा कलाकारो की पक्ति मे स्थान

१. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७६
२. " " " ", पृष्ठ १८०
३. " " " ", पृष्ठ १८०
४. " " " ", पृष्ठ १८१

पाने का अधिकारी है। साकेत के इस स्थल का महत्त्व असाधारण है जिसके पाठ के पश्चात् चिर अभिशसित कैकेयी के प्रति पाठक के मन मे युग-युग से सचित सारी दुर्भावनाएँ नि शेप हो जाती हैं।

## पाण्डव-देहपात

जय भारत मे सग्रथित एक प्रकरण नहुप-पतन का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। बस, अब एक और—देहपात-प्रसग—के दिग्दर्शन के पश्चात् इस प्रसग को समाप्त करता हूँ।

धर्मराज युधिष्ठिर को महाभारत का महानरमेघ देख अत्यधिक ग्लानि होती है। फिर भी लोगो के आग्रह से सिंहासन सभालते हैं। किन्तु धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा कुन्ती भी जब वन को चले जाते हैं तब तो उनका धैर्य ही टूट जाता है। वे भी युयुत्सु को सब कुछ सँभाल अनुज और कृष्णा सहित प्रस्थान करते हैं—

**बल से भूमण्डल-जय करके**
**ये स्वर्ग-विजय के हेतु चले।[1]**

ये सब वल्कल वस्त्र धारण किए है—तन से ही नही मन से भी तपस्वी हैं—

**जो रत्न जडित-से थे तन मे,**
**ये तृण-सा उन्हें उखाड चले,**
**बाहर ही वल्कल धरे नहीं,**
**भीतर से राजस झाड चले।[2]**

अब चिरसगी शस्त्र भी निरर्थक हैं—यहाँ कौन किसी का शत्रु है?—

**निस्सार समझ शस्त्रो को भी**
**कर चले विसर्जित ये जल मे।[3]**

खेद का विषय है कि पाण्डवो द्वारा जल-विसर्जित ये शस्त्र मूढ़ मानव फिर-फिर निकाल लाता है।

अन्तत देह-पात का समय भी आ जाता है। यह गुप्त-काव्य के भव्यतम प्रसगो मे से एक है। वास्तव मे 'मैथिलीशरण की प्रतिभा ऐसे प्रसगो मे ही खुल खेलती है।'[4] सबसे पहले द्रौपदी गिरती है। अनुजो के सामने अधकार छा जाता है। किन्तु युधिष्ठिर तो इसे अपने मोक्ष का प्रथम सोपान मानते हैं, उनका कथन है—

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४२६
२. ,, ,, , पृष्ठ ४२७
३ ,, ,, , पृष्ठ ४२८
४ विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२६

तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति
यह पक्षपातिता मेरी ही।[1]

इसके पश्चात्—

बोले सहदेव तनिक चलकर
हे आर्य, अचल अब गात हुआ।[2]

किन्तु युधिष्ठिर बिना रुके ही उत्तर देते हैं कि यह तुम नहीं मेरा रूप-गर्व खर्वित हुआ है। फिर नकुल गिरते हैं—

कुछ आगे कहा नकुल ने यों
"गिरता हूँ अब मैं अवश निरा।"[3]

उसे युधिष्ठिर अपनी मति-गति के गर्व का ही नाश मानते हैं। थोड़ा और आगे चल अर्जुन भी धराशायी हो जाते हैं। उनके गिरने को धर्मराज अपने मानी मद का झड़ना ही समझते हैं—

तुम नहीं गिरे, झड़ गिरा यहाँ
तुममे मेरा मानी मद ही[4]

और फिर—

बोले गिर भीम अन्त मे यों—
"हे आर्य, यहाँ मैं भी टूटा।"[5]

भीम से महापराक्रमी भाई के पतन को अग्रज पाण्डव अपने औद्धत्य का शमन ही बताते हैं। अब वे स्वच्छन्द दीख पड़ते हैं। एक-एक करके उनके सभी भौतिक बन्धन कट जाते हैं। कृष्णा और अनुजो के देह-पात पर निःशेष-बन्धन युधिष्ठिर निर्विकार आत्मा रह जाते हैं—

खुल गए सभी बन्धन मानो,
अब आप-आप वे व्यक्त हुए[6]

जैसा कि अन्यत्र निवेदन किया गया है महाभारत के इस प्रसग मे द्रौपदी एव अनुजो के देह-पात के समय युधिष्ठिर उनके दोषो का उल्लेख करते हैं जो अनुपयुक्त है। किन्तु आलोच्य कवि ने इस पुनराख्यान मे वाछित सशोधन कर दिया है।

मार्मिक प्रसगो की यह सक्षिप्त पर्यालोचना है। ये सभी प्रसग विभिन्न पुस्तको से लिए गए हैं। इन सबका रचनाकाल भी एक नही है—वह ४०-५० वर्ष तक विस्तीर्ण है।

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४३१
२ ,, ,, , पृष्ठ ४३१
३ ,, ,, , पृष्ठ ४३१
४. ,, ,, , पृष्ठ ४३१
५. ,, ,, , पृष्ठ ४३१
६. ,, ,, , पृष्ठ ४३२

दूसरे इन प्रकरणो के चयन मे मैंने परिस्थिति-भिन्नता का विशेष ध्यान रखा है जिससे कवि की व्यापक मर्मग्राहिणी तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षणी अन्तर्दृष्टि का सम्यक् परिचय मिल सके। इस उपखण्ड के प्रारभ मे दी गई मैथिलीशरण जी की रचनाओ के मुख्य मर्मस्थलो की सूची से कुछ की ही व्याख्या की जा सकी है—सबका व्याख्यान तो आवश्यक भी नही है। पर इतने से ही उनकी मार्मिक प्रसगो के चयन और व्याख्यान की शक्ति हृदयगम हो जाती है। हमारे कवि का मानव-जीवन के व्यवहारो, व्यापारो और शिष्टाचार का व्यापक ज्ञान उसमे सहायक सिद्ध हुआ है।—और 'ग्रथपरिचय' के अन्तर्गत उल्लिखित नूतन उद्‌भावनाएँ भी मर्म-ग्राहकता की ही द्योतक हैं।

सब मिलाकर प्रस्तुत कवि मे मर्मस्थलो को पहचानने की अद्‌भुत क्षमता है। अनेक स्थलो का पुनराख्यान और नवोद्‌भावना उसे निश्चय ही स्रष्टा-कवियो की प्रथम पक्ति मे समासीन कर देती है।

## (घ) कल्पना द्वारा भावना का उत्कर्ष

चेतना की अन्यान्य सूक्ष्म क्रियाओ के समान ही कल्पना के विषय मे भी अनेक भ्रान्तियाँ एव परस्पर भिन्न तथा विरोधी मान्यताए है। उसे परिभाषाबद्ध करना असम्भव है। इसीलिए कुछ लोग तो उसे अलौकिक अथवा ऐन्द्रजालिक कहकर ही सतुष्ट हो रहते हैं। लेकिन मेधावियो का चिरविश्लेषणरत मस्तिष्क इस विषय मे निरन्तर यत्नशील है। विदेश के व्युत्पन्न पण्डित एव प्रौढ आलोचक डा० आई० ए० रिचर्ड्‌स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आफ् लिट्रेरी क्रिटिसिज्म' मे इस शक्ति के छ विभिन्न प्रयोगो का निर्देश किया है।[1] कोलरिज, एडीसन, रस्किन आदि विद्वान् उनसे पहले भी इस विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं। वस्तुत विदेश के काव्य-शास्त्र मे कल्पना का काफी महत्त्व है—वह भी काव्य के प्रमुख तत्त्वो मे से एक है। लेकिन सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे विदेशी काव्य-शास्त्र के समान उसका पृथक् विवेचन उपलब्ध नही है। फिर भी उसकी सत्ता से इन्कार नही किया जा सकता। ध्वनि, लक्षणा-व्यजना तथा अधिकाश अलकार कल्पना-आवृत ही हैं। वास्तव मे 'काव्य के अग-प्रत्यग मे कल्पना ओत-प्रोत है—उसके बिना काव्य का अस्तित्व ही सम्भव नही—इसी कारण कदाचित् उसका पृथक् निर्देश अनावश्यक समझा गया हो।'[2] बात भी ठीक है, कल्पना-प्राचुर्य ही तो कवि और जनसाधारण का भेदक तत्त्व है। तब फिर काव्य-शास्त्र मे कल्पना के अभाव की तो कल्पना भी असह्य है। हाँ, प्रतिपादन की पद्धति भिन्न

---

१ दे० Sixth impression, pp 239-243

२ विचार और अनुभूति, प्रोफेसर नगेन्द्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २०

हो सकती है। देशी और विदेशी साहित्य मे कल्पना के अनिर्दिष्ट और निर्दिष्ट रहने का यही रहस्य है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार कल्पना शब्द की मूल धातु है—क्लृप्—जिसका अर्थ है सृजन की सामर्थ्य। अत कल्पना शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ हुआ सृजन-शक्ति। शायद इसीलिए अपने यहाँ कवि को प्रजापति का गौरव प्रदान किया गया है। लेकिन आज कल्पना मे केवल सृजन नही वरन् और भी वहुत कुछ सम्मिलित है। उसके प्रयोग के कम से कम छ विभिन्न रूप तो हैं ही।—इन षड्रूपो का विवेचन हिन्दी मे प्रोफेसर नगेन्द्र लिखित निवन्ध 'साहित्य मे कल्पना का उपयोग'[1] तथा अग्रेजी मे रिचर्ड्स विरचित 'प्रिंसिपल्स आफ् लिट्रेरी क्रिटिसिज़म' नामक पुस्तक मे देखा जा सकता है।[2] —और यदि कल्पना के व्युत्पत्त्यर्थ—सृजन—को वहुत दूर तक खीचा जाए तो उसमे इन सभी रूपो का समाहार किया जा सकता है।

मैथिलीशरण जी के काव्य मे प्राय कल्पना के सभी प्रयोग मिल जाएगे। इनका सवसे पहला कार्य है चित्र की सजीव उपस्थिति। सजीव उपस्थितीकरण के लिए आवश्यक है कि वर्ण्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यो को उपस्थित न करके कुछ प्रमुख तत्त्वो को ही सामने लाया जाए जो सम्पूर्ण का विवग्रहण कराने मे सक्षम हो। कुशल कलाकार पदार्थ का अनुभव करने के वाद उसे खडित कर कुछ का त्याग तथा कुछ का ग्रहण करता है। और फिर अन्त मे, गृहीत खण्डो की इस प्रकार योजना करता है कि एक नवीन, पर पूर्ण चित्र वन जाता है।[3] इस विषय का विस्तृत विवेचन चित्रण कला के अन्तर्गत किया जाएगा। यहाँ केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

> गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अव भी
> चंचल जल कल-कल कर मानों तान ले रहा है अव भी!
> नाच रहे हैं अव भी पत्ते मन-से सुमन महकते हैं,
> चन्द्र और नक्षत्र ललककर लालच भरे लहकते हैं॥
> वैतालिक विहंग भाभी के सम्प्रति ध्यानलग्न-से हैं,
> नये गान की रचना मे वे कवि-कुल-तुल्य मग्न-से हैं।
> वीच-वीच मे नर्तक केकी मानों यह कह देता है—
> मैं तो प्रस्तुत हूँ, देखें कल कौन वड़ाई लेता है॥[4]

---

१. विचार और अनुभूति मे सङ्कलित

2 Sixth impression, pp 239-253

3 The great artist, seeing a landscape, breaks it up, accepts this and rejects that, and finally brings the pieces together again to make a new whole

—Ruskin as Literary Critic (Selections) edited by A H R Ball, ed 1928 pp 18

४. पचवटी, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १०-११

पचवटी की निस्तब्ध रात्रि का चित्र है। असख्य प्राकृतिक पदार्थों का मौन सौन्दर्य द्रष्टव्य रहा होगा। किन्तु कवि सभी वस्तुओ का उल्लेख नही करता। वह केवल पत्तो के नाचने, फूलो के महकने, नक्षत्र और चद्रमा के लहकने तथा पक्षियो के निद्रामग्न होने का ही वर्णन करता है। इन तीन-चार चीज़ो के उल्लेख ने ही रात्रि की घोर निस्तब्धता, एकात नीरवता व्यजित है। शेष रही गोदावरी नदी के तट की ताल तथा मयूर-ध्वनि। यह ताल और ध्वनि नीरवता-भजक प्रतीत हो सकती है—किन्तु ऐसी बात नही है। गोदावरी के तट की दूरागत ताल तथा बीच-बीच मे उठने वाली मोर की आवाज़ क्या निस्तब्ध नीरवता को बढानेवाली नही है? वस्तुत यह ध्वनि चित्र मे वास्तविकता और सजीवता का समावेश ही करती है। यह तो हुआ प्राकृतिक दृश्य। सिद्धराज, साकेत और जय भारत आदि मे उत्कृष्ट मानवीय चित्र भी देखे जा सकते हैं। इस विषय मे यह उल्लेख्य है कि कवि ने बडे कौशल से प्राय उन सबको पाठक के लिए ग्राह्य बना दिया है। यह सब कल्पना के द्वारा ही हो सका है, यद्यपि डा० रिचर्ड स के अनुसार यह कल्पना का सबसे कम रोचक एव सामान्यतम प्रयोग है।[1]

अप्रस्तुत-विधान का मूलाधार भी कल्पना ही है। साम्य एव वैषम्यमूलक अलकारो तथा रूपको की योजना मे इसका विशेष प्रयोग हुआ करता है। कविगण अपनी भावनाओ को प्रवणता सहित प्रेषित करने के लिए आलकारिक भाषा का प्रयोग करते हैं। निश्चय ही अलकरण का समुचित उपयोग—उपयुक्त अप्रस्तुत का प्रयोग—कवि की अनुभूति को स्पष्टतर एव सवेद्य बनाता है। यही उसकी उपादेयता है। लेकिन जब अप्रस्तुत की योजना मे कवि दूर की कौडी लाने लगते हैं, ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिलाने लगते हैं तब वह व्यर्थ खिलवाड, और काव्य के लिए भार बन जाती है। हमारे कवि मे खिलवाड की यह प्रवृत्ति आपको नही मिलेगी। उसके अप्रस्तुत-विधान का विशेष विवेचन तो कलापक्ष के अन्तर्गत होगा, यहाँ पर केवल तीन उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१) चिर नव यौवना शची क्या हँसी खेद से
निकली क्षणिक धूप वर्षा के विभेद से।[2]

(२) आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओं की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा।[3]

(३) उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,

---

1 The production of vivid images is the commonest and the least interesting thing which is referred to by imagination
—Principles of Literary Criticism,
Sixth impression, page 239

२ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १०

३ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १८

वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हो विभूषण कर्ण के,
क्यो न बनते कविजनो के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?[१]

यहाँ प्रथम उद्धरण मे शोक-सतप्त इन्द्राणी के क्षणिक हास्य को सवेद्य बनाने के लिए वर्षा के उपरात किंवा पावस को विदीर्ण कर फूट उठनेवाली धूप को अप्रस्तुत के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय मे हिडिम्ब के विषय मे अपने मन मे उत्थित भाव को कवि ने प्रेष्य बनाया है यमदूत और भीरुओ की कल्पना के सच्चे भय-भूत का उल्लेख करके। यमदूत बहुत विरूप और विकराल माने जाते है। किन्तु चिर परिचय के कारण अब इसमे भाव सवेदन की सामर्थ्य नही रही। अत. कवि सवेदनीयता के निमित्त एक और कल्पना-प्रचुर उदाहरण देता है। ज़रा-सा खटका होते ही भीरुओ के मन मे अनेक आशकाएँ उठने लगती हैं—उनके मन का भय भीषण रूप धारण करके उनकी कल्पना मे घूमा करता है। भूत,डाकू अथवा ऐसा ही कोई और क्रूर-कराल नाम सुनते ही मन मे जमी हुई वह भीषण मूर्ति ही उभर आया करती है। उस काल्पनिक भीषण मूर्ति को ही क्रूरकर्मा हिडिम्ब का उपमान बनाया गया है।

तीसरे उदाहरण मे भाववरिष्ठ रूपक की योजना है। ताम्र के स्वर्ण बनने की रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा उर्मिला के विरह की गरिमा और उस विरह का वर्णन करने वाली कवि की शब्दावली की महिमा का बखान हुआ है। आप देखेंगे कि इन तीनो उद्धरणो मे कल्पना-गृहीत अप्रस्तुत पाठक मे अभिलषित भावना के उद्बोधन मे समर्थ हैं। अप्रस्तुत के विधान मे कल्पना का वास्तविक उपयोग भी यही है।

दूसरो की मानसिक अवस्था का साक्षात्कार—उसको अनुभव करने की शक्ति भी कल्पना के नाम से अभिहित की जाती है। यद्यपि यह कल्पना का काफी सकुचित अर्थ है,[२] परन्तु फिर भी कवि—विशेषत प्रबन्धकवि—मे इसका होना आवश्यक है। मैथिलीशरण कुशल प्रबन्धकार हैं, उनमे यह प्रभूत परिमाण मे विद्यमान है। शतश पात्रो से वे सहज ही तादात्म्य स्थापित कर सके हैं। सवेदनीयता के प्रसग मे पहले ही इस विषय पर विचार कर आए हैं। यहाँ केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

मानता हूँ तुमने निभाया निज धर्म है।
किन्तु इस कारण अधीन नहीं हूँगा मैं,
जीवन-मरण दोनो एक से हैं वीरों को।
अब भी स्वतन्त्र है अवन्ती निज शक्ति से,

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६५

2 A narrower sense (of imagination) is that in which sympathetic reproducing of other people's states of mind, particularly their emotional states is what is meant

—Principles of Literary Criticism by I A Richards,
6th impression, page 241

मेरी यह जन्मभूमि जननी जगत मे
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही,
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की।
पचतत्व मेरी पुण्यभूमि के हैं मुझमे,
कहला रहे हैं यही मुझसे पुकार के—
हम परतन्त्र नहीं सर्वथा स्वतन्त्र हैं।[1]

यह वीरवर जगद्देव की उक्ति है जेता जयसिंह के प्रति। मातृभूमि के प्रति कितना सबल अनुराग है! यद्यपि यहाँ जन्मभूमि वहुत सकुचित अर्थ मे गृहीत है—केवल अवन्ती प्रदेश तक ही वह सीमित है। किन्तु मध्ययुग मे उसका यही अभिप्राय था। जगद्देव की इस सबल देशभक्ति का कवि ने अनुभव किया—अपनी कल्पना शक्ति के वल पर उसकी मनोदशा का भावन किया है। तभी तो इस उद्धरण मे भाव-प्रवणता आ सकी है।

आविष्कार के अर्थ मे भी कल्पना शब्द का प्रयोग हुआ करता है। साधारणत कल्पना के इस रूप का उपयोग अद्भुत एव असभाव्य के विधान मे किया जाता है जैसा कि देवकीनन्दन खत्री के चन्द्रकान्ता सतति मे हुआ है। किन्तु आद्भुत्य मे हमारे कवि का विश्वास नही है। उसने तो यथासभव सभी पात्रो एव घटनाओ को मानवीय रूप देने का प्रयास किया है। हाँ, उसने आविष्कार किया है नवीन पात्रो, परिस्थितियो एव घटनाओ का। 'विभिन्न काव्य-रूपो का प्रयोग' तथा 'ग्रथ-परिचय' मे इन वातों पर विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ पर इस विषय मे इतना ही निवेदन करना चाहूँगा कि उन उद्भावनाओ मे कवि ने सदैव भाव की सरसता और उत्कर्ष का ध्यान रखा है। यशोधरा और राहुल का निम्न वार्तालाप देखिए—

"अम्ब, यह पछी कौन, बोलता है मीठा वडा,
जिसके प्रवाह मे तू डूवती है वहती।"
"बेटा, यह चातक है।" "मा, क्या कहता है यह?"
"पी-पी, किन्तु दूध की तुझे क्या सुध रहती?"
"और यह पछी कौन बोला वाह!" "कोयल है"
"माँ, क्यो इस कूक को तू हूक-सी है सहती?
कहती—उमग से है मेरे सग-सग अहो!
'कहो-कहो' किन्तु तू कहानी नहीं कहती!"[2]

कवि-कल्पना-प्रसूत यह वार्तालाप कथा-प्रसग मे रोचकता का सपादन करनेवाला तथा रस का उपकारक है। इसी प्रकार अर्णोराज के प्रथम दर्शन पर राजकुमारी काचनदे का कल्पना-चित्र भी दर्शनीय है—

---

१ सिद्धराज, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ४३

२. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ५२

पहुँची परन्तु ज्यो ही मन्दिर मे सुन्दरी
दीखा आप अर्णोराज सम्मुख अलिन्द मे,
* * *
सकुचित होके कहाँ जाती राजनन्दिनी ?
वन्दी के समक्ष स्वय वन्दिनी-सी हो उठी !
आके जड़ता ने उसे जकड़ लिया वहीं,
स्तम्भ वह भी था, अवलम्व लिया जिसका !
हो गये अचल एक पल को पलक भी,
किन्तु वह रूप-भार कव तक झिलता ?
आहा ! दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई ।[1]

सिद्धराज का वृत्त ऐतिहासिक है । पर उपर्युक्त अनुभावो का विवरण तो किसी भी इतिहास मे नही मिल सकता । इनकी योजना कवि ने अपनी कल्पना द्वारा की है, और यह योजना निश्चय ही भाव को उद्‌वुद्ध करती है ।

रिक्त स्थानो को भरने तथा लुप्त एव विस्मृत कारणो का सधान करनेवाली कल्पना का अन्तर्भाव भी आविष्कर्त्री कल्पना के अन्तर्गत ही किया जा सकता है । मैथिलीशरण जी मे कल्पना का यह रूप भी उपलब्ध है । दशरथ-पत्नियो के सहमरण-प्रस्ताव, चित्रकूट-सभा मे कैकेयी के सफाई पेश करने तथा सिद्धराज मे राजमाता मीलनदे से खड्‌ग प्राप्त करने वाले वालक एव जयसिंह से मिलनेवाले महोवे के गृहसचिव को एक ही व्यक्ति मानने आदि मे इसी शक्ति का प्रभाव है ।

अव लीजिए कल्पना का सवसे महत्वपूर्ण एव सशक्त प्रयोग जो कि कवि-आलोचक कोलरिज की साहित्य-शास्त्र को सवसे वडी देन है । वह यह कि विषम और विरोधी तत्वो को पचा लेना—नाना भावो को आत्मसात् कर लेना किसी कलाकार की विराट् कल्पना शक्ति का परिचायक है । कोलरिज इसे समन्वय एव जादू की शक्ति ( Synthetic and magical power ) कहते हैं । आलोच्य कवि मे समन्वय और जादू की यह शक्ति खूव वढी-चढी है । रग मे भग से लेकर जय भारत तक न जाने उसने कितने प्रकार के पात्रो से तादात्म्य स्थापित किया, न जाने कितनी परिस्थितियो मे मन रमाया । राम और रावण, युधिष्ठिर और दुर्योधन, सीता और शूर्पणखा जैसे विरोधी पात्रो का एक-सी तन्मयता से चित्रण साधारण वात नही है । सिक्ख गुरुओ और मुसलमानो के धार्मिक नेता हसन और हुसैन को भी उन्होंने अपने काव्य का विषय वनाया । इससे एक ओर जहाँ कवि की हृद्‌गत विशालता की सूचना मिलती है वहाँ दूसरी ओर उसकी अद्‌भुत कल्पनाशक्ति का परिचय भी । परिस्थितियाँ भी जितनी जीवन और जगत् मे सम्भव हैं सभी मिल जाएगी । मानव-जीवन मे सम्भव सभी सम्वन्धो मे रमनेवाला तो तुलसी के वाद यह अकेला ही कवि है । सवसे वडी वात यह है कि उसने इन सभी विषमताओ और विभिन्नताओ को पूर्ण भावुकता

---

१ सिद्धराज, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ९३-९४

के साथ अपनाया है, वह इन सब मे रम सका है।

अंग्रेज़ आलोचक एडीसन तो मानवीकरण को भी कल्पना के प्रयोगो मे परिगणित करते हैं।[1] किन्तु हमने इसका विवेचन अभिव्यजना-कौशल के अन्तर्गत किया है। वास्तव मे इसका उचित स्थान भी वही है। अन्यथा यो तो काव्य के अग-प्रत्यग मे कल्पना की न्यूनाधिक खोज की जा सकती है। अस्तु।

मैथिलीशरणकृत कल्पना के विभिन्न रूपो के प्रयोग के उपर्युक्त दिग्दर्शन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उनकी प्रतिभा इस शक्ति के प्राय सभी रूपो से पुष्ट है।—और उन्होंने इसका भरपूर उपयोग किया है। किन्तु उनके काव्य मे कल्पना का यह उपयोग तमाशा खड़ा करने के लिए नही वरन् भावोत्कर्षक बनकर आया है। वह सदैव भावप्रवण ही है। एकाध दोष भी मिल सकता है जैसे पूर्वोल्लिखित मकडे और मक्खी वाले रूपक[2] मे न अनुपात है—और न ही लालित्य। पर ऐसे स्थल अत्यन्त न्यून और नगण्य है। कुल मिला-कर इस कवि की कल्पना काफी सशक्त, विराट् और सृजनात्मक है। विराट्ता उसकी कल्पना मे अद्भुत है, जीवित कवियो मे तो सबसे अधिक है। राम का अनन्य भक्त होते हुए भी यह कवि रावण की सहृदयता पर मुग्ध हो सकता है।[3] मेघनाद-वध अनूदित होने पर भी कवि की विषम एव विरोधी तत्वो को ग्रहण करने की क्षमता का सूचक है। निश्चय ही "इस प्रकार के समन्वय की क्षमता उन्ही विश्वदर्शी कलाकारो मे हो सकती है जिनके हृदय विशाल हो, जो जगत् की विभिन्नताओ को पचा सके।"[4]

## (च) भाव-चित्रण में उद्देश्य : भोग अथवा उन्नयन

गुप्त जी के काव्य मे विभिन्न भावो की व्यक्ति पर विचार किया जा चुका है। किन्तु इस भाव-व्यजना मे अन्तर्निहित उद्देश्य क्या है?—भोग अथवा उन्नयन? जहाँ भाव का तन्मय चित्रण मात्र होता है, किसी महत्तर लक्ष्य मे उसकी परिणति नही होती वहाँ उसका भोग होता है। लेकिन जब कवि भाव के चित्रण पर ही बस नही कर देता, उसका आदर्शी-

---

1 There is another sort of imaginary beings, that we sometimes meet with among the poets, when the author represents any passion, appetite, virtue or vice, under a visible shape, and makes it a person or an actor in his poem

—Loci Critici by Saintsbury edition 1931, page 200

२ वहाँ सूर्य और पृथ्वी का रूपक मकडे और मक्खी से बाँधा गया है।

३ दे० साकेन, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २९२

४ विचार और अनुभूति—प्रोफेसर नगेन्द्र, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २४

करण करता है तव भाव का उन्नयन हुआ करता है। भाव का यह उन्नयन ही 'मनुष्यता की उच्च भूमि' है।—यही शिवत्व और श्रेयस् है। मनोविकारो का आदर्शीकरण निश्चय ही हमे परिमिति के क्षेत्र से, व्यक्तिगत जीवन के सकोच और मीमाओ से वाहर ला खडा करता है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे—"आदर्श की स्थिति ऊर्जस्वित जीवन की मान्यता मे है।"[1] 'ऊर्जस्वित जीवन' ही तो कविता का काम्य है, उसका चर्म ध्येय है। आचार्य शुक्ल ठीक ही कहते हैं—"कविता भावो या मनोविकारो के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई उनका प्रसार करती है।"[2] अपने सुख-साधन की चिन्ता, व्यक्तिगत राग-द्वेप की परितुप्टि तो पशु भी कर लेते हैं। परन्तु मानव—'मनुष्यता की उच्च भूमि' पर पहुँचा हुआ मानव—वही है जिसकी भावना का प्रसार हो गया हो। जिसका व्यक्तित्व इतना विशद, विशाल एव व्यापक हो गया हो कि उसमे स्वजन-परिजन, वन्धु-वान्धव, देशवासी ही नहीं मनुष्य मात्र, वरन् उससे भी वढकर प्राणी मात्र का समाहार हो जाए। जो काव्य भाव के ऐसे प्रसरण की, हृदय और दृष्टिकोण के इस व्यापकत्व की प्रेरणा देता है वही सच्चा और श्रेष्ठ काव्य है। वाकी सव तो मनोरजन अथवा वाणी का विलास मात्र हैं।

आलोच्य कवि सदैव शिवत्व का पक्षपाती रहा है। भाव के भोग मे नही उन्नयन मे ही उसका विश्वास रहा है। इसीलिए उसकी अधिकाश कृतियो मे उदात्त जीवन अथवा मनुष्यता की उच्च भूमि के दर्शन हो जाते हैं। आदर्शीकरण पर विशेप ध्यान रहने के कारण ही मैथिलीशरण जी के विपुल-परिमाण काव्य मे सयोग शृगार, जो सदैव भोग-प्रधान ही हुआ करता है, वहुत कम मिलता है। उसकी स्थिति सिंधु मे विंदु के समान है। इसके विपरीत भोगवादी कवियो मे उसीका प्रामुख्य मिला करता है। किन्तु उन्होंने शृगार के विप्रलभ पक्ष का ही अधिक चित्रण किया है—क्योकि उसमे भाव के उन्नयन का अधिक अवकाश रहता है। विरह विह्वल यशोधरा की रति का ऊर्ध्वायन देखिए—

जायं, सिद्धि पावें वे सुख से,<br>
दुखी न हो इस जन के दुख से,<br>
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से?—<br>
आज अधिक वे भाते![3]

गौतम के महाभिनिष्क्रमण पर यशोधरा दुखी है—किन्तु उनमे उस दुःख की प्रतिच्छाया देखना नही चाहती वरन् उनकी सिद्धि की ही कामना करती है। उसे तो वे आज और भी अधिक भाते हैं क्योकि लोक का कल्याण इसी मे है। परार्थ और परमार्थ के लिए वह सहर्प स्वार्थ का त्याग करती है—

१. साहित्य शास्त्र, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ५५-५६

२ रस-मीमासा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २३

३. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ २५

मेरे दुख मे भरा विश्वसुख, क्यो न भरूँ फिर मैं हामी !
बुद्ध शरण, धर्म शरण, सघ शरण गच्छामिऽ ।[1]

भाव का कैसा अनुकरणीय उन्नयन है । विश्वसुख के निमित्त अपने जीवनाधार के चिर-अभिलषित सपर्क के त्याग से वढकर और क्या त्याग हो सकता है ? सुधाशु जी तो शायद इसके मूल मे भी स्वार्थ की खोज करना चाहेगे ।[2] पर विश्ववन्धुत्व का प्रतिष्ठापक यह स्वार्थ भी स्तुत्य है । नव-वय मे ही विश्लिष्ट उर्मिला-विरह मे भी स्वार्थ-लोप का सौंदर्य देखा जा सकता है—

मुझे भूल कर ही विभु-वन मे विचरें मेरे नाथ,
मुझे न भूले उनका ध्यान ।[3]

यहाँ प्रेम की सात्विकता दर्शनीय है—प्रतिदान की लेशमात्र भी आकाक्षा नही । "सच्चा प्रेमी", जैसा कि वावू गुलावराय कहते हैं, "प्रेमास्पद को पाना नही चाहता है वरन् अपने को उसमे खो देना चाहता है ।"[4] उर्मिला के विषय मे भी यही सत्य है । वह स्वय तो लक्ष्मण के ध्यान मे डूब जाना चाहती है, किन्तु यह नही चाहती कि उसकी स्मृति एक क्षण के लिए भी उनके कार्यकलाप मे वाधक वने । सात्विकता के साथ ही उर्मिला के वियोग मे 'आदर्श का गौरव' भी है । स्वप्न मे भी उसे अवधि से पूर्व लक्ष्मण का आगमन सह्य नही, इसकी कल्पना से ही वह अस्थिर हो उठती है—

वह नहीं फिरे क्या तुम्हीं फिरे ?
हम गिरे अहो ! तो गिरे, गिरे ।[5]

विश्वप्रेम भी उर्मिला मे विकसित हुआ है, पर यशोधरा जैसा नही । हरित-भरित, उल्लसित-आनन्दित वस्तुए प्राय विरहिणियो को रुचिकर नही होती वरन् अपने जीवन से मेल न खाने के कारण वे उन्हे ईर्ष्या-दग्ध किया करती हैं । सूरदास की गोपियाँ इसीलिए तो मधुवन पर वरस पडी थी—

मधुवन तुम कत रहत हरे !
आदि ।

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १४७

२ मूल रूप मे मनुष्य स्वार्थी है, इसी कारण परार्थ और परमार्थ के अन्तर्गत कहीं न कहीं स्वार्थ अवश्य छिपा वैठा पाया जाता है । जव तक स्वार्थ की प्रेरणा न हो तव तक जीवन मे कोई क्रिया, कोई द्वन्द्व लक्षित नहीं होता ।

—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त,
द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ९२

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २४८

४. सिद्धांत और अध्ययन, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०१

५ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २४३

किन्तु उर्मिला के विरह मे यह वात नही है। वह दूसरो के सुख को देख दुखी नही होती अपितु उन्हे ही हर्ष-विभोर रहने को कहती है—

हँसो, हँसो हे शशि, फूल, फूलो,
हँसो, हिंडोरे पर बैठ झूलो।
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ,
झडी लगा दूँ, इतना पिये हूँ।[1]

इतना ही नही वह तो अपने अतिरिक्त और किसी को दुखी देखना ही नही चाहती। उसका तो विश्वास है कि जव सभी सुखी होंगे तो एक-न-एक दिन उसके सुखी होने का भी अवसर आ ही जाएगा—

तरसूं मुझ-सी मैं ही, सरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सबको सुख होगा तो मेरी भी आयगी वारी।[2]

उर्मिला की यह व्यापक सुख-भावना उसके विकसित व्यक्तित्व की ही सूचक है। यद्यपि, जैसा कि प्रोफेसर नगेन्द्र का भी मन्तव्य है, उर्मिला का व्यक्तित्व लुप्त नही हो पाया है।[3] फिर भी उसकी दृष्टि और हृदय के व्यापकत्व से इन्कार नही किया जा सकता। प्राकृतिक पदार्थों तक विस्तीर्ण उर्मिला का यह 'हृदय-प्रसार' अभिनन्दनीय है। अस्तु!

ऊपर दाम्पत्य प्रेम के उन्नयन का दिग्दर्शन हुआ है। पर रति भाव यही तक सीमित नही उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वस्तुत व्यापक अर्थो मे सभी प्रेम-सवध उसमे समा जाते हैं। इनमे से देव-विषयक रति तो स्वय एक उन्नत भाव है। किन्तु गुप्त जी ने अन्यान्य प्रकारो को-भी उन्नमित किया है। धर्मराज युधिष्ठिर को वन्धुओ के विना स्वर्ग भी स्वीकार्य नहीं है। नरक से कर्ण, भीमार्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी का करुण चीत्कार सुन वे स्वय भी वही रहने का निश्चय कर लेते है। देवदूत को कह देते है—

जाओ तुम यहीं रहूंगा मैं
इन आत्मीयो के साथ सदा
स्वर्गाधिक नरक सहूंगा मै
जाकर सुरेन्द्र को तुम मेरे
सादर सौ धन्यवाद देना
कहना, मैं हूं सन्तुष्ट यहीं
मुझ को वह स्वर्ग नहीं लेना![4]

आत्मीयो के साथ सुख-दुख भोगने के लिए योगियो और तपस्वियो के काम्य स्वर्ग का भी तिरस्कार!—कितना विशाल हृदय चाहिए ऐसे महार्घ त्याग के लिए! परन्तु ये तो

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २१६
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २१२
३ दे० साकेत : एक अध्ययन, पचम सस्करण, पृष्ठ ७४
४. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४४१

फिर भी वन्धु थे—अपने थे। युधिष्ठिर तो सहचर श्वान को भी छोडने को प्रस्तुत नही। स्वर्गारोहरण-प्रसग मे मातलि ऐन्द्रिक स्यन्दन लेकर आता है, और युधिष्ठिर से उसमे बैठ वैकुण्ठ को चलने की प्रार्थना करता है। लेकिन जव वह साथी कुत्ते को साथ न ले चलने का परामर्श देता है तव युधिष्ठिर स्वय भी जाने से इन्कार कर देते हैं—

तुम जाओ मेरा भाग्य नहीं,
जो मै सुदेव-दर्शन पाऊ,
शरणागत, अनुजाधिक सहचर
यह श्वान छोड क्योकर जाऊ ?[1]

व्यक्तित्व का इसमे अधिक और क्या विकास होगा ?—सर्वभूतहितकामना का इससे वढकर और क्या निदर्शन हो सकता है ? यद्यपि वह श्वान स्वय धर्म ही था—किन्तु युधिष्ठिर तो इस रहस्य से अपरिचित थे। अत निर्विवाद रूप से यहा धर्मराज के मनोगत भाव का उन्नयन-सौन्दर्य ही उद्भासित है। रग मे भग के हाडा कुभ मे यही भावना देशप्रेम वनकर आई है। बून्दी के दुर्ग की प्रतिकृति के दर्शन से भी वह भाव-गद्गद हो उठता है।—अपने प्राणो का भी मोह त्याग उसकी रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है—

'यदपि मेरा काल अव मेरे निकट आता चला,
किन्तु जीने की अपेक्षा मान पर मरना भला।
जवकि एक न एक दिन मरना सभी को है यहाँ,
फिर मुझे अवसर मिलेगा आज के जैसा कहाँ ?[2]

यहाँ देशप्रेम की वरिष्ठ भावना के साथ-साथ वीर का उन्नयन भी दर्शनीय है। यदि उत्साह की उद्बोधक भावना भूमि अथवा धन-हरण या फिर विजय-यश की लालसा होती तो वह उसका भोग होता। पर यहाँ इनमे से कोई भी वात नही है। मान-रक्षा—वह भी व्यक्तिगत नही जाति और देशगत मान की रक्षा—ही उसे इस कर्म मे प्रवृत्त करती है। वस, यही भावना का उन्नयन हो जाता है। सचमुच हाडा कुभ के इस सात्विक उत्साह मे अद्भुत आकर्षण है।—और अब देखिए कुन्ती के स्त्री-हृदय का ऊर्जस्वित ओज—

तो एक यह भी कार्य है,
यह भी उन्हें अनिवार्य है,
आशीष दो करलें इसे भी सिद्ध वे।
या तो असुर को मारकर ?
हों वन्य पुर-उपकार कर,
या कीर्त्ति ले कर सूर्य-मण्डल विद्ध वे।[3]

वक-सहार प्रसग मे वक के खाने के लिए एक मनुष्य भेजने की वारी जव पाण्डवो

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४३६

२ रग मे भग, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ २६

३ वक-सहार, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ३१

के आश्रयदाता ब्राह्मण-परिवार की आजाती है, तब कुन्ती उन्हे शोकाकुल देख अपना एक पुत्र भेजने की बात कहती हैं। ब्राह्मण उन्हे मना करता है। उसका कथन है कि तुम्हारे पुत्रो को अभी बहुत से सत्कार्य करने हैं। इसी का उत्तर कुन्ती उपर्युक्त पक्तियो मे दे रही हैं। उनका क्षत्रियत्व—लोक-रक्षक रूप—उनके मातृत्व पर हावी है। स्वार्थ को त्याग परार्थ और परमार्थ की इस कामना मे निस्सदेह भाव का औदात्य है। आश्रयदाता ब्राह्मण-परिवार के ही नही समस्त पुरवासियो के कल्याण की इस व्यापक भावना का उदय किसी उन्नतमना उदाराशय व्यक्ति के हृदय मे ही सभव है।

करुण के मूल मे प्राय व्यक्तिगत इष्टनाश अथवा अनिष्ट की प्राप्ति रहा करती है। किन्तु इस भाव का उन्नयन वहाँ होता है जहाँ इसका आधार व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत होता है। जयद्रथ-वध मे उत्तरा का विलाप प्रथम प्रकार का है—वहा करुण का भोग हुआ है। किन्तु भारत-भारती मे उसका उन्नयन मिलता है क्योकि उसकी मूल प्रेरणा—

हम कौन थे, क्या होगये हैं और क्या होंगे अभी।[1]

—देशव्यापी इष्टनाश और अनिष्टाप्ति है। उसमे कवि का शोक उन्नत और उदात्त रूप में प्रकट हुआ है। गौतम की करुणा मे तो इसमे भी अधिक व्यापकत्व है—वह देश और काल की सीमाओ मे भी बद्ध नही है—

बता जीव, क्या इसीलिए है
यह जीवन का फूल हाय!
पका और कच्चा फल इसका
तोड तोड कर काल खाय?[2]

इस व्यापक सहानुभूति के कारण ही तो वे सर्वत्र कल्याण-केतु उडाना चाहते हैं।[3]

क्रोध ऐसा भाव है जिसका साधारणत भोग ही हुआ करता है। केवल पर-कल्याण के निमित्त क्रोध करनेवाले बहुत कम मिला करते हैं। क्रोध का यह रूप निश्चिय ही दैवी सम्पद् है।[4] लक्ष्मण का क्रोध ऐसा ही श्रेयस्कर क्रोध है—

भरत होकर यहाँ क्या आज करते।
* * *
भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें,
पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें?
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा,
मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा।
* * *

---

१ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ४
२ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १५
३. यशोधरा, सस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १६
४. दे० जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ९६

"रहूँ ?"—सौमित्रि बोले—"चुप रहूँ मैं ?
तथा अन्याय चुप रह कर सहूँ मैं ?
असम्भव है कभी होगा न ऐसा,
वही होगा कि है कुल-धर्म जैसा।"[1]

राम को वनवास और भरत को राज्य देने की बात सुनकर लक्ष्मण उबल पडे। यह क्रोध का उन्नयन है जिसमे स्वार्थ-रक्षा की नही परहित तथा मर्यादा-रक्षा की भावना अन्तर्निहित है।

साराश यह कि आलोच्य कवि भाव की व्यजना मात्र से सन्तुष्ट नही है। वह उच्चतर लक्ष्य मे उसकी परिणति का प्रयास करता है। और स्पष्ट शब्दो मे उसके काव्य मे भाव का भोग नही वरन् उन्नयन ही मिलता है।

## मूल्यांकन

गुप्त जी के भाव-पक्ष के सागोपाग विवेचन-विश्लेषण के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनका भाव-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है। उनके काव्य मे जीवन मे सभव सभी भावनाएँ और भावनाओ के विभिन्न स्तर गृहीत हैं। प्रधान मनोविकारो का चित्रण तो साधारण कवियो मे भी मिल जाता है—किन्तु आलोच्य कवि की रचनाओ मे सभी सचारी भी सहज प्राप्य हैं।—और शास्त्र-बाह्य सचारी तो मानव-जीवन मे उसकी गहरी पैठ के परिचायक हैं। आलम्बनो और उद्दीपनो मे भी अपार वैविध्य है तथा परिस्थिति-योजना मे तो इस कवि को कमाल ही हासिल है। उधर आलम्बन और उद्दीपन का अकृत्रिम सामजस्य भी दर्शनीय है।

विस्तार और वैविध्य के साथ ही मैथिलीशरण जी मे अदम्य प्राबल्य है। यद्यपि सूक्ष्मता अधिक नही है—किन्तु उसका सर्वथा अभाव भी नही। नवीन अर्थात् शास्त्र मे अनुल्लिखित सचारी अन्तर्प्रवेशिनी सूक्ष्म दृष्टि के ही तो प्रमाण हैं। फिर भी उनकी भावना को सवेद्य बनानेवाला सबसे बडा तत्व तीव्र प्रबलता ही है—भाव की प्रबल अनुभूति के कारण ही वे बिम्ब-ग्रहण कराने मे समर्थ हो सके हैं। और मार्मिक प्रसङ्गो को पहचानने की तो इस कवि मे अद्भुत क्षमता है।—मर्मस्थलो का सन्धान और चयन ही तो प्रबन्ध-कवि की गौरव-कसौटी है। हमने गुप्त जी की रचनाओ मे प्राप्त केवल कुछ मार्मिक स्थलो की व्याख्या की है, बडी मुश्किल से वे दशमाश ही होंगे। प्रवृद्ध भावुकता के परिचय के निमित्त इतना ही पर्याप्त है। यही पर यह भी उल्लेख्य है कि उनमे भावुक क्षणो और प्रसंगो

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ५९-६०

के चयन की ही नही सृजन की भी प्रतिभा है जिसके आधार पर उनकी गणना स्रष्टा कलाकारो मे की जा सकती है। चयन-सृजन-सक्षम इस सघन भावुकता को कल्पना ने और भी दीप्ति एव औज्ज्वल्य प्रदान किया है। यद्यपि कल्पना की विस्मयकारी उडान और रगीन विलासिता इस कवि मे नही मिलेगी पर उसकी विशदता एव विराट्ता निश्चित रूप से प्रशसनीय है। इसके अतिरिक्त भाव के भोग की अपेक्षा उन्नयन के आग्रह ने उसे—उसकी भावुकता को—श्रेयस्कर, शिवत्व की महिमा से मण्डित भी कर दिया है।

सब मिलाकर मैथिलीशरण जी का भाव-पक्ष काफी समृद्ध है। उनके भाव-क्षेत्र का अपरिमित विस्तार, भावना का अनियन्त्रित प्राबल्य, मार्मिक प्रसङ्गो के चयन और सृजन की अमोघ शक्ति, कल्पना की अनुपम विराट्ता तथा भाव के आदर्शीकरण की अभिनन्दनीय प्रवृत्ति उन्हे विश्व के अग्रणी कवियो मे स्थान दिलाती है। यदि हिन्दी के कवियों मे प्रस्तुत कवि का स्थान निर्धारित करना हो तो केवल दो—तुलसी और प्रसाद ही उसके समक्ष रखे जा सकते हैं। और यदि केवल विस्तार-वैविध्य की ही दृष्टि से देखा जाए ( यह भी गौरव और महत्व की एक मान्य और विश्वसनीय कसौटी है ) तब तो शायद उक्त दोनो कवि भी पीछे रह जाएँगे।

# कला-पक्ष

अपने व्यापक अर्थ मे कला सम्पूर्ण कवि-व्यापार की द्योतक है—अनुभूति से लेकर अभिव्यक्ति तक की सारी प्रक्रियाएँ उसके अन्तर्गत आती हैं। कवि-व्यापार ही क्यो, लालित्य से सबद्ध सभी कुछ कला के नाम से अभिहित किया जाता है। वास्तव मे उन सभी के मूल मे सहजानुभूति रहती हैं—अन्तर है केवल माध्यम का। सहजानुभूति को यदि शब्दबद्ध कर दिया जाए तो वह काव्य बन जाता है, ध्वनिबद्ध किया जाए तो सगीत बन जाता है—और रग और रेखा के माध्यम से प्रकट किया जाए तो चित्र अथवा मूर्ति का निर्माण होता है। यह तो हुआ कला का व्यापक रूप जिसमे कि सहजानुभूति से लेकर उसकी अभिव्यजना तक का सम्पूर्ण व्यापार आ जाता है। लेकिन कला का एक स्थूल रूप भी है। जहाँ वह केवल बाह्य प्रयत्न की द्योतक है। और स्पष्ट शब्दो मे कला का प्रयोग कौशल के अर्थ मे भी होता है। वास्तव मे कला शब्द का उच्चारण करते ही प्रकृति-भिन्न किसी वस्तु का भान होता है। यहाँ पर हम कला शब्द का प्रयोग इसी सकुचित अथवा स्थूल अर्थ मे कर रहे है। कुछ विद्वान् कला के इस रूप को महत्वहीन मानते हैं—लेकिन यह सर्वथा नगण्य अथवा एकदम सारहीन नही है। यह काव्य को प्रभावक्षम बनाने का अनिवार्य साधन है। अत इसका अध्ययन भी आवश्यक है, ठीक उसी तरह जैसे आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूपेण हृदयगम करने के लिए शरीर का ज्ञान अनिवार्य है।

अभी तक गुप्त जी के भाव-पक्ष का अध्ययन किया गया है। अब कला-पक्ष पर विचार करेंगे

## (क) विभिन्न काव्य-रूपों का प्रयोग

काव्य-प्रतिभा का कलात्मक प्रकाशन यथारुचि तथा आवश्यकतानुसार अनेक सरणियो मे होता है—इन सरणियो को ही काव्यशास्त्र मे विधा कहा गया है। स्थूलत आचार्यों ने इन सब विधाओ को प्रबन्ध, नाट्य एव गीति मे विभक्त किया है। यह विभाजन आत्यन्तिक तथा सर्वथा निर्दोष नही है, और न कोई प्रकृत कवि इनके कठोर नियमो मे आबद्ध रहता है। फिर भी व्यावहारिकता की दृष्टि से ऐसा विभाजन उपादेय अतएव आवश्यक है—

और अतुल प्रतिभासम्पन्न कवि भी इस बात का तो थोडा-बहुत ध्यान रखता ही है कि वह उपर्युक्त विभागो मे से किस प्रकार की रचना कर रहा है । इन स्थूल विभागो के फिर अनेक भेद-प्रभेद किए गए हैं । मैथिलीशरण जी पिछले पचास वर्ष से निरन्तर साहित्य-साधना कर रहे हैं—उन्होंने प्राय इन सभी काव्य-रूपो का कुशल प्रयोग किया है । आगे उसी पर विचार किया जाएगा ।

## महाकाव्य

जीवन और जगत् के जातिगत अनुभवो पर आधृत कल्पान्तरस्थायी बृहत्‌काय प्रबन्ध-काव्य को महाकाव्य के नाम से अभिहित किया जाता है । दृश्य काव्य के अतिरिक्त साहित्य की इस विधा का स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत विवेचन-विश्लेषण किया है । कारण स्पष्ट है—दृश्य काव्य अभिनेय होने से जनता की चीज़ है । जन साधारण अमूर्त की अपेक्षा मूर्त से अधिक प्रभावित होते हैं फलत दृश्य काव्य का प्रभावक्षेत्र श्रव्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है । अतएव साहित्यशास्त्रियो ने उसके महत्व के अनुरूप ही उसका प्रतिपादन किया है । महत्ता एव प्रभावक्षमता की दृष्टि से श्रव्य काव्य के विभिन्न रूपो मे महा-काव्य का अनन्य स्थान है । अतएव साहित्याचार्यों ने उन सब मे इसी पर सर्वाधिक ध्यान दिया है ।

### सस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुसार महाकाव्य का स्वरूप

सर्गबन्धोमहाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् ॥
नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनै. ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवै ॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ।
अलकृतमसंक्षिप्त रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णै. श्रव्यवृत्तै. सुसन्धिभि ॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरजकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलकृति ॥[1]

आचार्य दण्डी के उपर्युक्त पद्यो मे सस्कृत काव्यशास्त्र मे स्वीकृत महाकाव्य के लक्षणो का सार निहित है । भारतीय आचार्य के अनुसार महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार हैं—

१ महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए अर्थात् उसका विभाजन खण्डो अथवा अध्यायो में होना चाहिए । आचार्यों ने प्रकथन की सुविधा के लिए ऐसा विधान किया है । इससे

---

१. काव्यादर्श १।१४-१९

भिन्न है फारसी की मसनवी शैली जहा प्रबंधकाव्य सर्गो मे विभक्त नहीं होता वरन् बीच-बीच मे मुख्य घटना के अनुसार शीर्षक दे दिया जाता है। ऐसी दशा मे एक दृश्य अथवा स्थान से दूसरे दृश्य अथवा घटना तक पहुँचने के लिए किसी माध्यम की कल्पना करनी पडती है जो कि सर्वथा अस्वाभाविक और कई स्थानो पर हास्यास्पद होती है जैसी कि पद्मावत मे हीरामन तोते की कथा। किन्तु सर्गबद्ध रचना मे एक दृश्य से दूसरे दृश्य तक किसी माध्य अथवा अस्वाभाविक कल्पना के बिना ही पहुँचा जा सकता है। अत वृहत् कथाओ का सर्गो अथवा अध्यायो मे ही विभाजन होना चाहिए।

सर्ग असक्षिप्त तथा अनतिविस्तीर्ण अर्थात् न अधिक बडे और न अधिक छोटे ही होने चाहिएँ। ये दोनो ही सापेक्ष शब्द है—अत कोई निश्चित पृष्ठ सख्या आदि नही बताई जा सकती तथापि उद्देश्य स्पष्ट है—चार-चार, पाच-पाच पृष्ठ के सर्ग न हो जिससे कि सर्ग एक मज़ाक ही बन जाए और बार-बार मोड आने से कथा का गाभीर्य ही नष्ट हो जाए।—और न ही सर्ग दो-दो सौ, ढाई-ढाई सौ पृष्ठो के हो जिससे कि वे किसी महत्कथा के अश न रहकर अपने आप मे पूर्ण अतएव स्वतन्त्र बन जाए। दण्डी सर्ग सख्या के बारे मे कुछ नही कहते, अग्निपुराणकार भी इस विषय मे मौन हैं—किन्तु आचार्य विश्वनाथ महाकाव्य के लिए अष्टाधिक सर्ग अनिवार्य मानते हैं।[1] मेरे विचार मे उनका अभिप्राय केवल विस्तार की ओर सकेत करने का है—इससे अधिक और कुछ नही। यदि किसी प्रबन्धकाव्य मे 'नातिस्वल्पा नातिदीर्घा'[2] आठ सर्ग भी नही होंगे तो वह क्या महाकाव्य होगा? उसमे वृहत्कथा के लिए आवश्यक विस्तार कैसे आएगा—और सम्पूर्ण मानव-व्यापारो का चित्रण कहा से होगा? किन्तु यदि कोई लेखक आठ सर्गो के बिना ही ऐसा कर सकता है—आचार्य विश्वनाथ के निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण किए बिना ही गन्तव्य स्थल तक पहुँच सकता है तो उसके लिए इस नियम का पालन अनिवार्यत आवश्यक नही। यदि इसका कठोरता से पालन करना चाहे तो आदिकवि वाल्मीकि और तुलसीदास के सर्वश्रेष्ठ एव सर्वमान्य महाकाव्य ही अपदस्थ हो जाते हैं। अतएव 'नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह' मे कथा की व्यापकता ही अभिप्रेत है।

२ महाकाव्य का प्रारम्भ किसी भी प्रकार के—नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक—मगलाचरण से होना चाहिए। आस्तिक आचार्य विश्वनाथ ने भी इसको ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया है।[3] महाकाव्य ही क्यो अन्य विधाओ मे भी यह अपेक्षित है—किन्तु इसे महाकाव्य का अनिवार्य तत्व नही माना जा सकता। अग्निपुराण मे महाकाव्य के सबध मे मगलाचरण का कुछ भी उल्लेख नही है। वस्तुत लक्षणो का निर्धारण निगमन शैली पर हुआ करता है। दण्डी एव विश्वनाथ के समय तक कई काव्य महाकाव्य रूप मे प्रसिद्ध हो चुके थे—और उन सब मे किसी न किसी प्रकार का मगलाचरण अवश्य था

---

१. सर्गा अष्टाधिका इह—साहित्यदर्पण ६।३२०
२ साहित्यदर्पण ६।३२०
३. आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा—साहित्यदर्पण ६।३१९

अतएव उन्होंने इसे भी नियम वना डाला। परपरा का अनुसरण करने वाले हिन्दी कवियो ने भी अपनी सभी कृतियो मे इसे स्थान दिया—वे लोग ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए इसे आवश्यक समझते थे। किन्तु मूल्यो की अराजकता के इस युग मे मगलाचरण मे उतना विश्वास नही रह गया है। अतएव साहित्य की सभी विधाओ से मगलाचरण की प्रथा का लोप हो रहा है—मैथिलीशरण जी से दो-एक व्यक्तियो को छोडकर शेष कवि इसकी चिन्ता नही करते। आज का आलोचक भी इस ओर ध्यान नही देता किन्तु शास्त्रनिष्ठ पण्डित इस स्थिति से वहुत उद्विग्न हैं—

"माना कि किसी महाकाव्य मे मगलाचरण न हो तो उसकी प्रकृत शोभा की क्षति नही होती, पर अपनी परम्परा भी कोई वस्तु है। और नही तो परम्परा के ही नाते इसका कम से कम महाकाव्यो मे वना रहना अच्छा ही है। नाटको से हटा दीजिये, पर कही तो उसे रहने दीजिये।"[1]

सच है माया काटे नही कटती—किन्तु मिश्र जी जव स्वय स्वीकार करते हैं—"किसी महाकाव्य मे मगलाचरण न हो तो उसकी प्रकृत शोभा की क्षति नही होती"—तव आज के कवि से केवल परपरा-पालन के नाम पर उसकी आशा करना दुराशा के अतिरिक्त और कुछ नही। हाँ, परपरा के पुजारी अव भी ऐसा कर ही रहे हैं।

३ महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध होनी चाहिए क्योकि उसका साधारणीकरण सहज होता है, अतएव वह अधिक प्रभावक्षम भी होती है। इसका यह तात्पर्य नही कि कवि अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग नही कर सकता वरन् उसकी कथा सर्वथा काल्पनिक अथवा उत्पादित नही होनी चाहिए। कल्पित कथा द्वारा साधारणीकरण अथवा रसोद्रेक यदि असभव नही तो कठिन अवश्य है। प्रसिद्धि के साथ-साथ आचार्यों ने सदाश्रयत्व का भी प्रतिवन्ध लगाया अर्थात् अन्त मे सत् की जय और असत् की पराजय का प्रदर्शन होना चाहिए। यह महाकाव्य का ही नही सभी काव्य-रूपो का काम्य है।

४ कथानक नाटक की पाँचो सधियो से युक्त होना चाहिए अर्थात् उसमे उतार-चढाव सम्यक् रूपेण होने चाहिए। और स्पष्ट शब्दो मे तात्पर्य यह कि कथा का विकास क्रमिक होना चाहिए—इससे तो नवीन-प्राचीन किसी भी विद्वान् का मतभेद नही हो सकता।

५ नायक उदात्त एव चतुर अर्थात् कार्यदक्ष होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे तात्पर्य आचार्य दण्डी का यह है कि नायक उदात्त एव सद्धर्म-परायण होना चाहिए। आगे चलकर विश्वनाथ ने इसे और भी स्पष्ट लिखा है—'धीरोदात्तगुणसमन्वित।'[2] केवल उदात्तता काम्य नही—क्योकि उदात्त तो रावण भी है। इसीलिए धीरता को भी आवश्यक ठहराया गया

---

१. वाङ्मय-विमर्श, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४०-४१

२. साहित्यदर्पण ६।३१६

जो कि राम मे ही है रावण मे नही। किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने धीरोदात्तता को कुलीन व्यक्तियो तक ही सीमित कर दिया है—

तत्रैको नायक सुर
सद्वश क्षत्रियो वापि ... ।[1]

इस प्रकार विश्वनाथ सुरत्व एव सद्वश के विना धीरोदात्त की परिकल्पना को पूर्ण नही मानते। अग्निपुराणकार तथा दण्डी की ओर से ऐसा कोई प्रतिवन्ध नही। कारण स्पष्ट है—विश्वनाथ के समय तक जातीय विचार वहुत दृढ हो चुके थे। श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए श्रेष्ठ कुल अनिवार्य माना जाता था।—और किसी हद तक यह ठीक भी है, वस्तुत —

यह विधि है विपरीत दशा मे कारण होगे अन्य
—मैथिलीशरण गुप्त

अर्थात् कुलीनता के अभाव मे भी उदात्तता रह सकती है—किन्तु यह अपवाद होगा नियम नही, तथापि कुलीनता को नियम वनाना व्यर्थ है। नायक के लिए केवल 'धीरोदात्त-गुणसमन्वित' ही काफी है—क्योकि जो धीरोदात्त होगा वह प्राय कुलीन ही होगा और यदि नही होगा तो वह अपवाद-स्वरूप होगा।

विश्वनाथ ने एक ही कुल के एकाधिक प्रतापी राजाओ को भी नायक माना है।[2] रघुवश के आधार पर उन्होंने ऐसा लिखा है किन्तु यह आदर्शरूप नही। क्योकि एकाधिक नायक होने से कथा विशृंखल हो जाएगी—सकलनत्रय निश्चित रूप से भग होगा। स्वय रघुवश मे भी वास्तविक नायक राम ही हैं—और सवका चित्रण उन्ही के चरित्र के परि-दर्शनार्थ हुआ है। महाभारत मे भी कुरुकुल का वर्णन आदि पुरुष से प्रारभ हुआ है—किन्तु नायक तो युधिष्ठिर ही है। तात्पर्य यह कि महाकाव्य मे नायक का वश-वृक्ष आ सकता है पर नायक अनेक नही हो सकते। अन्यथा किसी के भी चरित्र का पूर्ण विकास नही होगा और यह महाकाव्य मे एक दोष होगा।

६ महाकाव्य मे रस का अविरोध सचार होना चाहिए। अग्निपुराण मे सभी भावो एव रसो का समावेश अनिवार्य माना गया है।[3] किन्तु शर्त यह है कि कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए—विषयगत वैविध्य की अवस्थिति मे भी कोई एक प्रधान रस होना चाहिए, जिसमे कि सवका पर्यवसान हो।[4] स्पष्ट है कि अग्निपुराणकार किसी भी एक रस को एक-

---

१. साहित्यदर्पण ६।३१५-३१६

२. एकवंशभवा भूपा कुलजा वहवोऽपि वा—साहित्यदर्पण ६।३१६

३. सर्ववृत्तिप्रवृत्तं च सर्वभावप्रभावित—सर्वरीतिरसै स्पृष्टं पुष्टं गुणविभूषणै ।

4 One predominant sentiment, should run through the entire length of the poem, even in the midst of such a diversity of topics discussed therein

—A prose English Translation of Agni Puran Edited and Published by Manmath Nath Dutt Vol II edition 1904

सूक्ष्मता के निमित्त मुख्यता देने को तैयार हैं—किन्तु किसी विशिष्ट रस को नही जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने किया है। आचार्य विश्वनाथ शृगार, वीर एव शात मे से किसी एक को अगी तथा शेप सब रसो को अग-रूप मे चाहते हैं।[१] इन तीनो मे शृगार का काम अर्थात् जीवनेच्छा से, वीर का उत्साहमूलक होने के कारण जीवन के विकास से और शात का निर्वेदात्मक होने से जीवन के अन्तिम लक्ष्य से सहज सम्बन्ध है। इस प्रकार जीवन की मूलवृत्तियो एव परमपुरुषार्थों से सम्बद्ध होने के कारण इन तीन रसो को ही आचार्य विश्वनाथ ने अगी-पद प्रदान किया है—उनका यह निर्णय अनुभवसिद्ध अवश्य है, किन्तु सर्वथा निर्दोष नही। करुण को मुख्य रस न मानना अनुचित है। सभवत उन्होंने इसे शोकात अतएव अस्वस्थ मानकर छोड दिया परन्तु करुण का स्थायी वस्तुत शोक न होकर मानव-सुलभ सहानुभूति है। ऐसी उदात्त सामाजिक भावनासवलित करुण को भी अगी रस के रूप मे स्वीकार करना श्रेयस्कर ही होगा—आदि महाकाव्य (वाल्मीकि रामायण) का मुख्य रस भी तो करुण ही है।

७ धर्मार्थकाममोक्ष अर्थात् जीवन के पार्थिव तथा अपार्थिव फलो की प्राप्ति महाकाव्य का लक्ष्य होनी चाहिए। अग्निपुराणकार ने भी 'चतुर्वर्गफल'[२] इत्यादि मे महाकाव्य का यही लक्ष्य माना है—किन्तु साहित्यदर्पणकार चतुर्वर्ग मे से केवल एक को महाकाव्य का लक्ष्य मानते हैं—

चत्वारस्तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्[3]

पता नही आचार्य फल-चतुष्टय मे से कैसे केवल एक को महाकाव्य का लक्ष्य मान बैठे? भला केवल काम कैसे महाकाव्य का उद्देश्य हो सकता है? अथवा मात्र अर्थ को कौन महाकाव्य का ध्येय स्वीकार कर लेगा?—और फिर स्वय विश्वनाथ लिखते हैं—

चतुर्वर्गफलप्राप्ति. सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥[४]

जब काव्य मात्र का उद्देश्य 'चतुर्वर्गफलप्राप्ति' है तब उसी के एक विशिष्ट रूप—महाकाव्य का 'तेष्वेक च फल' कैसे हो सकता है? निस्सदेह महाकाव्य-सी महार्घ विधा का लक्ष्य एकान्त न होकर लौकिक तथा अलौकिक दोनो ही होना चाहिए—इसीलिए आचार्य दण्डी ने 'चतुर्वर्गफलोपेत' का निर्देश किया है।

८ प्रत्येक सर्ग मे भिन्न छन्द का प्रयोग होना चाहिए। प्रत्येक सर्ग का अपना पृथक् विषय होता है, अतएव उसके सम्यक् निरूपणार्थ तदुपयुक्त भिन्न छन्द की ही आवश्यकता है—किन्तु यदि किन्ही सर्गो के प्रतिपाद्य का कुशल अकन किसी एक ही विशिष्ट छन्द मे हो

---

१. शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते—साहित्यदर्पण ६।३१७
२. अग्निपुराणम्—काव्यादिलक्षणकथनं नाम अध्याय
३. साहित्यदर्पण ६।३१८
४. साहित्यदर्पण १।२

सके तो छन्द वदलने की भी आवश्यकता नही जैसे कि रामचरितमानसकार ने केवल दोहा-चौपाई मे ही सम्पूर्ण ग्रथ समाप्त कर दिया है—फिर भी उसका सौंदर्य अनिंद्य है। वस्तुत तुलसीदास वडे निपुण एव मर्मज्ञ कवि थे। उन्होंने चौपाई की अन्तिम मात्राओ को लघु-गुरु करके ही अनेक छन्दो का काम ले लिया है—यथावश्यकता अन्य को तो अपनाया ही है। हाँ, एक सर्ग मे एक ही छन्द का प्रयोग आवश्यक है। महाकाव्य के गाम्भीर्य के लिए यह नियम अनिवार्य है—वार-वार छन्द-परिवर्तन चाचल्य का द्योतक है जो कि महाकाव्य के लिए त्याज्य है। छन्द-परिवर्तन के आग्रह ने ही रामचन्द्रिका के महाकाव्यत्व पर अपरिहार्य आघात किया है।

विश्वनाथ ने सर्ग के अन्तिम दो-तीन छन्द वदलने की वात भी कही है।[1] वस्तुत यह कथा के मोड का सकेत करने के लिए है अर्थात् अगले सर्ग की कथा की सूचना देने के लिए है[2]—जिससे कि सर्गों की अन्विति और पाठक की उत्सुकता वनी रहे। किन्तु ये सव महाकाव्य के साधक तत्त्व हैं अनिवार्य अग नही—तात्पर्य यह कि साध्य के प्राप्त्यर्थ समर्थ कवि स्वेच्छानुसार इनमे परिवर्तन कर सकता है—महाकवि ऐसा करते भी रहे हैं। तव लक्ष्य ग्रथो को दृष्टि मे रखते हुए लक्षण ग्रथो मे भी सशोधन हो जाया करता है। प्रत्येक सर्ग मे एक छन्द की ही वात लीजिए—महाकवि माघ ने अपने शिशुपाल-वध के चतुर्थ सर्ग मे अनेक छन्दो का प्रयोग किया अतएव साहित्यदर्पणकार को व्यवस्था देनी पडी—

**नानावृत्तमय क्वापि सर्ग· कश्चन दृश्यते**[3]

किन्तु इस सवन्ध मे यह स्मरणीय है कि यह अपवाद है—नियम नही। यदि अपवाद को ही नियम बना लिया जाएगा तो जैसा कि पहिले ही निवेदन किया जा चुका है केशवकृत रामचन्द्रिका के समान वह ग्रथ खिलवाड वन जाएगा—वह महाकाव्य न रहकर पिंगल-ग्रथ होगा।

६ महाकाव्य मे सध्या-सूर्य, नगर-नदीश, सयोग-वियोग, पुत्र-कलत्र, सैर-शिकार आदि का यथास्थान सागोपाग वर्णन होना चाहिए। तात्पर्य यह कि जीवन और जगत् के वैविध्य का चित्रण अपेक्षित है—सभी अवस्थाओ एव परिस्थितियो का आलेखन आवश्यक है। आचार्य विश्वनाथ के शब्दो मे—

**सध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासरा ।**
**प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागरा ॥**
**सभोग विप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा ।**
**रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादय ॥**
**वर्णनीया यथायोग सागोपागा अमी इह ।**[4]

---

१. एकवृत्तमयै· पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकै —साहित्यदर्पण ६।३२०
२. सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाया सूचनं भवेत्—साहित्यदर्पण ६।३२१
३ साहित्यदर्पण ६।३२१
४. साहित्यदर्पण ६।३२२-३२४

१० काव्यादर्शकार ने तो नही पर साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य के नाम के विषय मे लिखा है कि उसका नाम कवि के नाम पर, वृत्त के अनुसार अथवा नायक (इसके अन्तर्गत नायिका भी परिगणित है) के नाम पर रखा जाता है—किन्तु कोई और नाम भी सम्भव है।[1] स्पष्ट है कि इससे वाहर कोई नाम हो ही नही सकता। पर इसे प्रासगिक होते हुए भी महाकाव्य का तत्त्व नही माना जा सकता।

अव सस्कृत साहित्यशास्त्र मे स्वीकृत महाकाव्य के वास्तविक तत्त्वो का सहज ही सधान किया जा सकता है —

मुख्य

१. कथावस्तु लोक-प्रख्यात, महदाकार तथा क्रमवद्ध होनी चाहिए।
२ नायक अथवा मुख्य पात्र धीरोदात्त अर्थात् धीरता, गभीरता तथा ओज आदि महनीय गुणो से सम्पन्न होना चाहिए।
३. शृगार, वीर, शान्त ( तथा करुण ) मे से कोई एक अगी तथा शेष सभी रस अग-रूप मे आने चाहिए।
४ महाकाव्य का लक्ष्य फल-चतुष्टय—धर्मार्थकाममोक्ष होना चाहिए।
५. शैली विस्तारगर्भा, नानावर्णनक्षमा, गाम्भीर्यपूरिता तथा अलकार-सज्जिता होनी चाहिए।

गौण

१ महाकाव्य सर्गवद्ध होना चाहिए।
२ सर्गों की सख्या आठ से अधिक होनी चाहिए।
३ प्रत्येक सर्ग मे एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए।
४. सर्ग के अन्तिम दो-तीन छन्द परिवर्तित और उनमे भावी कथा की ओर सकेत होना चाहिए।
५ सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोप, अन्धकार, मध्याह्न, मृगया, सग्राम, यात्रा, विवाह, मुनि, स्वर्ग, नगर आदि का वर्णन होना चाहिए।
६. महाकाव्य का आरम्भ मगलाचरण से होना चाहिए।

विदेश मे भी अपने ढग पर काव्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन हुआ—वहाँ महाकाव्य की समानान्तर विधा को एपिक पोइट्री (Epic Poetry) के नाम से अभिहित किया गया है। अरिस्टॉटल[2] (Aristotle) के अनुसार उसके मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—

1 It is narrative in form—massive and dignified
2 The plot manifestly ought to be constructed on dramatic principles

---

१ कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा—साहित्यदर्पण ६।३२४

2 The poetics of Aristotle edited with critical notes and a Translation by S H Butcher—Fourth edition pp 21-23 and 91-95

3 It is an immitation in verse of characters of a higher type.
4 It should have for its subject a single action, whole and complete, with a beginning, a middle and an end
5 It must be simple or complex or ethical or pathetic
6 Employs a single metre—stateliest and most massive.
7 The element of wonderful has wider (than drama) scope in epic poetry

१ काव्य की यह विधा विशालकाय, शालीन—किन्तु प्रकथनात्मक होती है। तात्पर्य यह नही कि महाकाव्य मे सवादो की योजना नही हो सकती वरन् कथोपकथन इसका अनिवार्य तत्त्व नही है। नाटक तो वार्तालाप के विना चल ही नही सकता परन्तु महाकाव्य मे ऐसी बात नही। हाँ, सौंदर्य-वर्द्धन के लिए कही-कही सवादो की अवतारणा उपादेय ही होगी। वस्तुत महाकाव्य नाटक की अपेक्षा प्रकथनात्मक होता है अतएव उसे (Narrative in form) कहा गया है। परवर्ती शताब्दियो मे विशालता एव गरिमा के अतिरिक्त राष्ट्रीयता के तत्त्व का भी समावेश हुआ अर्थात् महाकाव्य का कथानक राष्ट्र की ऐतिहासिक, पौराणिक गाथाओ पर अवलम्बित होना चाहिए।[1]

२ वस्तु का निर्माण नाटकीय सिद्धान्तो पर होना चाहिए—आचार्य विश्वनाथ ने भी 'सर्वे नाटकसधय'[2] मे यही बात कही है। अभिप्राय यह कि कथा का विकास क्रमिक होना चाहिए। देश-विदेश के सभी आचार्यों ने प्राय नाट्यकला का विवेचन महाकाव्य से पहिले किया है। इसीलिए महाकाव्य की वस्तु का विश्लेषण करते समय पुनरुक्ति के निवारणार्थ नाटकीय वस्तु के नियमो का उल्लेख कर देते हैं। पौरस्त्य तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे इसी कारण महाकाव्यगत वस्तु के क्रमश विकास के लिए एक ही शब्दावली का प्रयोग हुआ है।

३ इसमे श्रेष्ठ पात्रो का पद्यात्मक वर्णन होता है—अर्थात् महाकाव्य के पात्र, कम से कम विजयी पात्र, गुण-सम्पन्न होते हैं। अपने यहाँ इसी को धीरोदात्त कहा गया है।

४. महाकाव्य का विषय एक होना चाहिए—इसमे वैविध्य रह सकता है पर उसके तल मे एकता का सूत्र अनुस्यूत रहना चाहिए। अन्यथा कथा के विश्रृङ्खल होने की आशका है। इसीलिए अरिस्टॉटल कहते हैं कि कथा के आदि, मध्य और अवसान स्पष्ट होने चाहिए

---

1 (i) The Prime material of the epic poet, then must be real and not invented

—The Epic by Abercrombie
Edition 1922, page 55

(ii) (Epic Poet) is bound to the past, in one way, it is laid upon him to tell the stories of the greatmen of his own race

—Epic and Romance, W P Ker
Edition 1926, page 25

२. साहित्यदर्पण ६।३१७

अर्थात् कथा विस्तृत होने पर भी सुश्रृंखल होनी चाहिए।

५ यह सरल (simple), जटिल (complex), भावप्रवण ( pathetic ) अथवा नैतिक (Ethical) होगी। यहाँ अरिस्टॉटल ने दो बातो—कथा के प्रकार और उद्देश्य को मिला दिया है। जहाँ कथा स्पष्ट और द्विधारहित होगी वह सरल—और जहाँ पर सशय एव आकस्मिकताजन्य कुतूहल का आविर्भाव होगा वह जटिल होगी। भारतीय आचार्यों ने इस प्रकार का कोई भेद नही किया।

महाकाव्य का उद्देश्य होगा नैतिक सत्यो की स्थापना अथवा भावोद्दीपन। नैतिकता तथा भावोद्दीपन विरोधी नही है—एक के भाव मे दूसरे का अत्यन्ताभाव नही है। पर प्रश्न प्राधान्य का है। जिस महाकाव्य में नीति पर अधिक वल दिया जाएगा वह नीति-प्रधान और जिसमे भावना पर अधिक बल दिया जाएगा वह भाव-प्रधान होगा। वैसे ये दोनो ही तत्त्व एक-दूसरे के प्रतियोगी न होकर सहयोगी हैं। पौरस्त्य काव्यशास्त्र मे दोनों का ही मणिकाचन सयोग है—आचार्य दण्डी के 'रसभावनिरन्तरम्' तथा 'चतुर्वर्गफलोपोत' इसके साक्षी है।

६ आद्यत एक ही प्रवल तथा उदात्त छन्द का व्यवहार होता है। विषय की गौरव-गरिमा तथा गाम्भीर्य के रक्षणार्थ यह अत्यन्तावश्यक है। तथापि सम्पूर्ण काव्य मे एक ही छन्द से काम चलाना—एक ही वृत्त मे समग्र भावभगिमाओ की कुशल अभिव्यक्ति तुलसीदास अथवा होमर जैसे समर्थ कवियो के ही बूते की बात है। अतएव भारतीय आचार्य ने कई छन्दो के प्रयोग की अनुमति दे दी हैं, किन्तु उसके अनुसार भी कम से कम एक सर्ग अथवा खण्ड मे तो एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए। क्योकि कई वृत्तो के मिश्रण से तो वस्तु-सौंदर्य ही नष्ट हो जाएगा।

७ अतिमानवी-तत्त्वो के सयोजन को भी विदेश मे महाकाव्य का अग मान लिया गया है—किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। इसके विना भी महाकाव्य की रचना हो सकती है पर किसी महाकाव्यकार ने ऐसा प्रयास नही किया है।[1] इसका कारण भी स्पष्ट है—महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक-पौराणिक होता है। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर लोकप्रसिद्ध व्यक्तियो मे अतिमानवीय शक्तियो का आरोप कर दिया जाता है—कृतज्ञ मानवता इसी प्रकार अपने उद्धारको से उऋण होती है। परिणामस्वरूप महाकाव्यो मे अतिमानवीयता का समावेश हो जाता है। भारतीय आचार्यों के इस प्रकार का कोई तत्त्व न मानने पर भी भारतीयो के सभी महाकाव्यो मे इसका समावेश है।

तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि पौरस्त्य एव पाश्चात्य दृष्टिकोणो मे कोई तात्त्विक अन्तर नही है—दोनो ने शब्द-भेद से एक ही बात कही है। दोनो का साध्य निश्चित रूप से एक ही है—यदि कुछ मत-भेद है तो केवल साधनो के विषय मे—विशेषतः

---

1 Very few epic poets have ventured to do without supernatural machinery of some sort

—The Epic, Abercrombie

साधनो की वर्णन-शैली मे। सारत महाकाव्य के सर्वस्वीकृत लक्षण अधोलिखित हैं—

१ महाकाव्य एक बृहत्काय, विशद एव व्यापक काव्य होता है। इसकी कथावस्तु महान्, ऐतिहासिक, क्रमवद्ध, सरस, सजीव तथा वैविध्यपूर्ण होनी चाहिए। और स्पष्ट शब्दो मे महाकाव्य मे व्यष्टि का जीवन न होकर समष्टि के जीवन का अन्तरग-बहिरग होना चाहिए।

२ इसके प्रमुख पात्र धीरोदात्त अर्थात् धीरता, गभीरता तथा ओजसम्पन्न होने चाहिए।

३ पार्थिव तथा पारमार्थिक जीवन-पुरुषार्थों की उपलब्धि महाकाव्य का उद्देश्य होता है।

४. महामहिम प्रतिपाद्य के अनुरूप शैली भी अत्यन्त शालीन, विभूतिमति तथा गरिमावरिष्ठ होनी चाहिए।

# मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य : मूल धारणाएँ

सिद्धान्त रूप मे मैथिलीशरण जी ने कही किसी प्रसग मे भी इस काव्य-रूप के विषय मे अपने विचार प्रकट नही किए हैं। किन्तु उन्होंने महाकाव्यो का प्रणयन अवश्य किया है—साकेत और जय भारत निश्चित रूप से महाकाव्य हैं। इन दोनो के आधार पर उनकी महाकाव्य सम्बन्धी धारणाओ की कल्पना की जा सकती है। इनमे बाह्य रूप-रचना की दृष्टि से असमानता होने पर भी मूल अन्तर्तत्त्वो मे विशेष भेद नही है। इनकी वस्तु, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य और रस-व्यजना आदि मे सूक्ष्म मौलिक साम्य है।

## वस्तु

किसी साहित्यिक कृति के कथानक को वस्तु अथवा कथावस्तु कहा जाता है। महाकाव्य अन्तत कथा-काव्य है—वस्तु उसका महत्वपूर्ण अग है। इसीलिए स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने काव्य की इस विधा की कथावस्तु का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध होनी चाहिए। कवि को अपनी कल्पना शक्ति के उपयोग का अधिकार अवश्य है—किन्तु उसकी कथा सर्वथा उत्पादित नही होनी चाहिए। क्योकि कल्पित कथा द्वारा साधारणीकरण अथवा रसोद्रेक अपेक्षाकृत कठिन हो जाते हैं। अतएव मैथिलीशरण महाकाव्य के लिए सुविख्यात कथानक ही अपनाते हैं।

## मूल-स्रोत

राम एव युधिष्ठिर आदि के पावन चरित न जाने कब से प्रचलित हैं—रामायण और महाभारत भारतवर्ष के दो श्रेष्ठ और समादृत महाकाव्य हैं। सहस्रो वर्ष उपरान्त आज भी इनका महाकाव्यत्व अक्षुण्ण है। गुप्त जी ने इन चिरपुरातन महाकाव्यो के कथानको को ही वस्तु-रूप मे ग्रहण किया है—अन्य ऐतिहासिक एव पौराणिक कथाओ को नही। कारण स्पष्ट है—ऐतिहासिक कथाओ मे कवि का अभीष्ट आदर नही है और पौराणिक गाथाएँ

इतनी प्रतीकात्मक हैं कि उनमे ऐहिक जीवन की कर्मण्यता का अभाव है। दिव्य जीवन का आदर्श और ऐहिक जीवन की कर्मण्यता—इन दोनो का समन्वय उपलब्ध है रामायण तथा महाभारत मे अतएव मैथिलीशरण केवल इन दो कथानको को महाकाव्य के उपयुक्त मानते हैं।

## परिमाण और प्रभाव

रामायण और महाभारत की वस्तु को ग्रहण करने का दूसरा कारण है उनका विपुल परिमाण और पुष्कल प्रभाव। महाकाव्य की कथा वृहदाकार तथा सप्रभाव होनी चाहिए। गुप्त जी के महाकाव्यो की वस्तु भी अत्यन्त विशद एव विशाल है। साकेत मे स्पष्ट रूप से लक्ष्मण-उर्मिला एव राम-सीता के दो सम्बद्ध पर भिन्न कथानको का अन्तर-आयोजन हुआ है—कवि ने इन दोनो को एक ही मे समाहित करने का प्रयास किया है। इतना जटिल कथानक स्वय वाल्मीकि एव तुलसी ने भी नही अपनाया था। जय भारत मे भी यही हुआ है—महाराज नहुप के वृत्तान्त से लेकर पाण्डवो के स्वर्गारोहण तक की एक भी वात छूटने नही पाई है। महाभारत पर आधृत—किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध—आदि जितने भी महाकाव्य आज तक लिखे गए हैं उन सवमे इस कथा के किसी एक अश को ही वस्तु-रूप मे अपनाया गया है। किन्तु जय भारतकार ने उसे समग्र रूप मे ग्रहण करने का प्रयास किया है।—और प्रभावक्षमता तो इन कथानको की निर्विवाद ही है। भारतीय जनमानस पर साकेत के आधार रामायण का प्रभाव स्वयसिद्ध है। उधर जय भारत के मूल-स्रोत महाभारत को पचम वेद अथवा भारतीय सस्कृति का विश्वकोप तक माना जाता है। मैं समझता हूँ इनके प्रभूत प्रभाव की सिद्धि के लिए किसी साक्षी की आवश्यकता नही। इस प्रकार मैथिलीशरण महाकाव्यो के लिए अत्यन्त लोक-प्रसिद्ध, विस्तृत तथा प्रभावक्षम वस्तु का चयन करते हैं।

## मूलवर्ती दृष्टिकोण

पूर्वोक्त दोनो कथाएँ भारतवर्ष मे शताब्दियो से गाई जा रही हैं—और प्रत्येक युग अपने विश्वासो एव मान्यताओ के अनुसार उनमे परिवर्तन-परिवर्द्धन करता आया है। गुप्त जी ने भी उनमे युगधर्म की प्रतिष्ठा की है। वे जहाँ भी जाते हैं अपने युग का वातावरण लेकर जाते हैं। उनके महाकाव्यो मे वर्तमान युग के विचार-व्यवहार का समावेश हुआ है—साकेत मे राम वन-प्रयाण के अवसर पर अयोध्यावासी उनके रथ के आगे लेट जाते हैं।[1] इसी प्रकार जय भारत के नहुप पतन के समय भी मानवोत्यान के विश्वासी हैं।[2] भारतेन्दु युग मे आरब्ध तथा द्विवेदी-काल मे परिपुष्ट जनजागरण के प्रभाव से हमारे देश मे व्यापक राज-नैतिक सजगता ही नही बौद्धिक उद्वोधन भी हुआ। श्रद्धा की अपेक्षा वैज्ञानिकता की ओर झुकाव हुआ। फलस्वरूप प्राचीन कथानको का बौद्धिक व्याख्यान किया गया। स्वाभाविक

---

१. साकेत, सस्करण सम्वत् २००५, पृष्ठ ८९

२. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १४

तथा विवेकसम्मत घटना-विधान की प्रवृत्ति बढी और मानवीयता एव राष्ट्रीयता का समावेश किया जाने लगा। मैथिलीशरण भी अतिप्राकृत तत्व का निराकरण कर वस्तु को तर्कसगत रूप प्रदान करते हैं। अतएव उनके महाकाव्यो मे राम और कृष्ण की अलौकिक शक्तियो का प्रयोग प्राय नही है। हरण से पूर्व साकेत की सीता अग्नि-प्रवेश नही करती, और न ही जय भारत में पद्मनालस्थित इन्द्र के पास उपश्रुति के साथ इन्द्राणी के जाने का उल्लेख है। मानवीयता एव राष्ट्रीयता आदि की प्रतिष्ठा के लिए भी उन्होंने काफी परिवर्तन किए हैं जय भारत की हिडिम्बा राक्षसी होने पर भी काम-पीडा की दुहाई नही देती, राम पर आपत्ति का समाचार सुनते ही शत्रुघ्न सेना-सकलन करते है।[1] किन्तु गुप्त जी दीर्घ परम्पराओ एव विश्वासो की अवहेलना सहज ही नही कर पाते। वे कथानक को विवेकसम्मत रूप भी देना चाहते हैं और परम्परागत विश्वासो की रक्षा भी। वे श्रद्धा एव नवीन दृष्टिकोण के समन्वय का प्रयत्न करते हैं। जय भारतकार के युधिष्ठिर द्रौपदी-पचपत्नीत्व समस्या का समाधान करते है—

> बोले धर्मात्मज धृतिशाली
> वर पार्थ वधू है पाचाली
> दो वर ज्येष्ठ का पद पावें
> दो देवरत्व पर बलि जावें
> भोगें यों पाँचों सुख इसका।[2]

इस प्रकार कवि का श्रद्धा-समन्वित सस्कारी हृदय युग-युगान्तरो के विश्वास की अवहेलना नही कर सका है। निदान व्यासकृत व्यवस्था ही स्वीकार करनी पडती है और उसकी पुष्टि मे प्रसिद्ध पौराणिक कल्पना।[3] साकेत मे हृदय और बुद्धि का, विवेक और सस्कारिता का तथा श्रद्धा और नवीन दृष्टिकोण का यह समन्वय और भी स्पष्ट है।

### नूतन उद्भावनाए

विवेकसम्मत घटना-विधान, मानववाद की प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रीयता आदि के कारण ही गुप्त जी के महाकाव्यो मे अनेक उद्भावनाए हुई हैं जिनमे से सक्षेपत कुछ इस प्रकार हैं —

#### १ अयोध्यावासियो को शस्त्र-सज्जा

हनुमान द्वारा लक्ष्मण के शक्ति-प्रहार से मूर्च्छित होने की बात श्रवण कर शत्रुघ्न शख बजा देते हैं। अयोध्या मे आशका की लहर-सी दौड जाती है, और तब सम्पूर्ण अयोध्या लका-प्रयाण को प्रस्तुत हो जाती है। यह प्रसग राम-काव्य के लिए अपरिचित है—किन्तु राष्ट्रीय भावनाओ से ओतप्रोत कवि के लिए सर्वथा अनिवार्य! वाल्मीकि रामायण मे तो

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३०५, ३०६

२. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ११०

३. कहते हैं पांच बार वर था महेश का

—जय भारत, प्र० स०, पृष्ठ ११०

यह प्रश्न ही उपस्थित नही होता—वहाँ तो न हनुमान सजीवनी लाते हैं और न अयोध्या-वासियो को इस आपत्ति का समाचार मिलता है। किन्तु रामचरितमानस के भरत इस तथ्य से अवगत होकर भी तटस्थ हैं। यद्यपि उन्हें इसका शोक काफी है—

अहह देव मैं कत जग जायउं।
प्रभु के एकहु काज न आयउ ॥[१]

तथापि वे हैं सर्वथा निश्चेष्ट। तुलसीदास हनुमान के मुख से भरत की रामभक्ति का गुणगान करते हुए उसके लका-प्रस्थान का उल्लेख कर—

भरत-बाहु-बल-सील-गुन प्रभु-प्रद-प्रीति अपार।
जात सराहत मनहि मन पुनि पुनि पवन कुमार ॥[२]

सीधे लका-स्थित राम-लक्ष्मण का वर्णन करने लगते हैं—

उहा राम लछिमनहि निहारी।
बोले वचन मनुज अनुसारी ॥
अर्धराति गइ कपि नहि आयउ।
राम उठाइ अनुज उर लायउ ॥[3]

कितनी असगत बात है कि जिसका वियोग भरत तथा अन्य अयोध्यावासियो को असह्य है उसी प्रिय राष्ट्रनायक को आपद्ग्रस्त देखकर भी वे लोग निष्क्रिय हैं। स्वय तुलसीदास अपनी गीतावली के इसी प्रसग मे सुमित्रा से शत्रुघ्न को लका-प्रयाण का आदेश दिलाते हैं और वे भी अपने को धन्य मानते हैं—

तात ! जाहु कपि सग रिपुसूदन उठि करि जोरि खरे हैं।
पमुदित पुलकि पैत पूरे, जनु विधिवस सुढर ढरे हैं ॥[४]

किन्तु इस आज्ञा का परिपालन कही दृष्टिगत नही होता (कदाचित् प्रवन्धकाव्य न होने के कारण)। लका-प्रस्थान की निष्पत्ति तो साकेत मे भी नहीं होती पर वहाँ तर्कसगत समाधान तो है—

शान्त, शान्त ! सब सुनो कहाँ जाते हो ठहरो,
लका विजितप्राय, तनिक तुम धीरज धारो ॥[५]

—वसिष्ठ

इसके पश्चात् मुनि वसिष्ठ अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा लका का दृश्य दिखा सबका रोष-शमन करते हैं। इस प्रकार कवि ने बडी योग्यता से इस असगति का निवारण किया

---

१. रामचरितमानस—लंकाकाण्ड, पृष्ठ ८८३ (ना० प्र० स० सं०)
२. रामचरितमानस—लकाकाण्ड, पृष्ठ ८८३ (ना० प्र० स० सं०)
३. ,, ,, ,, ८८४ (,, ,, ,, ,,)
४. गीतावली—लंकाकाड
५. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३१६

है।—और अयोध्यावासियो मे वाछित राष्ट्रीयता की स्थापना की है। भरत तो सीता के लका-निरोध को भारत-लक्ष्मी का वन्धन ही मानते है—

भारत-लक्ष्मी पडी राक्षसो के वन्धन मे।
सिन्धु पार वह विलख रही है व्याकुल मन मे ॥[1]

यहाँ स्पष्टत समकालीन प्रभाव है—यह तत्कालीन भावना कदापि नही हो सकती।

## २ द्रौपदी-चीरहरण

*यह महाभारत का अत्यन्त लोमहर्षक प्रसग है। सभाभवन मे पचपाडवो की धर्मपत्नी* पाचाली को नग्न करने का प्रयत्न क्या कोई छोटी-सी वात है? यह जघन्य कर्म गुरुजनो के समक्ष होता है अत उसकी भीषणता और भी वढ जाती है। फिर द्रौपदी की लज्जा की रक्षा भी अस्वाभाविक ढग से ही होती है। द्रुपदसुता भगवत्-स्मरण करती है—धर्म कपडा वनकर वढने लगता है। धर्म-प्रताप और कृष्ण-कृपा से वह चीर समाप्त नही होता।[2] कपडा खीचते-खीचते जव दु शासन थक जाता है तव लज्जित होकर वैठ जाता है। गुप्त जी ने इस प्रसग की भीषणता और अस्वाभाविकता को दूर करने का सफल प्रयत्न किया है। सर्वप्रथम तो उस धिक्कृत सभा से उन भीष्म, द्रोण और विदुर को हटाया जो क्रुद्ध भीमसेन को तो शान्त करते हैं—

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षम्यतामिदमित्येव सर्वं सभाव्यते त्वयि ॥[3]

—किन्तु दुष्कर्मा दु शासन को रोकने मे असमर्थ हैं। एक ओर तो इससे उन पुण्यात्माओ के आत्म-सम्मान एव गौरव की रक्षा होती है और दूसरे इस घोर कर्म की भीषणता भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है। अतिप्राकृत तत्त्व का भी सप्रयत्न निराकरण हुआ है। जय भारत मे भी द्रौपदी भगवान् का स्मरण तो करती है पर उससे उनका कपडा नही वढता। वरन् वे दु शासन की प्रतारणा करती हैं और तव—

सहसा दु शासन ने देखा अन्धकार-सा चारो ओर
जान पडा अम्वर-सा वह पट जिसका कोई ओर न छोर
आकर अकस्मात् अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया
कर जड हुए और पद कापे, गिरता-सा वह वैठ गया ॥[4]

*अपनी वात को और अधिक विश्वसनीय वनाने के लिए कवि वहाँ गाधारी को भी* उपस्थित करता है जिससे—

चौंक संभल कर पाप-सभा ने पुन सभ्यता-सी पाई।[5]

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २९७
२. महाभारत, सभापर्व ६८।४६-४८
३. महाभारत, सभापर्व ७०।१८
४. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १३८
५. " " " " " "

३. कृष्ण दौत्य

कृष्ण पाण्डवो की ओर से सन्धि-सदेश लेकर जाते हैं—किन्तु दुर्मति दुर्योधन किसी प्रकार भी नही मानता वरन् दूतवेषधारी कृष्ण को वन्दी बनाने का अवैध कर्म करने को उद्यत होता है। तव वे अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं। उनके शरीर से ज्योतिष्पुञ्ज तथा अगूठे के बराबर देवता निकलने लगते हैं। उनके मस्तक पर ब्रह्मा, वक्षस्थल पर रुद्र दृष्टिगत होते हैं, यही नही युधिष्ठिर, भीमार्जुन, नकुल-सहदेव और बलराम भी शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित दिखाई देने लगते हैं।[1] कृष्ण के नेत्रो, नासिका-रन्ध्रो और कानो से सधूम अग्नि निकलने लगती है—

नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्तत ।
प्रादुरासन्महारौद्रा सधूमा पावकार्चिष ॥[2]

उनके इस रूप के दर्शन कर भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर, सजय और तपस्वियो के अतिरिक्त सब डर जाते हैं। कृष्ण षोडश कला अवतार हैं—फिर भी जब उन्होंने मानवावतार लिया है तो कर्म भी मानवीय ही करने होगे। वे महामानव भले ही बन जाए—किन्तु मानवेतर नही। उक्त प्रसग को हृदयगम करने के लिए अध-विश्वास अथवा अतर्क्य श्रद्धा की अपेक्षा है। आज का पाठक इसे गले से उतारने मे असमर्थ है। अत जय भारतकार ने इसे विवेक-सम्मत रूप देकर प्रस्तुत किया है—

दुर्योधन की ओर न जाने देखा कैसे
परिकर समेत वह कांप कर वहीं लडखडाता रहा
वे गये विदुर के गेह, वह बैठ बडबड़ाता रहा ।[3]

यह विवरण अत्यन्त सक्षिप्त होने पर भी बुद्धि-सगत एव मनोवैज्ञानिक है।

४ चित्रकूट की सभा मे कैकेयी का सफाई पेश करना

वाल्मीकि और तुलसी दोनो ही दुष्कर्मा कैकेयी को अपनी बात कहने का पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं देते। भरत द्वारा उसकी प्रतारणा अवश्य कराई जाती है—

सा त्वमग्नि प्रविश वा स्वय वा विश दण्डकान् ।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत्परायणम् ॥[4]

तुलसी की कैकेयी ग्लानि-गलित भी है किन्तु उसे कुछ बोलने का मौका नही दिया जाता। वह मृत्यु का आवाहन तो करती है पर राम मे प्रत्यावर्तन का आग्रह नही।[5] गुप्त जी

---

१ महाभारत, उद्योगपर्व १३१।४-६
२ महाभारत, उद्योगपर्व १३१।१२
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३२४
४ वाल्मीकीय रामायण—अयोध्याकाण्ड ७४।३३
५ अवनि जमहि जाचति कैकेई ।
  महि न बीचु बिधि मीचु न देई ॥ रामचरितमानस—अयोध्या काण्ड

सर्वप्रथम उसे अपनी सफाई पेश करने का सुयोग प्रदान करते है—

हा जन कर भी मैंने न भरत को जाना
सब सुन लें तुमने स्वय अभी यह माना
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया
अपराधिन मै हूँ तात तुम्हारी मैया ॥[1]

इस प्रकार मानववादी कवि ने प्रायश्चित्त के द्वारा कैकेयी के दोप-परिहार का प्रयत्न किया है।

इनके अतिरिक्त वक-सहार, नहुप, हिडिम्वा आदि खण्डो से सवद्ध उद्भावनाएँ भी उल्लेखनीय हैं किन्तु उनका आलेखन मैं पहले ही कर चुका हूँ। ये नूतन कल्पनाए गुप्त जी के महाकाव्यो को मौलिकता प्रदान करने मे सहायक हैं।

## मौलिकता

वास्तव मे किसी भी काव्य के लिए मौलिकता अनिवार्यत अपेक्षित है। इसके अभाव मे रचना की सम्पूर्ण साज-सज्जा, उसका समग्र भाव-वैभव व्यर्थ है।—और फिर मैथिलीशरण के कथानक तो वहुश्रुत थे। यदि कवि नूतन रूप न दे पाता तो उन्हे वार-वार कौन पढता ? यद्यपि सस्कारी कवि मैथिलीशरण गुप्त के हृदय मे प्राचीनता के प्रति महती श्रद्धा है तथापि उनके दोनो महाकाव्य मौलिक हैं। सर्वप्रथम तो उनमे मौलिकता है राष्ट्रीय-मानवीय दृष्टिकोण की जिसके कारण कि आदर्श एव विवेक-सम्मत घटना-विधान हुआ है। दूसरे कवि मूल कथानक के रस मे परिवर्तन भी करता है। वाल्मीकीय रामायण का मुख्य रस करुण और रामचरितमानस का प्रधान रस शान्त है—किन्तु साकेत का अगी रस इन दोनो मे से कोई न होकर शृङ्गार है। इसी प्रकार महाभारत का प्रधान रस शान्त माना जाता है पर गुप्त जी के जय भारत का मुख्य रस वीर है। यह रस-परिवृत्ति विशेष चमत्कार की उत्पादक एव उत्कृष्ट कवित्व शक्ति की परिचायक है। प्रबन्धवक्रता का यह श्रेष्ठ रूप है। प्रबन्धवक्रता के साथ-साथ इन काव्यो मे प्रकरणवक्रता भी विद्यमान है। गुप्त जी बडी योग्यता से नीरस का त्याग करते हैं लकाकाण्ड के चिर-परिचित इतिवृत्त का सक्षेपण तथा जय भारत मे आदिपर्व की अधिकाश घटनाओ की उपेक्षा इसी कारण हुई है। इसके विपरीत वे रसपेशलता के निमित्त मूल मे अविद्यमान प्रकरणो की परिकल्पना करते हैं। उदाहरणत उर्मिला-लक्ष्मण प्रेम-परिहास, उर्मिला-विरह, भरत-माण्डवी सवाद आदि रामकाव्य के लिए नूतन प्रसग हैं। और कुन्ती मे सहज मातृहृदय एव हिडिम्वा मे नारी स्वभाव की स्थापना आदि महाभारत के लिए सर्वथा अपरिचित प्रकरण हैं। किन्तु रस-सचार में समर्थ होने के कारण महाकाव्यो को अपूर्व दीप्ति एव मौलिकता प्रदान करते हैं और पूर्वोल्लिखित उद्भावनाएँ तो नूतन अतएव मौलिक हैं ही। इसके अतिरिक्त कवि घटनाओ के क्रम मे भी परिवर्तन करता है। महाभारत मे नहुष-चरित अधिकाशत

[1] साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७८

उद्योगपर्व के अन्तर्गत आता है पर जय भारत मे उसे सर्वप्रथम स्थान मिला है। साकेत मे यह व्यतिक्रम और भी अधिक है। रामायणो के बालकाण्ड की कथा उसके दशम सर्ग मे आती है—उर्मिला स्मृति-रूप में सरयू को पूर्वकथाएँ सुनाती है। इस प्रकार गुप्त जी विश्व-विख्यात एव परम्परागत कथानकों मे भी मौलिकता के दुष्कर समावेश मे कृतकार्य हैं। और यह कृतकार्यता निश्चित रूप से उनकी सफल प्रवन्ध-कल्पना की परिचायक है।

## वस्तु-सघटना

मौलिकता के साथ ही कथानक की क्रमबद्धता भी अनिवार्य है। महाकाव्य चाहे घटना-प्रधान हो और चाहे चरित्र-प्रधान उसमे वस्तु का विशेष महत्व है अतएव स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने उसकी सघटना की ओर विशेषत ध्यान आकृष्ट कराया है। कथानक की सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि उसके आदि, मध्य, अवसान स्पष्ट हो। और सपूर्ण घटनाएँ एक ही मुख्य घटना मे पर्यवसित हो जाएँ। आलोच्य कवि के महाकाव्यों मे सर्वथा स्पष्ट न होने पर भी आदि, मध्य एव अवसान का सन्धान असभव नही। साकेत के प्रथम आठ सर्गों को आदि, नवम और दशम को मध्य तथा शेष दो को अवसान के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। इसी तरह जय भारत में नहुष से लेकर लक्ष-वेध तक के १२ प्रकरणो को आदि, इन्द्रप्रस्थ से वृहन्नला तक के १७ खण्डो को मध्य और शेष कथा को अवसान मान सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि सम्पूर्ण कथा की व्यवस्था का बरावर ध्यान रखता है। साथ ही वह घटना-ऐक्य को अनिवार्यत अपेक्षित मानता है। उसके दोनो महाकाव्य मेरे इस कथन के साक्षी हैं। साकेत का मुख्य कार्य है लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन—प्राय सब घटनाएँ उसी से सवद्ध हैं। प्रथम सर्ग का प्रेमालाप बाद के विरह की तीव्रानुभूति मे सहायक है। मथरा-कैकेयी सवाद, और फिर राम-वनवास तो वियोग के कारण हैं ही। इसके पश्चात् भरतागमन वर्णित है जिससे कि चित्रकूट-सभा का आयोजन होता है—उस आयोजन से एक बार आशा होती है कि शायद राम और उनके साथ ही लक्ष्मण लौट आएँ। नवम-दशम सर्गों मे उर्मिला-विरह है जो उसकी प्रेमानुभूति का व्यजक है। शेष दो सर्गो मे लका-युद्ध का कथन है—जिसमे विजय-प्राप्ति पर लक्ष्मण-उर्मिला का सयोग निश्चित है। अन्त मे दोनो के मिलन पर पुस्तक समाप्त होती है। उधर जय भारत का कार्य है दुर्योधन पर युधिष्ठिर की विजय। उसमे प्रथम चार प्रकरण युधिष्ठिर एव दुर्योधन की वश-परम्परा के परिचायक हैं। पचम खण्ड बन्धु-विद्वेष मे वर्णित कौरवो और पाण्डवो का जन्मजात वैरभाव जय भारत के कार्य का प्रवर्त्तक है ही। द्रोणाचार्य और एकलव्य प्रसङ्गो मे दुर्योधन का द्वेष और भी स्पष्ट हो जाता है। इसके आगे की मुख्य घटनाओ—परीक्षा के अवसर पर अप-मानित कर्ण से दुर्योधन की मित्रता, द्रोण द्वारा अनादृत द्रुपद की तपस्या मे द्रौपदी और धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति तथा लाक्षागृह प्रसग आदि का युद्ध से सहज सम्बन्ध है। लक्ष-वेध, इन्द्रप्रस्थ-स्थापन, एव राजसूय से दुर्योधन के मन मे ईर्ष्या होती है जिससे द्यूत का आयोजन होता है—यह द्यूत ही तो कलह-मूल है। वनवास मे पाण्डव दिव्यास्त्र प्राप्त करते हैं, अनेक कष्ट भोगते हैं—इनसे युद्ध निश्चित हो जाता है। फिर भी दूत भेजे जाते हैं, कृष्ण शान्ति-सदेश

लेकर जाते हैं—किन्तु सब निष्फल। यह असफलता भी युद्ध से सबद्ध है। युद्ध होता है और उसके परिणामस्वरूप ही बाद मे हत्या, विलाप तथा पाण्डवो मे विरक्ति की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार जय भारत का मुख्य कार्य महाभारत का युद्ध ही है, और प्राय अन्य सभी घटनाएँ उससे सबद्ध हैं।

घटना की एकता का विशेष ध्यान रखने के कारण उक्त महाकाव्यो मे घटना-ऐक्य सिद्ध तो होता है—किन्तु सर्वथा निर्दोष नही। बहुत से प्रसगो का मनोयोगपूर्वक अकन होने पर भी कार्य से सहज सम्बन्ध नही है, जैसे साकेत मे दशरथ-मरण, भरत-आगमन, गुहराज-मिलन, चित्रकूटस्थ राम-सीता की गृहस्थी का वर्णन आदि प्रत्यक्षत मुख्य कार्य से सम्बद्ध नही हैं। जय भारत के बक-सहार, द्रौपदी और सत्यभामा, सैरन्ध्री आदि खण्डो की भी यही दशा है। सर्वप्रथम अध्याय नहुष का अनपेक्षित विस्तार भी खटकता है। नहुष निस्सदेह कुरुकुल के पूर्वपुरुष हैं अत वश-वृक्ष-आलेखन के नाते उनका सक्षिप्त विवरण अवश्य आ सकता था—१३ पृष्ठ का आख्यान-प्रणयन नही। स्वरचित प्रबधो मे इन त्रुटियो की अवस्थिति मे भी गुप्त जी का प्रयास यही रहता है कि प्रत्येक घटना मुख्य कार्य मे बाधक अथवा साधक बनकर आए उससे सर्वथा असम्पृक्त नही। इसके निराकरणार्थ ही तो उन्होने रामायणो के बालकाड की कथा का प्रारम्भ मे अकन न कर उर्मिला-स्मृति रूप मे उपयोग किया है। और महाभारत के आदिपर्व के प्रारभिक कई प्रसगो का सर्वथा त्याग ही कर दिया है।

वस्तु-सघटना के विषय मे यह भी उल्लेख्य है कि मैथिलीशरण महाकाव्य मे स्थान-ऐक्य को अनिवार्य नही मानते। चौबीस-पच्चीस वर्ष पूर्व अर्थात् साकेत की रचना के समय तो वे इसे भी आवश्यक समझते थे। इसीलिए साकेत मे बलात् स्थल-ऐक्य सिद्ध किया था—उसके लिए सम्पूर्ण साकेत समाज को चित्रकूट उठा ले गए थे।[1] किन्तु अब उनकी इस धारणा मे परिवर्तन हो गया है। आज वे महाकाव्य के लिए स्थान-ऐक्य को अनिवार्यत आवश्यक नही मानते। जय भारत इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

## रोचकता और औत्सुक्य

किसी भी कथाश्रित काव्य के लिए रोचकता परम अपेक्षित गुण है जिससे उसमे पाठक की उत्सुकता बनी रहे।—और रोचकता का आधार है कौतूहल। आद्यत कौतूहल बनाए रखने के लिए मैथिलीशरण पर्याप्त प्रयत्न करते हैं। साकेत एव जय भारत के चिर-परिचित कथानको मे कौतूहल की प्रतिष्ठा दुस्साध्य थी। किन्तु हमारे कवि ने अपनी मौलिक उद्भावनाओ एव नवीन व्याख्याओ द्वारा उसका सफल समावेश किया है लक्ष्मण-उर्मिला के रुचिर सयोग, चित्रकूट-सभा मे कैकेयी की सफाई, अयोध्यावासियो की रण-सज्जा आदि प्रसगों ने तथा द्रौपदी-पचपत्नीत्व, द्रौपदी-चीरहरण, कृष्ण-दौत्य आदि प्रकरणो के पुनर्व्याख्यान ने वस्तु को काफी रोचक बना दिया है। इन नवीन कल्पनाओ के अतिरिक्त कौतूहल की

---

१. साकेत—अष्टम सर्ग

सृष्टि के लिए कवि कई युक्तियो का प्रयोग करता है -

१ तीव्र आलोकमय उपस्थिति

कवि कभी-कभी इस नाटकीय कौशल से दृश्य उपस्थित करता है कि विचार-प्रवाह की दिशा ही एकदम परिवर्तित हो जाती है। इस अकस्मात् परिवृत्ति को पाठक देखता ही रह जाता है। एक उदाहरण लीजिए—शान्ति-सदेश लेकर दुर्योधन के पास जाने के लिए प्रस्तुत कृष्ण को युधिष्ठिर कहते है कि हम केवल पाँच गाँव लेकर ही सतुष्ट हो सकते हैं। यह वात चल ही रही थी कि इतने मे—

**सहसा सभा की भाव-गति मे एक भन्नाटा हुआ**
**झंझागमन के पूर्व का-सा घोर सन्नाटा हुआ**
**तत्काल विजली-सी चमक चौंकी वहाँ कृष्णा कृशा।**[1]

शम्पा सदृश इस तीव्र उद्भास से अभिभूत पाठक की चेतना को एक सुखद झटका लगता है जिससे उसे एकरसता-जन्य अरुचि के स्थान पर मधुर तारल्य का अनुभव होता है।

२ सभाव्य का असभावित प्रस्ताव

इन पूर्वपरिचित कथाओ की जानी-बूझी घटनाओ को भी मैथिलीशरण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं मानो वे आकस्मिक हो। साकेत के द्वितीय सर्ग मे राम-अभिषेक के समाचार से सुसज्जित साकेत-नगरी के अपरिमित उल्लास का वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है—

**मोद का आज न ओर न छोर,**
**आम्रवन-सा फूला सब ओर।**[2]

पाठक मन्त्रमुग्ध हो कवि के साथ-साथ झूम रहा है पर अगली ही पक्तियाँ—

**किन्तु हा! फला न सुमन-क्षेत्र,**
**कीट बन गए मंथरा - नेत्र।**[3]

पढकर वह चमक उठता है। यद्यपि यह वात निश्चित है—और वह इसे जानता भी है। फिर भी इसका असभावित उपस्थितीकरण सर्वथा नवीन अतएव कथा की रोचकता का अभिवर्द्धक है।

३ नाटकीय वैषम्य

कौतुहल वनाए रखने के लिए मैथिलीशरण नाटकीय विपमता का भी प्रयोग करते हैं। साकेत के अष्टम सर्ग मे चित्रकूट-स्थित राम-सीता दम्पति आनन्द-मग्न हैं। राम को लक्ष्य कर सीता कहती हैं—

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३०४

२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३२

३ ,, ,, ,, ,, ३२

हो सचमुच क्या आनन्द छिपूं मैं घन मे,
तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन मे।[1]

इसके काफी देर बाद हनुमान द्वारा सीता-हरण का समाचार मिलने पर सीता की यह उक्ति अनायास ही याद आ जाती है जो निश्चित रूप से विस्मयकारी है। यह तो हुई शाब्दिक विषमता। अब जय भारत से परिस्थिति की विषमता का एक उदाहरण लीजिए। 'परीक्षा' खड मे अर्जुन की प्रशसा श्रवण कर कर्ण प्रतियोगी के रूप मे मैदान मे उतर आते हैं—तब युधिष्ठिर अपने मन मे सोचने लगते है कि यह कैसा वैषम्य है—'इसमे[2] ईर्ष्या जगी किन्तु मुझ मे क्यो ममता।'[3] युधिष्ठिर की इस अप्रत्याशित ममता का भेद कुन्ती के मूर्च्छित होने पर कवि की निम्न उक्ति से स्पष्ट होता है—

कर्ण उसी का[4] पूत सूत के यहाँ पला था
धर्मराज से बडा भाग्य ने जिसे छला था।[5]

पाठक तो इस रहस्य से यहीं परिचित हो जाता है किन्तु युधिष्ठिर वर्षों अनभिज्ञ रहते हैं। उन्हे तो 'अन्त' मे दाहकर्म के अवसर पर इस बात का पता चलता है। कुन्ती कहती हैं—'वत्स कर्ण को भी अजलि दो निज अग्रज के नाते।'[6] यह सुनते ही युधिष्ठिर को तो मानो काठ मार जाता है, किन्तु पाठक इस बात को पहले से ही जानता है। परिस्थिति की यह विषमता कितनी करुण-मधुर है।

इस प्रकार गुप्त जी अपनी उद्भावनाओ एव युक्तियो द्वारा परम्परागत कथानको मे भी रोचकता के सृजन मे सफल हुए हैं। अपेक्षाकृत साकेत अधिक रोचक है। उसमे उर्मिला के अपरिचित व्यक्तित्व के सस्पर्श से मधुर तरलता आ गई है—किन्तु जय भारत मे ऐसी कोई परिकल्पना नही है। दूसरे उसकी घटना-सकुलता भी रोचकता मे बाधक हुई है।

## गति और अनुपात

रोचकता के साथ ही वस्तु की गति एव अनुपात का प्रश्न सामने आता है। यहाँ गति से तात्पर्य है कथा-प्रवाह और अनुपात से अभिप्रेत है कथानक के विभिन्न अवयवो के परिमाण मे सापेक्षिक सम्बन्ध। सफल प्रबन्धकाव्य मे गति तथा अनुपात औचित्य की सीमा मे रहने चाहिए अर्थात् वस्तु के भिन्न-भिन्न अगो की गति और अनुपात मे अतर्क्य वैषम्य नही होना चाहिए। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मैथिलीशरण इनके प्रति सचेत नही हैं। उनके दोनो महाकाव्यो की गति मे अत्यधिक विषमता है। साकेत के आरभिक आठ सर्गों

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६३
२ कर्ण मे
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ५२
४ कुन्ती का
५ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ५३
६ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४१९

मे अत्यन्त मन्थरता तथा अन्तिम दो सर्गों मे अत्यधिक तीव्रता है। इसी प्रकार जय भारत के प्रथम दो खडो—'नहुप' तथा 'यदु और पुरु' की गति मे आकाश-पाताल का अन्तर है यद्यपि वे दोनो ही वश-परम्परा के परिदर्शनार्थ आए हैं। गति के साथ ही अनुपात भी असम है। एक ओर तो सम्पूर्ण नहुप आख्यान है दूसरी ओर मत्स्यगधा एव पराशर मुनि का वृत्तान्त एक ही पक्ति मे उल्लिखित है—

**नया जन्म सा दिया पराशर मुनि ने मुझे[1] किया धन्या[2]**

इसी तरह हिडिम्ब-वध, वक-सहार, सैरन्ध्री-कीचक आदि प्रसगो का विस्तृत विवेचन है—किन्तु अर्जुन-उलूपी तथा चित्रागदा-अर्जुन ये दो वृत्त केवल छ पक्तियो मे आवद्ध हैं।[3] साकेत की भी यही दशा है—प्रथम आठ सर्गों मे केवल कुछ दिन की कथा है। और चौदह लम्बे वर्षों का वृत्तान्त कुल चार सर्गों मे समाहित है। गति और अनुपात का यह वैपम्य सर्वथा अकारण नही है। किन्तु इस विषमता के लिए अनेक कारणो के उत्तरदायी होने पर भी इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि गुप्त जी इस ओर से सावधान नही हैं और स्पष्ट शब्दो मे वे गति एव अनुपात के साम्य-असाम्य की विशेष चिन्ता नही करते।

## मूल्याकन

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेपरण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत कवि की वस्तु-विषयक प्राय सभी धारणाऐं शास्त्र-सम्मत हैं। वह लोक-प्रख्यात, विस्तृत और सदाश्रित कथानक अपनाता है। किन्तु उसकी प्रकृति अतिरिक्त प्रसिद्ध कथानक की ओर है। साकेत और जय भारत की कथाएँ प्रसिद्ध ही नही प्रत्येक भारतीय पाठक की जिह्वा पर किंवा उसकी रग-रग मे समाई हुई है। साथ ही उनके विषय मे वाल्मीकि, तुलसी और व्यास अपने ढग पर अन्तिम वात कह चुके थे। इन विपयो पर अपेक्षाकृत कम लिखा जाना मेरे इस कथन का प्रमाण है। ऐसी लब्धख्याति एव चरम विकसित कथा-वस्तु मे मौलिकता तथा रोचकता का सृजन दुष्कर होता है। तथापि कवि ने इन्हे मौलिक रूप देने के लिए अतुल प्रयास किया है। कविकृत प्रवन्ध एव प्रकरण की वक्रता तया अन्य अनेक युक्तियो का प्रयोग स्तुत्य हीं है। निश्चित रूप से वह मौलिकता माइकेल मधुसूदनकृत मेघनाद-वध जैसी नही है—यह कवि का अपना दृष्टिकोण है। युगधर्म के अनुसार कथा का पुनर्व्याख्यान होने पर भी उनके परम्परागत रूप की क्षति नही हुई है—साथ ही रक्षा हुई है विपय की गरिमा की जिसका कि मेघनाद-वध मे अभाव है। तात्पर्य यह कि गुप्त जी मौलिकता अथवा नूतनता के चक्कर मे मूलभूत गरिमा की उपेक्षा नही करते।—और रोचकता तो इनमे पूर्वकथाओ से किसी प्रकार भी कम नही है वरन् उर्मिला-वृत्त के सश्लेपरण से साकेत रामायणो की अपेक्षा अधिक कौतूहलपूर्ण अतएव रोचक वन गया है। निष्कर्पत मैथिलीशरण द्वारा स्वीकृत इन कथानको मे महाकाव्योचित विराट्ता, व्यापकता एव गाम्भीर्य है।

---

१. मत्स्यगधा को

२. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २३

३ „ „ , पृष्ठ १२४

किन्तु गुप्त जी का वस्तु-विधान सर्वथा निर्दोष नही है। उदाहरण के लिए सबसे पहले तो महाकाव्यो की वस्तु का अनियन्त्रित विस्तार ही खटकता है। वे अत्यन्त विशद एव विशाल घटनाचक्र का चयन करते हैं। साकेत की वस्तु दो महाकाव्यो के लिए पर्याप्त है—उसमे लक्ष्मण-उर्मिला तथा राम-सीता की दो वृहत् कथाएँ आबद्ध हैं—और जय भारत के मूलस्रोत महाभारत की कथावस्तु से तो निर्विवादत अनेक महाकाव्यो का निर्माण हो सकता है वरन् किसी ने सम्पूर्ण कथानक को अपनी कृति का विषय बनाया ही नही। किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि सभी महाकाव्यो मे इस महत् कथा से कोई एक महत्वपूर्ण घटना गृहीत है—किन्तु मैथिलीशरण जी ने जय भारत मे उसे प्राय समग्र रूप मे अपनाया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी वस्तु-परिमाण-विषयक धारणा निर्भ्रान्त नही है। 'उसका (वस्तु का) परिमाण इतना होना चाहिए जितना कि स्मरणशक्ति वा मनश्चक्षु स्वीकार अथवा धारण कर सके।[1] परन्तु व्यापकता के अन्वेषी मैथिलीशरण इस बात का ध्यान नही रखते। इसीलिए उनके महाकाव्यो की वस्तु मे अनपेक्षित विस्तार एव जटिलता है। कथानक के इस विस्तार और जटिलता एव तज्जन्य शैथिल्य के लिए आशिक रूप मे कवि की श्रद्धा भी उत्तरदायी है। यदि वह रामकथा-आलेखन और महाभारत के सम्पूर्ण कथा-वर्णन का लोभ सवरण कर पाता तो निश्चित रूप से अधिक व्यवस्थित, सुसघटित एव कलापूर्ण महाकाव्य दे पाता।

महाकाव्य की वस्तु मे समुचित गति और अनुपात के प्रति उदासीनता प्रबन्ध काव्यकार के लिए दोष है—कुछ प्रसगो मे रम जाना और कुछ को चलता कर देना अपरिहार्य त्रुटि है। किन्तु गुप्त जी इन बातो की चिन्ता नही करते। साकेत के दशरथ-मरण, गुहराज-मिलन, भरत-शत्रुघ्न-आगमन, वनवासी राम-सीता की गृहस्थी तथा जय भारत के नहुष-आख्यान, वन-वैभव, वक-सहार, सैरन्ध्री-कीचक आदि प्रसगो मे उनकी वृत्ति ऐसी रमी कि वे कुछ स्वतन्त्र से प्रतीत होते है—उनका अपना महत्व हो गया है। अन्य अनेक प्रकरण—वालि-वध, अर्जुन-उलूपी प्रसग तथा अर्जुन चित्रागदा वृत्त आदि—चलते कर दिए गए है। यह असन्तुलन महाकाव्य की प्रकृत शोभा के लिए हानिकर है। वस्तुत उपर्युक्त प्रसगो मे कवि 'रस के प्रवाह मे ठीक उसी प्रकार बह गया है जिस प्रकार प्रेमचन्द जी रगभूमि के कुछ प्रासगिक स्थलो मे।'[2] यह कवि की अपनी सीमा है—और शक्ति भी। क्योकि यदि इन प्रसगो को छोड या सक्षिप्त कर दिया जाए तो साकेत और जय भारत का अधिकाश काव्य-वैभव नि शेष हो जाए।

अब रही कवि की स्थान-ऐक्य विषयक धारणा। वह वास्तव मे आवश्यक नही है और

---

1 The whole, he (Aristotle) says, must be of such dimensions that the memory or mind's eye can embrace or retain it

Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts, S H Butcher ed 1932, p 278

२. डा० नगेन्द्र—साकेत . एक अध्ययन, पचम सस्करण, पृष्ठ १६

मैथिलीशरण जी भी उसे महाकाव्य के लिए अनिवार्य नही समझते । यूरोप के आचार्यों ने भी स्थल-ऐक्य का निर्देश केवल नाटको के लिए किया था—क्योकि उनके देश मे रगमच पर पट आदि की व्यवस्था न होने से दृश्य-परिवर्तन असभव था । किन्तु आज तो नाटको के लिए भी यह नियम अनिवार्य नही रहा फिर महाकाव्य पर जिसका कि मच से कोई सम्बन्ध ही नही है—यह कैसे लागू किया जा सकता है । उसमे तो अनेक स्थलो से सम्बद्ध घटनाओ का प्रकथन सुगमता से हो सकता है । अभिप्राय यह कि स्थान-ऐक्य के अभाव को महाकाव्य मे दोप नही कहा जा सकता । हाँ, घटना-ऐक्य अनिवार्यत आवश्यक है उसका मैथिलीशरण यथाशक्ति निर्वाह करते ही हैं ।

इस प्रकार गुप्त जी के कथानक उदात्त एव ऐतिहासिक तो है उनमे अपेक्षित गम्भीरता और गरिमा भी है, साथ ही रोचकता भी । किन्तु उनमे वाछित अनुपात की कमी है कवि ने यद्यपि अन्विति-सूत्र को सप्रयास अक्षुण्ण रखा है पर वस्तु के अगो मे कसावट नही है । फिर भी सव मिलाकर वाल्मीकि-तुलसी और व्यास के कथानको को लेकर इतनी सफलता भी श्लाघनीय प्रवन्ध-कौशल की द्योतक है ।

## चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण महाकाव्य का महत्वपूर्ण अग है । काव्य की इस विधा मे आदर्श जीवन का पूर्ण विश्लेषण होता है । उसमे महच्चरित्रो का अकन होता है । अत महाकाव्य के प्रमुख पात्र गम्भीर एव ओजस्वी होने चाहिएँ जिनका मानव-जीवन पर स्वस्थ प्रभाव पडे । इसीलिए आचार्य विश्वनाथ महाकाव्य के लिए 'धीरोदात्त' गुण-समन्वित नायक अनिवार्य मानते हैं । वस्तुत सच्चरित्र महान् पात्रो की सर्जना मे ही महाकाव्यकार की सफलता अन्त-र्निहित है । किन्तु चरित्र-चित्रण मे मैथिलीशरण जी के समक्ष वडी जटिल समस्या थी । उनके सभी पात्र पूर्वकल्पित थे अर्थात् अपने गुण-अवगुणो के लिए चिर-काल से प्रसिद्ध थे । यदि कवि उन्हे ज्यो का त्यो स्वीकार करता है तो मौलिकता का प्रश्न सामने आता है—और यदि उन पात्रो को छोडता है तो ऐतिहासिकता एव लोकप्रसिद्धि पर आघात होता है । ऐसी दशा मे समाधान है केवल पुनस्सृजन एव पुनस्स्पर्श । गुप्त जी इन्ही का आश्रय ग्रहण करते हैं । पुनर्निर्माण के अतिरिक्त वे चरित्र-चित्रण मे स्वाभाविकता, महज मानवीयता, पूज्य पात्रो की गौरव-रक्षा एव प्रमुख पात्रो की धीरोदात्तता आदि का भी विशेप ध्यान रखते हैं ।

## पुनस्स्पर्श

परम्परागत ऐतिहासिक चरित्रो मे मैथिलीशरण परिवर्तन प्राय नही करते फिर भी पुनस्स्पर्श अवश्य करते हैं । राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, उर्मिला, माण्डवी, कैकेयी, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, द्रौपदी, दुर्योधन, कुन्ती और कर्ण आदि मैथिलीशरण के महाकाव्यो के प्रमुख पात्र हैं । इनमे से उर्मिला, कैकेयी, माण्डवी एव दुर्योधन के अतिरिक्त शेप सभी पात्र परम्परामुक्त है तथापि पुनस्स्पर्श से पर्याप्त अन्तर आ गया है । वाल्मीकि के राम महा-मानव हैं—और तुलसी के आराध्य नर होते हुए भी नारायण हैं । उनका अवतार ही 'विनाशाय च दुष्कृताम्' हुआ था—किन्तु गुप्त जी के राम निश्चित रूप से भगवान् हैं—

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?[1]

उक्त पक्ति मे परिव्यक्त जिज्ञासा मेरे इस कथन की परिचायक है। पर वे भगवान् होते हुए भी मनुष्य कर्म करते है। वे कवीर के समान साहव का सन्देश नही लाए वरन् 'इस भूतल को ही स्वर्ग वनाने'[2] आए हैं। लक्ष्मरण का व्यक्तित्व कुछ अधिक तीखा हो गया है। यदि उनकी कुछ पक्तियो—

खड़ी है माँ वनी जो नागिनी यह
अनार्या की जनी हतभागिनी यह
अभी विषदन्त इसके तोड दूँगा —
न रोको तुम तभी मैं शान्त हूँगा।[3]

—को प्रकरण से पृथक् करके देखा जाए तो कदाचित् उनके प्रति अश्रद्धा ही उत्पन्न होगी। किन्तु ये विषमय विषम वचन भी प्रसग-प्राप्त हैं—और यहाँ पर निश्चित रूप से पाठक का लक्ष्मरण से साधारणीकरण हो जाता है। भरत की साधुता मे वृद्धि हो जाती है और साकेत के शत्रुघ्न भी अन्य रामायणो से अधिक क्रियाशील है। युधिष्ठिर परम्परा से श्रेष्ठ पात्र है किन्तु जय भारत मे उनका चरित्र और भी निखर आया है। भीम महाभारत के काफी उद्दण्ड पात्र है—शायद यह शारीरिक वल की अनिवार्य सीमा है। जय भारत मे भी उद्दण्डता वनी हुई है पर वह अमर्यादित नही है। पाण्डवो एव द्रौपदी के चरित्रो मे सर्वाधिक परिवर्तन हुआ है देहपात प्रसग मे। महाभारतकार ने तो यहाँ युधिष्ठिर के अतिरिक्त सभी को सदोष वताया है। उदाहरणत अर्जुन के पतन पर युधिष्ठिर कहते हैं—

एकाह्ना निर्दहेय वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत्
न चतत्कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत्[4]

ऐसे सर्वसहा व्यक्तियो को भी अन्त मे दोषी वताया जाता है—उनके प्रति पाठक के मन मे जमी हुई पूज्य भावना मानो खरोच दी जाती है। किन्तु गुप्त जी के युधिष्ठिर देह-पात के कारणो के चक्कर मे न पडकर अपने को वन्धनमुक्त देखते हैं, जैसे द्रौपदी के गिरने पर उनका कथन है—

तुम नहीं गिरी अर्जुन के प्रति यह पक्षपातिता मेरी ही[5]

—और सव के पतन पर वे शुद्ध-वुद्ध आत्मा रह जाते हैं। इससे एक तो पाचाली तथा अनुजो के चरित्र अधिक उज्ज्वल वन जाते हैं, दूसरे युधिष्ठिर की उदार भावना का परिचय मिलता है। गुप्त जी के धृतराष्ट्र एक विवश पिता हैं—पुत्र जिनकी सुनता ही नही वरन् मनमानी करता है। महाभारत मे धृतराष्ट्र कपटी हैं, अनेक दुरभिसन्धियो मे उनका भी

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ६
२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६७
३. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ६१
४. महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व २।२१
५ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४३१

हाथ है। जय भारत मे वे मोहान्ध तो अवश्य हैं पर छल-कपट से सर्वथा शून्य हैं।

स्त्री पात्रो मे उर्मिला तो कवि की अपनी उर्वर कल्पना की ही सृष्टि है—कवियो की उर्मिला-विषयक उदासीनता का परिहार भी तो साकेत का उद्देश्य था। सीता परम्परागत आर्या-रूप मे ही प्रतिष्ठित हैं—किन्तु जगदम्बा होते हुए भी उनमे मानवीयता का कुछ अधिक समावेश हो गया है। देखिए कितना सहज-सात्विक पर सर्वथा मानवीय चित्रण है—

**गोट जड़ाऊँ घूंघट की—बिजली जलदोपम पट की,**
**परिधि बनी थी विधु-मुख की, सीमा थी सुषमा सुख की।[1]**

—तथापि उनका आर्यत्व अखण्ड है। माण्डवी का सम्पूर्ण वृत्त कल्पना-प्रसूत है। पूर्व रामायणो मे कही भी उनका चित्रण नही—गुप्त जी ने भरत के अनुरूप ही उनकी चरित्र-सर्जना की है। कुन्ती मे उन्होंने क्षत्रियत्व के साथ-साथ मातृ-हृदय की भी प्रतिष्ठा की है—'वक-सहार' प्रसग मे मैं पहले ही इसका उल्लेख कर चुका हूँ। द्रौपदी केवल भावमयी नही रही—उनके व्यक्तित्व मे बौद्धिकता का भी समावेश हुआ है। अतएव दो-एक स्थलो पर उनके तर्क मे पर्याप्त तीक्ष्णता है।

## सगति

पात्रों के पुनर्निर्माण मे कवि की दृष्टि स्वाभाविकता एव सगति की ओर भी रही है। इस युग मे चरित्रगत अस्वाभाविकता एव असगति ही कवि को सर्वाधिक अखरती है। गुप्त जी उनका विवेक-सम्मत परिहार करते हैं। उदाहरणत रामायणो मे लक्ष्मण को एक ओर तो अत्यन्त क्रोधी और कर्मठ तथा दूसरी ओर राम-सीता के समक्ष निर्जीव एव निष्क्रिय कठ-पुतली-सा प्रदर्शित किया गया है—कैसी विचित्र बात है! साकेतकार सर्वप्रथम इस असगति को पहचानता है। राम के सम्मुख नतशिर तो साकेत के लक्ष्मण भी है किन्तु वे अवसर आने पर—

**प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण मे।[2]**

—की घोषणा भी कर सकते हैं। मैं समझता हूँ यह उक्ति लक्ष्मण के चरित्र के अनुरूप ही है और उसे स्वाभाविकता प्रदान करती है। ऐसी ही एक असगति थी युधिष्ठिर के चरित्र मे। महाभारत मे वे सहगामी श्वान को तो त्याग कर स्वर्गारोहण के लिए राजी नही होते। पर स्वर्गस्थ दुर्योधन को देखते ही उबल पड़ते हैं—दुर्योधन के साथ उन्हे स्वर्ग मे रहना भी स्वीकार्य नही—

**अस्ति देवा न मे काम. सुयोधनमुदीक्षितुम्[3]**

मानव महत्व के प्रतिष्ठापक मैथिलीशरण इस त्रुटि का निराकरण करते हैं। और

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ७२

२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७०

३. महाभारत—स्वर्गारोहण पर्व १।१०

सर्वभूतहित कामना के विश्वासी युधिष्ठिर को वहाँ प्रसन्न ही दिखाते है, उद्विग्न नही।[1] इस प्रकार गुप्त जी चरित्रो से अनौचित्य एव असगतियो का परिहार कर उन्हे स्वाभाविक वनाने का प्रयत्न करते हैं।

## सहज मानवीयता की खोज

मैथिलीशरण जहाँ चरित्रगत असगतियो का निराकरण कर उन्हे स्वाभाविक रूप देते हैं वहाँ पात्र मे सहज मानवीयता की स्थापना भी करते हैं। प्रकृति-भेद से चरित्र दो प्रकार के हुआ करते हैं—आदर्श और सामान्य। सात्विक अथवा तामस प्रकृति के पात्र आदर्श—और राजस प्रकृति के चरित्र सामान्य होते हैं। इन्हे मानवीय और अतिमानवीय भी कहा जा सकता है। गुप्त जी आदर्श पात्रो मे भी मानवीय गुण-दोषो का सन्धान करते है—अतिमानवीयता के स्थान पर मानवीय शक्ति का विकास दिखाते है। सिद्धान्तत वे राम मे ईश्वरत्व का आरोप करते हैं, फिर भी चित्रण मानव-रूप मे ही हुआ है। राम और सीता के दाम्पत्य मे सद्गृहस्थी का स्वस्थ निदर्शन है।[2] राम मे मानवसुलभ दुर्वलता भी है—पिता की मृत्यु से अवगत होते ही साधारण मनुष्य के समान उनका गला रुँध जाता है, नेत्रो मे आँसू छलछलाने लगते है। इतना ही नही वे अपने को निस्सहाय, निरवलम्ब, अनुभव करते हैं—और ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से पितृ-तुल्य रहने की प्रार्थना करते है।[3]

सीता भी एक कुलवधू के रूप मे उपस्थित हुई हैं—साकेत के चतुर्थ सर्ग की सीता मे शुद्ध मानवीय रग है। उधर जय भारत मे कृष्ण सर्वपूज्य पात्र हैं—किन्तु हैं मानव ही। वे महामानव भले ही वन गए है पर महाभारत के समान अतिमानव नही। महाभारत मे कृष्ण जब युधिष्ठिर की ओर से शान्ति-सदेश लेकर जाते है तो दुर्योधन द्वारा उनको वाँधने का प्रयत्न होने पर उनके शरीर मे ही अनेक देवता और भीमार्जुन आ जाते हैं।[4] किन्तु जय भारतकार के अनुसार अतिमानवीय शक्तियाँ नही आती। केवल कृष्ण के दृष्टि-निक्षेप के प्रभाव से दुर्योधन लडखडा कर गिर पडता है।[5] यह तो हुई सात्विक आदर्श पात्रो की वात। रावण परम्परा से तामस आदर्श है। कवि ने उसकी अतिमानवीय शक्तियो का भी उल्लेख नही किया है। इस प्रकार वह आदर्श चरित्रो मे भी सहज मानवता का समावेश करता है।

## धिक्कृत पात्रो का परिष्कार

आदर्श चरित्रो मे मानवीयता की प्रतिष्ठा के साथ मैथिलीशरण दूषित पात्रो का उद्धार भी करते हैं—वे धिक्कृत पात्रो के भी आन्तरिक सौन्दर्य का उद्घाटन करते हैं। भार-

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४३७

२ साकेत, अष्टम सर्ग

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७४

४ महाभारत—उद्योगपर्व १३१।४-६

५ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२४

तीय साहित्य के चिरकलकित पात्रो—कैकेयी और दुर्योधन की तो उन्होंने काया ही पलट दी है। कैकेयी के लिए पुत्र-प्रेम अभिशाप वनकर आता है और वह सदैव को कलकित हो जाती है। किन्तु गुप्त जी ने चित्रकूट-सभा मे कैकेयी को सफ़ाई पेश करने का अवसर प्रदान कर इस कलक को धो डाला है। साकेत के अध्ययन के पश्चात् कैकेयी के प्रति युग-युगान्तर का घनीभूत मालिन्य नि शेप हो जाता है। दुर्योवन भी परम्परा से कलकित है—महाभारतकार ने उमे 'सकल कपट अघ अवगुन खानी' के रूप मे चित्रित किया है। जय भारत के कवि ने भी यथास्थान उसके दुष्कृत्यो का उल्लेख किया है—किन्तु वह उस पापराशि के हृद्गत सौन्दर्य के भी दर्शन करता है। दुर्योधन का कर्मयोगी रूप देखिए—

**यही तोष मुझको**
**अन्त तक कोई त्रुटि छोडी नहीं हमने।**[1]

पापाण-हृदय दुर्योधन के मन मे भी दया जैसी कोमल भावना मैथिलीशरण स्थापित करने हैं। इसका पता उस समय चलता है जव दुर्योधन अश्वत्थामा के पाण्डवो की हत्या करने की प्रतिज्ञा कर लेने पर एक पिण्डदाता छोडने की वात कहता है।[2] वस्तुत जय भारत-कार के दुर्योधन के प्रत्येक कार्य मे औदात्त्य है, पग-पग पर स्मरणीय शालीनता है। उसके अपने शव्दो मे—

**ठाठ से मैं आया और ठाठ से ही जाऊँगा।**[3]

रावण, कर्ण और दु शासन के सदोष चरित्रो मे भी कवि मानव-गुण का सृजन करता है। उनकी पाप-कालिमा सर्वथा प्रक्षालित नही हो पाती तथापि उसमे एक ज्योतिष्कण का उद्भास अवश्य दृष्टिगत होता है। रावण से घोर-कठोर व्यक्ति के हृदय-गह्वर मे भी मैथिली-शरण भव्यता देखते हैं। कम से कम एक वार तो राम को भी उसे अपने से अधिक सहृदय मानना पडता है।[4] द्रौपदी-वस्त्रहरण मे सक्रिय योगदान कर्ण के दानी-मानी एव ओजस्वी व्यक्तित्व के लिए अभिशाप है—फिर भी वह महान् है। केवल एक गुण—मित्र-धर्म का निर्वाह ही कर्ण को सम्पूर्ण दोषो से मुक्त कराने मे ममर्थ है। कितना विश्वसनीय और साहसी है वह व्यक्ति जो मित्र के दोषो से अभिज्ञ होने पर भी आपत्काल मे उसे त्यागने को तैयार नही—

**क्या सकट मे उसे छोड़ दू जो मुझ पर अवलम्बित है।**[5]

इसी प्रकार कवि ने दु शामन मे भ्रातृत्व-सी भव्य भावना का सवान किया है—वही उमके जीवन का मूलमन्त्र है। वह अपने को दुर्योधन का भाई न मानकर किंकर समझता है।[6]

---

१. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३६०
२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६१
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३६३
४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २६२
५ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३३३
६. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०५

यह जय भारतकार की ही परिकल्पना है। वस्तुत गुप्त जी की प्रवृत्ति दोष-दर्शन की ओर न होकर तलवासिनी मानवीय प्रेरणा के उद्घाटन की ओर रहती है।

## पूज्य पात्रो की गौरव-रक्षा

जब कवि दूषित पात्रो के भी आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकाशित करता है तब यह अनिवार्य हो जाता है कि वह पूज्य पात्रो के चरित्रो मे मिलनेवाली एकाध त्रुटि का भी परिहार करे। अतएव मैथिलीशरण सम्मान्य पात्रो के गौरव की रक्षा के लिए उत्कट प्रयत्न करते हैं। वाल्मीकि रामायण मे रावण के देहावसान पर शोक-सतप्ता मन्दोदरी तो सहगमन की इच्छा करती है—

नय मामपि दु खार्ता न वर्तिष्ये त्वया विना।
कस्मात्त्व मां विहायेह कृपणा गन्तुमिच्छसि॥[1]

परन्तु दशरथ-मरण के अवसर पर उनकी अश्रुविगलित रानियो मे से कोई भी ऐसा नही करती। सती-प्रथा अपने आप मे त्याज्य होते हुए भी पति की गौरव-व्यजक है। और उस युग मे तो ऐसा होता ही था। अत दशरथ-से महामहिम नृप के लिए किसी पत्नी का ऐसी बात न कहना कुछ खटकता है, किन्तु गुप्त जी ने इसकी क्षति-पूर्ति की। यद्यपि वसिष्ठ के परामर्श के कारण सती-क्रिया सम्पन्न साकेत मे भी नही होती तथापि प्रस्ताव तो है—

हाय! भगवान् क्यों हमारा नाम?
अब हमे इस लोक मे क्या काम?
भूमि पर हम आज केवल भार?[2] आदि।

यहाँ निश्चित रूप से दशरथ के गौरव एव रानियो की गूढानुरक्ति का प्रतिपादन है। इसी प्रकार वह द्रौपदी-चीरहरण प्रसग मे भीष्म, द्रोण और विदुर को पाप-सभा से हटाकर उन पुण्यात्माओ के आत्म-सम्मान एव मर्यादा की रक्षा करता है। साकेत मे राम-चरित की भव्यता मे बाधक छद्म से वालि-वध का प्रसग केवल एक पक्ति मे चलता कर दिया गया है।[3] और द्रौपदी-चरित्र के औज्ज्वल्य की रक्षा के लिए तो कवि ने प्रकरण ही बदल दिया। राजसूय यज्ञ के अवसर पर निमन्त्रित दुर्योधन को मयकृत भवन मे जल मे थल का तथा स्थल मे जल का आभास होने पर द्रौपदी ने उसका उपहास किया था—यह कृत्य उसके परिष्कृत चरित्र के लिए अशोभनीय है, अत गुप्त जी ने प्रकरण ही बदल दिया—

हुआ कक्ष मे घुसते उसको द्वार खुला प्रतिभात,
लगा किन्तु उसके ललाट मे स्फटिक कपाटाघात।
जल मे थल का, थल मे जल का देख उसे भ्रमभास,
रोक न सके दास-दासी भी आकस्मिक उपहास।[4]

---

१. वाल्मीकि रामायण—युद्धकाण्ड १११।६०
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १४८
३. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २८५
४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १३४

—और द्रौपदी को साफ़ बचा लिया। इस प्रकार मैथिलीशरण पूज्य पात्रो की गौरव-रक्षा के लिए अनेक युक्तियो का प्रयोग करते हैं।

## प्रमुख पात्रो की धीरोदात्तता

मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि महाकाव्य के मुख्य पात्र वीर, गभीर एव ओजस्वी होने चाहिए। हम देखते हैं कि साकेत और जय भारत के सभी प्रमुख अर्थात् विजयी पात्र धीरोदात्त हैं। राम, भरत, शत्रुघ्न, सीता, युधिष्ठिर, अर्जुन, कृष्ण और कुन्ती आदि की धीरोदात्तता तो निर्विवाद ही है। हाँ, लक्ष्मण, उर्मिला और द्रौपदी के धीरोदात्त्य पर शका हो सकती है। क्या लक्ष्मण-सा क्रोधी व्यक्ति भी धीर है? क्या रुदनरता उर्मिला और द्रौपदी भी उदात्त हो सकती हैं? किन्तु इन प्रश्नो का समाधान कठिन नही। लक्ष्मण अवश्यमेव क्रोधी हैं—वे झट से क्रुद्ध हो जाते हैं। पर अकारण नही, उनका क्रोध साधार होता है अत वह दूषण नही माना जा सकता। वस्तुत हम ऊपर से उन्हे कितना ही उद्धत क्यो न बताए भीतर से तो उनके इस रूप पर मुग्ध ही हैं।—और फिर धीरोदात्तता मे धीरता-गम्भीरता के अतिरिक्त ओज भी तो अपेक्षित है। अपेक्षाकृत राम और भरत मे धीरता तथा गम्भीरता अधिक है—लक्ष्मण मे भी उनका एकान्ताभाव नही पर ओज का प्राचुर्य है। अभिप्राय यह कि राम-भरत तथा लक्ष्मण मे मात्रा का अन्तर है प्रकार का नही। उर्मिला और द्रौपदी रुदनशीला हैं—किन्तु उनकी करुण परिस्थितियाँ भी तो देखिए। अपरिमेय कष्ट-सहिष्णुता उनकी धीरता की ही परिचायक है।—और यदि उनके व्यक्तित्व का ओज देखना हो तो पाप-सभा मे दु शासन को दुत्कारती हुई द्रौपदी एव शत्रुघ्न के साथ लका-प्रस्थान की इच्छुक उर्मिला के दर्शन कीजिए। साराश यह कि गुप्त जी महाकाव्य के प्रमुख पात्रो मे धीरोदात्तता चाहते हैं।

## दोष

मैथिलीशरण के चरित्र-चित्रण मे कुछ दोष भी है। उर्मिला को ही लीजिए। कवि उसे साकेत की नायिका बनाना चाहता है—और वह इसमे सफल भी है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उसे हर जगह घुसेड दिया जाए—अवाछनीय अवसरो पर भी उपस्थित कर दिया जाए। द्वादश सर्ग मे वह अकस्मात् सेना के समक्ष आती है और 'पापी का सोना न लाने' का उपदेश देने लगती है। षष्ठ सर्ग मे दशरथ-मरण के अवसर पर भी वही सर्वाधिक रोती है—कौशल्या एव सुमित्रा से भी अधिक! कितनी विचित्र बात है! वास्तव मे कवि ने उर्मिला को अधिक प्रमुखता देने के बहाने से उचित से अधिक मुखर बना दिया है।[1] इसी प्रकार दुर्योधन के चरित्र का परिष्कार करते-करते आदर्श को भुला बैठा है। क्या दुर्योधन की स्वर्ग-प्रतिष्ठा समीचीन है? आयुपर्यन्त दुष्कर्म करने पर भी यदि दुर्योधन को वैकुण्ठवास मिल गया तो नरक का निर्माण किसके लिए हुआ था? महाभारत मे भी दुर्योधन स्वर्गधाम-स्थित हैं पर वहाँ स्पष्ट कह दिया गया है कि जिन लोगो का पाप अधिक और पुण्य थोडा

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी—हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, संस्करण सन् १९४९, पृष्ठ ४४

होता है उनको पहले स्वर्ग और फिर नरक मे रखा जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति पुण्य अधिक और पाप थोड़े करते हैं उन्हे पहले नरक मे और फिर स्वर्ग मे रहना होता है। इस प्रकार महाभारतकार ने दुर्योधन के अन्तत नरक-पात का सकेत कर दिया है। किन्तु जय भारत मे ऐसा कोई निर्देश नही है। पाण्डवो के नरक-भोग का तो उल्लेख है—दुर्योधन के स्वर्ग-भ्रष्ट होने का नही। अत पाठक को भी युधिष्ठिर के साथ यही कहना पडता है—

तव सुकृती रहा सुयोधन ही[1]

क्या यह आदर्शवाद पर कुठाराघात नही है ? मैं समझता हूँ दशरथ से महामहिम चक्रवर्ती राजा के गौरव की रक्षा भी कवि पूर्णत नही कर सका। साकेत मे उन्हे निष्क्रिय विलासी राजाओ की पक्ति मे बैठा दिया गया है। प्रेमी तो 'मानस' के दशरथ भी हैं—

जानसि मोर सुभाऊ बरोरू
मनु तव आनन चन्द चकोरू।[2]

—पर साकेत के समान अतिरिक्त विलासी नही। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पात्र को प्रमुखता देते समय या किसी का परिष्कार करते समय गुप्त जी अन्य आनुषगिक बातो को विस्मृत कर देते हैं।

कई पात्रो के चरित्र उलझ भी गए हैं—उनमे मानवीय और अतिमानवीय गुणो का सम्मिश्रण है। परिणामत उन पात्रो के चरित्र न तो सर्वथा लौकिक हैं और न ही बिल्कुल अलौकिक। उदाहरण के लिए राम मानव के रूप मे चित्रित हैं—मानवसुलभ दुर्बलताए भी उनमे हैं। अनेक स्थलो पर उनमे मोह का प्राचुर्य देखा जा सकता है, जैसे पिता के लिए सुमन्त्र को दिये गए सन्देश मे।[3] लक्ष्मण-शक्ति प्रसग मे उनके शोक का भी दर्शन किया जा सकता है। किन्तु कवि उन्हे स्पष्ट रूप मे भगवान् मानता है। मैथिलीशरण राम को निर्गुण का सगुण अवतार मानते हैं।[4] वे स्वय भी अपने देवत्व की घोषणा करते है—

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।[5]

सीता के चरित्र मे कवि ने कुछ अधिक मानवीय रग भरा है। पुत्र-वधू के रूप मे वे कौशल्या की पूजा-सामग्री एकत्रित कर रही हैं।—और 'माँ ! क्या लाऊँ ?' कह-कहकर[6] आवश्यक वस्तुएँ लाती हैं। कैसा सहज पार्थिव चित्र है ! पर सीता के जिज्ञासा प्रकट करने पर गुप्त जी राम तथा सीता दोनो की दिव्यता प्रदर्शित करते है।[7] ऐसे ही जय भारत के कृष्ण

---

१. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४४०
२ रामचरितमानस—अयोध्याकाण्ड
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १२२
४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ५१२
५ साकेत, सस्करण सवत् २००१, पृष्ठ १६७
६ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ७२
७ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६५

महामानव के रूप मे प्रकट हुए हैं, किन्तु उनकी अलौकिक शक्तियो का सर्वथा लोप नही हुआ है। कृष्ण शान्ति-सन्देश लेकर जाते हैं। दुर्योधन के उनको पकड़ने की कुचेष्टा करने पर अनेक कृष्ण तो नही बनते पर उनके दर्शनार्थ जन्मान्ध धृतराष्ट्र के नेत्र अवश्य खुल जाते हैं—

जग गये एक क्षण के लिए दृग-दीपक जो थे बुझे।[1]

इस प्रकार कुछ पात्रो के चरित्र मे दिव्य और मानवीय गुणो की उलझन है। वस्तुत इस वैज्ञानिक और बौद्धिक युग के कवि को अमानवीयता से कोई अनुराग नही है। इसीलिए उसने यथासभव मानवीयता की रक्षा का प्रयास किया है। किन्तु उसके हृदयस्थ भक्त को राम, कृष्ण, सीता आदि मे अपार श्रद्धा है। उसी के कारण इन पात्रो मे देवत्व की स्थापना होती है। युग-चेतना और कवि-हृदय के वैषम्य के प्रभाव-स्वरूप ही राम, कृष्ण और सीता के चरित्रो मे विषमता है—उनमे लौकिकता और अलौकिकता का विचित्र सश्लेषण है।

रस

रस काव्य की आत्मा है। अत सरसता किसी भी साहित्यिक कृति का अनिवार्य गुण है। विशेषत महाकाव्य मे तो रस का अविरोध सचार होना चाहिए। काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी का 'रसभावनिरन्तरम्' से यही अभिप्राय है।—और महाकाव्य मे यथास्थान सभी रसो का समावेश अनिवार्य माना गया है। किन्तु शर्त यह है कि कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए—विषयगत वैविध्य की अवस्थिति मे भी कोई एक प्रधान रस होना चाहिए, जिसमे कि शेष सबका पर्यवसान हो।[2] साकेत और जय भारत का कवि जीवन की प्राय सम्पूर्ण अवस्थाओ का अकन करता है। अत उनमे न्यूनाधिक मात्रा मे सभी रस उपलब्ध हैं। अपेक्षाकृत रति एव उत्साह की अधिक व्यजना है अत गुप्त जी के महाकाव्यो मे शृगार तथा वीर का प्राधान्य है। किन्तु परिष्कृत-रुचि कवि मैथिलीशरण शृङ्गार और वीर का सयत चित्रण ही करते हैं। साकेत के प्रथम सर्ग मे ही लक्ष्मण-उर्मिला का मधुर-स्निग्ध वाग्विनोद है। आलिंगन का चित्र भी उपस्थित हुआ है पर कही भी लालसा के दाह का वीभत्स प्रदर्शन नही है। नवम एव दशम सर्गो मे विप्रलम्भ का उत्कृष्ट निदर्शन है। जय भारत मे भी शृङ्गार के चार प्रसग आते हैं। योजनगधा, हिडिम्बा, जयद्रथ और सैरन्ध्री। शास्त्रीय दृष्टि से इनमे से 'जयद्रथ' शीर्षक प्रकरण मे जयद्रथ का द्रौपदी के प्रति प्रेम-प्रदर्शन और सैरन्ध्री प्रसग मे कीचक का सैरन्ध्री के प्रति प्रणय-निवेदन रसाभास कहे जाएँगे। जय भारत मे विप्रलम्भ शृङ्गार का एकान्ताभाव है।

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३२३

2 One predominant sentiment, should run through the entire length of the poem, even in the midst of such a diversity of topics discussed therein

—A prose English Translation of Agni Puran Edited and published by Manmath Nath Dutt Vol II Edition 1904

वीर मे युद्ध वीर का चित्रण प्राय गुप्त जी नही करते। उनके महाकाव्यों मे युद्ध का विवरण न मिलकर व्यजना अधिक मिलती है। वस्तुत दया-वीरता एव धर्म-वीरता की ओर ही कवि का विशेष ध्यान रहा है। 'युद्ध' अध्याय के अतिरिक्त शेष सभी—विशेषत परीक्षा, हिडिम्बा, वक-सहार, राजसूय आदि—खण्डो मे भी यत्र-तत्र उत्साह परिव्यक्त है। साकेत के लका-युद्ध प्रसग मे वीर रस व्यजित है। रौद्र के साकेत मे दो मुख्य प्रसग हैं १—लक्ष्मण का कैकेयी-विरोध, २—लका-युद्ध, जय भारत मे तो दो-एक प्रकरणो को छोडकर रौद्र सर्वत्र ही विद्यमान है, किन्तु वह सदैव वीर के सहायक रूप मे ही आया है। करुण के लिए साकेत के दशरथ-मरण तथा लक्ष्मण-शक्ति प्रसग और जय भारत के सैरन्ध्री, केशो की कथा, युद्ध तथा विलाप आदि प्रकरण द्रष्टव्य हैं। वक-महार, स्वर्गारोहण एव भरत-तपस्या प्रसगो मे शान्त रस उपलब्ध है। अद्भुत और हास्य का प्राय अभाव है। भयानक और वीभत्स का चित्रण भी बहुत कम है। युद्ध-वलित काव्यो मे उनका अभाव तो असम्भव है—किन्तु प्राचीनो के समान आधिक्य नही। लका-युद्ध तथा हिडिम्बा, युद्ध, कुरुक्षेत्र आदि प्रकरणो मे वीभत्स और भयानक के उदाहरण मिल सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी के महाकाव्यो मे सभी रस समाविष्ट है। उनमे शृङ्गार और वीर की प्रधानता है। साकेत मे शृङ्गार तथा जय भारत मे वीर रस प्रमुख हैं।—और शेष सभी रस उनमे पर्यवसित हैं। निष्कर्ष यह कि मैथिलीशरण शृङ्गार और वीर को अगी तथा अन्य रसो को अग-रूप मे ग्रहण करते हैं। वास्तव मे इन रसो का जीवन की मूलवृत्तियो से सहज सम्बन्ध है—शृङ्गार का काम अर्थात् जीवनेच्छा से और वीर का उत्साहमूलक होने के कारण जीवन के विकास से। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने भी इन्हे अगी-पद प्रदान किया है। इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि गुप्त जी ने शृङ्गार को भोग-प्रधान न बनाकर भव्य त्याग से युक्त उदात्त रूप प्रदान किया है। उनका प्रेम शरीर की भूख न होकर आत्मा का गुण है—उसमे स्वार्थ-मयी वासना न मिलकर निस्स्वार्थ आत्मविलय की भावना मिलती है। इसी प्रकार उनके वीर मे हिंसात्मक उत्साह नही है वरन् व्यापक अर्थ मे धर्ममय उत्साह है। और स्पष्ट शब्दो मे वह वैरवृत्ति से पुष्ट मानव-द्वेषी युयुत्सा नही है वरन् मानव-कल्याण की कामना से प्रेरित सात्विक उत्साह है। राम एव युधिष्ठिर का उत्साह पाठक को सहिष्णुता की ही प्रेरणा देता है, क्रूरता की नही।

## विविध वस्तु वर्णन

महाकाव्य-सी विराट् रचना मे जीवन और जगत् के वैविध्य का चित्रण अपेक्षित है—उसमे उनकी सभी परिस्थितियो का आलेखन आवश्यक है। जीवन और जगत् के विभिन्न चित्रो की बृहत् योजना के लिए ही आचार्यों ने सध्या-सूर्य, नगर-नदीश, सयोग-वियोग, पुत्र-कलत्र, सैर-शिकार, युद्ध-यात्रा आदि का यथास्थान सागोपाग वर्णन महाकाव्य मे अनिवार्य माना है। स्पष्टत इसके दो भाग किए जा सकते है

१ प्रकृति-चित्रण
२. सामाजिक जीवन का चित्रण

अभिप्राय यह कि महाकाव्य मे प्रकृति एव सामाजिक जीवन (इसके अन्तर्गत पारिवारिक एव राजनैतिक जीवन भी सम्मिलित है) का विशद वर्णन होना चाहिए।

## प्रकृति-चित्रण

मैथिलीशरण शुद्ध प्रकृति-चित्रण बहुत कम करते है। वास्तव मे वे मानवीय सम्बन्धो के कवि है। उनकी कविता का मुख्य विषय मानव ही है—मानवेतर सृष्टि की ओर उनका ध्यान नही जाता। प्रकृति के प्रति गुप्त जी के मानस मे छायावादी कवि का-सा सहज अनुराग नही है। अतएव उनके यहाँ आलम्बन-रूप मे प्रकृति वर्णन का प्राय अभाव है। वह या तो अप्रस्तुत के रूप मे गृहीत है, जैसे—

**एक तरु के विविध सुमनों-से खिले**
**पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।**[1]

—या फिर भावी घटना के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि अथवा भूमिका के रूप मे उपस्थित है।—और जहाँ आलम्बन-रूप मे चित्रण होता भी है वहाँ कवि की वृत्ति नही रमती। साकेत के प्रथम सर्ग मे कवि—'सूर्य का यद्यपि नही आना हुआ।'[2]—आदि से प्रात काल का वर्णन प्रारम्भ करता है—किन्तु थोडी देर बाद ही वह अपने प्रकृत विषय पर आ जाता है—

**अरुण-पट पहने हुए आह्लाद मे**
**कौन यह बाला खडी प्रासाद मे।**[3]

इस प्रकार उषाकाल का वह सारा दृश्य उर्मिला-वर्णन का पूर्वाभास है। ठीक इसी तरह जय भारत मे अमावस्या की कालिमामयी रात्रि की घोरता का निरूपण[4] भी पाण्डव-पुत्रो की भावी हत्या की भूमिका ही प्रस्तुत करता है—उसका अपना स्वतन्त्र महत्व नही है। फिर भी प्रयास करने पर शुद्ध प्रकृति-चित्रण के दो-चार श्रेष्ठ उदाहरण मिल सकते है। उदाहरणत साकेत मे छाया[5] तथा चित्रकूट[6] के मानवीकरण का उल्लेख किया जा सकता है।—और जय भारत मे नदी-नदीश का मिलन तो देखते ही बनता है—

मिलन गंगा और सागर का जहाँ था,
क्षार रस भी हो उठा मधुमय वहाँ था!

---

१. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १५
२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९
४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४०३
५ साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११०
६ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ११३

एक तन मे ही न पाकर तोप गगा
वन गई शततन्तु, सहस्र-तरग-भगा ।[1]

नदी अथवा समुद्र का चित्रण तो अनेक कवियो ने किया है—किन्तु दोनो के मिलन का अकन अपूर्व है ।

## सामाजिक, राजनीतिक जीवन का चित्रण

महाकाव्य किसी भी देश के जातीय जीवन का कोप होता है—उसमे सामाजिक (पारिवारिक और राजनैतिक भी) जीवन की प्रमुखता होती है । मैथिलीशरण भी अपने महाकाव्यो मे जीवन की नाना परिस्थितियो का आलेखन करते हैं । उनमे राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पुत्र-माता, पुत्र-विमाता, सास-वधू, देवर-भार्भी, भाई-भाई, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य आदि के सम्बन्धो तथा विवाह, स्वयवर, सयोग-वियोग, युद्ध इत्यादि का यथायोग निरूपण है। दो-एक उदाहरण लीजिए । साकेत के चतुर्थ सर्ग मे सीता कौशल्या के लिए पूजा की सामग्री एकत्रित कर रही हैं। सास-वहू के सहज-सरल सम्बन्ध का पावन चित्र देखिए—

'मा ! क्या लाऊ ?' कह कह कर—पूछ रही थीं रह रह कर
सास चाहती थीं जव जो,—देती थीं उनको सव सो
कभी आरती, धूप कभी, सजती थीं सामान सभी[2]

जय भारत से अर्जुन-द्रौपदी का वाग्विनोद उद्धृत करता हूँ—

(अर्जुन) तुमसे सदा अतृप्त रहूँ मैं यही कामना मेरी ।
(द्रौपदी) इससे अधिक और क्या चाहे यह चरणों की चेरी ।

* * *

"नहीं भूलता यह सुख मुझको चाहे जहां रहूँ मैं"
"इसको निज सौभाग्य कहूँ वा निज दुर्भाग्य कहूँ मैं ?
मेरे कारण रह न सके तुम सुरपुर मे भी सुख से ।"[3]

इत्यादि ।

इसमे साकेत के सयोग-वर्णन जैसी सूक्ष्म-स्निग्धता नही है फिर भी पर्याप्त तरलता है। इनके अतिरिक्त साकेत के राम-वनगमन प्रसग तथा जय भारत के तीर्थयात्रा और स्वर्गारोहण खण्डो मे यात्रा का विवरण है । वन-वैभव प्रकरण मे जल-विहार का मनोमोहक चित्रण है तथा राजसूय अध्याय मे राजसूय यज्ञ का आयोजन उपलब्ध है। दशरथ-मरण प्रसग मे दाहकर्म का भी उल्लेख है । साकेत और जय भारत दोनो मे युद्ध का विशद वर्णन तो है ही।

---

१. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १५६
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ७२
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १७६

साराश यह कि मैथिलीशरण जीवन को उसकी समग्रता मे ग्रहण करते हैं। वे यथासभव जीवन और जगत् की सम्पूर्ण स्थितियो का अकन करते हैं। प्रकृति-चित्रण अपेक्षाकृत कम है—इसका कारण कवि की अपनी रुचि एव प्रवृत्ति है।

## उद्देश्य

किसी भी सदनुष्ठान का लक्ष्य धर्मार्थकाममोक्ष हुआ करता है। अत सामान्य रूप से काव्य मात्र का—विशेष रूप से महाकाव्य का—उद्देश्य जीवन के इन परम पुरुषार्थों की सिद्धि ही है। गुप्त जी भी अपने महाकाव्यो मे इनकी प्रतिष्ठा करते है। जय भारत का मुख्य कार्य दुर्योधन पर युधिष्ठिर की विजय है जो कि पाप पर पुण्य की विजय की द्योतक है। ऐसे ही साकेत मे उर्मिला के माध्यम से भोग के ऊपर त्याग की विजय व्यजित की गयी है—वह प्रिय-पथ का विघ्न न बनकर विरह-व्यथा को ही श्रेष्ठ समझती है। जिन कृतियो मे असत् पर सत् की और भोग पर त्याग की विजय की स्थापना हो वे निश्चित रूप से धर्म की साधक हैं। और अर्थ प्रत्यक्षत तथा काम एव मोक्ष परम्परा सिद्ध हैं। इस प्रकार ये दोनो प्रबन्ध धर्मार्थकाममोक्ष के साधक हैं।

किन्तु महाकाव्य का कुछ विशेष ध्येय भी होता है। सामान्य फल के ऐक्य की अवस्थिति मे भी काव्य और महाकाव्य के उद्देश्य मे कुछ अन्तर है। काव्य मे तो किसी रमणीय भावना की व्यक्ति होती है, और बस! पर महाकाव्य मे ऐसे महच्चरित्रो की अवतारणा होती है जिनका देश के नैतिक, सास्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन पर पुष्कल प्रभाव होता है—जो सभ्यता और सस्कृति के इतिहास पर अमिट छाप छोड जाते हैं। और स्पष्ट शब्दो मे महाकाव्य किसी महान् एव उदात्त व्यक्तित्व की कल्पना को साकार करने के लिए लिखा जाता है। प्रमुख पात्र मे जीवन की महानतम सम्भावनाओ को चरितार्थ किया जाता है। मैथिलीशरण अपने महाकाव्यो के लिए मुख्य पात्र के रूप मे ऐसे ही महामना चरित्रो का चयन करते हैं—उनके सर्वप्रमुख पात्र स्वार्थ की नही परार्थ और परमार्थ की ही साधना करते हैं। उर्मिला समष्टि के निमित्त व्यष्टि का त्याग करती है। युधिष्ठिर भी धर्म के लिए युद्ध करते हैं, स्वार्थ के वशीभूत हो कर नही। इस प्रकार इन दोनो के महार्घ जीवन-वृत्तो द्वारा स्वार्थपरक मूल्यो की नही वरन् परार्थपरक जीवन मूल्यो की—उच्चतर मानवीय भावनाओ की प्रतिष्ठा होती है। तात्पर्य यह कि गुप्त जी के महाकाव्यो मे असत् का तिरस्कार कर सत् की प्रतिष्ठा—स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ की श्रेष्ठता का महान् सदेश है।

इसके अतिरिक्त कवि ने उनमे समग्र जाति किंवा राष्ट्र के शाश्वत जीवन का, उसकी आशाओ-आकाक्षाओ का, विचारो-विश्वासो का, नीति-आदर्शो का, भव्य चित्र प्रस्तुत कर अखण्ड भारतीय जीवन का प्रतिफलन किया है। युगधर्म के अनुकूल हमारे चिर-अभीष्ट राष्ट्रीय-सास्कृतिक मूल्यो की काव्यात्मक प्रतिष्ठा इन महाकाव्यो की विशेषता है। वास्तव मे युगधर्म का सन्देश जिस ज्वलन्त रूप मे यहाँ मिलता है वैसा न प्रिय-प्रवास और कामायनी मे है न मेघनाद-वध मे। तुलसी के रामचरितमानस के पश्चात् इस दृष्टि से साकेत-जय भारत का अपना विशिष्ट स्थान है।

## शैली

महाकाव्य की शैली उसके महामहिम प्रतिपाद्य के अनुरूप ही अत्यन्त शालीन, विभूतिमती तथा गरिमावरिष्ठ होनी चाहिए। जीवन और जगत् के वैविध्य-वर्णन मे सक्षम तथा विस्तारगर्भा होनी चाहिए। इसीलिए अरस्तू ने महाकाव्य की शब्दावली, पद-रचना, छान्दिक सगीत आदि मे असाधारणता को अनिवार्य तत्त्व माना है। उसमे वैविध्य की अवस्थिति मे भी प्रारम्भ से अन्त तक असाधारण ओज, समृद्धि और गाम्भीर्य अपेक्षित है जो कि चित्त की स्फीति मे समर्थ हो। किन्तु मैथिलीशरण के महाकाव्यो की शैली मे अत्यधिक वैषम्य है। कही उसमे महाकाव्योचित गरिमा और गम्भीर प्रवाह है, जैसे—साकेत के पचम, एकादश, एव द्वादश सर्गों मे तथा जय भारत के 'योजनगंधा' एव 'युद्ध' आदि प्रकरणो मे—और कही-कही वह सर्वथा क्षीण और हल्की हो गई है जैसे साकेत के चतुर्थ, नवम एव दशम सर्गो मे तथा जय भारत के वक-सहार एव केशो की कथा आदि प्रसगो मे। कुल मिलाकर शैली मे वाछित स्थिरता का अभाव है। उसमे विविधता तो है, परन्तु वैविध्य के बीच जो गरिमा और भव्यता निरन्तर विद्यमान रहनी चाहिए—वह नही है। पर इसके कारण स्पष्ट है : जय भारत के तो विभिन्न खण्डो की रचना ही समय-समय पर हुई है अत उसकी शैली मे स्थैर्य की आशा करना दुराशा मात्र है। और साकेत मे कवि ने इतिवृत्तात्मक वर्णन न करके भावपूर्ण प्रकरणो मे अपनी भावना का रग भरकर उपस्थित किया है। इसीलिए उसमे प्रगीतात्मक मृदुल-मसृणता और आधुनिक कहानी के समान कतिपय भाव-खण्डो के अनुबन्धन का प्रयास तो है किन्तु शृङ्खलाबद्ध महाप्रवाह नही है।

गुप्त जी के महाकाव्यो मे आद्योपान्त खडी बोली व्यवहृत है पर पद-योजना सर्वत्र एक-सी नही है। जय भारत के आरम्भकालीन खण्डो की भाषा व्यस्त एव अभिधा-प्रधान है और उत्तरकालीन भागो मे अपेक्षाकृत समस्त एव व्यजनापूर्ण। उदाहरण के लिए 'केशो की कथा' और 'रण-निमन्त्रण' की भाषा की तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार साकेत के अन्तिम दो सर्गो मे जो गुम्फित झकार और प्रबलता है, पहले दस सर्गों मे उसका अभाव है। परिणामत मैथिलीशरण के महाकाव्यो मे महानद का-सा गम्भीर नाद और अव्याहत प्रवाह नही है। यद्यपि भाषा काफी प्रौढ एव परिमार्जित तथा शैली नानावर्णनक्षमा है, फिर भी उसमे न तो पैराडाइज़ लॉस्ट की गरिमा है न मेघनाद-वध का दुर्धर प्रवाह, न कामायनी का ऐश्वर्य है—और न ही प्रिय-प्रवास का हिल्लोलकारी सगीत। वस्तुत महाकाव्य-कार गुप्त जी का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष शैली ही है।

## महाकाव्यकार मैथिलीशरण की सिद्धि

सर्वप्रथम तो एक नवीन पात्र की सृष्टि—चिर-उपेक्षिता उर्मिला की चरित्र-परिकल्पना और वह भी नायिका के रूप मे बहुत बडी सफलता है। दूसरे वाल्मीकि एव तुलसी के पश्चात् मौलिक रामकाव्य का और भारत के पचम वेद महाभारत की सहस्रो पृष्ठो मे प्रकीर्ण प्राय सम्पूर्ण कथा को लेकर साढे चार सौ पृष्ठ के एक सफल सरस काव्य-ग्रन्थ का निर्माण अपने आप मे महती सिद्धि है। तीसरे साकेत मे एक ओर यदि कवि को आत्मसाक्षात्कार—

साहित्य-सर्जन के सुख का वास्तविक अनुभव हुआ है तो दूसरी ओर जय भारत मे उसके सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन का समाहार हो गया है। इसके अतिरिक्त साकेत और जय भारत दोनो को युगधर्म—मानववाद की प्रतिष्ठा का अपूर्व गौरव प्राप्त है।

उधर शिल्प-विधान की दृष्टि से भी गुप्त जी के महाकाव्यो मे अनिवार्य तत्त्व ही नही महाकाव्य के शास्त्र-प्रतिपादित गौण अग भी मिल जाते हैं। अनेक दोष भी हैं पर दोष किसमे नही होते ?—और फिर साकेत तथा जय भारत की त्रुटियाँ तो सकारण हैं। साकेत के वस्तु-विधान तथा शैली के दोषो के लिए कथानक की अतिरिक्त ख्याति और खडी बोली की अपरिपक्वता ही उत्तरदायी है। जय भारत की अधिकाश त्रुटियो का मूल कारण है कथा का विपुल परिमाण—महाभारत कोई छोटी-सी कथा थोडे ही है ! वस्तुत इस महदनुष्ठान को इस रूप मे सम्पूर्ण करना भी बहुत बडी उपलब्धि है। कवि की अपनी सीमाओ से भी इन्कार नही किया जा सकता—तथापि उसकी सिद्धि के समक्ष नतशिर आलोचक को मैथिलीशरण की प्रबन्ध-कल्पना का क़ायल होना ही पडेगा।

# गुप्त जी की खण्डकाव्य-विषयक धारणाएँ

मैथिलीशरण गुप्त ने कुल मिलाकर १६ खण्डकाव्य लिखे हैं। यहाँ उन्ही के आधार पर उनकी तद्विषयक धारणाओ के विवेचन का प्रयत्न किया गया है। उन सभी का रचना-काल एक नही है—'रग मे भग' और 'युद्ध' की रचना मे चालीस-बयालीस वर्ष का अन्तराल है। उनका आकार-प्रकार भी एक नही है और शिल्प-विधान मे भी काफी अन्तर है। फिर भी उन सबके तल मे समानता का एक सूत्र वर्तमान है। उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास तो है, शिल्प मे निखार भी है किन्तु मूल तत्त्व प्राय सभी मे एक-से ही हैं।

## कथावस्तु

खण्डकाव्य की वस्तु के लिए प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि अथवा ऐतिहासिकता-अनैतिहासिकता आदि का कोई प्रतिबन्ध नही है। कवि कालिदासकृत मेघदूत सर्वथा कल्पना-प्रसूत ही है। पर काल्पनिक कथानको मे मैथिलीशरण की विशेष रुचि नही है। अतएव उनके खण्डकाव्यो की कथा उत्पादित न होकर प्रख्यात है—जो प्रख्यात नही है वह भी साधार तो है ही।

## मूल-स्रोत

वास्तव मे प्राचीनता के प्रति गुप्त जी का अतिरिक्त मोह है। इसीलिए वे इतिहास से कोई घटना लेकर उसी पर अपनी कल्पना का प्रयोग करते हैं। किन्तु उनका इतिहास आज का मान्य इतिहास ही नही है—वे रामायण-महाभारत और पुराणो को भी उसके अन्तर्गत ही परिगणित करते है। इन्ही से उन्होंने अपने खण्डकाव्यो के कथा-सूत्र का चयन किया है। 'शक्ति' का मूलस्रोत पुराण तथा 'पचवटी' का उद्गम-स्थल रामायण है—और 'जयद्रथ-वध',

'सैरन्ध्री', 'वन-वैभव', 'वक-सहार', 'नहुप', 'हिडिम्बा' तथा 'युद्ध' का आधार है महाभारत। शेप 'विकट भट' और 'सिद्धराज' राजपूत इतिहास से, 'गुरुकुल' सिक्ख इतिहास मे, 'कावा और कर्वला' मुस्लिम इतिहास से तथा 'अर्जन और विसर्जन' विदेश के इतिहास मे सवद्ध हैं। 'शकुन्तला' का आधार महाभारत अथवा पुराण न होकर कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' है। दो खण्डकाव्य—'अजित' और 'किसान' किसी लिखित एव प्रामाणिक इतिहास पर आधृत न होकर अपने देश के समसामयिक समाचारो पर अवलम्बित हैं। वस्तुत मैथिलीशरण को जहाँ भी कोई चित्ताकर्पक एव प्रभावक्षम प्रसग मिलता है वही से ग्रहण कर लेते हैं। महाभारत के अनेक प्रकरणो मे उन्हे अपनी भावना का रग भरने का अवसर मिला अतएव वहाँ से कई खण्ड काव्यो की सामग्री का चयन हुआ है।

## मूलवर्ती दृष्टिकोण

ऐतिहासिक-पौराणिक कथानको को गुप्त जी अपनाते अवश्य है—किन्तु उसी रूप मे नही। उनके माध्यम से युगीन समस्याओ का पुरस्करण एव समाधान करते हैं। साथ ही उन्होंने उनमे से अतिमानवीय तत्त्व निकालकर सहज-स्वाभाविक परिधान प्रदान करने का प्रयत्न किया है। आज के पाठक को अमानवीय अथवा अतिमानवीय शक्तियो मे उतना विश्वास नही रह गया है। अत आधुनिक कवि यथासभव कथानक को बुद्धि-सगत एव तर्क-सम्मत रूप देता है—आलोच्य कवि ने भी यही किया नहुप आख्यान मे ऋपियो द्वारा उठाई गई शिविका मे नहुप के चढकर आने का प्रस्ताव स्वय इन्द्राणी की सूझ है। महाभारत के समान वह मर्त्यलोक-स्थित इन्द्र का परामर्श नही है। 'वक-सहार' मे कुन्ती मे पुत्र-हानि की आशका का क्लेश तथा 'हिडिम्बा' मे राक्षसी हिडिम्बा मे स्त्रीसुलभ लज्जा का प्रदर्शन कर मानवीयता प्रदान की गई है।—और स्वाभाविकता के लिए तो गुप्त जी ने शूर्पणखा-आख्यान मे समय तक बदल दिया है। रामचरितमानस मे शूर्पणखा दिन-दहाडे आती है—किन्तु पचवटी मे उसका आगमन रात्रि के तीसरे प्रहर मे होता है। शायद उसके कुत्सित प्रस्ताव के लिए यही समय सर्वथा उपयुक्त है। और 'किसान' तथा 'अजित' जिनका कि कोई विशिष्ट आधार नही है, उनमे तो अस्वाभाविकता का अत्यन्ताभाव है ही। हाँ, 'जयद्रथ-वध' जैसी आरम्भकालीन रचना मे अवश्य अतिमानवीय तत्त्व को ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया गया है जैसे अर्जुन द्वारा छिन्न जयद्रथ के शीश का आकाश मार्ग से उडकर तपस्यारत वृद्ध क्षत्र ( जयद्रथ के पिता ) की गोद मे जा गिरना—और तव वृद्ध क्षत्र का भी सिर फटना।[1] इसके अतिरिक्त जिन कथानको मे कवि ने परिवर्तन किया भी है उनमे भी परम्परा का एकान्त त्याग नही है। गुप्त जी को मधुसूदनकृत मेघनाद-वध अत्यन्त प्रिय है। फिर भी वे उसकी तरह परम्परामुक्त होने का प्रयास नही करते न ही मनोविश्लेषण शास्त्र के इतने चक्कर मे पडते हैं कि भगवतीचरण वर्मा की द्रौपदी के समान किसी प्रतिष्ठित पात्र के प्रसिद्ध रूप मे आमूल परिवर्तन ही हो जाए। और स्पष्ट शब्दो मे

---

१ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृष्ठ ८७

मैथिलीशरण जी मे युगोचित वैज्ञानिकता तो है—किन्तु परम्परा की श्रद्धा का अभाव नही।

## मौलिकता

परम्परा के प्रति अटूट श्रद्धा की अवस्थिति मे भी मैथिलीशरण मौलिकता-सपादन मे समर्थ हैं। राजपूत, सिक्ख और मुस्लिम इतिहासो से सवद्ध तथा अजित और किसान जैसे विशिष्टाधाररहित काव्य तो साहित्य-जगत् के लिए सर्वथा नूतन हैं ही—किन्तु रामायण-महाभारत आदि पर आधृत रचनाएँ भी मौलिक हैं। मौलिकता उनमे है प्रकरण तथा प्रवन्ध की वक्रता की। प्रकरण एव प्रवन्ध-गत वक्रता के कारण ही उनमे अनेक उद्भावनाएँ हुई है जिनका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ। रस और सदेश मे भी परिवर्तन हुआ है। महाभारत मे नहुप-आख्यान का रस करुण-रौद्र है तो मैथिलीशरणकृत 'नहुप' मे शृगार-वीर। महाभारतगत वक-सहार मे प्रधान रस वीर है पर 'वक-सहार' का मुख्य रस है वात्सल्य। इसी प्रकार रामचरितमानस के पचवटी प्रसंग मे शृङ्गार-रौद्र है—किन्तु गुप्त जी की 'पचवटी' मे शान्त-शृगार। सदेशो मे भी पर्याप्त अन्तर है। महाभारत के नहुप-वृत्त मे सत्कर्मो से इन्द्र-पद तक की प्राप्ति और दुष्कर्मों से पतन का उल्लेख, वकासुर-वध तथा हिडिम्व-वध प्रसगो मे भीम के अतुल वल-पराक्रम का निर्देश ही कवि का उद्देश्य है। किन्तु मैथिलीशरण विरचित 'नहुप' मे मानवोत्थान मे अडिग आस्था, 'वक-सहार' मे वात्सल्य पर कर्त्तव्य की विजय निहित है।—और 'हिडिम्वा' मे वर्गभावना का त्यागकर प्राणिमात्र से प्रेम करने का सदेश है। रामायण मे पचवटी-प्रसग का कोई अपना पृथक् सदेश नही है—वहाँ अग्रिम कथा का वीजारोपण होता है। किन्तु गुप्त जी की पंचवटी मे उनका जीवन-दर्शन सन्निहित है। जहाँ मौलिकता का यह उत्कृष्ट रूप नही है वहाँ भी कम मे कम प्रतिपादन शैली तो कवि की अपनी है ही। सैरन्ध्री, वन-वैभव आदि की मौलिकता शैलीगत ही है—वैसे कोई नूतन उद्भावना नही। इस प्रकार हम देखते हैं कि मैथिलीशरण वरावर मौलिकता का ध्यान रखते हैं। हाँ 'शकुन्तला' इस दृष्टि से अवश्य चिन्तनीय है। यद्यपि वह भी किसी ग्रथ का अविकल अनुवाद नही तथापि हमारा अनुमान है कि उसकी रचना के समय कवि कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' वरावर कवि के सामने रहा है।

## रोचकता और औत्सुक्य

मौलिकता, सगति एव सगठन के साथ ही किसी भी कथानक के लिए रोचकता आवश्यक हुआ करती है जिसमे कि पाठक के मन मे कौतूहल और तज्जन्य उत्सुकता वनी रहे। खण्डकाव्य कथाश्रित ही होता है अत रोचकता उसका मूलगुण है। इस मूलगुण की रक्षा किंवा समावेश के लिए कवि नूतन विषय अपनाता है या फिर पूर्वपरिचित की नवीन व्याख्या करता है। और कुछ नही तो कम से कम प्रतिपादन शैली तो मौलिक होनी ही चाहिए। गुप्त जी के खण्डकाव्यो मे से रग मे भग, सिद्धराज, किसान, विकट भट, गुरुकुल आदि तो काव्य-जगत् के लिए सर्वथा अपरिचित ही हैं। इन काव्यो मे और चाहे कितने भी दोप क्यो न हो, रोचकता निस्सन्देह अक्षुण्ण है। अपवाद है केवल गुरुकुल। इसकी रचना

हृद्गत प्रेरणा का फल न होकर एक सिक्ख सज्जन के आग्रह के परिणाम-स्वरूप हुई थी। ऐसी दशा मे बौद्धिक ऊहापोह-जन्य विस्मय मिल सकता है, कौतूहलजन्य रोचकता नही। शक्ति, पचवटी, वक-सहार, नहुप, हिडिम्बा, शकुन्तला तथा युद्ध प्राचीन साहित्य से लिए गए हैं। इनमे नवदृष्टि, अभिनव जीवन सदेश तथा मौलिक उद्भावनाओ के समावेश से आशातीत रोचकता आ गई है। शकुन्तला मे कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् के पश्चात् रस नही रहता। औत्सुक्य एव रोचकता की रक्षा के लिए गुप्त जी प्रकरणगत वक्रता और प्रसगगत उद्भावना के अतिरिक्त अन्य अनेक युक्तियो का भी सफल प्रयोग करते है। उदाहरण के लिए .

## १ नाटकीय आकस्मिकता

कभी-कभी कवि एक झटके के साथ नया दृश्य उपस्थित करता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई अभिनेता झम से मच पर कूद गया हो। पचवटी-स्थित पर्णकुटी के बाहर एक शिला पर प्रहरी के रूप मे लक्ष्मण बैठे हैं। उर्मिला के स्मरण आते ही वे एक क्षण ध्यान-मग्न हो जाते हैं, किन्तु—

**फिर आँखें खोलें तो यह क्या,**
**अनुपम रूप अलौकिक वेष !**
**चकाचौंध-सी लगी देखकर**
**प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,**
**निस्सकोच खड़ी थी सम्मुख**
**एक हास्यवदनी बाला।[1]**

शूर्पणखा की इस तीव्र आलोकमय उपस्थिति से पाठक चौंक उठता है।—और लक्ष्मण के समान ही विस्मय-विमुग्ध हो देखता रह जाता है। आकस्मिकताजनित यह विस्मय परम्परागत कथा मे भी जान डाल देता है।

## २ सभाव्य की असभावित उपस्थिति

जानी-पहचानी कथाओ मे चमत्कार उत्पन्न करने के लिए—कौतूहल बनाए रखने के लिए कविजन नियत-निश्चित घटनाओ को भी ऐसे समय और स्थान पर रख देते हैं जहाँ पर कि पाठक को उनके आने की सभावना भी नही होती। जैसे मनुष्य गध पाकर हिडिम्ब अपनी बहन हिडिम्बा को पता लगाने के लिए भेजता है। वह भीम के पौरुष पर मुग्ध हो जाती है और तब कमनीय कलेवर धारण कर उनके सामने आती है। दोनो मे प्रेमालाप होता है—

**प्रिय-रुचि-हेतु चुना मैंने यह चोला है**
**नरवर मेरा अहा भारी भला भोला है[2]**

**—हिडिम्बा**

---

[1]. पचवटी, इकतीसवा सस्करण, पृष्ठ २०

[2] हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १६

भोला ? भली, 'मुग्ध' कह तो भी एक बात है,
रूठे वह क्यो न, सीधा सीधा यह घात है।[१]
—भीम

भीम-हिडिम्बा के साथ ही पाठक भी इस मधुरालाप मे विभोर है—रसमग्न है। इस माधुर्य-प्रवाह के बीच मे ही जब हिडिम्बा कहने लगती है—

सोदर हिडिम्ब मेरा रक्षः कुल-दीप है,
उसने मनुष्य-गंध पाके मुझे भेजा है।[२]

—तो पाठक चौक उठता है। यद्यपि वह वास्तविकता से पूर्वपरिचित है तथापि यहाँ उसे इस सूचना की सम्भावना भी नही थी। यह असभावित प्रस्ताव कितना करुण-मधुर है। एक और उदाहरण लीजिए। बन्दावीर बैरागी कुछ यवनो को आश्रय देते है किन्तु 'रचते हुए कराल कुचक्र'[3] वे लोग शीघ्र ही पकडे गए। तब—

बैरागी ने कहा क्षमा के प्रार्थी आ जावें इस ओर
यह सुन गिन गिन कर छट आए जिन जिनके भीतर था चोर।[४]

पाठक सोचता है कि ये लोग क्षमा कर दिए जाएगे पर जब वह अग्रिम पंक्ति मे उनके वध की बात पढ़ता है—

अरे अभागो, तुम्हे मृत्यु ही
लाई थी मेरे घर घेर[५]

—तो उसे एक झटका लगता है और यह झटका निश्चित रूप से रोचकता के अभिवर्द्धन मे सहायक है।

### ३ नाटकीय वैषम्य

जब किसी तथ्य से एक पात्र परिचित और दूसरा अपरिचित हो अथवा पाठक अभिज्ञ और पात्र अनभिज्ञ हो तो एक विस्मयकारी वैषम्य उपस्थित होता है। मैथिलीशरण गुप्त अपने महाकाव्यो के समान ही खण्डकाव्यो मे भी रोचकता के समावेश के लिए इस युक्ति का प्रयोग करते हैं। केवल एक उदाहरण देता हूँ। सोमनाथ को जाती हुई सिद्धराज जयसिंह की माता मीलनदे के समक्ष एक माता और उसका पुत्र बन्दी के रूप मे लाए जाते हैं। अपनी सफाई पेश करती हुई महिला कहती है—

---

१ हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६
२ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १६
३ गुरुकुल, सस्करण सवत् २००४, पृष्ठ २३२
४ ,, ,, ,, ,, ,, ,,
५. ,, ,, ,, ,, ,, ,,

बोली मैं, 'यहाँ भी क्या निपूता राजकर है ?
शान्तिमूर्त्ति आप भ्रू चढावें नहीं, सोच लें,
राज का या कर का विशेषण निपूता है ?[1]

वे दोनो मुक्त कर दिए जाते हैं और बात यही समाप्त हो जाती है। कई वर्ष पश्चात् रानकदे जयसिंह से कहती है—

तो क्या तुम चाहते हो, प्रभु से मनाऊ मैं—
यौवन बिगाडने तुम्हारी किसी रानी का
आवे नहीं कोई शिशु-पुत्र कभी कोख मे[2]

इसके पढते ही पूर्वोक्त महिला का कथन स्मरण हो आता है। रानकदे और जयसिंह उससे अनभिज्ञ हैं—किन्तु पाठक इनके अद्भुत साम्य पर आश्चर्यचकित रह जाता है। और पचम सर्ग मे—

एक पुत्र छोड सब पाया सिद्धराज ने[3]

—पढते ही उसके हृदय पर एक कोमल-करुण लीक खिच जाती है। उपर्युक्त दोनो बाते अनायास ही मस्तिष्क मे घूम जाती हैं। शब्दो की यह विषमता अत्यन्त कौतूहल-जनक है।

## वस्तु-विन्यास

मौलिकता की अवस्थिति मे भी क्रमबद्धता एव सुष्ठु सघटन अनिवार्यत अपेक्षित है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ खण्डकाव्य को 'एकदेशानुसारि' मानते है। तात्पर्य यह कि उसमे एक अग का अनुसरण होता है। आधुनिक शब्दावली मे कह सकते हैं कि खण्डकाव्य मे किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना का आलेखन होना चाहिए अथवा किसी महान् व्यक्तित्व के जीवन के एक ही पक्ष का विश्लेषण होना चाहिए। इस प्रकार खण्डकाव्य मे महाकाव्य के समान पूर्ण जीवन का नही वरन् खण्ड-जीवन का चित्रण होता है—किन्तु वह चित्रण निबन्ध के समान अपने सक्षिप्त आकार मे स्वत सपूर्ण होना चाहिए।—और इस सक्षेप की सार्थकता क्रमिकता एव अन्विति मे है।

गुप्त जी के अधिकाश खण्डकाव्यो मे ये सब विशेषताए मिलती हैं। उनमे वे जीवन के एक ही पक्ष का निरूपण करते हैं। नहुष मे महाराज नहुष के जीवन से केवल एक घटना—उनके स्वर्ग-भ्रष्ट होने का, वक-सहार मे कुन्ती के मातृत्व का, वन-वैभव मे युधिष्ठिर की नीति का, पचवटी मे शूर्पणखा से सम्बद्ध राम-लक्ष्मण के जीवन की एक घटना का, किसान मे भारतीय कृषक के दु खो का वर्णन मिलता है। अभिप्राय यह कि मैथिलीशरण अपने खण्डकाव्यो मे खण्ड-जीवन का चित्रण करते हैं, और अपेक्षाकृत सक्षिप्त होने के कारण उनमे सगति एव सगठन बराबर बना रहता है। यद्यपि काव्य-रचना के समय गुप्त जी

---

१ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १०
२. " " ", पृष्ठ ७५
३. " " ", पृष्ठ १०६

को इस बात का ध्यान नही रहता कि वे महाकाव्य लिख रहे हैं अथवा खण्डकाव्य फिर भी विषय-वस्तु के सीमित होने के कारण तथा उसमे महार्घता के अभाव के कारण कवि अपने महाकाव्यो के समान उनमे भावावेश के समय वहता नही। अत कथा का विकास क्रमिक एव सहज-स्वाभाविक है तथा उचित अनुपात की सर्वत्र रक्षा की जाती है। मैं समझता हूँ कि यदि केवल वस्तु-सघटना की दृष्टि से देखा जाए तो प्रस्तुत कवि के खण्डकाव्य उसके महाकाव्यो की अपेक्षा अधिक सफल हैं।

किन्तु कुछेक की वस्तु सदोप भी है। रग मे भग की कथा बीच मे एक बार दम तोडकर फिर उठती है। राजकुमारी के सती होने पर कथा समाप्त हो जानी चाहिए थी—कवि स्वय भी ऐसा ही समझता है—

**यद्यपि पूरा हो चुका यह चरित एक प्रकार से**[1]

पर वह हाड़ा राणा कुभ के वीर-चरित के आलेखन का लोभ सवरण नही कर पाया इसीलिए वह कथा भी उसमे जोड दी। यदि इन कथाओ मे अग-अगी का सम्बन्ध होता तो दोप न होता—पर ऐसा नही हो पाया। पहली कहानी मे राजपुत्री के घनीभूत प्रेम का पावन प्रकाश है तो दूसरी मे राणा कुभ के उज्ज्वल देश-प्रेम का उद्भास। अत दोनो का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है—अपना-अपना पृथक् सदेश है। त्रुटि का कारण इन दोनो के समाहार का प्रयत्न है। सिद्धराज मे भी स्पष्टत कई वृत्त हैं—१ सिद्धराज-रानकदे, २ अर्णोराज-काचनदे, ३ सिद्धराज-मदनवर्मा। इन सवको एक मे ही समाहित कर दिया गया है—किन्तु इनमें से किसी एक को भी केन्द्रिक घटना नही माना जा सकता। सभी का अपना विशेष महत्त्व है। अत केन्द्रीभूत प्रभावशालिता का अभाव है जो कि निश्चित रूप से प्रवन्धकाव्य के लिए अपरिहार्य दोप है।

## परिमाण

मैंने अभी निवेदन किया है कि खण्डकाव्य मे कोई एक घटना आलिखित होती है। उसमे किसी महान् व्यक्ति के खण्ड-जीवन का, जीवन के एक ही पक्ष का चित्रण हुआ करता है। अतएव वह लघुकाय होता है—उसमे लघुता होनी चाहिए महाकाव्य की तुलना मे। किन्तु लाघव और वार्हत्य सापेक्षिक शव्द हैं। इसलिए कोई पृष्ठ-सख्या निर्धारित नही की जा सकती। फिर भी खण्डकाव्य के नाम से अभिहित की जाने वाली रचनाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि उसका परिमाण ३५–४० पृष्ठ के आस-पास होना चाहिए। गुप्त जी के खण्डकाव्यो पर दृष्टिपात करें तो उनके परिमाण मे हमे काफी अन्तर मिलता है। गुरुकुल, सिद्धराज और अजित वहुत वडे हैं तो अर्जन और विसर्जन वहुत छोटे। वास्तव मे अर्जन, विसर्जन आदि को खण्डकाव्य न कहकर कथात्मक कविता कहना अधिक सगत होगा। गुरुकुल, सिद्धराज और अजित को भी खण्डकाव्य नही मानना चाहिए—क्योकि गुरुकुल मे एक की नही अनेक व्यक्तियो की जीवन-घटनाए वर्णित हैं और सिद्धराज एव अजित मे नायक से सम्बद्ध एक घटना का नही अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओ का चित्रण है। इन तीनो को आचार्य विश्व-

---

१. रग मे भग, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ २२

नाथ द्वारा सकेतित एकार्थ काव्य माना जा सकता है जो कि महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच का काव्य-रूप है। उक्त रचनाओ के अतिरिक्त गुप्त जी के प्राय सभी खण्डकाव्यो का परिमाण प्रचलित धारणाओ के अनुकूल ही है। मेरे विचार मे परिमाण की दृष्टि से मैथिलीशरणकृत नहुप, वन-वैभव, वक-सहार, सैरन्ध्री, शक्ति और विकट भट आदि आदर्श खण्डकाव्य है।

## मूल्याकन

गुप्त जी के खण्डकाव्यो की वस्तु के पर्यवेक्षण से हमने देखा कि वे प्राय शास्त्रानुसार किसी सदाशय महापुरुप के जीवन की एक घटना को ही अपनाते हैं। किन्तु उनकी प्रवृत्ति अत्यन्त प्रसिद्ध कथानकों की ओर है। प्रसग एव प्रकरण-गत वक्रता द्वारा वे उन्हे भी मौलिकता एव रोचकता प्रदान कर देते हैं। किसी-किसी मे तो मूल अथवा पूर्वरूप से भी अधिक रोचकता है। उदाहरणत मैथिलीशरणकृत नहुप, हिडिम्वा, वक-सहार, पचवटी आदि रचनाएँ तद्विषयक प्राचीन काव्यो से भी अधिक रोचक है। अपवाद है केवल शकुन्तला। रोचकता के साथ ही ये कथाएँ यथेष्ट प्रभावक्षम है—इनमे वाछित सदेश के वाहन की सामर्थ्य है।—और मैथिलीशरण से सफल कथाकार की कृतियो मे वस्तु-विन्यास का दोप तो कठिनता से ही उपलब्ध होता है, केवल रग मे भग और सिद्धराज मे कथा का विकास सर्वथा निर्दोप नही है। इनमे केन्द्रीकरण का अभाव है—एक साथ कई वृत्त जोड दिए गए हैं। वास्तव मे रग मे भग की वस्तु दो और सिद्धराज की कथा कम से कम तीन खण्डकाव्यो के लिए पर्याप्त थी। किन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ कि गुप्त जी रचना करते समय काव्य-रूप की चिन्ता नही करते—उनका ध्यान केवल विपय पर केन्द्रित रहता है। इसीलिए उक्त कृतियों मे यह दोष आ गया है—अन्यथा कवि का प्रबन्ध-कौशल निर्विवाद है। गुरुकुल, सिद्धराज और अजित का विपुल परिमाण भी खटक सकता है। किन्तु मैं समझता हूँ कि 'एकार्थ काव्य' जैसी कोई विधा प्रचलित-प्रतिष्ठित न होने के कारण हम विवशतावश ही इन्हे खण्डकाव्य कह देते हैं। नही तो इनकी चित्रपटी की विशालता को देखते हुए इन्हे खण्डकाव्य मानना ही असगत है।

अन्तत निष्कर्ष यह कि गुप्त जी के खण्डकाव्यो की वस्तु प्रख्यात—किन्तु मौलिक एव रोचक होती है। उसका विकास और सघटना भी प्राय ठीक ही है। कुछ दोष भी हैं जो सवथा अकारण नही हैं।

## चरित्र-चित्रण

किसी भी घटना का कर्त्ता अथवा भोक्ता चरित्र कहलाता है। यदि चरित्र है तो वह कुछ न कुछ करेगा ही, और यदि कोई घटना है तो निश्चित रूप से उसके करने या भोगने वाला कोई पात्र होगा। इस प्रकार वस्तु और चरित्र अन्योन्याश्रित हुआ करते हैं। हाँ, यह वात अवश्य है कि खण्डकाव्य मे चरित्र के एक अश का ही प्रतिपादन होता है। उसमे कहानी एव एकाकी के समान ही व्यक्तित्व की केवल एक झलक दिखाई जाती है फिर भी चरित्र-चित्रण खण्डकाव्य का अनिवार्य तत्त्व है।—और साथ ही आवश्यक है उस चित्रण मे

मौलिकता। गुप्त जी के खण्डकाव्यो मे कतिपय पात्र तो सर्वथा कल्पित, कुछ काव्य-जगत् के लिए अपरिचित किन्तु कुछ चिरपरिचित हैं। इन पूर्वपरिचित चरित्रो के चित्रण की बडी कठिन समस्या कवि के सामने रही होगी। पर हम देखते हैं कि पूर्वनिर्मित पात्रो का उसने बडे कौशल से पुनर्निर्माण किया है। और इस पुनर्निर्मिति मे मैथिलीशरण ने अनेक बातो का ध्यान रखा है।

## पुनस्सृजन

मैथिलीशरणकृत खण्डकाव्यो के अधिकाश पात्र चिर-प्रसिद्ध हैं। वास्तव मे काल्पनिक कथानको एव पात्रो की ओर गुप्त जी की रुचि नही है। प्राचीनता के प्रति उनके मन मे अपार श्रद्धा है। अपनी बात भी, आज के युग की बात भी, वे उसी के माध्यम से कहना अधिक पसद करते हैं। किन्तु वे अन्धानुकरण नही करते—चिरपरिचित चरित्रो का भी पुनस्स्पर्श एवं पुनर्निर्माण करते हैं। पुराने कवि ने उनका सृजन किया था अपने ढग से, आज का कवि उनका पुनस्सृजन करता है अपने दृष्टिकोण से। पर इस पुनस्सर्जना की प्रक्रिया मे कवि उनमे आमूलचूल परिवर्तन नही करता। तात्पर्य यह कि वह चरित्रो के प्रतिष्ठित रूप को वैसा ही रखते हुए उनका पुनर्निर्माण करता है, नव-निर्माण नही। हिडिम्बा, भीम, नहुष, सीता आदि के चरित्र मेरे इस कथन के साक्षी हैं। हिडिम्बा पर नारीसुलभ कोमलता एव व्रीडा का आरोप करने पर भी वह राक्षसी ही है। नहुष को मानव की दुर्दम शक्ति का प्रतीक बनाकर भी कवि ने विषयी के रूप मे ही प्रस्तुत किया है। सीता पर आधुनिक भाभी का रग चढ जाने पर भी वे पूज्या हैं, आर्या हैं। महाभारत-वर्णित डींग मारने एव नारी के समक्ष भुजदण्डो के अशोभन प्रदर्शन आदि के प्रसगो को बचा लेने पर भी हिडिम्बा के भीम दृप्त साहसिक हैं।

## स्वाभाविकता की रक्षा

इस पुनस्स्पर्श एव पुनस्सृजन मे मूल स्वर रहा है स्वाभाविकता। किसान, सिद्धराज, विकट भट, रग मे भग आदि के पात्र तो वैसे ही मानव थे—किन्तु नहुष, बक-सहार, वन-वैभव, सैरन्ध्री, हिडिम्बा और पचवटी के प्राय सभी पात्र—कम से कम मुख्य पात्र तो अवश्य—अमानव अथवा अतिमानव थे। आज के पाठक और कवि को यही सर्वाधिक अखरता है। वे अतिमानवीयता मे विश्वास नही करते। गुप्त जी भी उक्त रचनाओ के पात्रो से यथासम्भव अतिप्राकृत तत्त्व के निराकरण का, उनमे सहज मानवीयता की प्रतिष्ठा का प्रयास करते दृष्टिगत होते हैं। कुन्ती बकासुर के लिए भीम को भेजने की प्रतिज्ञा तो कर लेती हैं—किन्तु बाद मे कर्त्तव्य की भीषणता से अभिज्ञ उनका सहज मातृ-हृदय रो उठता है। राक्षसी होने पर भी हिडिम्बा भीम की ओर आते हुए अपने भाई हिडिम्ब के विषय मे महाभारत के समान अपशब्दो की झडी नही लगा देती। और पचवटी के लक्ष्मण-सीता की विनोद-वार्ता, हास्य-व्यग आदि मे तो शुद्ध मानवीय पर सात्त्विक रोमास का तारल्य है ही। इस प्रकार मैथिलीशरण जी पात्रो के प्रथित रूप की रक्षा करते हुए भी उनमे यथासम्भव अकृत्रिम मानवीयता का समावेश करते हैं।

## मुख्य पात्रो की श्रेष्ठता

वास्तव मे मानवीय पात्र ही मनुष्य पर कुछ प्रभाव डाल सकते हैं। अलौकिक शक्तिसम्पन्न चरित्र पाठक को विस्मित भले ही कर दें—किन्तु वे उसे प्रभावित एव प्रेरित नही कर सकते। —और मैं समझता हूँ यह प्रेरणा ही किसी कृति का लक्ष्य हुआ करती है। इसीलिए कविगण प्रमुख पात्र किसी विशिष्ट गुणसम्पन्न व्यक्ति को ही बनाते हैं। किन्तु खण्डकाव्य के लिए यह आवश्यक नही है कि नायक अथवा प्रमुख पात्र धीरोदात्त ही हो। और स्पष्ट शब्दो मे खण्डकाव्य का प्रधान चरित्र द्वितीय श्रेणी का हुआ करता है—महाकाव्य के समान उदात्त नही। आलोच्य कवि के खण्डकाव्यो के मुख्य पात्र लक्ष्मण, द्रौपदी, सिद्धराज जयसिंह, सिक्ख गुरु, बालक सवाईसिंह, दुष्यत आदि हैं। ये सब अपने-अपने कृत्यो के कारण प्रख्यात और इनके पावन चरित्र सद्भावना के उद्भावन मे समर्थ हैं। अजित और किसान के पात्र अख्यातनामा—बल्कि काल्पनिक होने पर भी उक्त कर्त्तव्य का सफल सम्पादन करते हैं। इस प्रकार गुप्त जी अपने खण्डकाव्यो मे मुख्य पात्र के रूप मे श्रेष्ठ चरित्रो का ही चयन करते हैं। कभी-कभी नहुप और हिडिम्बा जैसे परम्परा से अभिशसित व्यक्तियो को भी प्रमुखता दे देते हैं—किन्तु उनके चरित्र मे उज्ज्वल पक्ष को ही प्रस्तुत करते हैं, कलुषित को नही। अभिप्राय यह कि वे भी रचना-विशेष मे तो श्रेष्ठ ही होते हैं।

## विचित्र उलझन

किन्तु गुप्त जी के खण्डकाव्यो का चरित्र-चित्रण सर्वथा निर्दोष नही है। उन्होंने पात्रों मे से अमानवीयता एव अस्वाभाविकता के निराकरण का प्रयत्न किया है—लेकिन इस प्रयास मे ही बहुत से चरित्र उलझ गए हैं। पचवटी के लक्ष्मण एक ओर तो मातृ-तुल्य सीता के चरण-स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर भाभी पर व्यग करने वाले आधुनिक देवर बन जाते हैं—

> **पंचायत करने आई थी**
> **अब प्रपच मे क्यो न पडो**[1]

तन्वगी शूर्पणखा भी अपना प्रस्ताव अस्वीकृत होने पर 'विकट विकराल' रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार हिडिम्बा को मानवी के रूप मे[2] प्रस्तुत करके भी कवि उसमे अलौकिक शक्ति की प्रतिष्ठा करता है—

> **भार नहीं हूगी मैं तुम्हारे भीम के लिए**
> **विचरूँगी व्योम में भी उनको लिये-दिये।**[3]

इस असगति के निराकरण के लिए यद्यपि कवि ने स्वय हिडिम्बा से कहलाया है—

---

१ पचवटी, इकतीसवाँ संस्करण, पृष्ठ ५३
२ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १३
३ ,, ,, ,, पृष्ठ ४३

यातुधानी हूँ न, योग रखती हूँ माया का ![1]

फिर भी पाठक का परितोप नही होता । सैरन्ध्री मे सुदेष्णा का चरित्र भी ऐसे ही उलझा हुआ है। कीचक के द्रौपदी के लिए प्रस्ताव करने पर वह उसे धिक्कारती है—किन्तु अगले ही दिन स्वय द्रौपदी को कीचक के निवास स्थान पर चित्र पहुँचाने के लिए वाध्य करती है।—और फिर भाई के लिए वहन का ऐमा अशोभन कृत्य वैसे भी चिन्तनीय है।

इनके अतिरिक्त सिद्धराज के चरित्र-चित्रण मे एक और ही दोप आ गया है। वह यह कि सिद्धराज जयसिंह के व्यक्तित्व का अन्तिम प्रभाव अमिश्रित नही है—अस्पष्ट और धूमिल है। यद्यपि वे नायक हैं और कवि की—साथ ही पाठक की भी—सहानुभूति उनके प्रति वरावर वनी रहती है। फिर भी राणा खगार, जगद्देव, अर्णोराज और महाराज मदन वर्मा के चरित्र उनसे कही अधिक उज्ज्वल हैं। परिणामत पुस्तक की समाप्ति पर पाठक को पश्चात्ताप होता है अपनी भ्रान्ति पर ! हमारी सम्मति मे यह चरित्र-चित्रण का एक वहुत वडा दोष है।

निष्कर्ष यह कि गुप्त जी चरित्र-चित्रण मे स्वाभाविकता का विशेष ध्यान रखते हैं। किन्तु उनके अधिकाश पात्र अमानवीय अथवा अतिमानवीय रूप मे प्रसिद्ध हैं, अत उनको मानवीय रग देने मे वे कही-कही उलझ भी जाते है।

## रस-सचार

सरसता काव्य की अनिवार्य आवश्यकता है। सौरस्य का ही दूसरा नाम काव्यानन्द है। आनन्द-प्राप्ति के लिए मनुष्य ने आज तक जितने भी प्रयत्न किए हैं, काव्य उनमे सर्वाधिक मधुर और सूक्ष्म है। उसका सदेश चाहे कुछ भी हो—किन्तु विधि आनन्दमयी अथवा रसपूर्ण होनी चाहिए। वास्तव मे औदात्त्य भी आनन्द-रूप रस से भिन्न नही है। दो-एक को छोडकर गुप्त जी के सभी खण्डकाव्य रस-दीप्त हैं। आकार मे सक्षिप्त होने के कारण उनमे कही भी उनके महाकाव्यो के समान आवेग मे परिक्षीणता अतएव नीरसता नही आने पाई है। साहित्याचार्यों ने नवरस माने हैं। मैथिलीशरण अपने खण्डकाव्यों मे उनमे से वीर को प्राधान्य देते हैं।—और वह वीर प्राय युद्धवीर ही है। उसमें रिपुदमन का उत्साह है, घोर गर्जनाए तथा गर्वोक्तिया हैं और है शस्त्रो की खनखनाहट। 'शक्ति' से एक उदाहरण लीजिए—

गरजी अट्टहास कर अम्वा देख ठट्ट के ठट्ट ;
वहल उठे जलथल अम्वरतल घटा विकट संघट्ट ![2]

यह वीर स्थान-स्थान पर अन्य रसों से पुष्ट है—शृङ्गार, करुण और शान्त भी यथावसर आते हैं। कतिपय रचनाओ मे तो शृगार एव करुण मुख्य रस के रूप मे भी गृहीत हैं। भयानक तथा रौद्र को भी वीर के सहायक-रूप मे अपना लिया जाता है—किन्तु वीभत्स-चित्रण की ओर हमारे कवि की रुचि नही है। हास्य भी वहुत कम है पर है

१ हिडिम्वा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १५
२. शक्ति, सस्करण सवत् १९८४, पृष्ठ १२

अवश्य—पचवटी और हिडिम्बा मे शिष्ट हास्य के उदाहरण मिल सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी अपने खण्डकाव्यो मे सभी रसो को ग्रहण करते हैं—किन्तु मुख्यता वीर, शृगार अथवा करुण को ही देते हैं । उत्तरकालीन रचनाओ मे शान्त को भी प्रामुख्य मिला है । वास्तव मे जीवन की अधिक उपयोगी एव उदात्त वृत्तियो से सवद्ध भी यही रस हैं ।

## विविध विषय-वर्णन

सम्पूर्ण मानव जीवन के विश्लेपक महाकाव्य के लिए अनेक नियम वनाए गए हैं। उसमे मानव जीवन और वस्तु-जगत् का विशद चित्रण अनिवार्य माना गया है। किन्तु खण्डकाव्य 'एक देशानुसारि' होता है अत उसमे जीवन और जगत् का सीमित विवरण वरन् उसके एक ही अश का अकन हो सकता है। मैथिलीशरण मानवीय सम्वन्धो के प्रख्यात कवि हैं फलत उनके काव्य मे जीवन का कुशल वर्णन हुआ है। पर मानव और मानवीय मे अटल विश्वास होने पर भी वे वस्तु-जगत् मे रम नही पाए हैं। और स्पष्ट शब्दो मे गुप्त जी के खण्डकाव्यो मे मानव और मानवीय सम्बन्धो—मानव के पारिवारिक, सामाजिक एव राजनैतिक जीवन का चित्रण तो है किन्तु मानवेतर सृष्टि अथवा प्रकृति का वर्णन अपेक्षाकृत कम है—क्योकि प्रकृति-सौंदर्य मे उनके लिए कोई आकर्षण नही है। अत प्रकृति-चित्रण अधिकाशत अलकरण सामग्री के रूप में या फिर परिस्थिति-द्योतन के लिए हुआ है। हिडिम्बा से एक उदाहरण लीजिए तमसावृत सायकाल का दृश्य है—

साझ को ही रात हुई उनको गहन मे
धारे गगनस्थली ने तारे रत्न चुनके[1]

किन्तु अगली पक्ति मे ही हिडिम्बा के आने की सूचना दे दी जाती है—

चमके वे नूपुरों की रुनझुन सुन के
सुन पडी राग की नई सी टेक उनको
दीख पडी सुन्दरी समक्ष एक उनको[2]

अत सध्या का उक्त दृश्य केवल भावी घटना के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि के लिए आता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि के मन मे प्रकृति के लिए अनुराग नही है। फिर भी प्रयास करने पर दो-चार अच्छे प्रकृति-चित्र मिल सकते हैं—विशेषत पचवटी और वन-वैभव मे। पचवटी के तो पहले ही छन्द मे प्रकृति का मधुर-कोमल एव रस-दीप्त चित्र है—

चारु चन्द्र की चचल किरणें खेल रही हैं जल-थल मे,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल मे।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानो झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से ॥[3]

---

१. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १२
२. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १२
३ पंचवटी, इकतीसवां संस्करण, पृष्ठ ५

यद्यपि यह भी वर्णनीय घटना का पूर्वाभास ही है तो भी इसमे अद्भुत भास्वरता है। मैं समझता हूँ कि इन पक्तियो के प्रणयन के समय कवि कथा को भूलकर वृक्षों के समान ही स्वय भी 'झीम' उठा होगा। इसीलिए अग्रिम घटना की पृष्ठभूमि के रूप मे गृहीत होने पर भी इनका स्वतन्त्र महत्त्व हो गया है। क्योकि यहाँ पर चन्द्रिका-स्नात शुभ्र रात्रि के उज्ज्वल चित्र के स्पर्श से उत्थित कवि-हृदय की सौंदर्यानुभूति की सहजाभिव्यक्ति हुई है। अस्तु।

मानव जीवन के सभी—पारिवारिक, सामाजिक एव राजनैतिक पक्षो का अकन किसी एक ही खण्डकाव्य मे मिलना कठिन है। क्योकि उसके सक्षिप्त-सीमित कलेवर मे यह सभव नही है। फिर भी कवि की पेक्षाकृत बडी रचनाओ मे यत्किचित् ऐसा हुआ है। सिद्धराज मे महाराज जयसिंह के पारिवारिक एव राजनैतिक जीवन का वर्णन है। गुरुकुल मे सिक्ख गुरुओ के पारिवारिक जीवन का तो नही पर उस समय की सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियो का सफल अकन हुआ है। अजित मे भी पारिवारिक, सामाजिक एव राजनैतिक सभी दशाएँ प्रदर्शित हैं—किन्तु उनमे महाकाव्य जैसी विराट्ता और भव्यता का अभाव है। कारावद्ध अजित के स्मृति-रूप मे गार्हस्थ्य का सुख-सरल चित्र देखिए—

> कढी-भात के साथ दाल रोटी वह घर की,
> वह बघार की सौंध, कौंधती टिकुली-तरकी।
> वह कासे का थाल, फूल के भरे कटोरे,
> आगे धरते हुए हाय वे गोरे गोरे।
> खीर खांड पर शुद्ध सद्द घृत धार बरसना,
> 'बस बस बस' पर कान न धर कुछ और परसना[1]

कितना सहज और अनुभूतिगम्य विवरण है।

लघुतर रचनाओ मे भी कवि यथावसर मानव जीवन के विभिन्न पक्षो का आलेखन करता है। रग मे भग मे उद्वाह-सज्जा और युद्ध है, जयद्रथ-वध मे वीर कृत्यो के साथ-साथ सती-विलाप और पुत्र-शोक वर्णित हैं। पचवटी मे देवर-भाभी का हास्य-विनोद है तो सैरन्ध्री में परदारिक के छल-छन्द। वक-सहार मे ब्राह्मण परिवार की सुख-शान्ति-मयी सद्गृहस्थी चित्रित है तो वन-वैभव मे ईर्ष्यादग्ध दुर्योधन की कपट-यात्रा का उल्लेख है। शक्ति मे देवासुर-सग्राम है और विकट भट मे राजपूतो का वृथा युद्ध। हिडिम्बा मे प्रख्यात पाण्डु-पुत्रो का वन-भ्रमण है तो किसान मे अख्यात कृषक दम्पति का देश-निर्गमन। अन्यान्य कृतियो मे भी जीवन के किसी न किसी पार्श्व का निदर्शन है। सब मिलाकर गुप्त जी के खण्डकाव्यो मे हमे मानव जीवन के विभिन्न पक्षो का चित्रण मिलेगा। उनका दृष्टिपथ विस्तृत और ग्रहण-क्षमता सदा ही उदार रही है।

## सर्जना का लक्ष्य

मैंने एक स्थान पर आनन्द की बात कही है पर कोरा आनन्द अथवा सत्प्रेरणाविहीन

---

१. अजित, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १२

आनन्द काव्य का उद्देश्य नही है। वस्तुत आनन्द तो विधि है—उपलक्ष्य मात्र है। लक्ष्य हुआ करता है किसी महत् सदेश की परिव्यक्ति। गुप्त जी के सभी खण्डकाव्य सोद्देश्य हैं। शकुन्तला को छोडकर शेष सभी का काम्य किसी न किसी प्रकार के—नैतिक, सास्कृतिक अथवा राष्ट्रीय आदर्श की स्थापना है। शकुन्तला का 'निपेवरण' तो 'प्रीति' मात्र के लिए हुआ है—किन्तु शेप रचनाओ मे कोई न कोई शिक्षा सन्निहित है। रग मे भग मे अतिरिक्त मानापमान भावना का दोष, जयद्रथ-वध मे पापकर्मा का भीपरण अन्त, पचवटी मे अतृप्त वासना एव स्वेच्छाचारिता का कुपरिणाम, सैरन्ध्री मे परदारित्व का दुष्परिणाम प्रदर्शित है। जिससे कि पाठक के मन मे उक्त कृत्यो के प्रति घृणा उद्भूत हो। शक्ति मे 'सघे शक्ति कलौ युगे', वन-वैभव मे 'पचशता वयम्' का महत्त्व—और वक-सहार मे प्रेम पर कर्त्तव्य की तथा विकट भट मे जीवन-लालसा पर मर्यादा-रक्षरण की श्रेष्ठता की व्यजना हुई है। गुरुकुल और सिद्धराज मे पारस्परिक कलह तथा अजित मे हिंसात्मक प्रवृत्तिया अभिशसित हैं। किसान एव कावा और कर्बला का कारुण्य मनुष्य की परुप वृत्तियो को कोमल बनाता है। अर्जन और विसर्जन मे से 'अर्जन' मे अधर्म द्वारा अर्जित वैभव के दूपरण का प्रदर्शन है तो 'विसर्जन' मे पराधीनता का अभिशाप लानेवाली विभूति के नाश का परामर्श दिया गया है। हिडिम्बा का साध्य है वर्ग-चेतना के परित्याग की भावना जागृत करना।—और नहुष का प्रतिपाद्य मानव की अदम्य शक्ति—पतन मे भी उत्थान का विश्वास है। यह काव्य निश्चित रूप से चिर पतितो को भी उन्नयन के लिए उत्प्रेरित करता है। इस प्रकार इन रचनाओ मे नैतिक और राष्ट्रीय आदर्शों की स्थापना हुई है। मैथिलीशरण जी परम्परा से अविच्छिन्न सस्कृति की धारा को अपने खण्डकाव्यो मे प्रवाहित करते रहे हैं। किन्तु उसकी आत्मा की रक्षा करते हुए भी वे उसमें युगानुरूप सशोधन प्रस्तुत कर देते हैं।

निष्कर्ष यह कि गुप्त जी निरुद्देश्य रचना मे विश्वास नही करते। और यदि शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो मैं समझता हूँ कि उक्त सभी रचनाओ का 'फल' धर्म है।

**शैली**

खण्डकाव्य की शैली के विषय मे कोई स्थिर सिद्धान्त अथवा निश्चित नियम नही है। किन्तु किसी भी कृति के वाछित प्रभाव के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शैली शील के अनुरूप ही हो। क्योकि उपयुक्त माध्यम के बिना महिमामण्डित प्रतिपाद्य भी पगु रह जाता है। पर यह कवि शैली की विशेष चिन्ता नही करता। इसीलिए उसकी बडी रचनाओ—साकेत् और जय भारत—मे शैली-वैषम्य है। किन्तु खण्डकाव्य अपेक्षाकृत छोटा होता है फलत. गुप्त जी सरीखे शैली-निरपेक्ष कवि की रचनाओ मे भी आद्यत वेग की स्थिरता है—शैली मे साम्य है। यद्यपि आरम्भकालीन कृतियो मे अभिधा-प्रधान व्यस्त और परवर्ती मे व्यजना-पूर्ण समस्त शैली प्रयुक्त है, फिर भी रचना-विशेप मे प्रारम्भ से अन्त तक शैली का एक ही स्तर है—वैपम्य नही।

गुप्त जी की शैली अनेक स्थलो पर—विशेषत आरम्भिक खण्डकाव्यो मे कान्तिहीन और अनगढ है। इस दिशा मे वे अपने युग के भी अनेक कवियो से पीछे हैं—किन्तु यह

उनकी अनिवार्य त्रुटि है। क्योकि वे प्राय ऐतिहासिक-पौराणिक विषय अपनाते हैं अतएव उसका वाहन भी अपेक्षाकृत प्राचीन ही है। वास्तव मे मैथिलीशरण प्राचीन और अर्वाचीन के बीच का सेतुमार्ग हैं। यही बात उनकी शैली के विषय मे भी सत्य है। उसमे प्राचीन इतिवृत्तमयी शैली और नवीन नाटकीयता दोनो का सम्मिश्रण है। काव्य का कलेवर सक्षिप्त होने के कारण उसमे महाकाव्यो की शैली का शैथिल्य नही आने पाया।—परवर्ती काव्यो मे लघुकथा के नवीन चमत्कार भी यथास्थान प्रयुक्त हुए हैं।

### खण्डकाव्यकार मैथिलीशरण की सिद्धि

सर्वप्रथम तो १६ खण्डकाव्यो का प्रणयन ही अपने आप मे बहुत बडी सिद्धि है। सस्कृत-हिन्दी के किसी भी कवि ने आज तक इतने खण्डकाव्यो का निर्माण नही किया है। दूसरे उन्होंने इनमे एक-एक करके भारतीय जीवन के सभी पक्षो का निरूपण कर दिया है। मैथिलीशरण के अतिरिक्त जीवन को प्राय समग्र रूप मे उपस्थित करनेवाला कोई भी खण्डकाव्यकार आपको हिन्दी मे नही मिलेगा। दो-एक को छोडकर शेष की शैली अवश्य 'ए-वन' नही है। फिर भी वे अपने अखण्डित मानव-तत्व, धाराप्रवाह वर्णना-शक्ति एव सुख-सरल शैली के मणि-काचन सयोग के बल पर गौरवास्पद पद के अधिकारी हैं। वास्तव मे गुप्त जी मूलत कथाकार-कवि हैं—यह उनका सिद्ध विषय है।

# प्रगीतकार मैथिलीशरण गुप्त

### गीतिकाव्य का स्वरूप और परिभाषा

काव्य की वह विधा जिसमे विषय की अपेक्षा विषयी की प्रमुखता होती है प्रगीत अथवा गीति-काव्य के नाम से अभिहित की जाती है। जो कवि स्वनिरपेक्ष क्रियाकलाप एव अनुभवो को छन्दोबद्ध करता है उसकी कविता वस्तुगत और जो अपने ही विचारो, भावनाओ और कल्पनाओ को वाणी प्रदान करता है उसकी कविता व्यक्तिपरक कहलाती है। इस व्यक्तिपरक कविता का ही नामान्तर प्रगीत है। अभिप्राय यह कि प्रगीत प्रबन्ध की भाँति वस्तुपरक न होकर व्यक्तिगत होता है। उसमे वैयक्तिकता का—व्यक्ति के, विषयी के अपने सुख-दुख, हर्ष-विषाद, प्रेम-कलह, क्षोभ-क्रोध आदि की परिव्यक्ति होती है। उदाहरणत शेक्सपियर और मिल्टन के सॉनेट तथा सूर, तुलसी और मीरा के पद प्रगीत हैं क्योकि उनमे रचयिता के अपने हृदय का स्पन्दन है—अपने मन का गायन और क्रन्दन है। इसके विपरीत होमर का इलियड, चन्दबरदाई का पृथ्वीराज रासो और तुलसीकृत रामचरितमानस वस्तुगत हैं—क्योकि उनमे ऐतिहासिक अथवा अनैतिहासिक व्यक्तियो तथा घटनाओ का वर्णन हुआ है। और लेखक की अपनी आत्मा का अभिव्यजन बहुत कम है अथवा प्रत्यक्ष नही है।

आत्माभिव्यंजन अथवा निजी रागात्मकता प्रगीत का अनिवार्य गुण है, और यह रागात्मकता अत्यन्त तीव्र होनी चाहिए। इसीलिए ससार के अधिकाश प्रगीत आकार मे सक्षिप्त हैं। कारण स्पष्ट है—आवेश केवल कुछ क्षण के लिए ठहरता है। लम्बे प्रगीतो मे प्रणेता को काल्पनिक आवेश की सृष्टि करनी पडती है—यह एक अपरिहार्य दोष है। वास्तव मे प्रगीत जीवन के उन उद्दीप्त क्षणो की रचना होते हैं जबकि घनीभूत भावना के वेग को उद्वेलित जलौघ के समान प्रतिबद्ध नही किया जा सकता।—और वह सगीत लहरी मे स्वत फूट उठता है। प्रगीत अथवा गीतिकाव्य की परिभाषा सुश्री महादेवी के शब्दो मे इस प्रकार की जा सकती है—"साधारणत गीतिकाव्य व्यक्तिगत सीमा मे तीव्र सुखदु खात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता मे गेय हो सके।"[1]

## मुक्तक और प्रगीत

पूर्वापर सम्बन्ध-विहीन पद्यो को मुक्तक कहते हैं। प्राय गेय मुक्तक को प्रगीत कह दिया जाता है। किन्तु यह विचार भ्रामक है। यदि गेयता को ही कसौटी मानें तो प्रत्येक मुक्तक प्रगीत हो जाएगा। क्योकि मुक्तक छन्दोबद्ध होता है।—और प्रत्येक छन्द मे न्यूनाधिक मात्रा मे गेयता का आग्रह रहता ही है। हम प्राय देखते हैं कि लोग नीति, शृगार आदि विषयो के मुक्तको को सस्वर गाते हैं। मुक्तको मे ही नही प्रबन्धो मे भी गेयता है, वाल्मीकीय रामायण का तो गेय होना प्रसिद्ध ही है—लव-कुश ने राम के समक्ष उसे गाया था। तुलसी के रामचरितमानस की चौपाइयो को भी लोग बडे माधुर्य से गाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि गेयता को मुक्तक और प्रगीत के भेदीकरण का आधार नही माना जा सकता। वास्तव मे अन्तर इन दोनो मे यह है कि मुक्तक मे विषय की और प्रगीत मे विषयी की प्रमुखता होती है। दूसरे मुक्तक तो छन्द की इकाई मात्र हैं—किन्तु प्रगीत मे आद्यत एक ही अनुभूति के अनुस्यूत रहने के कारण उसके विभिन्न खण्ड सम्बद्ध अथवा अन्वित रहते हैं। तीसरे मुक्तक का प्रणयन स्थिर-शान्त दशा मे किन्तु प्रगीत की रचना भावाविष्ट स्थिति मे होती है। अतएव पहले मे तर्क-सम्मत बात होती है पर दूसरे मे तर्क-वितर्क की गुंजाइश नही होती। इसी कारण मुक्तक मे छन्द का सयत्न निर्वाह किया जा सकता है—और किया जाता है। पर प्रगीत इस बन्धन से मुक्त है, उस पर प्रतिबन्ध है केवल लय का। अभिप्राय यह कि प्रगीत की सगीतात्मकता मुक्तक के समान छन्द-व्यवस्था से आरोपित नही वरन् स्वत उद्भूत है—प्रगीत-रचना की प्रक्रिया मे ही अन्तर्निहित है।

## गीत और प्रगीत

सामान्यत· गीत और प्रगीत को पर्यायवाची माना जाता है पर इनमे सूक्ष्म भेद है। गीत मे सगीत का, स्वर-ताल के सगीत का विशेष ध्यान रखा जाता है किन्तु प्रगीत का स्वय उसकी पदावली से ही समुद्भूत होना चाहिए। 'और स्पष्ट शब्दो मे प्रगीत का सगीत

---

१· महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४७

आन्तरिक होता है। किन्तु गीत पद का पर्याय है जो मूलत गेय होता है—उसका सगीत आन्तरिक भी होता है और वाह्य भी। मूलभावना का अन्तर दोनो मे नही है।

## मूल तत्त्व

प्रत्येक विधा के अपने विशेष गुण होते हैं। उन्ही के अनुसार उनके तत्त्व भी हुआ करते हैं। प्रगीत काव्य की भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख पहले ही हो चुका है। यहाँ पर सक्षेप मे, उसके मूल तत्त्वो का निरूपण करता हूँ .

### १ वैयक्तिकता

सर्वप्रथम तो प्रगीत काव्य मे व्यक्तितत्त्व का प्राधान्य होना चाहिए। उसमे प्रणेता की अपनी आशा-निराशा, क्षोभ-उत्साह, लज्जा-ग्लानि आदि का आलेखन होना चाहिए। अपने का अभिप्राय कोई अप्रेषणीय वैचित्र्य नही है वरन् उसमे स्वानुभूति का प्रामुख्य होना चाहिए। वास्तव मे मानव हृदय के मूलतत्त्व एक ही होते हैं—कवि और अध्येता का हर्ष-विषाद भिन्न नही हो सकते। अत वैयक्तिकता का तात्पर्य यहाँ निजी रागात्मकता है।

### २ आवेग-दीप्ति

प्रगीत किसी विशिष्ट मनोदशा का उच्छलन हुआ करता है। वह जीवन के उन महत्त्वपूर्ण क्षणो की रचना होता है जब किमी तीव्र मनोवेश से कवि की चेतना अन्तर्मुखी हो जाती है। उस समय का भावाविष्ट आवेग ही प्रगीत मे लेखनी-बद्ध होना चाहिए।

### ३ हार्दिकता

प्रगीत काव्य मे आवेश होता है—किन्तु यह आवेश वास्तविक होना चाहिए, काल्पनिक नही। उसके पीछे सहज अन्त प्रेरणा आवश्यक है। इसके विपरीत यदि वास्तविक आवेश के अभाव मे कवि कल्पना से उसकी सृष्टि करके प्रगीत-रचना करेगा तो वही कृत्रिमता आ जाएगी।—और यह प्रगीत मे एक दोष होगा। इसलिए प्रगीत काव्य मे हार्दिक अनुभूति की, निश्छल भावना की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

### ४. रागात्मक अन्विति

वह एक ही मूलभाव से अनुप्राणित होना चाहिए। उसकी विभिन्न पक्तियाँ मूलत एक ही भाव से सवद्ध होनी चाहिएँ। प्रगीत मे 'विविधता रहती है किन्तु वह प्राय एक ही केन्द्रीय भाव की पुष्टि के लिए होती है।'[1] अभिप्राय यह कि सम्पूर्ण प्रगीत मे, उसके विभिन्न खण्डो मे एक ही वृत्ति एकतार अनुस्यूत रहनी चाहिए।

### ५. सगीतात्मकता

प्रगीत काव्य का मगीतात्मक होना भी आवश्यक है। सगीतात्मकता से स्वर-ताल का सगीत अभिप्रेत नही है—वह तो साधारण गेय मुक्तको में भी मिल जाएगा। किन्तु प्रगीत मे कोमल-कान्त पदावली, सुचारु शब्द-सगुम्फन, अक्षर-मैत्री, वर्ण-मैत्री आदि द्वारा साध्य शब्द-सगीत अपेक्षित है।

---

१. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १२१

### ६ प्रवाह

प्रगीत की शैली प्रवाहमयी एव तरल होनी चाहिए जो कि आवेश के ग्रहण और चित्त की द्रुति मे समर्थ हो।

### प्रगीतो के प्रकार

प्रेरक भावना अथवा विषय एव अभिव्यजन-प्रणाली के अनुसार प्रगीत काव्य के अनेक भेद किए जा सकते हैं। किन्तु इस सम्वन्ध मे यह निवेदन करना आवश्यक है कि साहित्य के क्षेत्र मे कोई भी वर्गीकरण अन्तिम एव आत्यन्तिक नही हुआ करता। प्रगीत काव्य के भी किन्ही दो प्रकारो के वीच ऐकान्तिक सीमा-रेखा खीचना सभव नही। वास्तव मे एक के तत्त्व दूसरे मे घुले-मिले रहते हैं। फिर भी वर्गीकरण की अपनी उपादेयता है—अध्ययन की सुविधा के लिए वह आवश्यक है, अस्तु।

विषय की दृष्टि से प्रगीतो के निम्नलिखित प्रकार हो सकते हैं—

१ रहस्यवादी २. भक्तिपरक ३ राष्ट्रीय
४ प्रेम-सम्वन्धी ५ शोक-सम्वन्धी ६ विचारात्मक
७ व्यग्यात्मक ८. नीतिपरक अथवा उपदेशात्मक

रूप की दृष्टि से प्रगीत काव्य के सवोधन-प्रगीत और चतुर्दशपदी आदि भेद किए जा सकते हैं। अग्रेजी साहित्य मे पिछले दोनो प्रकार क्रमश ओड (Ode) और सॉनेट(Sonnet) के नाम से वहुत प्रचलित हैं।

### गुप्त जी के प्रगीत

मैथिलीशरण जी ने प्राय सभी प्रकार के प्रगीत लिखे हैं। यद्यपि वे मूलत प्रवन्ध-कवि हैं या मुख्यत प्रवन्धकार हैं फिर भी उन्होने प्रचुर मात्रा मे प्रगीत काव्य का प्रणयन किया है। उनके प्रवन्धो तक मे प्रगीत मिल सकते हैं—साकेत और यशोधरा मे वे मणियो के समान जडे हुए हैं। कुणाल-गीत प्रवन्ध-रचना है और अनघ नाटक है पर दोनो ही प्रगीतो से परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार भारत-भारती, हिन्दू तथा स्वदेश-सगीत मुक्तको के अन्तर्गत आते हैं फिर भी उनमे अनेक प्रगीत मिल जाएँगे। वैतालिक, झकार, विश्व-वेदना तथा अजलि और अर्घ्य स्पष्टत प्रगीत काव्य हैं ही।

मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि गुप्त जी ने प्राय सभी प्रकार के प्रगीतो की रचना की है। झकार मे रहस्यवादी और भक्तिपरक प्रगीत सकलित हैं तो भारत-भारती, स्वदेश-सगीत और साकेत मे राष्ट्रीय प्रगीत मिल सकते हैं। प्रेम-सम्वन्धी प्रगीत साकेत और यशोधरा मे हैं तो शोक-सम्वन्धी अजलि और अर्घ्य मे। हिन्दू, भारत-भारती, विश्व-वेदना, कुणाल-गीत और यशोधरा आदि मे विचारात्मक प्रगीत पर्याप्त सख्या मे उपलव्ध हैं। और उपदेशात्मक अथवा नीतिपरक तो सभी रचनाओ मे प्रकीर्ण हैं। हाँ, व्यग्यात्मक प्रगीत गुप्त जी ने कम लिखे हैं। प्रयास करने पर भारत-भारती, हिन्दू और विश्व-वेदना मे दो चार मिल सकते हैं। रूप की दृष्टि से किए गए प्रगीत काव्य के प्रकारो मे से हमारे कवि ने सवोधन-प्रगीत ही लिखे हैं। भारत-भारती, हिन्दू, कुणाल-गीत और यशोधरा मे वे पुष्कल

परिमाण मे उपलब्ध हैं। वैसे लिखी तो चतुर्दशपदियाँ भी हैं पर उनकी सख्या नगण्य है।

## नवीन रूप-प्रकार

'वैतालिक' को पूर्वोक्त किसी भी प्रकार के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। उसमे २६ पृष्ठ का एक ही लम्बा प्रगीत है, और वह अपनी तरह का अकेला ही है। उसमे सबोधन-प्रगीत का आभास है—किन्तु वह सबोधन-प्रगीत नही है। वह किसी को भी सबोधित करके नही लिखा गया। वैतालिक की प्रारम्भिक पक्तियाँ देखिए—

श्रीरवि-कुल-मणि रघुनायक,
तुमको रहें दीप्तिदायक।
श्रीसीता, धन-धान्य भरें,
उर्वर कर्म्म-क्षेत्र करें॥
नई पौ फटी, रात कटी,
तम की अन्तर-पटी हटी।
उठो, उठो, बोलो, बोलो,
खोलो मनोद्वार खोलो॥[1]

यहाँ सबोधन के स्थान पर आशीर्वादात्मक मगलाचरण के पश्चात् जागरण की प्रेरणा दी जा रही है। वैतालिक मे नीतिपरता भी है—

त्याग, त्याग पर वह किसका ?
प्रथम प्राप्त तो हो जिसका
प्राप्त करो तब त्याग करो,
समुचित कर्म-विभाग करो॥[2]

किन्तु आगे चलकर कवि अपना स्वर बदल लेता है—

पुरुषोत्तम के अंशज हो,
उन ऋषियों के वंशज हो—
प्रकट हुई जिनके द्वारा
विश्व-धर्म की ध्रुव धारा॥[3]

इस प्रकार वैतालिक न सबोधनात्मक है और न शुद्ध उपदेशात्मक। सर्वाशिन दृष्टिपात करने पर उसमे सुप्तो को जागरण का सन्देश दिया गया है—उनके उद्बोधन का प्रयत्न है। मैं समझता हूँ कि पुस्तक का नाम—'वैतालिक' भी मेरे मत की पुष्टि करता है। वैतालिक वे लोग होते थे जो स्तुतिपाठ करके प्रात काल राजाओ को जगाया करते थे। उनका कर्त्तव्य न तो सबोधनात्मक गान था—और न ही उपदेश-दान। वे जागरण का सन्देश

---

१. वैतालिक, संस्करण सवत् २००८, पृष्ठ ५
२. " " " ", पृष्ठ १७
३. " " " ", पृष्ठ २४

देते थे या फिर कर्म की प्रेरणा। और स्पष्ट शब्दो मे वे उन्हे उद्बुद्ध करते थे। यही मैथिलीशरणकृत वैतालिक मे हुआ है। अत मेरी विनम्र सम्मति मे वैतालिक को प्रगीत काव्य के पूर्वनिर्दिष्ट किसी भी प्रकार के अन्तर्गत न रखकर उद्बोधनात्मक प्रगीत कहना चाहिए।

गुप्त जी के प्रगीत काव्य का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। अब आगे प्रत्येक वर्ग के प्रगीतो का विवेचन किया जाएगा।

## राष्ट्रीय प्रगीत

अपने देश और देशवासियो के प्रति मानव मात्र मे अनुराग होता है। इसीलिए वह उन्हे बन्धनयुक्त नही देख सकता—उनके दारुण दु ख को सोत्साह दूर करने का प्रयत्न करता है। यही राष्ट्रीयता है—उसके मूल मे मातृभूमि का अनुराग और दु ख-नाश का उत्साह है। योद्धाओं की राष्ट्रीयता शस्त्रो द्वारा प्रकट होती है—किन्तु कवियो की प्रगीतो द्वारा। सभी देशो के कवियो ने राष्ट्रीय प्रगीत लिखे हैं। मैथिलीशरण की तो प्रसिद्धि का कारण ही उनकी राष्ट्रीयता है। आज वे अपने राष्ट्रीय प्रगीतो के बल पर ही राष्ट्रकवि की पदवी से अलकृत हैं। गुप्त जी की भारत-भारती, स्वदेश-सगीत तथा पद्यप्रबन्ध राष्ट्रीय प्रगीतो से परिपूर्ण हैं। भारत-भारती के तीनो—अतीत, वर्तमान और भविष्यत् खण्डो मे देश की ही दशा आलिखित है। उसमे अपने देश की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, पूर्वजो का गौरव-गान तथा प्राचीनो की उदात्त वीरता का बखान बडी श्रद्धा, भक्ति और तन्मयता से हुआ है। कितने विश्वास के साथ मैथिलीशरण आत्मगौरव का वर्णन करते हैं—

> भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहा ?
> फैला मनोहर गिरि हिमालय और गगाजल जहाँ।
> सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
> उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है ॥[1]

यहाँ व्यक्तितत्व के अभाव की शका हो सकती है—किन्तु ये पक्तियाँ कवि के हृदय-रस से सिक्त हैं, उसकी अपनी दृष्टि से दृष्ट हैं और अपने अनुराग से सराबोर है। यह उद्धरण तो अतीत खण्ड का है। वर्तमान खण्ड मे भी राष्ट्रीय भावना के ही दर्शन होते हैं। वहाँ कवि की करुणा उमड पडी है।—और भविष्यत् खण्ड मे एक आदर्श एव मनोरम भारत की कल्पना एव कामना की गई है। अन्तिम 'विनय' की प्रेरक भी भक्ति न होकर राष्ट्रीयता ही है—

> इस देश को हे दीनबन्धो ! आप फिर अपनाइए,
> भगवान् ! भारतवर्ष को फिर पुण्य भूमि बनाइए।
> जड-तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधा पूर्ण है,
> हेरम्ब ! अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए ॥[2]

देश-प्रेमी देश के प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु से प्रेम करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

---

१. भारत-भारती, पच्चीसवां सस्करण, पृष्ठ ४

२ भारत-भारती, पच्चीसवा सस्करण, पृष्ठ १८१

के शब्दो मे—'यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सब से प्रेम होगा, सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सब की सुध करके वह विदेश मे आँसू बहाएगा।'[1] गुप्त जी को वस्तुत स्वदेश से अपार प्रेम है। राष्ट्रीयता का आधारभूत यह प्रेम उनकी शिराओ मे सचरित है। 'पद्य-प्रबन्ध' के निम्नोद्धृत छन्द मे प्रतीत होता है कि कवि को देश के जाज्वल्यमान उपकरणो से ही नही, धूलि से भी अपरिमित अनुराग है—

जिसकी रज मे लोट लोट कर बड़े हुए हैं
घुटनों के बल सरक सरक कर खडे हुए हैं
परमहस-सम बाल्यकाल मे सब सुख पाए
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाए
हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद मे
हे मातृभूमि तुझको निरख हम मग्न क्यो न हों मोद मे[2]

यह एक मात्रिक छन्द 'छप्पय' है—रूप-आकार की दृष्टि से प्रगीत नही है। फिर भी उसके सारे अन्तर्तत्त्व इसमे विद्यमान हैं। यहाँ लक्ष्य करने की बात कवि की तन्मयता है। इसकी रचना के समय कवि निश्चय ही 'मोद मे मग्न' रहा होगा। इतना ही नही कवि देश की इस धूलि को परम पावन, 'माथे का शृगार' मानता है—

राम, कृष्ण, जिन, बुद्ध आदि के रखते हैं आदर्श अपार
रज भी है इस पुण्यभूमि की सबके माथे का शृंगार[3]

मैं समझता हूँ यह रागात्मकता की पराकाष्ठा है। अस्तु !

भारत-भारती, पद्य-प्रबन्ध और स्वदेश-सगीत के अतिरिक्त साकेत मे भी दो-एक राष्ट्रीय प्रगीत हैं। यद्यपि वह प्रबन्धकाव्य है फिर भी यथाप्रसग गगा आदि का वर्णन बडे मनोयोग से हुआ है। यह भी राष्ट्रीयता का ही एक रूप है—कवि के देश-प्रेम का द्योतक है। जनकसुता के माध्यम से कवि की अपनी आत्मा गगा-स्तवन कर रही है—

जय गंगे, आनन्द तरंगे कलरवे,
अमल अचले, पुण्यजले, दिवसम्भवे !
सरस रहे यह भरत-भूमि तुमसे सदा,
हम सब की तुम एक चलाचल सम्पदा।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मैथिलीशरण जी ने प्रचुर मात्रा मे राष्ट्रीय प्रगीतो का प्रणयन किया है।—और इन प्रगीतो मे प्रधानता अनुराग की ही है। नव-निर्माण का

---

१. चिन्तामणि भाग १, लोभ और प्रीति (निबन्ध)
२. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३०
३ स्वदेश-सगीत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ७८
४ साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १०३

उत्साह अथवा आवेश उनमे अपेक्षाकृत न्यून है—किन्तु उसका सर्वथा अभाव नही है। भारत-भारती के भविष्यत् खण्ड मे नव-निर्माण का ही जोश है। अभिप्राय यह कि कवि सर्वथा निराश नही है। उदाहरणत निम्नाकित पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

> सौ सौ निराशाएँ रहें, विश्वास यह दृढ़ मूल है—
> इस आत्म-लीला-भूमि को वह विभु न सकता भूल है।
> अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखलायेंगे,
> वे दिन यहाँ फिर आयेंगे, फिर आयेंगे, फिर आयेंगे॥[1]

ध्यान देने की बात यह है कि इस आशा और विश्वास के पीछे प्रभु की शक्ति है। श्रद्धा-निरपेक्ष प्रगति की तो मैथिलीशरण कल्पना भी नही कर सकते।

इन प्रगीतो मे अव्याहत प्रवाह और सगीतात्मक शब्दावली नही है। फिर भी मातृ-भूमि के कण-कण के प्रति जो सहज और सघन अनुराग यहाँ है वही गुप्त जी के राष्ट्रीय प्रगीतो की शक्ति है।

## विचारात्मक प्रगीत

विचार प्रगीत की प्रकृति के अनुकूल नही है। अभिप्राय इसका यह हुआ कि प्रगीत मे विचार की अथवा बौद्धिकता की प्रधानता नही होनी चाहिए। किन्तु विचार का सर्वथा अभाव अभिप्रेत नही है। क्योकि विचारहीन तो विक्षिप्त का प्रलाप ही हो सकता है, कवि का वक्तव्य नही। हाँ, यह आवश्यक है विचार का जितना भी अश हो वह अनुभूति का अग बनकर आना चाहिए। अन्यथा वह विजातीय द्रव्य होगा—प्रगीत के लिए भार-स्वरूप होगा।

मैथिलीशरण गुप्त सच्चे अर्थ मे हमारे राष्ट्रकवि हैं—वे लगभग अर्द्ध शताब्दी से अनवरत साहित्य-सर्जन द्वारा उत्तर भारत की जनता का मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं। अत उनकी रचनाओ मे विचार का समावेश अवश्यम्भावी है। एक उदाहरण लीजिए—

> आज की उन्नति से अभिशप्त,
> नहीं है कौन कहाँ संतप्त ?
> रहे कोई कितना भी दृप्त,
> हो सकेगा यो क्यों कर तृप्त ?
> हमे निज उपवन मे सविवेक,
> तपोवन रखना होगा एक।[2]

अन्तिम दो पक्तियो मे स्पष्टत विचार परिव्यक्त है—किन्तु यहाँ शुद्ध विचार नही है। युद्ध की विभीषिकाओ से त्रस्त कवि का हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है। इसी से इसमे सवेदनात्मक द्रव है।

---

१ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ १७९

२. विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ४५

मैथिलीशरण विरचित कुणाल-गीत तो अनेक मधुर-स्निग्ध प्रगीतो की मञ्जूषा है। उससे एक विचारात्मक प्रगीत नीचे उद्धृत किया जाता है—

व्यथा-वरण करके रोना क्या ?
अपना धीरज-धन अपने ही हाथो से खोना क्या ?
क्लेश नाम से ही कर्कश है,
किन्तु सहन तो अपने वश है।
भीतर रस रहते बाहर के विष के वस होना क्या ?
व्यथा-वरण करके रोना क्या ?[1]

यहाँ कुणाल अपनी पत्नी को समझा रहे है। किन्तु वे दोनो तो प्रतीक मात्र रह जाते हैं। कवि अपने ही उद्विग्न मन को सान्त्वना देता हुआ प्रतीत होता है। यह वैयक्तिकता ही तो प्रगीत काव्य का प्राण है। वास्तव मे यहाँ विचार और अनुभूति का एकीकरण हो गया है—या फिर यह कहिए कि यह विचार ही अनुभूति है। इसीलिए ऐसी रचनाएँ प्रगीत काव्य के अन्तर्गत आती हैं। यदि यह विचार अनुभूति का अश न होता तो इस पद को प्रगीत न कहकर सूक्ति कहते। यशोधरा का प्रबन्धत्व कुणाल-गीत की अपेक्षा काफ़ी पुष्ट है—फिर भी उसमे अनेक सुन्दर प्रगीत हैं। उसके विचारात्मक प्रगीत भी प्राय दर्शन-गरिष्ठ न होकर अनुभूति-वरिष्ठ हैं। निम्नोद्धृत पद मे यशोधरा के माध्यम से कवि स्वय बोल रहा है—

यदि हममे अपना नियम और शम-दम है,
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है।
वह जरा एक विश्रान्ति, जहाँ संयम है,
नवजीवन-दाता मरण कहाँ निर्मम है ?
भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ।
कह, मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?[2]

अभिव्यक्ति इतनी ओज.पूर्ण और सप्रभाव है कि इसके विषयीगत होने मे सशय नही रह जाता।—और आवेग-दीप्ति विचार को गौण बना देती है। किन्तु यशोधरा मे ऐसा सब जगह नही हो सका है। 'महाभिनिष्क्रमण' के अन्तर्गत आलिखित तथागत के विचारो मे कही-कही प्रगीत-तत्व परिक्षीण हो गया है। मुख्य कारण इसका यह है कि उन विचारो मे कवि की आस्था नही है। दिनकर जिस प्रकार भीष्म और युधिष्ठिर दोनो से तादात्म्य कर सके हैं मैथिलीशरण उसी तरह गौतम और यशोधरा दोनो मे नही रम पाए हैं। इसीलिए एक की वाणी मे व्यक्तित्व है, दूसरे की मे नही है। अत बुद्ध के विचार विचार ही हैं अनुभूति नही बन सके। हिन्दू के विचारात्मक प्रगीतो मे यह अनुभूतिहीनता और भी अखरती है। उसके अधिकाश भाग मे कवि वाद-विवाद करता हुआ दृष्टिगत होता है। एक उदाहरण लीजिए—

---

१. कुणाल-गीत, सस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ५६
२. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १०७

क्यो अछूत हैं आज अछूत ?
वे हैं हिन्दूकुल - सम्भूत !
गाते हैं श्री हरि का नाम !
आते हैं हम सबके काम !
बनें विधर्मी वे अनजान,
मुसलमान किंवा क्रिस्तान
तो हो जाते हैं सुस्पृश्य !
हाय देव, क्या दारुण दृश्य ![1]

ऐसी पंक्तियो मे न रागात्मकता है, न आवेश है और न अनुभूति का गहरापन। यहाँ तर्क-वितर्क ने कवि की चेतना को धर दबाया है।—और मैं समझता हूँ कि यह तर्क भी कोई नवीन नही है—कवि का अपना नही है। आर्यसमाज द्वारा प्रस्तुत युक्तियो की पुनरावृत्ति मात्र है। ऐसे स्थलो पर प्रगीत के तत्त्वो का एकदम अभाव है।

वैसे गुप्त जी के इन प्रगीतो का काफी प्रभाव रहा है। वे राजनैतिक नेता नही, मंच के व्याख्यान-दाता नही, धार्मिक उपदेष्टा भी नही हैं। फिर भी अपने विचारात्मक प्रगीतो के द्वारा उन्होंने एक बृहत्तर जनसमुदाय को नैतिक प्रेरणा दी है।

## नीतिपरक प्रगीत

विचारात्मक के साथ ही नीतिपरक प्रगीतो पर भी विचार कर लेना चाहिए। जब सांसारिक विषमताओ और विसदृशताओ से विक्षुब्ध कवि-हृदय उपदेशावली मे फूट उठता है उस समय नीतिपरक प्रगीतो का प्रणयन होता है। इस विषय मे डा० भगीरथ मिश्र कहते हैं—" कवि की स्वानुभूति सम्बन्धी वे कथन भी गीति के क्षेत्र के बाहर हैं जो नीति, उपदेश या वर्णन के रूप में हैं।"[2] किन्तु मैं उनके इस कथन से सहमत नही हूँ। जिस नीतिपरक अथवा उपदेशात्मक पद के पीछे स्वानुभूति है उसे प्रगीत क्यो न माना जाए? हाँ, यदि कवि के अपने मन की खीझ या रीझ उसमे समाविष्ट न हो, उसकी रचना का आधार न हो तो निश्चय ही वह प्रगीत काव्य नही है। क्योंकि रागात्मकता-विहीन नीति-उपदेश छन्दोबद्ध होने पर भी नीतिशास्त्र अथवा आचारशास्त्र के क्षेत्र मे आएगा, काव्य के नही।

हिन्दी मे नीतिपरक प्रगीत प्रचुर मात्रा मे लिखे गए हैं—कबीर, सूर, तुलसी सभी ने लिखे हैं। मैथिलीशरण के भी अनेक प्रगीत नीतिसवलित हैं। भारत-भारती से एक उदाहरण लीजिए—

जड दीप तो देकर हमे आलोक जलता आप है,
पर एक हममे दूसरे को दे रहा सन्ताप है।

---

१. हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ २००
२ किंजल्क (पत्रिका)—सम्पादक डा० केसरीनारायण शुक्ल, सवत् २००७, पृष्ठ ४०

क्या हम जड़ों से भी जगत मे हैं गये बीते नहीं ?
हे भाइयो ! इस भांति तो तुम थे कभी जीते नहीं ॥[1]

यह कोरा उपदेश नही है। कवि के अपने हृदय की करुणा, हार्दिक वेदना इसके पीछे है। ऐसी पक्तियो के निर्माण की मूलभावना है—

हा ! दीनबन्धो ! क्या हमारा नाम ही मिट जाएगा ?[2]

—और मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त पक्ति मे कवि के हृदय की निश्छल अभिव्यक्ति हुई है। हाँ, काव्यतत्व अवश्य कुछ क्षीण है। काव्यत्व की भी रक्षा करते हुए रचना हुई है निम्न प्रगीत की—

वह कलकण्ठ खगो के आश्रय,
पोषक या प्रतिपाल प्रणाम।
भव-भूतल को भेद गगन मे
उठने वाले शाल, प्रणाम ॥

* * *

खींच रसातल से भी रस को
गहने वाले, तुम्हें प्रणाम,
सब कुछ करके भी न कभी कुछ
कहने वाले, तुम्हें प्रणाम।[3]

शाल के दृष्टान्त से कवि कुछ उपदेश दे रहा है—किन्तु शैली उपदेशात्मक नही है। अत नीति और उपदेश का प्रगीत के क्षेत्र से वहिष्कार करनेवाले आलोचको को भी ऐसे पदो को प्रगीत मानने मे आपत्ति नही होगी। इस उदाहरण की निर्वैयक्तिकता खटक सकती है—किन्तु यह कवि का अपना जीवन-दर्शन है अत निश्चित रूप से वैयक्तिक है।—और है गेयता जो कि अधिकाश नीतिपरक छन्दो मे नही हुआ करती। इसी प्रकार अनघ मे भी नीति-तत्त्व कलात्मकता मे आवेष्टित है—

कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।
हम सब तो हैं बस अहम्मन्य।
जीवन है कितना अल्प हाय !
उसमे भी तू उत्फुल्ल-काय,
कर जाती है इतना उपाय
गुण गाता है अलि-सम्प्रदाय।

---

१. भारत-भारती, पच्चीसवा सस्करण, पृष्ठ १५६
२ भारत-भारती, पच्चीसवा संस्करण, पृष्ठ १५२
३. झकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३०, ३२

तुझसा उदार है कौन अन्य ?
कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।[1]

मगध की महारानी का यह गान नीतिपरक प्रगीत का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

किन्तु प्रस्तुत कवि के सभी नीतिपरक प्रगीतो मे ऐसा नही हुआ है। अनेक स्थलों पर मैथिलीशरण का उपदेशक उनके कवि पर हावी हो गया है। हिन्दू से निम्नोद्धृत अवतरण देखिए—

करके शिक्षा-कार्य समाप्त,
विद्यालय की पदवी प्राप्त।
फिर तुम ग्रामो मे कर वास
ग्रामीणों का करो विकास।
शुद्ध सरल जीवन के साथ
रक्खो उन पर अपना हाथ[2]

ऐसी नीरस तुकबन्दी मे प्रगीतत्व क्या काव्यत्व ही नही है। ये पक्तियाँ लिखते समय कवि का हृदय उसके साथ नही है—बुद्धि ही मुखरित है। मेरे विचार में कही से सुनी हुई (शायद किसी दीक्षान्त भाषण से) यह बात लेखक ने आगे सुना दी। इसमे उसका अपना कुछ नही है। इसीलिए ये पक्तियाँ नीरस और प्रभावहीन हैं। भारत-भारती मे भी इस प्रकार के कई पद्य मिल जाएँगे—फिर भी उनके तल मे युवक-हृदय का ओज है, आवेग है। किन्तु हिन्दू की रचना हृद्गत जोश के अभाव मे ही हुई है—आवेश के क्षणो मे नही। झकार और अनघ के नीतिपरक प्रगीत साधारणत अच्छे हैं।

## प्रेम-प्रगीत

प्रेम मानव हृदय की तीव्रतम भावना है। स्त्री-पुरुष मे एक-दूसरे के लिए सहज आकर्षण है। यह आकर्षण ससार के अन्य सभी प्रलोभनो से अधिक शक्तिशाली है। इस आकर्षण की दुर्दम शक्ति के कारण ही भक्तो ने—तुलसीदास ने भी—भगवान् मे ऐसी गूढानुरक्ति की कामना की है जैसी कि किसी कामी को कामिनी के प्रति होती है। अभिप्राय यह कि सभी ने स्त्री-पुरुष के प्रेम की तीव्रता का अनुभव किया है। प्रेम-प्रगीतो मे यह तीव्र-तीक्ष्ण भावधारा ही आबद्ध होती है। जीवन की मूलभावना से सबद्ध होने के कारण प्रेम-प्रगीत सभी देशो और जातियो के साहित्य मे पुष्कल परिमाण मे उपलब्ध हैं। मैथिलीशरण हमारे राष्ट्रकवि हैं, उन्होंने राष्ट्रीय प्रगीत ही अधिक लिखे हैं। फिर भी जीवन को समग्र रूप मे ग्रहण करनेवाला कवि प्रेम को नही छोड सकता। उनके साकेत और यशोधरा मे अनेक प्रेम-प्रगीत सग्रथित हैं। इस विषय मे यह स्मरणीय है कि उन्होंने सयोग का वर्णन अधिक नही किया है—वह उनकी प्रवृत्ति के अनुकूल नही है। अत उनके ये प्रगीत विरह के ही

१ अनघ, पष्ठावृत्ति, पृष्ठ ७२
२ हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ १५२

हैं।—और विरह-वह्नि मे वासना भस्म हो गई है। शेष है शुद्ध प्रेम—प्रेमी के लिए त्याग और तपस्या का भाव। देखिए उर्मिला कितने बडे बलिदान के लिए तत्पर है—

अब जो प्रियतम को पाऊं!
तो इच्छा है उन चरणो की रज मैं आप रमाऊँ!
आप अवधि बन सकूं कही तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।[1]

वह प्रियतम के सुख-साधन के लिए स्वय मिटने को तैयार है। इससे बढकर प्रेम की सघनता और क्या होगी?—मैं समझता हूँ कि यह प्रणय-गाम्भीर्य की पराकाष्ठा है। यशोधरा भी तथागत के चले जाने पर दुखी है—किन्तु उसका दुख सयोग के सुख के अभाव के कारण नही है। उसका कारण है अपने नारीत्व का, सम्पूर्ण नारी जाति का अपमान—

सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?[2]

पर जीवन के एकान्त क्षणो मे उसका अधीर हृदय पुकार उठता है—

आओ हो वनवासी!
अब गृह-भार नहीं सह सकती
देव, तुम्हारी दासी।[3]
आदि।

इस प्रगीत मे यद्यपि प्रेम का तीव्र उच्छ्वास नही है तथापि रागात्मकता और तन्मयता अपूर्व है। तीव्रता के अभाव का कारण है स्वकीया-प्रेम। मैथिलीशरण की नायिकाएँ परकीया नही हैं। इसलिए उनके प्रेम मे पर्वतीय नदी का आवेग न मिलकर समतल भूमि मे विस्तीर्ण मैदानी नदी का मन्द-मन्थर प्रवाह है। वियोग के कारण कुछ कराह अवश्य है पर वह भी असीम और अबाध नही है। क्योंकि स्वकीया-प्रेम मे घोर उद्दामता भी नियमित-नियन्त्रित हो जाती है। एक बात और! बाबू गुलाबराय ने प्रसाद जी के नाटकगत प्रेम-प्रगीतो के विषय मे लिखा है—"प्रसाद जी के नाटकीय गीत यद्यपि एक विशेष सदर्भ से बंधे हुए हैं और इस कारण वैयक्तिक भी हैं तथापि वे ऐसे है कि उनकी ताल-लय पर प्रत्येक प्रेमी हृदय प्रतिस्पन्दित होने लगता है। गीतो मे वैयक्तिकता बाधक नही साधक ही होती है और एक विशेष तीव्रता प्रदान करती है।"[4] ठीक उसी तरह यशोधरा और उर्मिला के प्रेम-प्रगीत वैयक्तिक हैं, फिर भी प्रत्येक सहृदय के लिए सवेद्य हैं। और उपर्युक्त वैयक्तिकता उन्हें प्रगीतोपयुक्त तीव्रता तथा दीप्ति प्रदान करती है।

स्वय प्रेम के विषय मे लिखित प्रगीत की गणना भी प्रेम-प्रगीतो के अन्तर्गत ही

---

१ साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३५
२ यशोधरा, सस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २४
३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ११८
४. काव्य के रूप, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १५५

होनी चाहिए। डा० भगीरथ मिश्र तो प्रेम को सम्बोधित करके लिखे गए पदो को भी प्रेम-प्रगीत ही मानते हैं।[1] किन्तु वे रूप-वैभिन्न्य के कारण सम्वोधन-प्रगीतो मे आने चाहिएँ। गुप्त जी ने दो-एक प्रगीत प्रेम के विषय मे भी लिखे है। साकेत से निम्नोद्धृत पक्तियाँ देखिए—

> दोनों ओर प्रेम पलता है।
> सखि, पतग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है!
> सीस हिलाकर दीपक कहता—
> 'बन्धु, वृथा ही तू क्यों दहता?'
> पर पतंग पड कर ही रहता! कितनी विह्वलता है।
> दोनों ओर प्रेम पलता है![2]

कुछ प्रेम-प्रगीत साधारण वरन् सर्वथा कलाहीन भी हैं। नीचे की पक्तियो की अनगढ शब्दावली कितनी अरुचिकर है—

> पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि, पहन लूँ ला, सब करूँ,
> जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।[3]
> आदि।

घनीभूत प्रेम की करुण विवशता, आकुल विह्वलता उक्त उद्धरण मे है फिर भी उसमें प्रगीतत्व नही है, सगीतात्मकता के अभाव से इसका द्रवणशील प्रभाव ही नष्ट हो गया। यदि इसमे सगीत का योग हो जाता तो निश्चित रूप से यह पाठक के हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव छोड जाता। किन्तु ऐसे प्रगीतत्वहीन स्थल बहुत कम हैं।

समग्रत मैथिलीशरण ने अन्य आधुनिक कवियो के समान अधिक प्रेम-प्रगीत नही लिखे। और जो लिखे भी हैं उनमे वासना का पक नही है, वे त्याग और बलिदान की साधना से उद्भासित हैं।

### शोक-प्रगीत

किन्ही व्यक्तिगत अथवा सामाजिक अभावो एव दाहो से प्रताडित कवि-हृदय का करुण उद्गीथ ही शोक-प्रगीत है। इसमे व्यजित शोक निरपवाद रूप से हार्दिक होना चाहिए। इसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति, जैसा कि हडसन का मत है, एकान्तत निष्कपट होनी चाहिए।[4] क्योकि कृत्रिमता के किंचित् आभास से ही शोक-प्रगीत का सारा सौन्दर्य और प्रभाव नष्ट हो जाता है। अग्रेजी मे शोक-प्रगीत का पर्याय 'एलेजी' है। यह शब्द ग्रीक से गृहीत है। ग्रीक मे छन्द-विशेष के व्यवहार के कारण शोक-प्रगीत को एलेजी के नाम से

१ किजल्क (पत्रिका), सवत् २००७, सम्पादक डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृष्ठ ४८
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २०४
३. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १९७
४. दे० An Introduction to the Study of Literature, ed 1955, page 100

अभिहित किया जाता था।[1] अंग्रेजी साहित्य में बहुत से उत्कृष्ट शोक-प्रगीत उपलब्ध हैं। मिल्टन, शेली और ग्रे के शोक-प्रगीत विशेषत प्रसिद्ध हैं। हमारे यहाँ भी शोकपरक साहित्य कम नही लिखा गया। कारुण्य का प्राधान्य देखकर ही तो भवभूति ने करुण को रसराज मान लिया था। आदिकवि वाल्मीकि के मुख से भी सर्वप्रथम शोक-सतप्त वाणी ही फूटी थी। आधुनिक कवियों मे भारतेन्दु, जयशकर प्रसाद, निराला आदि ने शोक-प्रगीत लिखे हैं। हमारे कवि की अजलि और अर्घ्य एक लम्बा शोक-प्रगीत ही है। उसमे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी की मृत्यु से उद्भूत कवि-हृदय के शोक की अभिव्यक्ति है। पुस्तक की प्राथमिक कुछ पक्तियाँ उद्धृत करता हूँ—

अरे राम ! कैसे हम झेलें
पनी लज्जा उसका शोक ?
गया हमारे ही पापों से
अपना राष्ट्रपिता परलोक।
हे भगवान, उदित होते हैं
क्या अब भी तेरे रवि-सोम ?
आँखें रहते देख रहे हैं
हम क्यों केवल तम का तोम।[2]

इस उद्धरण मे प्रकटित वेदना कवि के अपने हृदय की वेदना है। वह उससे इतना अभिभूत है कि सनेत्र होने पर भी उसे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता है। इसी प्रकार पुस्तक के अन्त मे भी कवि आँसू-आँसू है। वास्तव मे वह अपने अश्रुओ द्वारा ही अजलि और अर्घ्य दे रहा है—

बापू, आज सभी आशाएँ
दृष्टि शून्य कर जाती हैं,
अजलि और अर्घ्य देने को
आँखें भर-भर आती हैं।[3]

पर सम्पूर्ण कविता इसी तरह भाव-दीप्त नही है। बीच-बीच मे वह विचारो से भाराक्रान्त अथवा तर्क-प्रधान हो गई है।—और अनेक स्थलो पर व्यक्ति-तत्व को दबाकर वस्तु-तत्व उभर आया है, जैसे निम्नोद्धृत अवतरण मे—

अल्प वयस मे ही अम्बा को
दिए वचन तूने पाले,
बने वासनाओं के वन में
वे भी तेरे रखवाले।[4]

---

१. दे० गीति-काव्य, रामखेलावन पाण्डेय, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ २३१
२. अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ७
३ अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४३
४ अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १९

ऐसे स्थानों पर प्रगीतत्व का अभाव है। प्रगीतत्व की क्षीणता का कारण है कविता की दीर्घता। इस अतिरिक्त विस्तार से भावना का आवेश दुर्बल पड गया है। दूसरी बात जो प्रगीतत्व में बाधक हुई वह यह है कि इसकी रचना महात्मा गान्धी की मृत्यु के लगभग एक वर्ष पश्चात् हुई है। निश्चित रूप से उस समय तक हृदय की शोक-विह्वलता सयत और शान्त हो गई होगी। फिर भी कवि को हार्दिक दुःख हुआ था। इसीलिए यह पुस्तिका पाठक के मन पर एक करुण-मधुर लीक छोड जाती है। भारत-भारती मे भी अनेक शोक-प्रगीत हैं। उसका वर्तमान खण्ड तो शोक-प्रगीतो से ही आपूर्ण है। वैसे उसमे वस्तु की प्रधानता है—किन्तु उस वस्तु-तत्व से उत्थित आत्मस्थ भावनाओ का भी अभाव नही है।

गुप्त जी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मुन्शी अजमेरी तथा अपने पुत्रो की मृत्यु पर भी शोक-प्रगीत लिखे हैं। आचार्य द्विवेदी तथा मुन्शी अजमेरी सम्बन्धी शोक-प्रगीत पत्र-पत्रिकाओ मे छप चुके हैं। किन्तु बच्चो के निधन पर लिखी गई करुण गीतियाँ 'सात्वना' नामक अप्रकाशित पुस्तिका मे सगृहीत हैं। उसकी सामग्री हमे उपलब्ध नही हो सकी। आचार्य द्विवेदी तथा मुन्शी अजमेरी के साकेतवास पर लिखित एक-एक शोक-प्रगीत नीचे उद्धृत किया जाता है—

सरस्वती के हार-पद्म में आज उसी मुख की उनहार !
मरण वस्तुत परिवर्तन है, जीवन गतिमय अमर उदार।
लुप्त हुई क्या आर्य, तुम्हारे चिर निर्मल जीवन की धार ?
या हिन्दी की हरियाली में लहराती है एकाकार !
सींचा तुमने क्षेत्र हमारा आँसू नहीं पसीना गार,
फूले-फले अन्त में अब वह पाकर उस शरीर का सार !
किसके रस में उमड रहा यह मानस बनकर पारावार ?
भरे हृदय की ही श्रद्धाजलि उन चरणो में हो स्वीकार।[1]

(आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति)

ओ मेरे अभिमानी !
रहा अन्त में याचक ही तू होकर भी चिरदानी।
देश काल का मेल मिलाकर
आप मृत्यु तक अमृत पिलाकर
मागा भी क्या, होंठ हिलाकर
हा ! यह खारा पानी
ओ मेरे अभिमानी !
आँखें नया सिन्धु रच डालें
तुझ सा एक रत्न यदि पालें
पर हम कितना ही रो-गालें

---

१ सरस्वती (पत्रिका), फरवरी, १९३९

तूने लम्बी तानी
ओ मेरे अभिमानी !

सो, तू सुखपूर्वक सो, भाई
मृग ने मरीचिका तो पाई
पर जानें वह मेरा न्यायी
उसने कैसी ठानी
ओ मेरे अभिमानी ![1]

( मुन्शी अजमेरी के प्रति )

उपर्युक्त दोनो कविताओ मे कवि के अनुभूत शोक की व्यजना है। द्विवेदी जी तथा मुन्शी अजमेरी दोनों से गुप्त जी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, अत उनके निधन पर उनको हार्दिक दुख है। वह आत्मस्थ दु.ख ही यहाँ परिव्यक्त हुआ है। ऐसी रचनाओ को शोक-प्रगीत के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

इस प्रकार मैथिलीशरण जी ने शोक-प्रगीत भी लिखे है—और वे निश्चित रूप से हृदयरस से आप्लावित हैं। उनमे प्रकटित शोक और प्रवहमान अश्रु अकृत्रिम हैं, फिर भी आवेश की न्यूनता है—उतने ही अश मे वे सदोष हैं।

### रहस्यवादी प्रगीत

"रहस्यवादी भक्त परमात्मा को अपने प्रिय के रूप मे देखता है और उससे मिलन के लिए व्याकुल रहता है।"[2] अत जिन प्रगीतो मे रचयिता की वियुक्त आत्मा की अकुलाहट और छटपटाहट व्यक्त होती है वे रहस्यवादी प्रगीत कहलाते हैं। लेकिन आज का युग साधना का नही है। इस बीसवी शताब्दी मे कबीर और जायसी के समान धार्मिक साधना सम्भव नही है। फिर भी आज के कवि ने—विशेषत छायावादियो ने—आध्यात्मिक विरह के गीत गाए है। मैथिलीशरण जी ने भी युगचेतना से प्रभावित होकर कुछ रहस्यवादी प्रगीतो का प्रणयन् किया है। कवि की आत्मा को अपनी और प्रियतम की नित्यता पर अटूट विश्वास है—

थे, हो और रहोगे जब तुम
थी, हूँ और रहूँगी (मैं)[3]

—और निश्चय है मिलन का अनेक कठिनाइयो की अवस्थिति मे भी—

मार्ग-वक्रता और विषमता
आगे बढ़ती हुई सहूँगी (मैं)
पाकर तुम्हें कभी न कभी तो
अपने मन की बात कहूँगी (मैं)[4]

---

१. कवि के अनुज श्री चारुशीलाचरण गुप्त की कृपा से चिरगाँव से प्राप्त
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, सस्करण सन् १९५५, पृष्ठ २७२
३. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १५५
४. „ „ , पृष्ठ १५५

प्रिय-मिलन के लिए आत्मा व्याकुल है, आतुर है, निम्न पक्तियो मे उसकी तीव्र उत्कण्ठा देखिए—

दूती बैठी हू सजकर मैं।
ले चल शीघ्र मिलूं प्रियतम से,
धाम धरा धन सब तजकर मैं॥[1]

मिलन की उत्कण्ठा ही नही तादात्म्य की अधीर अभिलाषा भी है—

बस अब उनके अक लगूगी,
उनकी वीणा-सी बजकर मैं।[2]

अन्तिम पक्ति मे आत्म-समर्पण की पराकाष्ठा हो गई है। अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व को एकदम नगण्य मान लिया गया है। अपनी तुच्छता और प्रिय के महत्त्व मे ही सच्ची भक्ति और रहस्यवादिता है। पूर्वोद्धृत उदाहरणो के अतिरिक्त और भी, जैसे झकार, इकतारा, आमन्त्रण, अनुभूति, इन्द्रजाल आदि अनेक रहस्यवादी प्रगीत 'झकार' मे सकलित हैं। किन्तु ये सब कवि के व्यक्तित्व से सर्वथा असम्पृक्त हैं। क्योकि वह दशरथसुत अवतारी राम का भक्त है—किसी अव्यक्त का साधक नही। अत इन प्रगीतो मे प्रगीत-काव्य की प्राण-स्वरूप वैयक्तिकता का ही अभाव है। अधिकाशत कल्पना की ही उडान है। एक उदाहरण लीजिए—

चातक खडा चोंच खोले है,
सम्पुट खोले सीप खड़ी ;
मैं अपना घट लिये खडा हू,
अपनी अपनी हमे पडी।[3]

ससार-व्यापी प्रतीक्षा का अकन इन पक्तियो मे हुआ है। पर 'मैं अपना घट लिये खडा हूँ' मे हार्दिकता दृष्टिगत नही होती। इस हृद्गत प्रेरणा के अभाव के ही कारण अनेक रचनाएँ सफल प्रगीत नही बन पाईं। वास्तव मे ये रहस्यवादी प्रगीत व्यक्तिगत चेतना से अनुप्राणित नही हैं। वरन् इनके पीछे युग की प्रवृत्ति का आग्रह है।—और यदि कोई एकाध प्रगीत अच्छा है भी तो उसे भावमयी जिज्ञासा मात्र समझना चाहिए अनुभूति-प्रेरित नही।

### भक्तिरपक प्रगीत

रहस्यवाद मे अव्यक्त प्रियतम के प्रति विरह निवेदन होता है। वह प्रियतम निर्गुण, निराकार और निरुपाधि होता है किन्तु भक्त लोग ऐसे प्रिय की कल्पना करते हैं जो सगुण-साकार हो। वे अपने इष्टदेव से वैयक्तिक सबन्ध स्थापित करते है। इस व्यक्तिगत सबन्ध की स्थापना के निमित्त ही अवतारो की परिकल्पना की गई है। क्योकि अवतार के अभाव मे—किसी रूप-आकार के अभाव मे—व्यक्तिगत सबन्ध सभव नही। मैथिलीशरण गुप्त

---

१ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १५६
२ ,, ,, , पृष्ठ १५६
३ ,, ,, , पृष्ठ ११२

मूलत: भक्त हैं—उन्हे राम की भक्ति रिक्थ-स्वरूप मिली है। अतः उन्होंने अनेक भक्तिपरक प्रगीत लिखे हैं। झकार के पहले ही प्रगीत मे राम के दीनवन्धुत्व और उनके प्रति निजी रागात्मकता का अकन हुआ है—

निर्वल का वल राम है।
हृदय! भय का क्या काम है॥
* * *
तन-वल, मन-वल और किसी को
घन-वल से विश्राम है,
हमें जानकी-जीवन का वल
निशिदिन आठों याम है।[1]

अन्तिम पक्ति मे 'तुलसी के मतैं इतनो जग जीवन को फलु है' जैसी अनन्य और एकान्त श्रद्धा एव भक्ति है।—और भगवदवतारो, भगवान् की विभिन्न लीलाओ के अनुशीलन मे मैथिलीशरण को भी रसखान-सा रस मिलता है—

ये अवतार चरित नव नाना,
चित्त हुआ चिर चेरा।[2]

यह कोई वाग्जाल नही है—मिथ्यालाप नही है। सचमुच कवि का चित्त अवतारो के चरित-गान मे रस-मग्न हो जाता है। इस स्वार्थी और अवसरवादी युग मे भी मैथिली-शरण को भगवद्भजन मे ही आनन्द मिलता है। जिन लोगो को कभी उस सौम्य मूर्ति के दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे मेरे इस कथन से सहमत होंगे। वास्तव मे भौतिकता-प्रधान सासारिक जीवन से तो वे पराङ्मुख हैं। सघर्षो के 'दीरघ दाघ निदाघ' से उनका मन-कुसुम झुलस जाता है, वुद्धि चकरा जाती है। तव वे भगवत्कृपा की स्निग्ध ज्योत्स्ना की ही आकाक्षा करते हैं। कवि के अपने शब्दो मे—

जीवन-यात्रा के आतप से
मूर्च्छित है मति मेरी।
"कविर्मनीषी—!" कव छिटकेगी
कृपा-कौमुदी तेरी?[3]

प्रगीत काव्य के अनिवार्य तत्त्व वैयक्तिकता और भाव-सकुलता दोनो ही इन पंक्तियो मे देखे जा सकते हैं। कभी-कभी तो भावाविष्ट कवि चेतना को ही भार अथवा वावा मान वैठता है और अचेतना की कामना करता है—

चाटें चतुर चेतना लेकर
कर दो मुझे अचेत,

१. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ७
२. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १५
३. झकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४४

वस सचालित करे तुम्हारा
इगित वा सकेत ।[१]

मैथिलीशरण जी की पुस्तको के मगलाचरण भी भक्तिपरक प्रगीत ही हैं। उन सवमे प्राय राम के प्रति भक्ति-निवेदन है। उदाहरणस्वरूप दो पुस्तको के मगलाचरण प्रस्तुत करते हैं—

राम तुम्हारे इसी धाम मे
नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ ;
इसी देश मे हमे जन्म दो
लो प्रणाम हे नीरजनाभ ।[२]

* * *

वहाँ पन्थ-भय क्या भला, मेरे अन्घ प्रबन्ध,
जहाँ खींचता है तुझे, रामचरण रजगन्ध ।[३]

उपर्युक्त दोनो उद्धरणो मे छन्द का बन्धन स्पष्ट है जो प्रगीत के अनुपयुक्त है, फिर भी यहाँ कवि के हृद्गत भक्ति भाव की निश्छल अभिव्यक्ति है। इन पद्यो मे परिव्यक्त राम भक्ति निर्विवाद रूप से हार्दिक है। अत वाह्य कलेवर प्रगीत के अनुकूल न होने पर भी ये निश्चित रूप से प्रगीत हैं—इनमे प्रगीत की आत्मा सुरक्षित है। अन्यान्य पुस्तको के मगलाचरण के विषय मे भी यही कहा जा सकता है।

दो-चार प्रगीत गुप्त जी ने कृष्ण भक्ति के भी लिखे हैं। किन्तु वे राम के अनन्य उपासक हैं। अत कृष्ण भक्ति-मूलक प्रगीतो मे परम्परा-पिष्ट विचार ही अधिक हैं, स्वानुभूति अथच वैयक्तिकता अल्पाश मे ही मिल सकेगी, जैसे—

रथ-सूत हुए अपने भट के
कि फसे युग छोर कहीं पटके ।[४]

—इसीलिए यहाँ काव्यत्व का भी अभाव है। क्योकि कवित्व का सम्बन्ध अनुभूतिजन्य भावना से है—परम्पराप्राप्त ज्ञान से नही। फिर भी कृष्ण के ललित जीवन के सम्पर्क से कही-कही अपूर्व माधुर्य का सचार हो सका है। उदाहरण के लिए निम्नोद्धृत पक्तियाँ देखिए—

फिर याद पडे टटके टटके,
व्रज-गोप-वधू दधि के मटके,
उनका कहना—हटके ! हटके !
उलझी-सुलझी लटके लटके।
नटनागर, आज कहाँ अटके ?[५]

---

१ झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ११९
२ यशोधरा, मगलाचरण
३ कुणाल-गीत, मगलाचरण
४ झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४७
५. ,, ,, , पृष्ठ ४७

मेरे विचार मे ऐसे मधुर-स्निग्ध चित्र प्रगीत काव्य की आत्मा के प्रतिकूल नही है। सब मिलाकर मैथिलीशरण के भक्तिपरक प्रगीत काफी अच्छे हैं। न ये नीति-शुष्क हैं, न राष्ट्रीयता से भाराक्रान्त वरन् इनमे कवि-हृदय के सहज उद्गार हैं।

व्यंग्य-प्रगीत

अन्याय-अत्याचारो और विषमताओ से विक्षुब्ध कवि-हृदय का आवेश जब व्यंग्य-बाणो मे प्रस्फुटित होता है तब व्यंग्य-प्रगीतो का प्रणयन हुआ करता है। इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि व्यंग्य का उद्देश्य होना चाहिए विसदृशताओ का निराकरण—अन्यथा कितना ही कलात्मक होने पर भी, प्रगीत तत्वो से युक्त होने पर भी उसका परिगणन साधु काव्य मे नही हो सकता। अभिप्राय यह कि व्यंग्य-प्रगीत मे कवि-हृदय-उत्थित आवेश एव क्षोभ की व्यक्ति तो होगी। किन्तु उसके पीछे व्यष्टिगत द्वेष न होकर समष्टिगत कल्याण की भावना रहनी चाहिए। हिन्दी मे व्यंग्यात्मक साहित्य बहुत कम लिखा गया। भारतेन्दु-मण्डल के कुछ 'ज़िन्दादिल' लोगों ने व्यंग्यात्मक कविताए लिखी है—किन्तु वे इतनी वस्तुपरक है कि उन्हें प्रगीत नही माना जा सकता। हाँ, निराला ने अवश्य कुकुरमुत्ता, वन-वेला आदि कुछ अच्छे व्यंग्य-प्रगीत लिखे हैं। मैथिलीशरण की प्रवृत्ति व्यंग्य की ओर नही है, फिर भी उनका राष्ट्रकवि अत्याचारी विदेशी सत्ता पर—और उनका आस्तिक हृदय धूर्त पाखण्डियो पर व्यंग्य-बाण का सधान किए बिना नही रह सका। भारत-भारती मे कृष्ण के माध्यम से हृदय की कुत्सित वासनाओ का वीभत्स प्रदर्शन करनेवाले कवियो पर करारा व्यंग्य देखिए—

सोचो, हमारे अर्थ है यह बात कैसे शोक की—<br>
श्रीकृष्ण की हम आड़ लेकर हानि करते लोक की।<br>
भगवान को साक्षी बना कर यह अनंगोपासना,<br>
है धन्य ऐसे कविवरो को, धन्य उनकी वासना॥[१]

व्यंग्य की तीक्ष्णता मे समाविष्ट कवि के स्वानुभूत सताप ने इसे प्रगीतता प्रदान की है। यहाँ लक्ष्य करने की विशेष बात यह है कि किसी कवि-विशेष के प्रति दुर्भावना नही है, द्वेष का दश नही हैं। वरन् काव्य के सस्कार का उच्च आदर्श कवि के समक्ष रहा है। व्यंग्य की उग्रता देखनी हो तो विश्व-वेदना की निम्न पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

अहा! उन्नत मानव हैं आप ?<br>
आपके लिए रहा क्या पाप ?<br>
आपका अद्भुत यश - प्रताप,<br>
एक आतक, एक अभिशाप !<br>
बने कितनों को आप बिगाड़ ?<br>
बसे हैं कितने वास उजाड़ ?[२]

कितना तीखा व्यंग्य है—किन्तु इस उद्धरण मे प्रगीतत्व क्षीण है क्योकि इनमे

---

१. भारत-भारती, पच्चीसवां सस्करण, पृष्ठ १२१

२. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७

भारत-भारती के पूर्वोद्धृत अवतरण के समान अनुभूति की गहराई न मिलकर बौद्धिक आवेश का प्राधान्य है। और देखा जाए तो ससार के अधिकाश व्यग्य-प्रगीतो मे बुद्धि तत्व की प्रधानता ही मिलेगी—हृदय के रस से सिक्त तो अल्प ही हैं। आलोच्य कवि ने व्यग्य-प्रगीत बहुत कम लिखे है। सच्चे अर्थों मे प्रगीत तो और भी कम हैं। हाँ, एक बात सर्वत्र विद्यमान है, वह यह कि उनमे समाज-कल्याण का औज्ज्वल्य है, व्यक्तिगत द्वेष का मालिन्य नही।

## सम्बोधन-प्रगीत

ऊपर विषय की दृष्टि से किए गए प्रगीत काव्य के प्रकारो का विवेचन किया गया है। अब रूप पर आधृत भेदो—चतुर्दशपदियो (Sonnets) और सम्बोधन-प्रगीतो पर विचार किया जाएगा। चतुर्दशपदियो की तो हिन्दी मे प्राय कमी ही है।—और हमारे कवि ने तो केवल दो लिखी हैं। हाँ, अग्रेजी के अनुकरण पर आधुनिक काल मे सम्बोधन-प्रगीत अवश्य लिखे गए हैं। किसी को सबोधित करके लिखा गया प्रगीत सम्बोधन-प्रगीत कहलाता है। इस सम्बन्ध मे यह ज्ञातव्य है कि सबोध्य का सजीव होना आवश्यक नही है। 'किसी प्राकृतिक या साधारण वस्तु, दृश्य, भाव और विचार, युग को भी सम्बोधित किया जा सकता है।'[1] अग्रेजी मे शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, टेनीसन आदि ने श्रेष्ठ सम्बोधन-प्रगीत लिखे हैं। हिन्दी मे निराला विरचित 'यमुना के प्रति', पन्त जी की 'छाया' तथा दिनकरकृत 'समाधि के प्रदीप से' आदि प्रगीत इसके अच्छे उदाहरण हैं। गुप्त जी ने भी कई सम्बोधन-प्रगीत लिखे हैं। उनकी भारत-भारती, हिन्दू, कुणाल-गीत आदि पुस्तको मे अनेक सम्बोधनात्मक प्रगीत उपलब्ध हैं। भारत-भारती के भविष्यत् खण्ड मे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रो, साधु-सन्तो, तीर्थगुरुओ, नेताओ, कवियो, धनियो और नवयुवको आदि को सम्बोधित करके प्रगीत लिखे गए हैं। इन प्रगीतो मे स्पष्टत उपदेश की गन्ध है, सुधार की प्रवृत्ति है। फिर भी विषयी की मनसा का सर्वथा अभाव नही है। कवियो को सम्बोधित करके लिखी गई पक्तियाँ देखिए—

> **करते रहोगे पिष्ट-पेषण और कब तक कविवरो**
> **कच, कुच, कटाक्षो पर अहो! अब तो न जीते जी मरो।**
>
> * * *
>
> **आनन्ददात्री-शिक्षिका है सिद्ध कविता-कामिनी**
> **है जन्म से ही वह यहां श्रीराम की अनुगामिनी।**
> **पर अब तुम्हारे हाथ से वह कामिनी ही रह गई,**
> **ज्योत्स्ना गई देखो अधेरी यामिनी ही रह गई॥**[2]

यहाँ कवि के अपने भग्न हृदय का क्षोभ भी समाविष्ट है। यद्यपि इस उद्धरण मे वाछित आवेग एव आवेश नही है, फिर भी इसमे प्रगीत के अनिवार्य-तत्त्व स्वानुभूति की ही परिव्यक्ति हुई है। हिन्दू मे 'अग्रेजो के प्रति' और 'मुसलमानो के प्रति' काफी लम्बे

---

१ गीति-काव्य, रामखेलावन पाण्डेय, पृष्ठ २४१

२. भारत-भारती, पच्चीसवाँ सस्करण, पृष्ठ १७०-१७१

सम्बोधनात्मक प्रगीत सकलित हैं। उसमे 'पारसियो के प्रति', 'ईसाइयो के प्रति' तथा 'युवको के प्रति' आदि कुछ छोटे-छोटे और भी सम्बोधन-प्रगीत हैं। उन सबमे गुप्त जी का उपदेशक अथवा सुधारक उनके कवि को दबा बैठा है। अतएव पूर्वोल्लिखित रचनाएँ रूप की दृष्टि से ही सम्बोधन-प्रगीत हैं। उनमे और कोई विशेष बात नही है। 'मुसलमानो के प्रति' से कुछ पक्तियाँ नीचे उद्धृत करता हूँ—

मुसलमान भाई, हो शान्त;
सोचो तुम्हीं तनिक एकान्त।
तुम निज हेतु करो सब कर्म,
और छोड दें हम निज धर्म ?
रहे तुम्हारा कुछ भी बोध,
हमको तुम से नहीं विरोध।
मातृभूमि का नाता मान,
हैं दोनों के स्वार्थ समान।[1]

इस अवतरण मे कवि का मस्तिष्क ही बोल रहा है। बौद्धिक आख्यान ही है, हृदय का रस नही। मैं समझता हूँ ऐसी पक्तियो मे कवि का अपना कुछ नही है—यह तर्क भी शायद मौलिक नही है। हाँ, कुणाल-गीत मे निश्चय ही कुछ अच्छे सम्बोधन-प्रगीत हैं। एक उदाहरण लीजिए—

मेरे शुद्ध समीर रे !
लेकर तुझमे श्वास आज भी स्वस्थ कुणाला-शरीर रे !
मेरा देश स्वच्छ सुरभित है,
शुचि-रुचि-शाली रंग-रहित है।
उसमे निज पर-हित समुचित है,
साक्षी तू ध्रुव धीर रे !
मेरे शुद्ध समीर रे।[2]

पहले दो चरणो मे समीर और कुणाल पर ध्यान अटका रह सकता है—उनमे कवि-हृदय की झाँकी नही है। किन्तु तीसरी पक्ति—'मेरा देश स्वच्छ सुरभित है'—से देश की 'शीतल-मन्द-सुगन्ध समीरण' के स्पर्श से उद्भूत कवि-हृदय की राष्ट्रीयता ही परिव्यक्त है। यही सच्चे प्रगीत की विशेषता होती है। ऐसे ही दो-चार प्रगीत और भी कुणाल-गीत मे मिल सकते हैं। फिर भी अच्छे सम्बोधन-प्रगीत गुप्त जी ने कम ही लिखे हैं। अधिकाशत. किसी को सम्बोधित करके वे उपदेश ही देने लगते हैं—उपदेशष्टा बन बैठते हैं, कवि नही रहते।

---

१. हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ३४६-३४७
२. कुणाल-गीत, संस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ११८

## उद्‌बोधन-प्रगीत

यह प्रगीत का कोई प्रसिद्ध-प्रतिष्ठित रूप नही है। वास्तव मे यह मैथिलीशरण द्वारा प्रयुक्त नवीन रूप-प्रकार है। कल्याण-कामना से अभिभूत कवि जब जागरण का सन्देश देता है, पाठक की उद्‌बुद्धि का प्रयत्न करता है तब उद्‌बोधन-प्रगीत का जन्म होता है। वैतालिक गुप्त जी का एक लम्बा उद्बोधन-प्रगीत है। वैसे तो यह भी कवि की राष्ट्रीयता का ही एक अग है। किन्तु राष्ट्रीय प्रगीतो और इन उद्बोधनात्मक प्रगीतो के स्वर मे अन्तर है। राष्ट्रीय मे ओज एव आवेश रहता है पर उद्बोधनात्मक मे उत्साह और माधुर्य। वतालिक से एक उदाहरण लीजिए—

> **तम की सब कालिमा धुली,**
> **आँख तुम्हारी क्यों न खुली ?**
> **निरालस्य सब हो जाओ,**
> **इस श्रेय श्री को पाओ।[1]**

यहाँ कवि उद्‌बोधन की बात कर रहा है, जागरण के लिए प्रेरित कर रहा है। यदि यह राष्ट्रीय प्रगीत होता तो कवि आलस्य पर नेत्र न खुलने पर झुँझला उठता। किन्तु इस पुस्तिका मे कवि राष्ट्रकवि के रूप मे नही देश के वैतालिक के रूप मे आया है। उपर्युक्त पक्तियो मे उसका वैतालिक रूप ही उद्‌भासित है। वह देश की, देश के वासियो की स्तुति करके उन्हे उद्‌बोधित करने का प्रयत्न करता है—

> **भारत माता के बच्चे,**
> **विश्व-बन्धु तुम हो सच्चे।**
> **फिर तुमको किसका भय है,**
> **उद्यत हो जय ही जय है।[2]**

प्रगीत-तत्त्वो की दृष्टि से देखा जाए तो वैतालिक काव्य आवेग-दीप्त नही है, फिर भी कवि का सद्भाव उसमे व्याप्त है।

## मूल्याकन

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मैथिलीशरण जी ने सभी प्रकार के प्रगीतो का प्रणयन किया है। स्वतन्त्र प्रगीतो के साथ-साथ उनके प्रवन्धो मे भी पर्याप्त प्रगीत अनुस्यूत हैं। मैं समझता हूँ कि गुप्त जी ने रहस्यवादी को छोडकर शेष सभी प्रकार के अच्छे प्रगीत लिखे हैं। मैथिलीशरण रहस्यवादी नही हैं, परिणामत रहस्यपरक प्रगीत भी उनके व्यक्तित्व से सस्पृष्ट नही हैं। उनके सर्वोत्कृष्ट प्रगीत हैं राष्ट्रीय। राष्ट्रीयता कवि का स्वानुभूत विषय है—राष्ट्रीयता उसमे कूटकूट कर भरी हुई है। हृदय-सप्रेरित होने के कारण राष्ट्रीय प्रगीत आवेश और आक्रोशमय हैं। हाँ इतना जरूर है कि वह आवेश भी अन्यान्य कवियो के समान निर्वाध और निर्वन्ध न होकर सयत और नियन्त्रित है। प्रस्तुत कवि का आवेग और आवेश

---

१ वैतालिक, सस्करण सवत् २००८, पृष्ठ ६

२. वैतालिक, सस्करण सवत् २००८, पृष्ठ ३०

उद्दाम नही हो जाता। वैसे सब मिलाकर गुप्त जी के प्रगीत काव्य मे भावदीप्ति प्राय. क्षीण-सी ही है। इस दृष्टि से प्रबन्धान्तर्गत प्रगीत कही अधिक सफल हुए हैं।

सर्वाधिक सदोष है इस कवि के प्रगीतो का कलापक्ष। पहली बात तो यह कि वे प्राय रूप-आकार की दृष्टि से प्रगीत नही हैं—पिंगल की लौह-शृखला मे निगडित हैं। दूसरे भाषा भी प्रगीतो के उपयुक्त नही है—उसमे अपेक्षित दीप्ति, मार्दव और मसृणता नही है। मैथिलीशरण जी की भाषा वर्णनात्मक अधिक है, भावाभिव्यजक कम। और स्पष्ट शब्दो मे उसमे प्रबन्धोचित वर्णन और विवरण की शक्ति हैं, प्रगीनोपयुक्त अभिव्यजन की नही। सगीतात्मकता का भी प्राय अभाव ही है—शब्दो मे ध्वनन की क्षमता नही।

कुल मिलाकर गुप्त जी के प्रगीत काव्य का कलापक्ष भावपक्ष की अपेक्षा दुर्बल है। उसमे कल्पना की रगीनी और शिल्प का औज्ज्वल्य नही है, भाषा मे भी अपेक्षित परिमार्जन नही। —और अधिकाश प्रगीतो मे व्यक्ति-तत्त्व के होते हुए भी वाछित आवेश का अभाव है। वस्तुत मैथिलीशरण जी मूलत और मुख्यत प्रबन्ध-कवि हैं—प्रगीतकार नही। ये प्रगीत तो उन्होंने युगरुचि से प्रभावित होकर लिख डाले या यो कहिए कि वे युग-प्रतिनिधित्व का लोभ सवरण नही कर पाए। फिर भी उन्होने पुष्कल परिमाण मे प्रगीत-रचना की है। प्रबन्ध-कवि द्वारा प्रणीत यह प्रगीत-राशि अनेक दोषो की अवस्थिति मे भी उसकी बहुमुखी प्रतिभा और व्यापक शक्ति की परिचायक है। और कम से कम हमारे कवि के राष्ट्रीय प्रगीतो का तो बहुत प्रचार और प्रभाव रहा है। सभी गण्यमान्य विद्वान् नेताओ ने इसे स्वीकार किया है—मुक्तकण्ठ से उन प्रगीतों की सराहना की है।

# मुक्तककार मैथिलीशरण गुप्त

## मुक्तक का स्वरूप

स्व-अर्थ की परिव्यक्ति मे स्वत समर्थ रचना को मुक्तक कहा जाता है। अग्नि-पुराणकार ने भी यही बात कही है—

मुक्तक श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षम सताम्

दूसरे शब्दो मे यह कह सकते हैं कि स्वतन्त्र रूप से रस-सचार मे सक्षम अथवा पूर्व और पर की सहायता के बिना ही रसोद्रेक मे समर्थ रचना ही मुक्तक है। अभिनवगुप्ताचार्य ने निम्न उद्धरण मे इसी का निरूपण किया है—

पूर्वापर निरपेक्षाति येन
रसचर्वणा क्रियते तन्मुक्तम्।

इसका यह तात्पर्य नही कि मुक्तक मे सदैव एक ही छन्द होता है। कभी-कभी उसमे एकाधिक—दो, तीन या चार-पाच छन्द भी हो सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने तो दो, तीन,

चार, पाँच और पाँच से अधिक छन्दो मे पूर्ण होनेवाले मुक्तको के युग्मक, सदानितक आदि पृथक्-पृथक् नामो का भी निर्देश किया है ।[1] अभिप्राय केवल इतना है कि उसका आकार सीमित होना चाहिए ।

इस प्रकार मुक्तक की दो मूल विशेषताएँ हुईं—एक सक्षिप्तता और दूसरी सरसता । सक्षेप के लिए कोई नियत-निश्चित नियम नही है—स्थिर-सिद्धात नही है । लेकिन इतना तो सर्वमान्य ही है कि मुक्तक अन्य काव्य-रूपो की अपेक्षा सक्षिप्त होता है । यद्यपि साहित्य-दर्पणकार दो-तीन, चार-पाँच छन्दो की ही नही, पचाधिक छन्दो मे विस्तीर्ण रचना को भी मुक्तक ही मानते हैं । फिर भी सामान्यत एक छन्द मे सीमित रचना को ही मुक्तक कहा जाता है । इस सक्षेप के कारण ही इसमे प्रवन्ध के समान जीवन का सम्पूर्ण एव विशद चित्र न मिलकर एक ही स्थिति अथवा भाव का सघन चित्रण उपलब्ध होता है । यह चित्र प्रणेता को केवल एक छन्द मे समाहृत करना होता है अतएव वह बडे कौशल से काम लेता है । आप देखेंगे कि मुक्तककार छोटी कहानी के लेखक के समान एक भी व्यर्थ वात अथवा शब्द नही आने देता । उत्कृष्ट मुक्तको मे आवश्यक का चयन और अनावश्यक का त्याग वडी सफाई से होता है ।

दूसरी विशेषता है सौरस्य । प्रबन्ध मे तो नीरस पक्तियाँ भी चल सकती हैं । वहाँ विभिन्न मार्मिक स्थलो को जोडनेवाले नीरस स्थल भी प्रसग की सरसता से रस-पूर्ण वने रहते हैं या यो कहिए कि प्रवन्ध के प्रवाह मे मग्न पाठक को नीरसता का भान नही हो पाता । किन्तु मुक्तक तो पूर्वापर-निरपेक्ष होता है । अत वह स्वय ही, अपने आप मे ही, रस-पूर्ण अथवा रसोद्रेक मे समर्थ होना चाहिए । प्रत्येक मुक्तक के स्वतन्त्रत रस-व्यजक होने के कारण ही अनेक आचार्यों ने मुक्तकठ से उसकी प्रशसा की है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—'यदि प्रवन्धकाव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है ।'—उसमे व्यापकता एव औदात्त्य भले ही न हो, स्वत सपूर्णता और रसोद्रेक निश्चय ही रहता है ।—और पडित पद्मसिह शर्मा तो मुक्तक को गुणखानि ही मानते हैं । उनके अनुसार मुक्तक के सभी अवयव मधुर होते हैं—'मुक्तक-रचना एक मीठी रोटी के समान है, जिसे जहाँ से चाहे काटें, वही से मीठी निकलेगी ।' आचार्य आनन्दवर्धन अमरुशतक के मुक्तको पर ऐसे रीझे कि उसके एक-एक मुक्तक को सैकडो प्रबन्धो से भी अधिक मान वैठे—

**अमरुकवेरेक श्लोक प्रवन्धशतायते**

ये सव आचार्य मुक्तक की समाहार शक्ति और सौरस्य पर मुग्ध हैं ।

लेकिन मुक्तक प्रवन्ध से उन्नतर कदापि नही हो सकता । इसका सवसे सवल प्रमाण मेरे पास यह है कि विश्व साहित्य मे महाकवि कहलानेवाले व्यक्ति प्राय प्रबन्धकार हैं—केवल मुक्तक-रचना के वल पर यह पद प्राप्त करनेवाले कवि दो-एक ही मिलेंगे । कुछ

---

१ दे० साहित्यदर्पण—षष्ठ परिच्छेद

लोगो का विश्वास है कि मुक्तक-रचना अपेक्षाकृत अधिक श्रम-साध्य होती है। परन्तु छोटे-छोटे मुक्तक रच लेना एक बात है और सैंकडो पृष्ठो मे विस्तृत प्रबन्ध का प्रणयन दूसरी बात है। मुक्तक मे जीवन के खण्ड, खण्ड भी नही, उसके भी अश का अकन होता है। किन्तु प्रबन्ध मे किसी महच्चरित्र की कल्पना साकार हुआ करती है। परिणामत मुक्तक का प्रभाव क्षणिक होता है। इसके विपरीत प्रबन्ध चिरप्रभावक्षम होता है—वह मानव-मन के सस्कार-परिष्कार एव उदात्तीकरण मे समर्थ होता है। इसीलिए प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहते हैं—'मुक्तको को काव्य का चरम लक्ष्य नही माना जा सकता।'[1] मैं उनके इस कथन से पूर्णत सहमत हूँ कि प्रबन्ध ही काव्य की व्यापक उद्देश्य-पूर्ति मे सहायक एव सफल है। फिर भी मुक्तक की अपनी उपयोगिता है। थोडे मे ही रसानुभूति करा देना मुक्तक की ही सामर्थ्य है। अतिरिक्त व्यस्त आधुनिक व्यक्ति के लिए मुक्तक ही अधिक उपयोगी है। राजदरबारो मे भी उसी का बोल-बाला रहा है—क्योकि उसके माध्यम से सम्पूर्ण सभा को एक क्षण मे ही चमत्कृत किया जा सकता था। वहाँ प्रबन्ध के श्रवण का धैर्य किसको था ? इस प्रकार मुक्तक भी हेय नही है—उसका जीवन मे अपना स्थान है।

अब प्रश्न रह जाता है रसहीन पद्यो का। क्या वे पद्य भी जो नीरस हैं मुक्तक कहलाएँगे ? ये पद्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनमे नीति का व्याख्यान होता है। उन्हे तो काव्य की परिधि मे रखना ही भूल है। नही तो वैद्यक और ज्योतिष के पद्यबद्ध ग्रन्थो को भी काव्य मानना होगा। किन्तु कुछ पद्य ऐसे भी होते हैं जो रस-व्यजना मे तो नही पर चमत्कार उत्पन्न करने मे समर्थ होते हैं। और स्पष्ट शब्दो मे उनमे सरसता तो नही लेकिन वक्रता होती है जो पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेती है। ऐसी रचनाओ को भी यदि निम्नतर कोटि का काव्य मान लिया जाए तो शायद कोई हर्ज नही। वस्तुत इन वक्रतापूर्ण उक्तियो को ही सूक्ति कहा जाता है—और इनमे निश्चित रूप से कुछ काव्य-तत्त्व—कम से कम वक्रता तो अवश्य—विद्यमान रहते हैं।

### गुप्त जी का मुक्तक काव्य

मैथिलीशरण मूलत और मुख्यत प्रबन्धकार हैं। किन्तु प्रबन्धो के साथ अन्यान्य प्रकार की रचना भी वे करते रहते हैं। और फिर मुक्तक तो सभी कवियो ने लिखे हैं—शायद अभ्यास के लिए मुक्तक का प्रणयन ही सुगम रहता है। गुप्त जी ने भी मुक्तक लिखे हैं। प्रारम्भ मे तो वे मुक्तककार ही थे—सरस्वती आदि पत्रिकाओ मे बराबर उनकी कविताएँ छपती रहती थी। मैथिलीशरण की अधिकाश, करीब-करीब सभी मुक्तक कविताओ के सग्रह प्रकाशित हो चुके है जिनके नाम ये है—पद्य-प्रबन्ध, स्वदेश-सगीत और मगल-घट। ये पुस्तकें निश्चय ही मुक्तक-सग्रह हैं। इनमे सकलित कविताओ का एक-दूसरी मे कोई सम्बन्ध नही। किन्ही दो कविताओ के विषय मे आपको समानता नही मिलेगी, और उनके रचनाकाल मे भी वर्षो का अन्तराल है। प्रत्येक कविता का अपना उद्देश्य भी पृथक् है—

---

१ बिहारी की वाग्विभूति, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ३०

क्योंकि इनमें भिन्न-भिन्न समयों पर विभिन्न मनोदशाओं के प्रभाव में की गई रचनाए संकलित हैं। मैंने अभी कहा कि इन तीनों पुस्तकों में मुक्तक संगृहीत हैं ('विकट भट' और 'नकली किला' को छोडकर जो कि अब विकट भट और रग मे भग के नाम से, स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं)। लेकिन आपको इनमें 'निन्यानवे का फेर', 'बाजी प्रभु देशपाडे' आदि कुछ आख्यान भी मिलेंगे। यद्यपि ये आख्यान काफी संक्षिप्त हैं, फिर भी निश्चय ही इन्हे मुक्तक नहीं कहा जा सकता। कुछ रचनाओं में ऋतु-वर्णन हुआ है—और कुछ ऐसी भी हैं जिनमें किसी एक ही विषय का प्रतिपादन कर दिया गया है। उदाहरणत 'स्वर्ग-सहोदर' में भारत की श्रेष्ठता का व्याख्यान दो-तीन पृष्ठों में हुआ है। इस प्रकार की रचनाओं को प्रबन्ध या मुक्तक किसी के भी अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। 'निन्यानवे का फेर' आदि आख्यानों को प० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र द्वारा उल्लिखित काव्य-निबन्ध माना जा सकता है। उनका कथन है—"हिन्दी में कुछ कथात्मक कविताएँ भी लिखी जाने लगी हैं प्रबन्धकाव्य की भाति इनमें वस्तु-वर्णन एव कथा-विस्तार नहीं होता अर्थात् इनमें बन्ध तो होता है पर प्रबन्ध नहीं।"[1] गुप्त जी के ये संक्षिप्त आख्यान ऐसे ही हैं। लेकिन 'काव्य-निबन्ध' में निबन्ध शब्द भ्रमात्मक है वरन् अनुप-युक्त है क्योंकि आज निबन्ध का सम्बन्ध विचार से है, इतिवृत्त से नहीं। इसलिए मेरा विचार है कि यदि इन छोटे-छोटे आख्यानों को काव्य-निबन्ध की बजाए पद्य-कथा कहा जाए तो अधिक सगत होगा।—और मैं समझता हूँ कि जिन कविताओं में ऋतु-वर्णन हुआ है या जिन लम्बी कविताओं में एक ही विषय का प्रतिपादन हुआ है उन्हे ध्वन्यालोक (तृतीय उद्योत) में निर्दिष्ट पर्यायबन्ध मान लेना चाहिए। ध्वन्यालोक के अनुसार 'वसन्तादि किसी एक ही विषय के वर्णन के उद्देश्य से प्रवृत्त काव्य-विशेष को पर्यायबन्ध कहते हैं।'[2] गुप्त जी की इन कविताओं में भी किसी ऋतु का वर्णन अथवा देश की श्रेष्ठता या नागरी लिपि की उपयोगिता आदि का आलेखन हुआ है। इसीलिए मैं इन्हे पर्यायबन्ध के अन्तर्गत रखता हूँ। इन पद्यबद्ध लघुकथाओं और पर्यायबन्धों की अवस्थिति में भी पद्य-प्रबन्ध, स्वदेश-सगीत और मगल-घट ये तीनों पुस्तकें मुक्तक-सग्रह ही हैं—क्योंकि पर्यायबन्ध आदि के अन्तर्गत आनेवाली रचनाएँ तो बहुत कम, केवल आठ-दस ही हैं।

उक्त सग्रहों में मुक्तक कही जानेवाली रचनाए भी थोडी बडी हैं। आज हम केवल एक छन्द की रचना को मुक्तक समझने के आदी हो गए हैं। इस दृष्टि से गुप्त जी द्वारा लिखित मुक्तक दो-एक ही मिलेंगे। उनके अधिकाश मुक्तक चार-पाँच अथवा अधिक छन्दों में प्रसारित हैं अत वे सामान्य धारणा से बडे हैं। यह बात नहीं कि उन्होंने किसी छोटे छन्द का प्रयोग किया हो अथवा एक-वृत्ताश्रित मुक्तकों में बहुधा प्रयुक्त छन्दों का प्रयोग न किया हो। पर वे भी इकट्ठे चार-चार, पाच-पाच आते हैं, कम नहीं। गुप्त जी का बहु-उद्धृत छप्पय—

---

१. वाङ्मय-विमर्श, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४६

२ हिन्दी ध्वन्यालोक—आचार्य विश्वेश्वर प्रसाद, संपादक डा० नगेन्द्र, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २५०

जिसकी रज मे लोट-लोटकर बड़े हुए हैं
घुटनो के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं [1]
आदि ।

—भी एक लम्बी कविता का अश है, स्वत पूर्ण नही । अभिप्राय यह कि मैथिलीशरण के मुक्तको मे तत्सवन्धी प्रचलित दृष्टिकोण की प्रतिच्छाया आपको नही मिलेगी—यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से वे मुक्तक ही हैं, उनका परिगणन निर्वन्ध काव्य के अन्तर्गत ही होता है ।

भारत-भारती और हिन्दू को भी कुछ लोग मुक्तक मानते हैं। उदाहरणत श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' इन दोनो पुस्तकों को स्फुट काव्य कहते हैं ।[2] पर यह ठीक नही है क्योकि इनके प्रकृत सौंदर्य की क्षति के विना पद्यो के क्रम मे परिवर्तन नही किया जा सकता । यही वात कवितावली के विपय मे भी कही जा सकती है—फिर भी प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का आग्रह है कि उसे मुक्तक ही माना जाए ।[3] किन्तु मैं इस विचार से सहमत नही हूँ— जहाँ क्रम-परिवर्तन की स्वतन्त्रता नही है वहाँ मैं मुक्तक की स्थिति मानने को तैयार नही हूँ । अत मेरे विचार मे भारत-भारती और हिन्दू भी मुक्तक नही हैं । क्योकि इनके भी पद्यो को, पद्यो ही क्या उपशीर्षको को भी, स्थानान्तरित नही कर सकते । कुछ लोग इन्हें शिक्षात्मक काव्य कहकर सतुष्ट हो जाते है । लेकिन यह तो कोई काव्य-रूप नही हुआ । और फिर शिक्षात्मक तो मूलत सभी काव्य होते हैं । शिक्षारहित काव्य शायद काव्य ही नही रह जाएगा । एक अग्रेज विद्वान् ने ठीक ही कहा है—"In a sense most good poetry teaches ( is, in Arnold's words, a 'criticism of life') " [4] अभिप्राय यह कि भारत-भारती और हिन्दू शिक्षात्मक काव्य तो हैं पर मुक्तक नही । किन्तु इन्हें प्रवन्ध भी नही कह सकते—क्योकि यहाँ कथा-सूत्र का एकदम अभाव है । वास्तव मे इनमे एकता है विचार की—हिन्दू और भारत-भारती के तल मे आरम्भ से अत तक विचार का सूत्र एक-तार अनुस्यूत है । वस, इन दोनो काव्यो मे यही सम्वद्धता है, यही व ध है । अग्रेजी मे भी चतुर्दशपदी-वन्ध (Sonnet Sequence) मिलते हैं जिनमे कि विचार की, या फिर भाव की एकता मिलती है । किन्तु हिन्दी मे इस प्रकार का कोई काव्य-रूप प्रचलित एव प्रसिद्ध नही है । इस विपय मे यह भी ज्ञातव्य है कि भारत-भारती और हिन्दू का ऐक्य सॉनेट सीक्वेन्स से भी प्रगाढ है, उससे भी अधिक व्यापक है । यही चीज़ यदि गद्य मे लिखी जाती तो निवध कहलाती—यहाँ 'निवन्ध' शब्द का प्रयोग मैं साहित्यिक निवन्ध के लिए कर रहा हूँ जिसमे कि छन्दमय माध्यम के अतिरिक्त काव्य के प्राय सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं । अत मेरा निवेदन है कि हिन्दू और भारत-भारती को काव्य-निवन्ध कहना चाहिए । अस्तु !

---

१ पद्य-प्रवन्ध, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ३०

२ दे० गुप्त जी की काव्यधारा, सस्करण सन् १९४६, पृष्ठ ९६

३ दे० विहारी की वाग्विभूति, तृतीय सस्करण, पृष्ठ २५-२६

4 An Introduction to Poetry by Raymond Macdonald Alden, Edition September, 1937, page 37

अब इन पद्यात्मक काव्य-निबन्धो और मुक्तको पर काव्य की दृष्टि से भी थोडा विचार कर लेना चाहिए। मैथिलीशरण अधिकाशत राष्ट्रीय भावनाओ से परिपूर्ण मुक्तक लिखते हैं। काव्य-निबन्धों—भारत-भारती और हिन्दू मे भी यही भावना काम कर रही है। इन सब मे भारत के प्राचीन गौरव, वर्तमान अधोगति और स्वातन्त्र्य की प्रेरणा आदि का आलेखन मिलता है। इस प्रकार अधिकतर विषाद और उत्साह की व्यजना हुई है। अत्याचारियो के प्रति रोष और मुक्तको मे तो भक्तिपरक शृङ्गार भी कही-कही मिल जाता है। अभिप्राय यह कि गुप्त जी इनमें करुण, वीर, रौद्र और शृङ्गार को स्थान देते हैं। भारत-भारती में विशेषत उसके वर्तमान खण्ड में शोक की ही व्यजना हुई है। हिन्दू में अत्याचारियो—प्रमुखत अग्रेजो के प्रति क्रोध में रौद्र के दर्शन किए जा सकते हैं। स्वदेश-सगीत से वीर का भी एक सुख-सरल उदाहरण लीजिए—

यह न समझो तुम कि हम डर जायेंगे
प्राप्य अपना छोडकर घर जायेंगे
चित्त मे यह ठान हमने है लिया—
मोद पाकर मान पर मर जायेंगे।[1]

इन पक्तियो मे शीश-दान के उत्साह का गान है। अहिंसात्मक वीरत्व का व्याख्यान है। भक्तिपरक शृगार का चित्रण भी निम्नाकित आशीर्वादात्मक छन्द में देखिए—

हलधर बन्धु को उठाये गिरिराज सुन,
आई वृषभानुजा मराल की सी चाल से।
देख सखियों के संग सुन्दर लता सी उसे,
मुग्ध गिरिधारी हुए चचल तमाल से।
डगता जान कम्प से करस्थ शैल क्रीड़ा का,
व्रीडावश बन्द किये लोचन विशाल से।
ऐसे घनश्याम का पवित्र स्वेद नीरजाल,
त्राण करे सर्वदा कराल काल-ज्वाल से॥[2]

यहाँ पर राधा और कृष्ण आलम्बन तथा आश्रय हैं। राधा की मराल-सी चाल तथा शारीरिक सौंदर्य उद्दीपन हैं। कृष्ण का कम्प एव स्वेद अनुभाव हैं। चाचल्य आदि सचारी हैं। इस प्रकार शास्त्राभ्यासियो के लिए पूर्ण रस-सामग्री उपस्थित है।

वीभत्स, अद्भुत और हास्य का मैथिलीशरण के मुक्तको मे अभाव ही मिलेगा। यो तो एकाध स्थान पर वीभत्स का स्पर्श भी मिल जाता है—किन्तु वह रौद्र अथवा करुण का सहायक ही है—स्वतन्त्र नही।

कुल मिलाकर इन सग्रहो मे कवित्वपूर्ण स्थल बहुत कम हैं। इन सब मे हिन्दू तो विशेष रूप से नीरस है। श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने 'गुप्त जी की काव्य-धारा' मे हिन्दू मे

---

१ स्वदेश-सगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११५

२. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८

सकलित 'विधवा' कविता की तुलना मौलाना हाली की इसी विषय की कविता से काफी लम्बे उद्धरण देकर की है।[1] मैं उन्हें यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नही समझता। किन्तु हिन्दू मे 'अकड कर बैठी हुई नीरसता' से इन्कार नही किया जा सकता। अन्य सग्रहो मे भी रस की अविरल धारा नही है। कई खण्ड तो सर्वथा नीरस और अरोचक हो गए हैं। वास्तव मे आदर्शवादिता और उपदेशक-वृत्ति गुप्त जी का पीछा नही छोडती। हाँ उनकी पद्य-कथाएँ फिर भी काफी रोचक हैं। यद्यपि रस का प्रवाह तो वहाँ भी क्षीण है किन्तु वहाँ 'केवल कथाश का वर्णन (मुख्य) होने से रस-बन्ध का विशेष आग्रह नहीं होता।'[2]

इस विषय मे इतना और वक्तव्य है कि मैथिलीशरण मे भावुकता की कमी नही है—किन्तु उनमे कोरी भावुकता भी नही है। वास्तव मे उनकी काव्य-साधना एक कर्मयोग है जिसमे भावना का मणि-काचन सयोग रहता है। इसीलिए गुप्त जी जनसाधारण के—जन जन के—कवि बन सके हैं। यदि उनमे केवल भावुकता का आतिशय्य होता तो वे चाहे और किसी भी कोटि के कवि होते, जनसाधारण के नही हो सकते थे। और यदि केवल कर्मयोगी होते तो नेता भले ही बन जाते—कवि नही।

# नाटककार मैथिलीशरण गुप्त

साहित्य की वह विधा जिसका आस्वादन मुख्यतया नेत्रो द्वारा किया जाता है दृश्य-काव्य कहलाती है। यद्यपि आज नाट्य साहित्य केवल पाठ्य भी होने लगा है, फिर भी यह तो मानना ही पडेगा कि दृश्य और श्रव्य की विभाजक रेखा अभिनय ही है। (वास्तव मे रग-मच आज तक कभी हिन्दी वालो के हाथ मे नही रहा इसीलिए अभिनेय नाटक भी प्राय अनभिनीत ही रहे—और अब पाठ्य नाटको की भी रचना होने लगी।) आचार्यों ने वस्तु, नेता और रस के आधार पर दृश्यकाव्य के दो भेद किए हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक एव उपरूपक के भी क्रमश दस और अठारह भेद शास्त्रो मे किए गए हैं। किन्तु आज ये भेदोपभेद शास्त्र की शोभा ही बढाते हैं—लेखक और पाठक इनकी विशेष चिन्ता नहीं करते। नाटक भी रूपक के दस भेदो मे से एक है—किन्तु अब यह जातिवाचक शब्द बन बैठा है। नाटक शब्द का इतना अर्थ-विस्तार हुआ कि अब वह दृश्यकाव्य का पर्यायवाची बन सकता है। आगे मैं भी नाटक शब्द का प्रयोग इस व्यापक अर्थ मे ही करूँगा।

---

१. सस्करण सन् १९४६, पृष्ठ १०४

२ हिन्दी ध्वन्यालोक—आचार्य विश्वेश्वर : डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५१

## नाटक के तत्त्व

साहित्य की प्रत्येक विधा के तत्त्व अपनी विशिष्टताओ के अनुसार हुआ करते हैं। नाटक की भी कुछ विशेषताएँ हैं पहली बात तो यह है कि इसमे वस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक बल रहता है। दूसरे इसका कथानक कथित न होकर अभिघटित होता है—पात्रो के कथोपकथन और क्रियाकलाप द्वारा मच पर उसका प्रदर्शन होता है। तीसरे नाटक सोद्देश्य होता है—उद्देश्य चाहे पाठको और प्रेक्षको मे रस-सृष्टि हो और चाहे किसी समस्या की उपस्थिति एव समाधान। इन विशेषताओ के आधार पर ही नाटक के निम्नलिखित तत्त्व होंगे :

१. कथावस्तु
२ चरित्र-चित्रण
३ उद्देश्य
४ कथोपकथन
५. अभिनय

भारतीय आचार्यों ने स्पष्ट शब्दो मे कही भी नाटकीय तत्त्वो का परिगणन नही किया है। किन्तु वस्तु, रस एव नेता को उसके विभिन्न रूपो का भेदक अवश्य माना है।[1] अभिनय का उल्लेख शायद इसलिए नही किया गया कि वह तो सभी नाट्य-रूपो मे एक समान विद्यमान रहता है। अत प्रकारान्तर से सस्कृत आचार्य के अनुसार नाटक के निम्नलिखित चार तत्त्व हुए—

१ वस्तु
२ नेता
३ रस
४ अभिनय

इनमे से नेता का चरित्र-चित्रण मे और रस का उद्देश्य मे अन्तर्भाव हो सकता है। क्योकि मैं समझता हूँ, नेता से यहाँ अभिप्रेत हैं सभी पात्र अथवा चरित्र। इसलिए प्राचीन आचार्य का नेता और आधुनिक आलोचक का चरित्र-चित्रण पर्यायवाची ही हैं। हाँ, जहाँ तक नायक की बात है उसका तो प्राचीन-अर्वाचीन सभी लेखक और आलोचक विशेष ध्यान रखते ही हैं। रस और उद्देश्य भी वास्तव मे एक ही बात है। अनेक नाटको का तो उद्देश्य ही रस-सचार होता है। परन्तु जिनमे किसी समस्या का समाधान होता है उनमे भी विकीर्ण वृत्तियो के सश्लेषण और शमन द्वारा रस-दशा की ही सृष्टि होती है। तात्पर्य कहने का यह है कि रस और उद्देश्य का अभिप्राय भी एक ही है। शेष रहा कथोपकथन। पौरस्त्य आचार्य ने तो उसे वाचिक अभिनय के अन्तर्गत मानकर छोड दिया है—किन्तु वह नाटक का अनिवार्य अग है। क्योकि नाटक मे कथोपकथन के अभाव मे एक पग भी नही चला जा

१. वस्तुनेतारसस्तेषा भेदक —दशरूप

सकता—वहाँ लेखक मच-निर्देशो के अतिरिक्त अपनी ओर से कुछ नही कह सकता। ऐसी स्थिति मे कथोपकथन को भी स्वतन्त्र रूप मे तत्त्व मान लेना ही उचित है।

अब प्रत्येक तत्त्व का सक्षिप्त विवेचन किया जाएगा :

### वस्तु

किसी भी कृति की कथा को वस्तु के नाम से अभिहित किया जाता है। यह नाटक का आवारभूत अग है। यद्यपि आज इस तत्त्व को अविक महत्त्व नही दिया जाता—चरित्र-चित्रण को प्रधान माना जाने लगा है फिर भी नाटक कथाकाव्य है। उसमे वस्तु का त्याग असम्भव है। नाटक की कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासगिक। नाटक के फल को अधिकार और उसके भोक्ता को अधिकारी कहते हैं। अत उससे अर्थात् मुख्य पात्र से सम्वद्ध कथा को, और स्पष्ट शब्दो मे मुख्य कथा को, आधिकारिक कहते हैं। प्रसगवश आई हुई वातो को—नायक-नायिका-इतर पात्रो की कथा को प्रासगिक कहा जाता है। इन दोनो प्रकार की कथाओ के समुचित सगुम्फन पर ही नाटककार की सफलता निर्भर है।

एक वात और—वह यह कि नाटक की कथा का प्रवाह सुख-सरल न होकर वक्रता-पूर्ण होना चाहिए। उसमे मच-आकर्षण की क्षमता होनी चाहिए।

### चरित्र-चित्रण

घटना के कर्त्ता और भोक्ता चरित्र कहलाते है। जव नाटक मे कथा होगी तो उसके वाहक चरित्र भी होंगे ही। चरित्र विकासशील होने चाहिएँ, और सभी मे व्यक्तिगत वैशिष्ट्य। पुराना आचार्य चरित्र की जगह नेता शब्द का प्रयोग करता था। और स्पष्ट शब्दो मे वह नायक के अतिरिक्त अन्य पात्रों के कुशल चित्रण की ओर सजग नही था। नायक भी साँचे मे ढले हुए हुआ करते थे—उनके व्यक्तित्व की रेखाएँ इतनी स्पष्ट होती थी कि वे एकदम आदर्श होते थे। उनमे विकास की गुंजाइश नही होती थी। किन्तु अब दृष्टिकोण वदल गया है। आज कोई भी पात्र आदर्श अथवा स्थिर नही है—सभी मानव हैं, गतिशील हैं। इसीलिए आधुनिक नाटको मे चरित्र-चित्रण की रोचकता होती है—वस्तु से भी अधिक।

### उद्देश्य

सभी श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियो का कुछ न कुछ उद्देश्य हुआ करता है। नाटक भी मनोरजन के साथ-साथ कुछ सन्देश-दान करता है। केवल मनोरजन भी कुछ विशिष्ट प्रकारो—जैसे प्रहसन आदि—का लक्ष्य हुआ करता था। किन्तु आज हास्य भी परिहास के रूप मे—व्यग्य के रूप मे होता है। उसके पीछे भी किसी सामाजिक समस्या के निराकरण का प्रयत्न रहता है। अभिप्राय यह कि आज के सभी नाटक सोद्देश्य होते हैं।

### कथोपकथन

कथोपकथन के माध्यम से नाटक आगे वढता है। यद्यपि प० गोविन्दवल्लभ पन्त का वरमाला आदि कुछ नाटक ऐसे भी हैं जिनमे मूक-अभिनय को भी स्थान मिला है, फिर भी

कथोपकथन नाटक का प्रधान अग है—अधिकाश नाटको के लिए यह अनिवार्य है। विशेपता सवादो की यह है कि वे छोटे-छोटे और स्वाभाविक हो। कथोपकथन मे वातचीत का रस होना चाहिए।

अभिनय

अभिनय ही नाटक को साहित्य की अन्य विधाओ से पृथक् करनेवाला तत्त्व है। यदि केवल शैली की दृष्टि से देखा जाए तो इसे गद्य अथवा चम्पूकाव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं—किन्तु अभिनय की विशेषता के कारण ही इसे भिन्न माना जाता है। आज कुछ नाटक केवल पाठ्य भी लिखे जा रहे हैं। लेकिन यदि वे अभिनेय भी होते तो नाटक की दृष्टि से उन्हे अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त होती।

## नाटक के भेद

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि नाटक जातिवाचक शब्द वन गया है।—और आचार्यों ने वस्तु, रस और नेता के आधार पर उसके २८ भेद किए हैं (१० रूपक के तथा १८ उपरूपक के)। किन्तु अब इस शास्त्रोक्त विभाजन का विशेष मूल्य नही रहा। अब विषय, विचार एव रगमच की दृष्टि से नाटक के भेद किए जाते हैं। विषय की दृष्टि से पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक अथवा नैतिक, राजनैतिक और समस्यात्मक आदि भेद किए जा सकते हैं। विचार की दृष्टि से आदर्शवादी और यथार्थवादी, रगमच की दृष्टि से अभिनेय और पाठ्य तथा परिमाण के आधार पर नाटक और एकाकी आदि भेद किए जाते हैं। इस तरह आज का प्रकार-विभाजन शास्त्रीय पद्धति पर न होकर नवीन दृष्टियो से होता है।

## मैथिलीशरण जी के नाटक

मैथिलीशरण जी मूलत और मुख्यत कवि हैं—नाटककार नही। आज हम उनके कवि-रूप से ही परिचित हैं। किन्तु उन्होने तीन नाटक भी लिखे हैं—यह उनके साहित्यिक जीवन के आरम्भकाल की बात है। प्रौढि की उपलव्धि से पूर्व सवत् १९७२ से १९८२ तक के अन्तराल मे गुप्त जी ने तिलोत्तमा, चन्द्रहास और अनघ का प्रणयन किया है। मूलत कवि होने पर भी गुप्त जी ने तीन-चार कारणो से नाटक-रचना की है। पहला कारण तो यह है कि उस समय तक उनको अपनी सीमा और शक्ति का सम्यक् ज्ञान नही था। जव तक रचयिता को यह ज्ञान नही होता तव तक उसका उपयुक्त क्षेत्र निश्चित नही हो सकता, और वह विभिन्न क्षेत्रो मे अपनी प्रतिभा का प्रयोग करता रहता है। मैथिलीशरण जी ने ही नही अन्य अनेक साहित्यकारो ने भी ऐसे ही प्रयोग किए हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय के उपन्यास, मुन्शी प्रेमचन्द का नाटक तथा आचार्य शुक्ल की कविताए मेरे अभिमत की पुष्टि करती हैं।

दूसरा कारण है युग की माग। हिन्दी मे आधुनिक काल से पहले नाटक नही थे। भारतेन्दु-मण्डल ने कुछ अशो मे इस क्षति की पूर्ति की। फिर द्विवेदी जी ने भी नाटक-रचना के लिए लेखको को प्रोत्साहित किया। उसी प्रोत्साहन एव प्रेरणा के फलस्वरूप प्रस्तुत कवि

ने भी नाटक लिखे। तीसरी बात यह थी कि सदुद्देश्य के वहन के लिए नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय एव सशक्त माध्यम था। नाटक का प्रभाव कविता आदि की अपेक्षा अधिक व्यापक है—क्योकि जनसाधारण भी उससे लाभान्वित हो सकते है। अत सुधार के इच्छुक कवि ने कविता के साथ-साथ नाटक को भी अपनाया।

मैथिलीशरणकृत तीन नाटकों मे से दो—तिलोत्तमा और चन्द्रहास पौराणिक हैं—और अनघ आधुनिक लोकवृत्त पर आश्रित गीति-नाट्य है। इन्ही के आधार पर गुप्त जी की नाट्यकला के विवेचन का प्रयत्न करेंगे

## वस्तु

महाकाव्य-विषयक धारणाओ के विवेचन मे कहा जा चुका है कि उनका झुकाव इतिहास-सिद्ध कथाओ की ओर है—काल्पनिक की ओर नही। उनके इतिहास की परिधि अवश्य व्यापक है। वह आज के प्रमाण-शुद्ध इतिहास तक ही नही रामायण-महाभारत वरन् वेद-पुराण तक विस्तीर्ण है। नाटक मे भी उनकी यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। चन्द्रहास और तिलोत्तमा के कथानक तो स्पष्टत पौराणिक हैं ही—अनघ की वस्तु भी सामयिक वृत्तो पर आधृत है। अतएव उसे भी सर्वथा कल्पित अथवा उत्पादित नही माना जा सकता। और स्पष्ट शब्दो मे उसमे गाधी युग की बात है जो अभी इतिहास नही बन पाया है। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि गुप्त जी जहाँ नाटको के लिए कल्पित वस्तु का चयन नही करते वहाँ महाकाव्यो के समान अतिप्रसिद्ध कथानक भी नही अपनाते। अनघ मे प्रख्यात चरित को स्वीकार भी किया है तो लघुरूप मे—चरित्र-पटी को भी सीमित अथवा सकुचित कर दिया गया है। इसीलिए प्रचुर मौलिक उद्भावनाओ के अभाव मे भी उनमे काफ़ी रोचकता है। दूसरे शब्दो मे ऐतिहासिक-पौराणिक अथवा अनुत्पादित होकर भी ये कथाए अपनी अप्रसिद्धि एव सक्षेपण आदि के कारण रुचिर बन गई हैं।

इन नाटको के वस्तु-विन्यास मे कोई विशेषता नही मिलती। कथावस्तु एकदम सपाट है—ऋजु-सरल है। उनके नाटको के कथानक मे नाटकीय व्यापार एवं गति का अभाव है, प्रौढ कल्पना का समावेश वहाँ आपको नहीं मिल सकता। वस्तु को वाछित विस्तार एव वैविध्य प्रदान करने के लिए प्रासगिक कथाए भी आवश्यक हुआ करती हैं। पर मैथिलीशरण जी के नाटको मे उनकी न्यूनता खटकती है। प्रासगिक का सर्वथा अभाव तो नही है—चन्द्रहास मे विषया और भाभी का परिहास तथा अनघ मे सुरभि और मालिन की वार्ता आदि प्रासगिक के अन्तर्गत ही आएगी, फिर भी इतना स्पष्ट है कि प्रासगिक वृत्त अपेक्षित मात्रा मे नही हैं। इस प्रकार गुप्त जी के कथानक जटिलताओ से मुक्त हैं अतएव उनकी सुव्यवस्था के लिए विशेष कौशल की अपेक्षा नही हुई।

## चरित्र-चित्रण

गुप्त जी अधिकाशत आदर्श चरित्रो को ग्रहण करते हैं—उनमे विकास की गुंजाइश नही होती। चन्द्रहास और तिलोत्तमा के चरित्र स्थिर एव गतिहीन हैं। चन्द्रहास के पात्र तो कतिपय वृत्तियो के प्रतीक ही हैं अत उनमें एकरसता है। तिलोत्तमा के पात्र भी अति-

मानवीय—सुर अथवा असुर होने के कारण विकासशील नही हैं। क्योंकि वे अपने गुण-अवगुणो के लिए पहले से ही प्रसिद्ध हैं। अपेक्षाकृत अनघ का चरित्र-निरूपण अच्छा है—उसके रचनाकाल तक लेखक की कला काफी निखर चुकी थी। अनघ मे स्नेहमयी माता के कोमल-स्निग्ध चित्रण मे रचयिता ने कौशल का परिचय दिया है।—और अनघ मघ का उज्ज्वल चरित्र तो नाटक का प्राण है ही। किन्तु उसके चरित्रो मे भी अपेक्षित गीतिमयता नही है। यद्यपि मा, रानी और सुरभि के कोमल-करुण व्यक्तित्व के सम्पर्श से कुछ माधुर्य अवश्य आया है पर अधिकाश पात्र परुष-कठोर हैं जो गीतिनाट्य की आत्मा के प्रतिकूल है। अनघ मे व्यवहार-निपुण मुखिया का भी कुशल अकन हुआ है, यद्यपि प्रेमचन्द की कोटि का वह नही बन पाया।

चरित्र-चित्रण के विषय मे दूसरी बात यह है कि मैथिलीशरण विभिन्न चरित्रो का सापेक्षिक महत्त्व स्पष्ट नही कर पाते—उनके नाटको मे प्रमुख और गौण पात्रो के निश्चय मे सशय बना रहता है। उदाहरण के लिए तिलोत्तमा नाटक मे तिलोत्तमा को फल-प्राप्ति होती है। उसी के नाम पर नाटक का नाम रखा गया है। किन्तु नाटक मे उसका प्रवेश अन्तिम अक से पूर्व नही होता। इसी प्रकार सुरभि अनघ की नायिका है पर मा और मगध की रानी के समक्ष उसका चरित्र उभर नही पाता। अत क्रमागत नियम के अनुसार नायिका होने पर भी उसका नायिका-रूप सदिग्ध ही है। वस्तुत नन्ददुलारे जी ठीक कहते हैं, "नाटक के पूरे प्रवाह मे प्रमुख पात्रो का सस्थान होना चाहिए। यदि ऐसा नही होता तो किसी पात्र की सापेक्षिक प्रमुखता मे सदेह हो जाता है।"[1] तिलोत्तमा और अनघ के चरित्र-चित्रण मे नाट्य-विधान की दृष्टि से यह त्रुटि ही मानी जाएगी। चन्द्रहास इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है। यद्यपि वहाँ भी विषया अधिक देर नाटक मे नही रहती पर उनसे अधिक क्रियाशील अन्य कोई नारी-पात्र भी वहाँ नही है। इसीलिए उसका नायिका होना निर्विवाद एव असदिग्ध है।

### कथोपकथन

कथोपकथन का सबसे पहला गुण स्वाभाविकता है। स्वाभाविकता दो प्रकार की होती है एक तो परिस्थिति की अनुकूलता, दूसरी साधारण बोल-चाल का रग। किन्तु मैथिलीशरण जी के कथोपकथन मे ये गुण बहुत कम मिलते हैं। सभी पात्र एक ही प्रकार की भाषा बोलते हैं—उनकी भाषा मे स्थिति और स्वभावगत अन्तर नही है। और बात-चीत का रस भी उनमे नहीं है। बोल-चाल मे प्रयुक्त भाषा से यह अभिप्रेत नही कि वह बिल्कुल बोल-चाल की ही हो—यदि ऐसा होगा तो उसमे अनेक त्रुटिया मिलेंगी। वरन् अभिप्राय इसका यह है कि उसमे शिष्ट समाज की बात-चीत का ढग हो। प्रस्तुत लेखक अपने कथोपकथन को दीप्ति प्रदान नही कर पाता। गीति-नाट्य अनघ तक के सवादो मे अपेक्षित कान्ति एव धार नही है। इसके अतिरिक्त उसके नाटको के कथोपकथन पद्य के उन्मुक्त

---

१. आधुनिक साहित्य, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २४९

प्रयोग से और भी वोझिल और अव्यावहारिक हो गए हैं। वैसे गुप्त जी के सवाद सक्षिप्त और सरल होते हैं। वे भाषण के विस्तार, व्यग्य के दश और दर्शन के गारिष्ठ्य से एकदम मुक्त हैं। पर वे (गुप्त जी) कही भी प्रतिभा खडी नही कर पाते। उनके कथोपकथन मे चमत्कार और वाग्वैदग्ध्य की कमी रहती है। दो-एक स्थलो पर सवाद सजीव और रस-दीप्त भी हैं—जैसे चन्द्रहास मे विषया और विलासिनी का व्यग्य-विनोद तथा अनघ मे मालिन और सुरभि की विनोद-वार्ता आदि। विषया और विलासिनी के मधुर-स्निग्ध आलाप से एक उदाहरण लीजिए

विषया—किसे, क्या दे दिया ?

विलासिनी—किसे दे दिया, सो तो तुम्हीं जानो। पर क्या दे दिया, यह मैं वता सकती हूं।

विषया—वताओ।

विलासिनी—देखती हूं मन ही दे दिया है।

विषया—जाओ, मैं तुमसे न वोलूंगी।

विलासिनी—अव मुझसे क्यों वोलोगी, वोलने वाले जो मिल गए हैं। पर जव तुम मुझसे नहीं वोलतीं तव मैं ही तुम से क्यो वोलू ?[1]

पर ऐसे चमत्कृत स्थल गुप्त जी के नाटको मे गिनती के ही हैं—प्रयास करने पर भी दो-चार ही मिल सकेंगे।

### उद्देश्य

मैथिलीशरण जी सोद्देश्य नाटक लिखते हैं, उन्होंने सदुद्देश्य से प्रेरित होकर ही नाटक लिखे थे। वस्तुत उन्होंने नाटक को अपनाया ही इसलिए था कि उसके माध्यम से सुगमतापूर्वक कोई सदेश प्रसारित किया जा सकता है।—और हम देखते हैं उनके सभी नाटक उसके वहन मे सक्षम हैं। किन्तु वह उद्देश्य है अत्यन्त स्पष्ट एव मुखर चन्द्रहास का प्रतिपाद्य है नियति की प्रवलता—वहां स्वय नियति ही पात्र-रूप मे आकर वार-वार इस तथ्य की घोषणा करती है। तिलोत्तमा के प्रणयन का उद्देश्य भी सुन्द-उपसुन्द के निम्न पद्य मे कथित है—

सुन्द और उपसुन्द का है सव से अनुरोध।
सावधान, देखो, कभी उठे न वन्धु-विरोध ॥[2]

इसी प्रकार अनघ का सदेश भी मघ के शब्दो मे उल्लिखित है। तात्पर्य कहने का यह कि मैथिलीशरण जी के नाटकों मे उद्देश्य व्यग्य न होकर व्यक्त रहता है।

भारतीय दृष्टि से नाटक का साध्य रस है—सहृदय प्रेक्षको मे रस-सचार ही उसका उद्देश्य है। वस्तु, पात्र आदि तो साधन मात्र हैं। गुप्त जी भी अपने नाटको मे रस-योजना का सर्वाधिक ध्यान रखते हैं। चरित्र-चित्रण एव परिस्थिति-निरूपण की ओर वे इतने सजग नही

---

१ चन्द्रहास, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ १२०

२. तिलोत्तमा, चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ १०५

समय व्यर्थ खो दिया । उनको कही भी विशेषता नही मिल सकी । यदि मैथिलीशरण जी भी इस प्रदर्शन अथवा आत्म-प्रवचना मे फँस जाते तो शायद आज हमे उनकी श्रेष्ठ काव्यकृतियो से भी वचित होना पडता ।

# नाटकीय कविता

नाटक एक मिश्र कला है । उसमे अन्यान्य शिल्पो के साथ कविता के तत्त्व भी समाहित रहते हैं । इसी प्रकार कविता मे भी किसी न किसी अश मे नाटकीयता का समावेश होता ही है । किन्तु नाटकीय कविता वह है जिसका निर्माण रगमच पर अभिनय के लिए किया गया हो अथवा जिसकी रचना अभिनयोपयुक्त रूप मे हुई हो । और स्पष्ट शब्दो मे नाटकीय कविता मे नाटक और कविता दोनो के ही गुण विद्यमान रहते हैं । उसमे नाटक से अधिक भावमयता और कविता से अधिक व्यापार रहता है । इसके अतिरिक्त उसकी भाषा पात्रो द्वारा बोली जाने के कारण काव्य की अपेक्षा अधिक यथार्थ होती है अथवा यो कहिए कि वह वास्तविक वार्तालाप की अनुकृति होती है । किन्तु वह कवितावद्ध होती है, इसलिए उसमे कवि-कल्पना के प्रयोग से कुछ सुकुमारता एव कान्ति भी आ जाती है ।

मैथिलीशरण जी ने दिवोदास, जेनी और पृथिवीपुत्र तीन नाटकीय कविताएँ लिखी हैं जो 'पृथिवीपुत्र' मे सगृहीत हैं । स्वय कवि उन्हें सवाद मानता है—पृथिवीपुत्र की भूमिका मे गुप्त जी ने उसे सवाद-सग्रह कहा है । किन्तु वे सवाद नही है । वास्तव मे सवाद अथवा डायलॉग शब्द का बडा शिथिल प्रयोग होता है । कुछ साल पहले तक स्कूलो और कालिजो मे डायलॉग सिखाए जाते थे । पारसी थियेट्रीकल कम्पनियो के चटपटे सवाद (डायलॉग) भी प्रसिद्ध ही हैं । आज भी सिनेमा मे डायलॉग का प्राचुर्य है । सवाद अथवा डायलॉग के इन सब प्रयोगो मे उसका साहित्यिकता से कोई सम्बन्ध नही है । तात्पर्य कहने का यह है कि साहित्यिक रचना के लिए सवाद शब्द का प्रयोग उचित नही है । इसीलिए पृथिवीपुत्र को सवादो का सग्रह मानना ठीक नही ।

दूसरी बात यह है कि सवाद प्राय गद्य मे ही लिखे जाते हैं । या यह कहिए कि हम परम्परा से सवाद के साथ गद्य का सम्बन्ध जोडने के आदी-से हो गए हैं । किन्तु पृथिवीपुत्र मे सगृहीत रचनाएँ पद्यवद्ध हैं । इसलिए भी उन्हे सवाद नही कहना चाहिए । वस्तुत वे नाटकीय कविता के अन्तर्गत ही आते हैं । क्योकि उनमे नाटक का रग है । उनका प्रणयन चाहे मच पर अभिनय के लिए न हुआ हो—फिर भी वे निश्चित रूप से अभिनेय हैं । यहाँ पर यह भी निवेदन कर दूँ कि वे कविताएँ शुद्ध नाट्य के अन्तर्गत नही आ सकती—मूलत कविताएँ ही है । लेकिन उन कविताओ की रचना नाटकीय ढग पर हुई है, और अगर चाहे तो आसानी से उनका अभिनय किया जा सकता है । कुछ स्थल तो ऐसे भी हैं जहाँ

स्टेज (अथवा उसकी कल्पना) के अभाव मे सौंदर्य ही विखर जाता है। उदाहरण के लिए जेनी की कुछ पक्तियाँ हैं—

जेनी
बंधु, कौन वाधा है तुम्हारे उस कर्म में ?
मार्क्स
कारागार ! निष्कासन !—कांप उठीं तुम ये ?
जेनी
मैं ही नहीं, काप उठे सारे लता-द्रुम ये !
विप्लव करोगे तुम ? वोलो किस सत्ता से ?
मार्क्स
(हँसकर)
जेनी, यदि मैं कहूँ, तुम्हारी ही महत्ता से ?[1]

मैं ममभता हूँ कि उपर्युक्त उद्धरण मे 'कांप उठी तुम ये' और कोष्ठकवद्ध 'हँसकर' आदि की सार्यकता मच की अवस्थिति मे ही है—अन्यथा नही। कम से कम कल्पना-चक्षुओ के समक्ष तो मच का रहना अनिवार्य ही है। वर्ण्य विषय का चित्र तो काव्य मात्र के पठन के समय नेत्रो के समक्ष रहता है। किन्तु वहाँ पर मच और मच पर अभिघटन दृष्टिगत नही होता जैसा कि नाटकीय कविता मे होता है। अस्तु !

गुप्त जी ने पृथिवीपुत्र की तीनो नाटकीय कविताओ का प्रणयन वडे कौशल से किया है। वे नाटक-रचना मे सफल नही हो सके—उस ओर उनकी प्रवृत्ति ही नही है। किन्तु नाटकीय कविताओ की रचना मे उन्हे आशातीत सफलता मिली है। शायद इसका कारण यह है कि चन्द्रहास-तिलोत्तमा के प्रणयन के समय कवि अनभ्यस्त और नवागत था—किन्तु पृथिवीपुत्र का रचयिता प्रौढ और दो दर्जन मे अधिक ग्रथो का प्रणेता है। अनघ इन दोनो स्थितियो के वीच का सेतुमार्ग है। कुछ भी हो गुप्त जी की नाटकीय कविताएँ काफी अच्छी हैं। उनकी भाषा तो और भी समृद्ध कान्तिमयी एव समामगुण-सम्पन्न है। इम प्रकार मैथिलीशरण जी नाटककार की दृष्टि से असफल होने पर भी कविता मे नाटकीयता का कुशल ममावेश करते है।

---

१ पृथिवीपुत्र, प्रयमावृत्ति, पृष्ठ ३४

# पत्र-काव्य

पत्र व्यक्तिगत होते हैं—वे व्यक्ति के द्वारा व्यक्ति-विशेष के लिए लिखे जाते हैं। किन्तु कुछ पत्र व्यक्तिगत न होकर साहित्यिक होते हैं। अग्रेजी मे इनके लिए दो भिन्न नाम हैं—लैटर और ऐपिसिल। हिन्दी मे लैटर के लिए तो पत्र शब्द है किन्तु ऐपिसिल के लिए उपयुक्त नाम के अभाव मे हम उसे साहित्यिक पत्र कह सकते हैं। पत्र और साहित्यिक पत्र दोनो मे काफी अन्तर है। पत्र एकान्तत व्यक्तिपरक होते है पर साहित्यिक पत्र अन्यान्य विधाओ के समान साहित्य की एक विधा हैं। वे साधारण पत्रो के समान सामयिक न हो कर स्थायी और सार्वकालिक होते हैं। प्रथम का श्रोता-समाज भी सीमित रहता है किन्तु द्वितीय का अपेक्षाकृत बृहत् वरन् असीम होता है।

साहित्यिक पत्र का माध्यम पद्य होता है—गद्य भी हो सकता है। किन्तु कम से कम हिन्दी मे अभी तक किसी ने गद्य मे साहित्यिक पत्र-लेखन का प्रयास नही किया है (पद्य मे भी न होने के बराबर ही है)। अग्रेजी के ऐपिसिल भी पद्यात्मक ही हैं। वहाँ पर तो यह काव्य का एक भेद ही बन गया है। ऐपिसिल और दूसरी कविताओ मे मुख्य अन्तर यह है कि ऐपिसिल किसी मित्र, सम्बन्धी अथवा सरक्षक को सम्बोधित करके लिखा जाता है जबकि कविता मे इस प्रकार का कोई सम्बोधन नही होता। साहित्यिक पत्र विषयगत और विषयी-गत दोनों प्रकार के हो सकते हैं। वे पत्र जिनमे लेखक अपनी बात लिखता है, अपने मन के भाव दूसरे पर व्यक्त करता है विषयीगत होते हैं। तत्त्वत वे प्रगीत होते है। इसके विपरीत जिन पत्रो मे रचयिता की अपनी बात न मिलकर दूसरो का वृत्त आबद्ध होता है वे विषयगत अथवा वस्तुगत होते हैं।

पत्रावली मे सगृहीत मैथिलीशरण जी के सभी पत्र ऐतिहासिक हैं—इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियो द्वारा लिखे गए हैं। इतिहास मे कवि की दृढ आस्था है। वह अपने विषय का चयन प्राय भारतीय इतिहास से ही करता है। पत्रावली मे भी यही हुआ है। अत उसके पत्र व्यक्ति-निष्ठ—अपनी जीवन-घटनाओ पर आधृत न होकर परनिष्ठ हैं। इसलिए वे वस्तुगत हैं—और उनमे पत्र का निजीपन न मिलकर कथाकाव्य का-सा विवरण उपलब्ध होता है। पत्रावली का रचयिता पत्र मे वर्णित घटनाओ के वक्ता के रूप मे हमारे समक्ष आता है—एक समभागी एव सहभोगी के रूप मे नही। इसीलिए उसके पत्रो मे आपको वाछित चमक और उत्फुल्लता नही मिल सकेगी। उसके स्थान पर उपलब्धि होती है प्रकथनात्मक वस्तु-विन्यास की। दूसरे शब्दो मे उनमे आत्मीयता, बात-चीत का रस अथवा सार्वजनिक भाषण का वेग और उत्साह नही मिलता जो कि पत्रो का प्राण है। फिर भी कही-कही पत्रोपयुक्त रचना मे भी मैथिलीशरण समर्थ हो सके हैं। एक उदाहरण लीजिए—

**कैसे पत्र लिखूँ तुम्हें कुलवती मैं क्षत्रिया बालिका,**
**होती है रुधिर-प्रदान करके जो शील-सचालिका।**

साक्षी हैं सुर, किन्तु, जो पर नहीं मैं जानती हूँ तुम्हें,
हा लज्जा ! कब से अभिन्न अपना मैं मानती हूँ तुम्हे ।[1]

उपर्युक्त पंक्तियो से प्रतीत होता है मानो रूपवती अपने समक्ष उपस्थित राजसिंह से अपने मन की बात कह रही है। सचमुच एक चित्र-सा सामने खड़ा हो जाता है। लेकिन ऐसा बहुत कम स्थलो पर हो सका है।

दूसरी बात यह है कि ऐतिहासिक विषय ग्रहण करने के कारण पत्रो मे कवि की कल्पना खुलकर नही खेल पाती। सभी पत्रो का प्रख्यात विषय और परम्पराभुक्त तर्क-वितर्क मेरे कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। वस्तुत देखा जाए गुप्त जी तो उन्हे केवल पद्यबद्ध करनेवाले हैं। फिर भी यहाँ कवि-कौशल का सर्वथा अभाव नही है। पूर्वनिश्चित तथ्य को अपनाने पर भी कम से कम उपस्थापन तो कवि का अपना ही है। निम्न उदाहरण की नाटकीय सजीवता और सहज प्रसन्नता देखते ही बनती है—

हे ना—नहीं, नाथ नहीं कहूँगी,
अनाथिनी होकर ही रहूँगी।
होते कहीं जो तुम नाथ मेरे,
तो भागते क्या फिर पीठ फेरे ?[2]

एक उदाहरण और देकर प्रसग को समाप्त करते हैं। महाराणा प्रताप के संधि-प्रस्ताव की बात श्रवण कर कवि पृथ्वीराज उन्हे सचेत करने के लिये पत्र लिखते हैं। महाराणा सामयिक चेतावनी के लिए कृतज्ञता-ज्ञापनार्थ पत्रोत्तर देते है। यह घटना ऐतिहासिक है—सर्वविदित एव विश्वविख्यात है। लेकिन आलोच्य कवि द्वारा पद्यबद्ध पत्र की अन्तिम दो पंक्तियाँ लक्ष्य करने की हैं—

सुनोगे तुर्कों को न तनु रहते शाह हमसे,
वहीं—प्राची मे ही—रवि उदित होगा नियम से।[3]

यहाँ विषय की नवीनता नही है—किन्तु स्थापन द्रष्टव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई आवेश-गद्गद वक्ता गर्जन-तर्जन करता हुआ एक-एक शब्द पर रुक-रुककर, जोर दे-देकर बोल रहा है। पत्र-प्रेषक महाराणा का तेज-भास्वर ऊर्जस्वित व्यक्तित्व, पुष्ट-बलिष्ठ शरीर तथा विकट-गम्भीर कंठ-स्वर एक साथ परिलक्षित हो जाते हैं। पत्र मे उसके प्रेषक की झलक आनी ही चाहिए। मैथिलीशरण जी को इस दृष्टि से इस पत्र मे निश्चित सफलता मिली है। किन्तु अधिकाशत वे अपने पत्रो मे यह बात नही ला पाते। इसीलिए वे प्राय अरुचिकर और गतिहीन हैं। उदाहरणत निम्न पंक्तियो का अवलोकन कीजिए—

---

१. पत्रावली, संस्करण संवत् २०११, पृष्ठ २८
२. पत्रावली, संस्करण सवत् २०११, पृष्ठ २०
३ पत्रावली, संस्करण संवत् २०११, पृष्ठ ११

क्या विद्युद्वह्नि का भी कुछ कर सकती वृष्टि-धारा प्रणाली ?
हों भी तो आपदाएँ अधिक अशुभ हैं क्या पराधीनता से ?
वृक्षों जैसा झुकेगा अनिल-निकट क्या शैल भी दीनता से ?[१]

ऐसी पक्तियाँ मूल पत्र के लेखक से असम्पृक्त हैं। इनसे उसके व्यक्तित्व का कुछ भी परिचय नही मिलता। बस पता चलता है तो केवल कवि के उपदेष्टा का। इसीलिए उसके पत्रो मे भाव-दीप्ति का प्राय अभाव है।

मूल्याकन

गुप्त जी ने कुल सात पत्रो को छन्दोबद्ध किया है। ऐसी दशा मे उनकी पत्र-रचना के सबन्ध मे कोई निर्णय कर लेना न सभव है और न उचित। फिर भी पत्र-प्रणेता मैथिलीशरण जी का—उनकी शक्ति और सीमा का—कुछ आभास तो पत्रावली मे मिल ही जाता है। हम देखते हैं कि उनके पत्रो मे वाछित आत्मीयता, सहज प्रफुल्लता और गति की तीव्रता का प्राय अभाव है। पत्र की वरबस खीच लेनेवाली आकर्षकता भी उनमे नही है। इसका कारण शायद यह है कि वे पत्र कवि के अपने नही हैं—उनमे व्यक्ति-विशेष के प्रति उसके अपने मन का भाव नही है। वरन् वे ऐतिहासिक पत्र हैं—कवि उनका मूल लेखक नही है। ऐसी दशा मे उत्कृष्ट पत्रो के निर्माण की आशा नही की जा सकती। दूसरी बात यह है कि हिन्दी मे पत्र बहुत कम लिखे गए हैं। जो हैं भी वे गद्य मे हैं—और स्वय लेखको के है। पद्यबद्ध पत्र तो कदाचित् मैथिलीशरण जी ने ही रचे हैं। पत्रावली से पहले के जो पद्यात्मक पत्र हैं भी वे स्वय मैथिलीशरण जी द्वारा बगला से अनूदित है। मेरा अनुमान है कि इस दिशा मे हिन्दी साहित्य मे यह प्रथम प्रयास है। इसलिए अनेक त्रुटियो की अवस्थिति में भी स्तुत्य है। और फिर उत्कृष्ट स्थलों का सर्वथा अभाव भी यहाँ नही है। पूर्वोद्धृत स्थलो के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यदि गुप्त जी आगे इस दिशा मे प्रयत्न करते तो निश्चय ही कुछ अच्छे पत्र भी रचे जाते।

लेकिन इतना निर्विवाद है कि मैथिलीशरण इस क्षेत्र मे 'हौरेस' और 'पोप' जैसे कलाकारो की समता नही कर सकते। आपको न तो उनमें 'हौरेस' के पत्रो का औज्ज्वल्य और समृद्धि मिलेगी और न 'पोप' के समान युक्ति-विलास की उपलब्धि हो सकेगी, फिर भी गुप्त जी का यह प्रयत्न श्लाघनीय है। उन्होंने तो माइकेल मधुसूदन के अनुकरण पर ये पत्र रचे थे। अत इनमें कवि की शक्ति का सन्धान उचित नही है। यह तो एक नव-द्वार का उद्घाटन मात्र है। पत्रावली की यही सबसे बडी विशेषता है।

# कुछ नवीन प्रयोग

मैथिलीशरण जी को परम्परावादी माना जाता है—निश्चय ही वे परम्परा मे विश्वास रखनेवाले है। फिर भी कही-कही वे उससे दूर हटने का सफल प्रयास कर सके हैं। काव्य-रूप की दृष्टि से परम्परा की यह मुक्ति हमे यशोधरा, कुणाल-गीत और द्वापर मे स्पष्टत दृष्टिगत होती है। वास्तव मे गुप्त जी ध्यान रखते हैं अपने प्रतिपाद्य का—रूप-आकार की ओर से वे सजग अथवा सचेत नही हैं। अपने जीवन मे भी मैथिलीशरण भाव और विचार की भव्यता मे विश्वास रखते हैं—वाह्य वेश-भूषा की दमक में नही। लेकिन उसकी स्वच्छता और सुघडता का उनको वरावर ध्यान रहता है। यही वात उनकी रचनाओ में मिलती है। डा० नगेन्द्र ठीक ही कहते हैं कि रचयिता और उसकी कृति मे रक्त का सम्वन्ध है।[1] इसके साथ ही यह भी लक्ष्य करने की वात है कि गुप्त जी के दैनिक जीवन में औपचारिकता का नही, आवश्यकता और सुगमता का आग्रह है। यही विशेषता उपर्युक्त तीनो रचनाओ में उपलब्ध है। इनके निर्माण में कवि ने किसी परम्परागत काव्य-रूप को न अपनाकर प्रतिपाद्य की स्वच्छता और प्रतिपादन की सुगमता का ध्यान रखा है। अव तीनो के काव्य-रूप का पृथक्-पृथक् विश्लेपण करेंगे

## यशोधरा

परिचय-खण्ड में मैं निवेदन कर चुका हूँ कि यशोधरा को किसी भी प्रचलित-प्रथित काव्य-कोटि के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। क्योकि उसमे गद्य-पद्य, दृश्य-श्रव्य, प्रगीत-प्रवन्ध सभी का समाहार हुआ है। कुछ आलोचक इसे चम्पू कहकर टाल देते हैं—सचमुच वे टाल जाते हैं, विश्लेपण नही करना चाहते। तर्क उन लोगो का यह होता है कि यशोधरा में गद्य भी है और पद्य भी है—इसलिए वह चम्पू काव्य है। लेकिन यह ठीक नही है। गद्य का प्रयोग यशोधरा के केवल नाटक-भाग में हुआ है।—और नाटक अपने आप में एक पृथक् विधा है अत उसे चम्पू के अन्तर्गत नही मान सकते। यशोधरा में नाटक-भाग के अतिरिक्त और कही गद्य नही है। यदि थोडा-वहुत होता तो भी यशोधरा को चम्पू नही कहा जा सकता था। क्योकि आचार्य विश्वनाथ ने गद्यपद्यमय रचना को चम्पू कहा है, जैसी कि पचतन्त्र और हितोपदेश मे मिलती है। इन पुस्तको को विषय की दृष्टि से हम कथा-साहित्य कह देते हैं, किन्तु यदि शुद्ध काव्य-रूप की दृष्टि से देखा जाए तो ये चम्पू ही हैं। पर जहाँ गद्य अलग और पद्य अलग पडा रहे वह चम्पू नही कहला सकता। जो लोग यशोधरा को भी चम्पू मानते हैं वे वस्तुतः चम्पू के प्रकृत स्वरूप से ही अनभिज्ञ हैं।

किसी भी कृति के काव्य-रूप की परख से पहले उसकी मूल प्रेरणा देखनी चाहिए। क्योकि रचना का मूल प्रेरणा से सहज-सम्वन्ध होता है—उसी के अनुसार उसका

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—भूमिका

काव्य-रूप हुआ करता है। काव्य-रचना के मूल मे दो प्रेरणाएँ हो सकती हैं। या तो कवि आत्माभिव्यक्ति करना चाहता है, या फिर व्यापक रूप से मानव जगत् के चित्रण मे प्रवृत्त होता है। रचनाकार के आत्माभिव्यजन मे वैयक्तिकता एव रागात्मकता का प्राधान्य रहता है।—और उसका माध्यम प्रगीत होता है। इसके विपरीत व्यापक मानव-जगत् के चित्रण मे वस्तु तत्त्व की प्रधानता रहती है। उसमे कार्य-व्यापार का वाहुल्य मिलेगा और समावेश होगा व्यवस्थित जीवन-दर्शन का। और स्पष्ट शब्दो मे अन्त प्रवृत्ति की वजाए वाह्य प्रकृति का अकन होता है। इसका उपयुक्त माध्यम प्रवन्ध है—और प्रवन्ध का चित्रण दो प्रकार का होता है . (क) प्रत्यक्ष चित्रण (ख) अप्रत्यक्ष चित्रण। दृश्यकाव्य इस प्रत्यक्ष चित्रण के अन्तर्गत ही आता है। तथा महाकाव्य और खण्डकाव्य आदि प्रकथनात्मक रचनाएँ अप्रत्यक्ष चित्रण अथवा वर्णन के अन्तर्गत आती हैं।

यशोधरा पर दृष्टिपात करते हैं तो उसकी मूल प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति नही है। यशोधरा जैसी रचना मे बुद्ध अथवा यशोधरा के प्रति भक्ति-निवेदन के रूप मे आत्माभिव्यजना हो सकती थी। किन्तु ऐसा नही हुआ—वरन् कवि को बुद्ध के तो जीवन-दर्शन मे आस्था ही नही है। तात्पर्य कहने का यह कि यशोधरा आत्माभिव्यजन-मूलक रचना नही है। वास्तव मे यशोधरा का उद्देश्य है एक महच्चरित्र का पुनस्सृजन—अमिताभ की आभा से अभिभूत साहित्यिको द्वारा उपेक्षित यशोधरा से सम्भ्रान्त चरित्र का पुनर्निर्माण ही यशोधरा का लक्ष्य है। महाराज शुद्धोदन स्पष्टत कहते हैं—

**गोपा-बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको**[1]

उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रवन्ध ही उपयुक्त माध्यम है—प्रगीत नही। या यो कहिए कि पुनस्सृजन—उपेक्षिता-उद्धार आदि प्रबन्ध द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नही। मूलोद्देश्य के आधार पर प्रबन्ध के भी मुख्यत दो रूप हो सकते हैं। एक तो वृत्त-वर्णन जिसमे अन्य पुरुष के माध्यम से समाख्यानात्मक वर्णन मिलता है। इस रूप मे कवि का विशेष ध्यान घटनाओ की ओर रहता है—जीवन-घटनाओ मे विशिष्ट अनुरक्ति रहती है। प्रवन्ध का दूसरा रूप नाट्य-रूप है। इसमे कवि किसी व्यक्तित्व मे अनुरक्त होता है। अत इसमे वृत्त-वर्णन की अपेक्षा चरित्रोद्घाटन मुख्य रहता है। यशोधरा का कवि जीवन-घटनाओ मे अनुरक्त नही है। घटना-सूत्र वहुत क्षीण है। इसका कारण शायद यह है कि बुद्ध और यशोधरा के जीवन की घटनाएँ उपलब्ध ही नही हैं—अन्यथा मैथिलीशरण तो जीवन-व्यापी घटनाओ का चित्रण करनेवाले कवियो मे से हैं। फलत यशोधरा मे गौतम-पत्नी यशोधरा का चरित्रोद्घाटन ही कवि का लक्ष्य रहा है। इसलिए उसमे प्रवन्ध का समाख्यानात्मक वृत्त-वर्णन न मिलकर नाट्य-रूप ही मिलता है। वास्तव मे चरित्र के उद्घाटन के लिए अनुकूल माध्यम भी वही है।

चरित्रोद्घाटन के निमित्त यशोधरा मे कार्य-व्यापार का प्रयोग नही हुआ। उसका तो प्राय अभाव है। क्योकि मुख्य पात्र स्त्री है—इसलिए कार्य-व्यापार के लिए अवकाश नही

---

१ यशोधरा, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ १२६

है । जहाँ कुछ है भी वहाँ सूच्य है—दृश्य नही क्योंकि उसका सम्बन्ध गौतम से है—और गौतम अनुपस्थित हैं । हाँ जो गोपा से सम्बद्ध है वह अवश्य चित्रित है—किन्तु ऐसा एकाध दृश्य में ही हुआ हैं । वस्तुत यशोधरा मे कार्य-व्यापार का नही भावना का प्रसार है । भावनामयी यशोधरा के चरित्रोद्घाटन के लिए उपयुक्त विधि कार्य-व्यापार नही है— उसके लिए तो कथोपकथन और स्वगत अपेक्षित हैं । यशोधरा मे इन दोनो का ही उपयोग किया गया है । यशोधरा-राहुल तथा यशोधरा और उसकी सखियो के सवादो मे यशोधरा के हृद्गत द्वन्द्व का प्रकटीकरण हुआ है, और उसके स्वगत मे आत्म-निवेदन है । यशोधरा के गीत भी स्वगत के अन्तर्गत ही आते हैं—स्त्री-पात्र का स्वगत प्राय गीत ही हुआ करता है । इस प्रकार कथोपकथन और स्वगत के द्वारा यशोधरा के चरित्र का स्पष्टीकरण हुआ है ।

अन्तत. निष्कर्ष यह कि यशोधरा प्रवन्धकाव्य है—लेकिन समाख्यानात्मक नही । चरित्रोद्घाटन पर कवि की दृष्टि केन्द्रित रहने के कारण यह नाट्य-प्रवन्ध है । और एक भावनामयी नारी का चरित्रोद्घाटन होने से उसमे प्रगीतात्मकता का प्राधान्य है । इसलिए यशोधरा को प्रगीतात्मक नाट्य-प्रवन्ध कहना चाहिए ।

## कुणाल-गीत

कुणाल-गीत मे कुल मिलाकर ६५ गीत सगृहीत हैं । वे सब गीत एक कथासूत्र मे आबद्ध हैं । इन दो विरोधी काव्य-रूपो के मिश्रण के कारण कुणाल-गीत की काव्यकोटि का निर्विवाद निर्णय—अन्तिम निष्कर्ष सम्भव नही है । फिर भी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है—यह असम्भव नही है ।

कुणाल-गीत मे आत्माभिव्यजना नही है । वैसे आत्माभिव्यक्ति से एकान्तत शून्य तो अत्यन्त वस्तुपरक काव्य भी नही हो सकता—क्योंकि वह भी स्रष्टा के अपने विचारो-भावो एव मान्यताओ तथा सस्कारो से पुष्ट होता है—और नही तो कम से कम रचयिता के व्यक्तित्व से सस्पृष्ट तो होता ही है । कुणाल-गीत मे भी जीवन-दर्शन कवि का अपना ही है । अत आपको उसमे कुछ उत्कृष्ट विचारात्मक प्रगीत मिल जाएँगे । और फिर माध्यम (प्रगीत) भी आत्माभिव्यजन के अनुकूल ही है । लेकिन उन विचारात्मक प्रगीतो और माध्यम के बल पर यह नही कहा जा सकता कि कुणाल-गीत आत्माभिव्यजनात्मक (प्रगीत) काव्य है । क्योंकि उसमे आत्म-दर्शन—आत्म-साक्षात्कार नही है ।

वस्तुत कुणाल-गीत मे आत्माभिव्यजन नही—जीवनगत व्यापार का अकन हुआ है । कुणाल-गीत के निर्माण मे कवि का उद्देश्य कुणाल के दिव्य चरित्र का उद्घाटन रहा है । विकार-हेतु की अवस्थिति मे भी राजकुमार कुणाल के चरित्र की पवित्रता ने कवि को बरबस आकृष्ट कर लिया है । उसमे अनुरक्त और उससे प्रभावित कृतज्ञ कवि-हृदय की आभार-स्वीकृति ही कुणाल-गीत मे है । कुणाल के चरित्रोद्घाटन के साथ-साथ प्रसिद्ध राज-परिवार मे अभिघटित कारुणिक घटना का वर्णन भी आनुषगिक लक्ष्य माना जा सकता है । इनके लिए अनुकूल माध्यम प्रवन्ध है—प्रगीत नही ।

लेकिन माध्यम के रूप मे प्रगीत को अपना लेने पर भी कुणाल-गीत प्रवन्ध ही है ।

उसके प्रगीतों के पीछे कथा का स्पष्ट आधार है—कथा की अन्तर्धारा अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अत कुणाल-गीत का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण है। प्रबन्ध के भी दो रूपो—श्रव्य और दृश्य मे कुणाल-गीत दृश्य नही है। श्रव्य की समाख्यानात्मकता भी उसमे नही है फिर भी वह श्रव्य ही है। समाख्यानात्मकता का अभाव होने पर भी उसमे वृत्त-वर्णन हुआ है। किन्तु उसकी शैली वृत्त-वर्णनात्मक न होकर प्रगीतात्मक है। कुणाल-गीत मे इन्ही दो विरोधी तत्त्वो का सम्मिलन है—उसमे प्रबन्धोचित विषय प्रगीतो की मुक्तक शैली मे आबद्ध है।

वृत्त-वर्णनात्मक प्रबन्ध के भी दो रूपो—महाकाव्य और खण्डकाव्य—मे से कुणाल-गीत खण्डकाव्य के अन्तर्गत आता है। क्योकि उसमे देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार एव व्यापकत्व नही है जितना कि महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। वरन् कुणाल के जीवन की एक मार्मिक-कारुणिक घटना का चित्रण है जो खण्डकाव्य का ही विषय बन सकती थी। वास्तव मे कुणाल एक त्यागी, तपस्वी, धीर-वीर, निर्भीक और सच्चरित्र नरपु गव तो है—किन्तु उसमे महाकाव्योचित औदात्त्य नही है। वह जन-नायक नही है। एक बात और, वह यह कि कुणाल-गीत का प्रत्येक प्रगीत अपने आप मे पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक मे समर्थ है। किन्तु उनका क्रम निश्चित है—प्रकृत सौंदर्य की क्षति के बिना उसमें परिवर्तन सभव नही है।

सर्वांशिन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि कुणाल-गीत एक प्रगीतात्मक खण्डकाव्य है। वह सूरसागर, गीतावली आदि उन प्रबन्धात्मक प्रगीतो अथवा प्रगीतात्मक प्रबन्धों की परम्परा मे आता है जिनमे कि प्रबन्ध और प्रगीत दोनो ही आलिंगनबद्ध रहते हैं। यहाँ पर उक्त पुस्तको से कुणाल-गीत की तुलना अभिप्रेत नही है। वक्तव्य केवल इतना ही है कि सूरसागर एव गीतावली आदि के ही समान कुणाल-गीत का कथा-सूत्र भी विच्छिन्न नही है।

## द्वापर

द्वापर मे कृष्ण-कथा है। यद्यपि गुप्त जी भी तुलसी के समान राम के अनन्य भक्त हैं, फिर भी उन्होने द्वापर के रूप में कृष्णकाव्य का प्रणयन किया है—तुलसी ने भी तो कृष्ण गीतावली लिखी थी।

मूल पुस्तक १५ खण्डो मे विभाजित है। अन्त में 'द्वारकाधीश' शीर्षक एक खण्ड और है। किन्तु मेरे विचार मे वह द्वापर की कथा का अश नही है। क्योंकि कृष्ण के उस जीवन का—मथुरा से आगे के जीवन का—परिदर्शन कवि द्वापर मे नही करना चाहता। चतुर्थावृत्ति की भूमिका मे मैथिलीशरण स्वय कहते हैं—"पुस्तक मे उसे ('सुदामा' को) इसलिए नही दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खण्डो मे समाप्त करने का विचार किया था। पहला खण्ड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणो से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बडी आशा नही। अस्तु इस बार पुस्तक के अन्त मे वह अश भी जोड दिया गया है।"[1] इस प्रकार लेखक स्वय ही इस खण्ड

---

१ द्वापर सस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ ७

को द्वापर का अंश नही मानता—और यह ठीक भी है। अन्यथा द्वापर का वस्तु-विधान विशृंखल हो सकता है—उसमे अतर्क्य दोषो और असगतियो की सम्भावना है। इसीलिए मैंने 'ग्रथ-परिचय' मे कहा है कि इस भाग को परिशिष्ट रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

द्वापर की रचना आत्मकथन शैली पर हुई है। एक-एक पात्र आता है और आत्म-कथा कहकर चला जाता है। लेकिन आत्मनिवेदन शैली मे प्रणीत होने पर भी द्वापर आत्माभिव्यजनात्मक काव्य नही है। क्योकि उसमे कवि की आत्माभिव्यजना न होकर विभिन्न पात्रो का आत्मकथन है जो निश्चय ही आत्माभिव्यजन से भिन्न है। वास्तव मे प्रत्येक खण्ड को 'स्वगत वार्ता' कहना चाहिए। कुछ लोग इन्हे स्वगत कहना पसन्द करेंगे—किन्तु ये शुद्ध 'स्वगत' नही हैं। क्योकि स्वगत मे श्रोता-समाज की अपेक्षा नहीं है। लेकिन द्वापर का तो प्रत्येक पात्र कुछ सुनाना चाहता है, जो कुछ कहता है दूसरो को लक्ष्य अथवा सम्बोधन करके कहता है। अत इन्हे स्वगत कहना समीचीन नही है। तात्पर्य यह कि द्वापर स्वगत वार्ता-सग्रह है।

लेकिन यह ठीक नही है। द्वापर को सग्रह कहना उचित नही है—क्योकि ये वार्ताएँ मुक्तक अथवा स्फुट न होकर शृखलाबद्ध है। इनमे प्रबन्ध-सूत्र अनिवार्यत विद्यमान है। वह प्रत्येक खण्ड मे अन्त सलिला के समान प्रवहमान है। या यो कहिए कि ये माला के मनको के समान पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होने पर भी सूत्रबद्ध हैं।—और वह सूत्र है कृष्ण-चरित्र का जो सभी मे एकतार अनुस्यूत है। अभिप्राय यह कि द्वापर का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण तो है—किन्तु उसकी एकसूत्रता घटना की नही है। वरन् सबका एक विशेष चरित्र—कृष्ण—से सम्बन्ध है, सभी उन्हे अपने सम्बन्ध से देखते हैं—यही सबसे प्रबल शृंखला है जिसमे सभी खण्ड आबद्ध हैं। इस प्रकार द्वापर प्रबन्धकाव्य ही ठहरता है।

किन्तु किसी भी रचना की काव्यकोटि के निर्धारण मे पूर्व उनके उद्देश्य पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्योकि मूलत उद्देश्य पर ही काव्य-रूप निर्भर रहता है। हम देखते हैं द्वापर मे आत्माभिव्यजन नही है वरन् व्यापक मानव-जीवन का चित्रण है—कवि के अपने जीवन-दर्शन का व्याख्यान है। द्वापर के कई पात्रो के स्वर में स्वर मिलाकर कवि स्वय बोल रहा है, जैसे—

> अपने युग को हीन समझना,
> आत्महीनता होगी,
> सजग रहो, इससे दुर्बलता
> और दीनता होगी।[1]

बलराम की इस उक्ति मे निश्चय ही कवि का भौतिकता के प्रति आस्थावान् प्रगति-वादी बोल रहा है। इसी तरह 'कुब्जा' खण्ड की निम्न पक्तियो मे मैथिलीशरण के भक्त का निष्काम आत्म-समर्पण है—

---

१. द्वापर, संस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ ५२

उसके प्रगीतो के पीछे कथा का स्पष्ट आधार है—कथा की अन्तर्धारा अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अत कुणाल-गीत का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण है। प्रबन्ध के भी दो रूपो—श्रव्य और दृश्य मे कुणाल-गीत दृश्य नही है। श्रव्य की समाख्यानात्मकता भी उसमे नही है फिर भी वह श्रव्य ही है। समाख्यानात्मकता का अभाव होने पर भी उसमे वृत्त-वर्णन हुआ है। किन्तु उसकी शैली वृत्त-वर्णनात्मक न होकर प्रगीतात्मक है। कुणाल-गीत मे इन्ही दो विरोधी तत्त्वो का सम्मिलन है—उसमे प्रबन्धोचित विषय प्रगीतो की मुक्तक शैली मे आवद्ध है।

वृत्त-वर्णनात्मक प्रबन्ध के भी दो रूपो—महाकाव्य और खण्डकाव्य—मे से कुणाल-गीत खण्डकाव्य के अन्तर्गत आता है। क्योकि उसमे देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार एव व्यापकत्व नही है जितना कि महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। वरन् कुणाल के जीवन की एक मार्मिक-कारुणिक घटना का चित्रण है जो खण्डकाव्य का ही विषय वन सकती थी। वास्तव मे कुणाल एक त्यागी, तपस्वी, धीर-वीर, निर्भीक और सच्चरित्र नरपुंगव तो है—किन्तु उसमे महाकाव्योचित औदात्त्य नही है। वह जन-नायक नही है। एक वात और, वह यह कि कुणाल-गीत का प्रत्येक प्रगीत अपने आप मे पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक मे समर्थ है। किन्तु उनका क्रम निश्चित है—प्रकृत सौदर्य की क्षति के बिना उसमे परिवर्तन सभव नही है।

सर्वांशिन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि कुणाल-गीत एक प्रगीतात्मक खण्डकाव्य है। वह सूरसागर, गीतावली आदि उन प्रबन्धात्मक प्रगीतो अथवा प्रगीतात्मक प्रबन्धो की परम्परा मे आता है जिनमे कि प्रबन्ध और प्रगीत दोनो ही आलिगनवद्ध रहते हैं। यहाँ पर उक्त पुस्तको से कुणाल-गीत की तुलना अभिप्रेत नही है। वक्तव्य केवल इतना ही है कि सूरसागर एव गीतावली आदि के ही समान कुणाल-गीत का कथा-सूत्र भी विच्छिन्न नही है।

### द्वापर

द्वापर मे कृष्ण-कथा है। यद्यपि गुप्त जी भी तुलसी के समान राम के अनन्य भक्त हैं, फिर भी उन्होने द्वापर के रूप मे कृष्णकाव्य का प्रणयन किया है—तुलसी ने भी तो कृष्ण गीतावली लिखी थी।

मूल पुस्तक १५ खण्डो मे विभाजित है। अन्त मे 'द्वारकाधीश' शीर्षक एक खण्ड और है। किन्तु मेरे विचार मे वह द्वापर की कथा का अश नही है। क्योकि कृष्ण के उस जीवन का—मथुरा से आगे के जीवन का—परिदर्शन कवि द्वापर मे नही करना चाहता। चतुर्थावृत्ति की भूमिका मे मैथिलीशरण स्वय कहते हैं—"पुस्तक मे उसे ('सुदामा' को) इसलिए नही दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खण्डो मे समाप्त करने का विचार किया था। पहला खण्ड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणो से अव तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बडी आशा नही। अस्तु इस वार पुस्तक के अन्त मे वह अश भी जोड दिया गया है।"[1] इस प्रकार लेखक स्वय ही इस खण्ड

---

1 द्वापर सस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ ७

को द्वापर का अश नही मानता—और यह ठीक भी है। अन्यथा द्वापर का वस्तु-विधान विशृ खल हो सकता है—उसमे अतर्क्य दोषो और असगतियो की सम्भावना है। इसीलिए मैंने 'ग्रथ-परिचय' मे कहा है कि इस भाग को परिशिष्ट रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

द्वापर की रचना आत्मकथन शैली पर हुई है। एक-एक पात्र आता है और आत्म-कथा कहकर चला जाता है। लेकिन आत्मनिवेदन शैली मे प्रणीत होने पर भी द्वापर आत्माभिव्यजनात्मक काव्य नही है। क्योकि उसमे कवि की आत्माभिव्यजना न होकर विभिन्न पात्रो का आत्मकथन है जो निश्चय ही आत्माभिव्यजन से भिन्न है। वास्तव मे प्रत्येक खण्ड को 'स्वगत वार्ता' कहना चाहिए। कुछ लोग इन्हे स्वगत कहना पसन्द करेंगे—किन्तु ये शुद्ध 'स्वगत' नही हैं। क्योकि स्वगत मे श्रोता-समाज की अपेक्षा नही है। लेकिन द्वापर का तो प्रत्येक पात्र कुछ सुनाना चाहता है, जो कुछ कहता है दूसरो को लक्ष्य अथवा सम्बोधन करके कहता है। अत इन्हे स्वगत कहना समीचीन नही है। तात्पर्य यह कि द्वापर स्वगत वार्ता-सग्रह है।

लेकिन यह ठीक नही है। द्वापर को सग्रह कहना उचित नही है—क्योकि ये वार्ताएँ मुक्तक अथवा स्फुट न होकर शृखलाबद्ध हैं। इनमे प्रबन्ध-सूत्र अनिवार्यत विद्यमान है। वह प्रत्येक खण्ड मे अन्त सलिला के समान प्रवहमान है। या यो कहिए कि ये माला के मनको के समान पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होने पर भी सूत्रबद्ध हैं।—और वह सूत्र है कृष्ण-चरित्र का जो सभी मे एकतार अनुस्यूत है। अभिप्राय यह कि द्वापर का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण तो है—किन्तु उसकी एकसूत्रता घटना की नही है। वरन् सबका एक विशेष चरित्र—कृष्ण—से सम्बन्ध है, सभी उन्हे अपने सम्बन्ध से देखते हैं—यही सबसे प्रबल शृंखला है जिसमे सभी खण्ड आबद्ध हैं। इस प्रकार द्वापर प्रबन्धकाव्य ही ठहरता है।

किन्तु किसी भी रचना की काव्यकोटि के निर्धारण से पूर्व उनके उद्देश्य पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्योकि मूलत उद्देश्य पर ही काव्य-रूप निर्भर रहता है। हम देखते हैं द्वापर मे आत्माभिव्यजन नही है वरन् व्यापक मानव-जीवन का चित्रण है—कवि के अपने जीवन-दर्शन का व्याख्यान है। द्वापर के कई पात्रो के स्वर मे स्वर मिलाकर कवि स्वय बोल रहा है, जैसे—

अपने युग को हीन समझना,
आत्महीनता होगी,
सजग रहो, इससे दुर्बलता
और दीनता होगी।[1]

बलराम की इस उक्ति मे निश्चय ही कवि का भौतिकता के प्रति आस्थावान् प्रगति-वादी बोल रहा है। इसी तरह 'कुब्जा' खण्ड की निम्न पक्तियो मे मैथिलीशरण के भक्त का निष्काम आत्म-समर्पण है—

---

१. द्वापर, संस्करण संवत् २०१२, पृष्ठ ५२

उसके प्रगीतो के पीछे कथा का स्पष्ट आधार है—कथा की अन्तर्धारा अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अत कुणाल-गीत का प्रवन्धत्व अक्षुण्ण है। प्रवन्ध के भी दो रूपो—श्रव्य और दृश्य मे कुणाल-गीत दृश्य नही है। श्रव्य की समाख्यानात्मकता भी उसमे नही है फिर भी वह श्रव्य ही है। समाख्यानात्मकता का अभाव होने पर भी उसमे वृत्त-वर्णन हुआ है। किन्तु उसकी शैली वृत्त-वर्णनात्मक न होकर प्रगीतात्मक है। कुणाल-गीत मे इन्ही दो विरोधी तत्त्वो का सम्मिलन है—उसमे प्रबन्धोचित विषय प्रगीतो की मुक्तक शैली मे आबद्ध है।

वृत्त-वर्णनात्मक प्रबन्ध के भी दो रूपो—महाकाव्य और खण्डकाव्य—मे से कुणाल-गीत खण्डकाव्य के अन्तर्गत आता है। क्योकि उसमे देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार एव व्यापकत्व नही है जितना कि महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। वरन् कुणाल के जीवन की एक मार्मिक-कारुणिक घटना का चित्रण है जो खण्डकाव्य का ही विषय वन सकती थी। वास्तव मे कुणाल एक त्यागी, तपस्वी, धीर-वीर, निर्भीक और सच्चरित्र नरपु गव तो है—किन्तु उसमे महाकाव्योचित औदात्त्य नही है। वह जन-नायक नही है। एक वात और, वह यह कि कुणाल-गीत का प्रत्येक प्रगीत अपने आप मे पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक मे समर्थ है। किन्तु उनका क्रम निश्चित है—प्रकृत सौंदर्य की क्षति के विना उसमे परिवर्तन सभव नही है।

सर्वांशिन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि कुणाल-गीत एक प्रगीतात्मक खण्डकाव्य है। वह सूरसागर, गीतावली आदि उन प्रवन्धात्मक प्रगीतो अथवा प्रगीतात्मक प्रवन्धो की परम्परा मे आता है जिनमे कि प्रबन्ध और प्रगीत दोनो ही आलिगनबद्ध रहते हैं। यहाँ पर उक्त पुस्तको से कुणाल-गीत की तुलना अभिप्रेत नही है। वक्तव्य केवल इतना ही है कि सूरसागर एव गीतावली आदि के ही समान कुणाल-गीत का कथा-सूत्र भी विच्छिन्न नही है।

### द्वापर

द्वापर मे कृष्ण-कथा है। यद्यपि गुप्त जी भी तुलसी के समान राम के अनन्य भक्त हैं, फिर भी उन्होने द्वापर के रूप मे कृष्णकाव्य का प्रणयन किया है—तुलसी ने भी तो कृष्ण गीतावली लिखी थी।

मूल पुस्तक १५ खण्डो मे विभाजित है। अन्त मे 'द्वारकाधीश' शीर्षक एक खण्ड और है। किन्तु मेरे विचार मे वह द्वापर की कथा का अश नही है। क्योकि कृष्ण के उस जीवन का—मथुरा से आगे के जीवन का—परिदर्शन कवि द्वापर मे नही करना चाहता। चतुर्थावृत्ति की भूमिका मे मैथिलीशरण स्वय कहते हैं—"पुस्तक मे उसे ('सुदामा' को) इसलिए नही दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खण्डो मे समाप्त करने का विचार किया था। पहला खण्ड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणो से अव तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई वडी आशा नही। अस्तु इस वार पुस्तक के अन्त मे वह अश भी जोड दिया गया है।"[1] इस प्रकार लेखक स्वय ही इस खण्ड

---

१ द्वापर सस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ ७

को द्वापर का अश नही मानता—और यह ठीक भी है। अन्यथा द्वापर का वस्तु-विधान विश्रृखल हो सकता है—उसमे अतर्क्य दोषो और असगतियो की सम्भावना है। इसीलिए मैंने 'ग्रथ-परिचय' मे कहा है कि इस भाग को परिशिष्ट रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

द्वापर की रचना आत्मकथन शैली पर हुई है। एक-एक पात्र आता है और आत्म-कथा कहकर चला जाता है। लेकिन आत्मनिवेदन शैली मे प्रणीत होने पर भी द्वापर आत्माभिव्यजनात्मक काव्य नही है। क्योकि उसमे कवि की आत्माभिव्यजना न होकर विभिन्न पात्रो का आत्मकथन है जो निश्चय ही आत्माभिव्यजन से भिन्न है। वास्तव मे प्रत्येक खण्ड को 'स्वगत वार्ता' कहना चाहिए। कुछ लोग इन्हे स्वगत कहना पसन्द करेंगे—किन्तु ये शुद्ध 'स्वगत' नही हैं। क्योकि स्वगत मे श्रोता-समाज की अपेक्षा नही है। लेकिन द्वापर का तो प्रत्येक पात्र कुछ सुनाना चाहता है, जो कुछ कहता है दूसरो को लक्ष्य अथवा सम्बोधन करके कहता है। अत इन्हे स्वगत कहना समीचीन नही है। तात्पर्य यह कि द्वापर स्वगत वार्ता-सग्रह है।

लेकिन यह ठीक नही है। द्वापर को सग्रह कहना उचित नही है—क्योकि ये वार्ताएँ मुक्तक अथवा स्फुट न होकर शृखलाबद्ध हैं। इनमे प्रबन्ध-सूत्र अनिवार्यत विद्यमान है। वह प्रत्येक खण्ड मे अन्त सलिला के समान प्रवहमान है। या यो कहिए कि ये माला के मनको के समान पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होने पर भी सूत्रबद्ध हैं।—और वह सूत्र है कृष्ण-चरित्र का जो सभी मे एकतार अनुस्यूत है। अभिप्राय यह कि द्वापर का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण तो है—किन्तु उसकी एकसूत्रता घटना की नही है। वरन् सबका एक विशेष चरित्र—कृष्ण—से सम्बन्ध है, सभी उन्हें अपने सम्बन्ध से देखते हैं—यही सबसे प्रबल शृंखला है जिसमे सभी खण्ड आबद्ध हैं। इस प्रकार द्वापर प्रबन्धकाव्य ही ठहरता है।

किन्तु किसी भी रचना की काव्यकोटि के निर्धारण से पूर्व उसके उद्देश्य पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्योकि मूलत उद्देश्य पर ही काव्य-रूप निर्भर रहता है। हम देखते हैं द्वापर मे आत्माभिव्यजन नही है वरन् व्यापक मानव-जीवन का चित्रण है—कवि के अपने जीवन-दर्शन का व्याख्यान है। द्वापर के कई पात्रो के स्वर मे स्वर मिलाकर कवि स्वय बोल रहा है, जैसे—

> अपने युग को हीन समझना,
> आत्महीनता होगी,
> सजग रहो, इससे दुर्बलता
> और दीनता होगी।[1]

बलराम की इस उक्ति मे निश्चय ही कवि का भौतिकता के प्रति आस्थावान् प्रगति-वादी बोल रहा है। इसी तरह 'कुब्जा' खण्ड की निम्न पक्तियो मे मैथिलीशरण के भक्त का निष्काम आत्म-समर्पण है—

---

१. द्वापर, सस्करण संवत् २०१२, पृष्ठ ५२

उसके प्रगीतो के पीछे कथा का स्पष्ट आधार है—कथा की अन्तर्धारा अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अत कुणाल-गीत का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण है। प्रबन्ध के भी दो रूपो—श्रव्य और दृश्य मे कुणाल-गीत दृश्य नही है। श्रव्य की समाख्यानात्मकता भी उसमे नही है फिर भी वह श्रव्य ही है। समाख्यानात्मकता का अभाव होने पर भी उसमे वृत्त-वर्णन हुआ है। किन्तु उसकी शैली वृत्त-वर्णनात्मक न होकर प्रगीतात्मक है। कुणाल-गीत मे इन्ही दो विरोधी तत्त्वो का सम्मिलन है—उसमे प्रबन्धोचित विषय प्रगीतो की मुक्तक शैली मे आबद्ध है।

वृत्त-वर्णनात्मक प्रबन्ध के भी दो रूपो—महाकाव्य और खण्डकाव्य—मे से कुणाल-गीत खण्डकाव्य के अन्तर्गत आता है। क्योकि उसमें देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार एव व्यापकत्व नही है जितना कि महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। वरन् कुणाल के जीवन की एक मार्मिक-कारुणिक घटना का चित्रण है जो खण्डकाव्य का ही विषय बन सकती थी। वास्तव मे कुणाल एक त्यागी, तपस्वी, धीर-वीर, निर्भीक और सच्चरित्र नरपुगव तो है—किन्तु उसमे महाकाव्योचित औदात्त्य नही है। वह जन-नायक नही है। एक बात और, वह यह कि कुणाल-गीत का प्रत्येक प्रगीत अपने आप मे पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक मे समर्थ है। किन्तु उनका क्रम निश्चित है—प्रकृत सौदर्य की क्षति के बिना उसमे परिवर्तन सभव नही है।

सर्वांशिन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि कुणाल-गीत एक प्रगीतात्मक खण्डकाव्य है। वह सूरसागर, गीतावली आदि उन प्रबन्धात्मक प्रगीतो अथवा प्रगीतात्मक प्रबन्धो की परम्परा मे आता है जिनमे कि प्रबन्ध और प्रगीत दोनो ही आलिंगनबद्ध रहते हैं। यहाँ पर उक्त पुस्तको से कुणाल-गीत की तुलना अभिप्रेत नही है। वक्तव्य केवल इतना ही है कि सूरसागर एव गीतावली आदि के ही समान कुणाल-गीत का कथा-सूत्र भी विच्छिन्न नही है।

## द्वापर

द्वापर मे कृष्ण-कथा है। यद्यपि गुप्त जी भी तुलसी के समान राम के अनन्य भक्त हैं, फिर भी उन्होने द्वापर के रूप मे कृष्णकाव्य का प्रणयन किया है—तुलसी ने भी तो कृष्ण गीतावली लिखी थी।

मूल पुस्तक १५ खण्डो मे विभाजित है। अन्त मे 'द्वारकाधीश' शीर्षक एक खण्ड और है। किन्तु मेरे विचार मे वह द्वापर की कथा का अश नही है। क्योकि कृष्ण के उस जीवन का—मथुरा से आगे के जीवन का—परिदर्शन कवि द्वापर मे नही करना चाहता। चतुर्थावृत्ति की भूमिका मे मैथिलीशरण स्वय कहते हैं—"पुस्तक मे उसे ('सुदामा' को) इसलिए नही दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खण्डो मे समाप्त करने का विचार किया था। पहला खण्ड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणो से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बडी आशा नही। अस्तु इस बार पुस्तक के अन्त मे वह अश भी जोड दिया गया है।"[1] इस प्रकार लेखक स्वय ही इस खण्ड

---

[1] द्वापर सस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ ७

को द्वापर का अश नही मानता—और यह ठीक भी है। अन्यथा द्वापर का वस्तु-विधान विश्रृंखल हो सकता है—उसमे अतर्क्य दोषो और असगतियो की सम्भावना है। इसीलिए मैंने 'ग्रथ-परिचय' मे कहा है कि इस भाग को परिशिष्ट रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

द्वापर की रचना आत्मकथन शैली पर हुई है। एक-एक पात्र आता है और आत्म-कथा कहकर चला जाता है। लेकिन आत्मनिवेदन शैली मे प्रणीत होने पर भी द्वापर आत्माभिव्यजनात्मक काव्य नही है। क्योकि उसमे कवि की आत्माभिव्यजना न होकर विभिन्न पात्रो का आत्मकथन है जो निश्चय ही आत्माभिव्यजन से भिन्न है। वास्तव मे प्रत्येक खण्ड को 'स्वगत वार्ता' कहना चाहिए। कुछ लोग इन्हें स्वगत कहना पसन्द करेंगे—किन्तु ये शुद्ध 'स्वगत' नही हैं। क्योकि स्वगत मे श्रोता-समाज की अपेक्षा नही है। लेकिन द्वापर का तो प्रत्येक पात्र कुछ सुनाना चाहता है, जो कुछ कहता है दूसरो को लक्ष्य अथवा सम्बोधन करके कहता है। अत इन्हे स्वगत कहना समीचीन नही है। तात्पर्य यह कि द्वापर स्वगत वार्ता-सग्रह है।

लेकिन यह ठीक नही है। द्वापर को सग्रह कहना उचित नही है—क्योकि ये वार्ताएँ मुक्तक अथवा स्फुट न होकर शृखलाबद्ध हैं। इनमे प्रबन्ध-सूत्र अनिवार्यत विद्यमान है। वह प्रत्येक खण्ड मे अन्त सलिला के समान प्रवहमान है। या यो कहिए कि ये माला के मनको के समान पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होने पर भी सूत्रबद्ध हैं।—और वह सूत्र है कृष्ण-चरित्र का जो सभी मे एकतार अनुस्यूत है। अभिप्राय यह कि द्वापर का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण तो है—किन्तु उसकी एकसूत्रता घटना की नही है। वरन् सबका एक विशेष चरित्र—कृष्ण—से सम्बन्ध है, सभी उन्हें अपने सम्बन्ध से देखते हैं—यही सबसे प्रबल शृंखला है जिसमे सभी खण्ड आबद्ध हैं। इस प्रकार द्वापर प्रबन्धकाव्य ही ठहरता है।

किन्तु किसी भी रचना की काव्यकोटि के निर्धारण से पूर्व उसके उद्देश्य पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्योकि मूलत उद्देश्य पर ही काव्य-रूप निर्भर रहता है। हम देखते हैं द्वापर मे आत्माभिव्यजन नही है वरन् व्यापक मानव-जीवन का चित्रण है—कवि के अपने जीवन-दर्शन का व्याख्यान है। द्वापर के कई पात्रो के स्वर मे स्वर मिलाकर कवि स्वय बोल रहा है, जैसे—

> अपने युग को हीन समझना,
> आत्महीनता होगी;
> सजग रहो, इससे दुर्बलता
> और दीनता होगी।[1]

बलराम की इस उक्ति मे निश्चय ही कवि का भौतिकता के प्रति आस्थावान् प्रगति-वादी बोल रहा है। इसी तरह 'कुब्जा' खण्ड की निम्न पक्तियो मे मैथिलीशरण के भक्त का निष्काम आत्म-समर्पण है—

---

१. द्वापर, संस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ ५२

उसके प्रगीतो के पीछे कथा का स्पष्ट आधार है—कथा की अन्तर्धारा अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अत कुणाल-गीत का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण है। प्रबन्ध के भी दो रूपो—श्रव्य और दृश्य मे कुणाल-गीत दृश्य नही है। श्रव्य की समाख्यानात्मकता भी उसमे नही है फिर भी वह श्रव्य ही है। समाख्यानात्मकता का अभाव होने पर भी उसमे वृत्त-वर्णन हुआ है। किन्तु उसकी शैली वृत्त-वर्णनात्मक न होकर प्रगीतात्मक है। कुणाल-गीत मे इन्ही दो विरोधी तत्त्वो का सम्मिलन है—उसमे प्रबन्धोचित विषय प्रगीतो की मुक्तक शैली में आबद्ध है।

वृत्त-वर्णनात्मक प्रबन्ध के भी दो रूपो—महाकाव्य और खण्डकाव्य—मे से कुणाल-गीत खण्डकाव्य के अन्तर्गत आता है। क्योकि उसमे देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार एव व्यापकत्व नही है जितना कि महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। वरन् कुणाल के जीवन की एक मार्मिक-कारुणिक घटना का चित्रण है जो खण्डकाव्य का ही विषय बन सकती थी। वास्तव मे कुणाल एक त्यागी, तपस्वी, धीर-वीर, निर्भीक और सच्चरित्र नरपुगव तो है—किन्तु उसमे महाकाव्योचित औदात्त्य नही है। वह जन-नायक नही है। एक बात और, वह यह कि कुणाल-गीत का प्रत्येक प्रगीत अपने आप मे पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक मे समर्थ है। किन्तु उनका क्रम निश्चित है—प्रकृत सौदर्य की क्षति के बिना उसमें परिवर्तन सभव नही है।

सर्वांशिन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि कुणाल-गीत एक प्रगीतात्मक खण्डकाव्य है। वह सूरसागर, गीतावली आदि उन प्रबन्धात्मक प्रगीतो अथवा प्रगीतात्मक प्रबन्धो की परम्परा मे आता है जिनमे कि प्रबन्ध और प्रगीत दोनो ही आलिगनबद्ध रहते हैं। यहाँ पर उक्त पुस्तको से कुणाल-गीत की तुलना अभिप्रेत नही है। वक्तव्य केवल इतना ही है कि सूरसागर एव गीतावली आदि के ही समान कुणाल-गीत का कथा-सूत्र भी विच्छिन्न नही है।

### द्वापर

द्वापर मे कृष्ण-कथा है। यद्यपि गुप्त जी भी तुलसी के समान राम के अनन्य भक्त हैं, फिर भी उन्होने द्वापर के रूप मे कृष्णकाव्य का प्रणयन किया है—तुलसी ने भी तो कृष्ण गीतावली लिखी थी।

मूल पुस्तक १५ खण्डो में विभाजित है। अन्त मे 'द्वारकाधीश' शीर्षक एक खण्ड और है। किन्तु मेरे विचार मे वह द्वापर की कथा का अश नही है। क्योंकि कृष्ण के उस जीवन का—मथुरा से आगे के जीवन का—परिदर्शन कवि द्वापर मे नही करना चाहता। चतुर्थावृत्ति की भूमिका मे मैथिलीशरण स्वय कहते हैं—"पुस्तक मे उसे ('सुदामा' को) इसलिए नही दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खण्डो मे समाप्त करने का विचार किया था। पहला खण्ड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणो से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बडी आशा नही। अस्तु इस बार पुस्तक के अन्त मे वह अश भी जोड दिया गया है।"[1] इस प्रकार लेखक स्वय ही इस खण्ड

---

१. द्वापर सस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ ७

को द्वापर का अंश नही मानता—और यह ठीक भी है। अन्यथा द्वापर का वस्तु-विधान विशृंखल हो सकता है—उसमे अतर्क्य दोषो और असगतियो की सम्भावना है। इसीलिए मैंने 'ग्रथ-परिचय' मे कहा है कि इस भाग को परिशिष्ट रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

द्वापर की रचना आत्मकथन शैली पर हुई है। एक-एक पात्र आता है और आत्म-कथा कहकर चला जाता है। लेकिन आत्मनिवेदन शैली मे प्रणीत होने पर भी द्वापर आत्माभिव्यजनात्मक काव्य नही है। क्योकि उसमे कवि की आत्माभिव्यजना न होकर विभिन्न पात्रो का आत्मकथन है जो निश्चय ही आत्माभिव्यजन से भिन्न है। वास्तव मे प्रत्येक खण्ड को 'स्वगत वार्ता' कहना चाहिए। कुछ लोग इन्हे स्वगत कहना पसन्द करेंगे—किन्तु ये शुद्ध 'स्वगत' नही हैं। क्योंकि स्वगत मे श्रोता-समाज की अपेक्षा नही है। लेकिन द्वापर का तो प्रत्येक पात्र कुछ सुनाना चाहता है, जो कुछ कहता है दूसरो को लक्ष्य अथवा सम्बोधन करके कहता है। अत इन्हे स्वगत कहना समीचीन नही है। तात्पर्य यह कि द्वापर स्वगत वार्ता-संग्रह है।

लेकिन यह ठीक नही है। द्वापर को सग्रह कहना उचित नही है—क्योकि ये वार्ताएँ मुक्तक अथवा स्फुट न होकर शृंखलाबद्ध हैं। इनमे प्रवन्ध-सूत्र अनिवार्यत विद्यमान है। वह प्रत्येक खण्ड मे अन्त सलिला के समान प्रवहमान है। या यो कहिए कि ये माला के मनको के समान पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होने पर भी सूत्रबद्ध हैं।—और वह सूत्र है कृष्ण-चरित्र का जो सभी मे एकतार अनुस्यूत है। अभिप्राय यह कि द्वापर का प्रवन्धत्व अक्षुण्ण तो है—किन्तु उसकी एकसूत्रता घटना की नही है। वरन् सवका एक विशेष चरित्र—कृष्ण—से सम्बन्ध है, सभी उन्हे अपने सम्बन्ध से देखते हैं—यही सवमे प्रबल शृंखला है जिसमे सभी खण्ड आवद्ध हैं। इस प्रकार द्वापर प्रबन्धकाव्य ही ठहरता है।

किन्तु किसी भी रचना की काव्यकोटि के निर्धारण से पूर्व उनके उद्देश्य पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्योंकि मूलत उद्देश्य पर ही काव्य-रूप निर्भर रहता है। हम देखते हैं द्वापर में आत्माभिव्यजन नही है वरन् व्यापक मानव-जीवन का चित्रण है—कवि के अपने जीवन-दर्शन का व्याख्यान है। द्वापर के कई पात्रो के स्वर मे स्वर मिलाकर कवि स्वयं बोल रहा है, जैसे—

> अपने युग को हीन समझना,
> आत्महीनता होगी,
> सजग रहो, इससे दुर्बलता
> और दीनता होगी।[1]

बलराम की इन उक्ति मे निश्चय ही कवि का भौतिकता के प्रति आस्थावान् प्रगति-वादी बोल रहा है। इसी तरह 'कुब्जा' खण्ड की निम्न पक्तियों मे मैथिलीशरण के भक्त का निष्काम आत्म-समर्पण है—

---

१. द्वापर, संस्करण संवत् २०१२, पृष्ठ ५२

उसके प्रगीतो के पीछे कथा का स्पष्ट आधार है—कथा की अन्तर्धारा अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अत कुणाल-गीत का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण है। प्रबन्ध के भी दो रूपो—श्रव्य और दृश्य मे कुणाल-गीत दृश्य नही है। श्रव्य की समाख्यानात्मकता भी उसमे नही है फिर भी वह श्रव्य ही है। समाख्यानात्मकता का अभाव होने पर भी उसमे वृत्त-वर्णन हुआ है। किन्तु उसकी शैली वृत्त-वर्णनात्मक न होकर प्रगीतात्मक है। कुणाल-गीत मे इन्ही दो विरोधी तत्त्वो का सम्मिलन है—उसमे प्रबन्धोचित विषय प्रगीतो की मुक्तक शैली मे आबद्ध है।

वृत्त-वर्णनात्मक प्रबन्ध के भी दो रूपो—महाकाव्य और खण्डकाव्य—में से कुणाल-गीत खण्डकाव्य के अन्तर्गत आता है। क्योकि उसमे देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार एव व्यापकत्व नही है जितना कि महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। वरन् कुणाल के जीवन की एक मार्मिक-कारुणिक घटना का चित्रण है जो खण्डकाव्य का ही विषय बन सकती थी। वास्तव मे कुणाल एक त्यागी, तपस्वी, धीर-वीर, निर्भीक और सच्चरित्र नरपुगव तो है—किन्तु उसमे महाकाव्योचित औदात्त्य नही है। वह जन-नायक नहीं है। एक बात और, वह यह कि कुणाल-गीत का प्रत्येक प्रगीत अपने आप मे पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक मे समर्थ है। किन्तु उनका क्रम निश्चित है—प्रकृत सौंदर्य की क्षति के विना उसमे परिवर्तन सभव नही है।

सर्वांगिन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि कुणाल-गीत एक प्रगीतात्मक खण्डकाव्य है। वह सूरसागर, गीतावली आदि उन प्रबन्धात्मक प्रगीतो अथवा प्रगीतात्मक प्रबन्धो की परम्परा मे आता है जिनमे कि प्रबन्ध और प्रगीत दोनो ही आलिंगनबद्ध रहते हैं। यहाँ पर उक्त पुस्तको से कुणाल-गीत की तुलना अभिप्रेत नही है। वक्तव्य केवल इतना ही है कि सूरसागर एव गीतावली आदि के ही समान कुणाल-गीत का कथा-सूत्र भी विच्छिन्न नही है।

## द्वापर

द्वापर मे कृष्ण-कथा है। यद्यपि गुप्त जी भी तुलसी के समान राम के अनन्य भक्त हैं, फिर भी उन्होंने द्वापर के रूप मे कृष्णकाव्य का प्रणयन किया है—तुलसी ने भी तो कृष्ण गीतावली लिखी थी।

मूल पुस्तक १५ खण्डो मे विभाजित है। अन्त मे 'द्वारकाधीश' शीर्षक एक खण्ड और है। किन्तु मेरे विचार मे वह द्वापर की कथा का अश नही है। क्योकि कृष्ण के उस जीवन का—मथुरा से आगे के जीवन का—परिदर्शन कवि द्वापर मे नही करना चाहता। चतुर्थावृत्ति की भूमिका मे मैथिलीशरण स्वय कहते हैं—"पुस्तक मे उसे ('सुदामा' को) इसलिए नही दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खण्डो मे समाप्त करने का विचार किया था। पहला खण्ड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणो से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बडी आशा नही। अस्तु इस बार पुस्तक के अन्त मे वह अश भी जोड दिया गया है।"[1] इस प्रकार लेखक स्वय ही इस खण्ड

---

१ द्वापर सस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ ७

को द्वापर का अश नही मानता—और यह ठीक भी है। अन्यथा द्वापर का वस्तु-विधान विशृ खल हो सकता है—उसमे अतर्क्य दोषो और असगतियो की सम्भावना है। इसीलिए मैंने 'ग्रथ-परिचय' मे कहा है कि इस भाग को परिशिष्ट रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

द्वापर की रचना आत्मकथन शैली पर हुई है। एक-एक पात्र आता है और आत्म-कथा कहकर चला जाता है। लेकिन आत्मनिवेदन शैली मे प्रणीत होने पर भी द्वापर आत्माभिव्यजनात्मक काव्य नही है। क्योकि उसमे कवि की आत्माभिव्यजना न होकर विभिन्न पात्रो का आत्मकथन है जो निश्चय ही आत्माभिव्यजन से भिन्न है। वास्तव मे प्रत्येक खण्ड को 'स्वगत वार्ता' कहना चाहिए। कुछ लोग इन्हे स्वगत कहना पसन्द करेंगे—किन्तु ये शुद्ध 'स्वगत' नही हैं। क्योकि स्वगत मे श्रोता-समाज की अपेक्षा नहीं है। लेकिन द्वापर का तो प्रत्येक पात्र कुछ सुनाना चाहता है, जो कुछ कहता है दूसरो को लक्ष्य अथवा सम्बोधन करके कहता है। अत इन्हे स्वगत कहना समीचीन नही है। तात्पर्य यह कि द्वापर स्वगत वार्ता-सग्रह है।

लेकिन यह ठीक नही है। द्वापर को सग्रह कहना उचित नही है—क्योकि ये वार्ताएँ मुक्तक अथवा स्फुट न होकर शृखलावद्ध हैं। इनमे प्रवन्ध-सूत्र अनिवार्यत विद्यमान है। वह प्रत्येक खण्ड मे अन्त सलिला के समान प्रवहमान है। या यो कहिए कि ये माला के मनको के समान पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होने पर भी सूत्रवद्ध है।—और वह सूत्र है कृष्ण-चरित्र का जो सभी मे एकतार अनुस्यूत है। अभिप्राय यह कि द्वापर का प्रवन्धत्व अक्षुण्ण तो है—किन्तु उसकी एकसूत्रता घटना की नही है। वरन् सवका एक विशेष चरित्र—कृष्ण—से सम्बन्ध है, सभी उन्हें अपने सम्बन्ध से देखते हैं—यही सबसे प्रवल शृंखला है जिसमे सभी खण्ड आवद्ध हैं। इस प्रकार द्वापर प्रवन्धकाव्य ही ठहरता है।

किन्तु किसी भी रचना की काव्यकोटि के निर्धारण से पूर्व उनके उद्देश्य पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्योकि मूलत उद्देश्य पर ही काव्य-रूप निर्भर रहता है। हम देखते हैं द्वापर मे आत्माभिव्यजन नहीं है वरन् व्यापक मानव-जीवन का चित्रण है—कवि के अपने जीवन-दर्शन का व्याख्यान है। द्वापर के कई पात्रो के स्वर मे स्वर मिलाकर कवि स्वय बोल रहा है, जैसे—

> अपने युग को हीन समझना,
> आत्महीनता होगी;
> सजग रहो, इससे दुर्बलता
> और दीनता होगी।[1]

बलराम की इस उक्ति मे निश्चय ही कवि का भौतिकता के प्रति आस्थावान् प्रगति-वादी बोल रहा है। इसी तरह 'कुब्जा' खण्ड की निम्न पक्तियो मे मैथिलीशरण के भक्त का निष्काम आत्म-समर्पण है—

---

१. द्वापर, संस्करण संवत् २०१२, पृष्ठ ५२

रोम-रोम बस तुझे पुलक-सा
पाकर जड़ रह जावे,
और उन्हीं चरणों मे जीवन
स्वेद बना वह जावे।[1]

ऐसे स्थलो मे ही कवि के अपने विश्वास और मान्यताएँ समाहित हैं। निरूपण तो द्वापर में कस के जीवन-दर्शन का भी हुआ है पर वह बराबर कवि की घृणा का पात्र रहा है। वास्तव मे बलराम, विघृता, अक्रूर और कुब्जा के माध्यम से ही कवि ने अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया है।

प्रसग चल रहा था द्वापर के काव्य-रूप का। तो जीवन-दर्शन-सवलित यह काव्य निश्चय ही प्रबन्ध है। लेकिन इसमे अधिकाश काव्य-प्रबन्धो के समान वृत्त-वर्णन न मिलकर प्रत्यक्ष चित्रण मिलता है। द्वापर के लिए उचित भी यही था—क्योकि इसमे कृष्ण के चरित्रोद्घाटन द्वारा ही मानव-जीवन उपस्थित किया गया है। द्वापर की स्वगत वार्ताओ द्वारा गुप्त जी केवल इतिवृत्त ही उपस्थित नही करते अपितु द्वापर का समूचा जीवन ही चित्रित करते हैं—तत्कालीन व्यापक सदेह और व्यामोह का अकन करते है। यद्यपि 'विघृता' के चरित्र का पुरस्कार और राधा एव गोपियो के चरित्र का परिष्कार भी द्वापर में हुआ है पर वह तो आनुषगिक बात है, मुख्य तो कृष्ण-चरित्र की प्रस्तुति ही है। उसी के अवलम्ब से सब खण्ड एकाकार हो गए हैं। यह चरित्रोद्घाटन और प्रत्यक्ष चित्रण नाटक की विशेषताएँ हैं। अत द्वापर नाट्य-प्रबन्ध की ही एक विधा है जिसमे एकपात्री दृश्यो का समजन है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी यशोधरा और द्वापर को गीतिकाव्यात्मक प्रवन्धकाव्य मानते हैं।[2] किन्तु मैं उनके इस अभिमत से पूर्णत सहमत नही हूँ। यशोधरा के विषय में तो उनका यह कथन सोलह आने सही है, सर्वथा उचित है। क्योकि उसका प्रधान पात्र एक नारी है—और नारी-हृदय के अभिव्यजन मे प्राय प्रगीतात्मकता आ ही जाती है। लेकिन द्वापर मे ऐसा नही। उसमे प्रमुख पात्र नारी नही है। यद्यपि यशोदा, देवकी, विघृता, कुब्जा और गोपियो के करुण-मधुर गीतिमय व्यक्तित्व के सस्पर्श से प्रगीत-तत्त्व का समावेश भी अवश्य हुआ है, लेकिन लेखक का ध्यान जीवन-दर्शन के निरूपण और अपने विश्वासो के प्रतिपादन पर ही केन्द्रित रहा है। मान्यताओं और धारणाओ के उस घटाटोप मे प्रगीतत्व विलीन हो गया है। —और प्रगीतता के माध्यम गेय पद का तो द्वापर में सर्वथा अभाव ही है। मैं समझता हूँ कि द्वापर का प्रगीतत्व विशेषत उल्लेख्य नही है। थोडी बहुत प्रगीतता तो सत्काव्य मे कही भी मिल जाएगी। अन्तत निष्कर्ष यह कि द्वापर को नाट्य-प्रबन्ध का एक रूप कहना ही समीचीन होगा।

## मूल्याकन

यशोधरा, कुणाल-गीत और द्वापर काव्य-रूप की दृष्टि से गुप्त जी के सर्वथा नवीन

---

१. द्वापर, सस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ १५८
२. हिन्दी साहित्य, सस्करण सन् १९५५, पृष्ठ ४४२-४४३

प्रयोग हैं। परम्परामुक्त अथवा परम्परा-विच्छिन्न होने पर भी उनकी काव्यकोटि का निर्णय किया जा सकता है—उनका वर्गीकरण हो सकता है। हम देखते हैं कि तीनो ही प्रवन्ध हैं। लेकिन प्रवन्धत्व स्थूल अथवा एकदम स्पष्ट नही है—प्रवन्ध-सूत्र सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष है। वस्तुत वे तीनो हमारे युग के कुशल प्रवन्ध हैं। तीनो की वस्तु ऐतिहासिक है—और कवि ने मात्र इतिवृत्त ही नही वरन् तत्कालीन समाज और जीवन का अकन किया है। लेकिन यह सव कुछ कवि के चिरप्रिय समाख्यानात्मक ढग पर नही हुआ अपितु प्रगीतो और स्वगत वार्ताओ के माध्यम से हुआ है। यशोधरा और कुणाल-गीत के प्रगीतो मे भी प्रवन्ध की स्थापना निश्चय ही कवि के कौशल की परिचायक है। किन्तु द्वापर मे तो वह एक पग और भी आगे वढ गया है। वहाँ गुप्त जी स्वगत वार्ताओ के माध्यम से ही कहानी कहते हैं। वरन् यो कहिए कि एक चिरपेषित कथा के द्वारा उस युग की द्वापरता का रोचक चित्रण करते हैं। द्वापर की प्रवन्ध-कला हमारे लिए, हमारी काव्य-कला की प्रगति की सूचक है। वह प्रवन्धो की परम्परा मे नवीन कल्पना है, मौलिक उद्भावना है।

# (ख) अभिव्यंजना-कौशल

अभिव्यजना साहित्य का महत्त्वपूर्ण अग है—उत्तम से उत्तम अनुभूति भी अभिव्यक्ति के विना गूगी रह जाती है। अभिव्यजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे की स्थापना तो यह है कि अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अनुभूति और कुछ है ही नहीं। वे दोनो मे भिन्नता का अत्यन्ताभाव मानते हैं। उनके अनुसार अभिव्यक्ति से पूर्व मन मे अनुभूति का अस्तित्व असम्भव है। लेकिन भारतीय आचार्यों ने दोनो मे निश्चित पार्थक्य स्वीकार किया है। कुन्तक आदि मनीषियो ने अनुभूति और अभिव्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध तो माना है—किन्तु उनकी अभिन्नता नहीं। वस्तुत दोनो मे सम्वाय सम्बन्ध है अर्थात् एक के अभाव मे दूसरे का अस्तित्व सम्भव नही है। पर अनिवार्य सम्बन्ध होने पर भी अनुभूति और अभिव्यक्ति सवर्गीय अथवा सजातीय नही हैं—इनमे आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। अनुभूति यदि आत्मा है तो अभिव्यक्ति निश्चय ही शरीर है। एक के अनस्तित्व मे दूसरी का अस्तित्व व्यर्थ है। अव रही वात अभिव्यजना-कौशल की। क्रोचे तो कवि-कौशल का एकदम वहिष्कार कर देते हैं। लेकिन यह ठीक नही है। इसके विरुद्ध सवसे प्रवल तर्क, ज्वलन्त प्रमाण मीरा का काव्य है। मीरा की सरस अनुभूति की रमणीयता मे इन्कार नही किया जा सकता। फिर भी उनकी अभिव्यक्ति रमणीय नहीं है। कारण स्पष्ट है—कौशल का अभाव। अत. मेरी विनम्र सम्मति मे रमणीय अभिव्यक्ति के मूल में अनुभूति की रमणीयता के साथ-साथ कुछ न कुछ कौशल भी आवश्यक रहता है। कुशल कवि अभिव्यक्ति की रमणीयता एव प्रभावक्षमता की सिद्धि के लिए अनेक साधनो का उपयोग करता है। यहाँ पर हम गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त उन प्रसाधनो का ही विवेचन करेंगे।

## चित्रण-कला

पहले ही कहा जा चुका है कि रग, रेखा, शब्द आदि के माध्यम से अनुभूति को चित्र, मूर्ति अथवा काव्य का रूप दे दिया जाता है। किन्तु मूलत एक ही अन्तर्वृत्ति से सबद्ध होने के कारण एक मे दूसरे का अत्यन्ताभाव नही हो सकता। कवि मे अशत चित्रण शक्ति होती ही है। निश्चय ही कवि की चित्र-विधायिनी प्रतिभा जितनी प्रखर होगी उसके काव्य मे इन दो कलाओ के मणि-काचन सयोग से उतनी ही सहज प्रसन्नता और मधुरता मिलेगी। प्राचीन आचार्य का विभाव और अनुभाव-विधान भी चित्रण-कला का ही समानार्थक है।

मैथिलीशरण जी ने मानव जीवन को उसकी समग्रता मे ग्रहण किया है। अतः उनके काव्य मे सभी प्रकार के—मधुर-तरल, रुद्ध-क्रुद्ध, छाया-प्रकाशमय चित्र उपलब्ध हैं। पहले कुछ पूर्ण चित्र लीजिए। 'रणधीर द्रोणाचार्यकृत दुर्भेद्य चक्रव्यूह' के ध्वस्त चित्र का अवलोकन कीजिए—

···· ········ रक्त की यह कीच कैसी मच रही!
है पट रही खण्डित हुए बहु रुण्ड-मुण्डो से मही।
कर-पद असख्य कटे पड़े, शस्त्रादि फैले हैं तथा
रणस्थली ही मृत्यु की एकत्र प्रकटी हो यथा!
दुर्योधनानुज हैं पडे ये भीम के मारे हुए,
काम्बोज-नृप वे सात्यकी के हाथ से हारे हुए।
मृत अच्युतायु-श्रुतायु हैं ये, वह अलम्बुष है मरा;
यह सोमदत्तात्मज पडा है, रक्त-रजित है धरा॥[1]

यहाँ पर कवि ने चक्रव्यूह के ध्वसावशेष का दृश्य उपस्थित किया है। किन्तु वह अपने प्रयत्न मे सफल नही हो सका। 'दुर्योधनानुज है पडे ये भीम के मारे हुए' आदि पक्तियो से स्थिति का बोध भले ही हो जाए पर उस घटना का चित्र नेत्रो के समक्ष नही आ सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि युद्ध-भूमि के उस दृश्य का विधान करने की बजाए मृतकों का लेखा-जोखा उपस्थित करने लगा है। लेकिन इस परिगणनात्मकता मे भी 'कर-पद असख्य कटे पडे, शस्त्रादि फैले हैं तथा' जैसी एकाध पक्ति तत्कालीन अस्त-व्यस्तता के बिम्ब-ग्रहण मे सहायक है।

वास्तव मे उपर्युक्त चित्र मे मैथिलीशरण अनेक तथ्यो को एक साथ अकित करना चाहते हैं—किन्तु पाठको के मानस-चक्षु उन्हे स्वीकार करने मे असमर्थ हैं। कवि को चाहिए कि वह कुशलतापूर्वक आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग करे। तभी उसके चित्र का अभिलषित प्रभाव पड सकता है। पचवटी से ऐसा ही चित्र प्रस्तुत करता हूँ—

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ ८९

पंचवटी की छाया मे है
सुन्दर पर्ण-कुटीर बना.
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर
धीर, वीर, निर्भीकमना।
जाग रहा यह कौन धनुर्धर
जबकि भुवन भर सोता है?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा
बना दृष्टिगत होता है॥[1]

देखिए कवि ने कितने कौशल से वन के स्तब्ध वातावरण और शिला पर बैठे हुए धनुर्धारी लक्ष्मण का सश्लिष्ट चित्र अकित किया है। यद्यपि यहाँ पर बहुत कम वस्तुओ का चित्रण कवि ने किया है। फिर भी सारा चित्र नेत्रो के सामने घूम जाता है। यदि वह पूर्वोद्धृत चित्र के समान एक-एक बात का व्योरा देने लगता तो सारा सौंदर्य नष्ट हो जाता। इसीलिए यह आवश्यक है कि चित्र अकित करते समय कवि कौशल के साथ आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग करे। आवश्यक वा अनावश्यक के प्रति आलोच्य कवि की सजगता ब्राह्मण की सद्गृहस्थी के निम्न चित्र मे और भी स्पष्ट है—

था पास ही तुलसी धरा
जो वायु-शोधक था हरा;
सुमुखि सुता थी दीप उस पर धर रही।
बस, ब्राह्मणी निश्चल खड़ी,
मुकुलित किये आँखें बडी
कैसे कहें किस भाव से थी भर रही॥[2]

यह चित्र भडकीले रग-रूप से एकदम मुक्त है लेकिन फिर भी अपनी सहज-सरलता की दिव्य आभा से उद्भासित है। यह चित्र घर का दृश्य ही उपस्थित नही करता वरन् इसमे ब्राह्मण की सद्गृहस्थी की सुख-शान्ति, सहज श्रद्धा तथा आडम्बरहीन सज्जा अकित है। और स्पष्ट शब्दो मे वहाँ का पावन वातावरण तक इस चित्र के द्वारा प्रेषणीय हो सका है। निश्चय ही यह पाठक के मन पर शान्त-सौम्य प्रभाव डालने मे सक्षम है—ठीक उसी तरह जैसे महात्मा बुद्ध की प्राचीन मूर्तियाँ दर्शको के मन पर ऐसा प्रभाव छोडती हैं जैसा कि साक्षात् बुद्ध के दर्शन पर पड सकता था। अब लीजिए गुप्त जी की सर्वप्रिय और सर्वोत्कृष्ट रचना साकेत से एक मनोरम चित्र—

तरु तले विराजे हुए,—शिला के ऊपर,
कुछ टिके,—धनुष की कोटि टेक कर भूपर,

---

१. पचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ६
२ वक-सहार, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ७

निज लक्ष-सिद्धि-सी तनिक घूमकर तिरछे,
जो सींच रही थीं पर्णकुटी के बिरछे—
उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को,
प्रणय प्राण को और कान्त काया को,
यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी,
योगी के आगे अलख-ज्योति ज्यों जागी ![1]

दिव्य युगल के पावन दाम्पत्य जीवन का यह अलौकिक चित्र कितना मुखर है। उपर्युक्त पक्तियो को पढते ही जो सश्लिष्ट चित्र कल्पना मे घूम जाता है वह कितना भव्य और मनोहारी है। इस उद्धरण मे चित्र के सम्पूर्ण गुण आ गए हैं। 'कुछ टिके,—धनुष की कोटि टेक कर भूपर' मे वनवासी राम की मुद्रा तक स्पष्ट है। निश्चय ही इस चित्र मे काव्य और चित्र-कला का मणि-काचन संयोग हुआ है।

मैथिलीशरण शृगारी कवि नही हैं—किन्तु समग्र जीवन को ग्रहण करनेवाला कवि उससे अछूता भी नही रह सकता। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार तो अधिकाश मानवीय व्यापारो के मूल मे काम ही रहता है। गुप्त जी के काव्य मे भी अनेक रूप-चित्र मिल सकते है। सब से पहले तो उनकी एक प्रारम्भिक रचना 'तिलोत्तमा' से एक चित्र प्रस्तुत करता हूँ—

रूप के समुद्र की रमा सी यह कौन यहाँ
सारी सुघराई का इसी मे एक वास है
कोमलता कज की है, कान्ति है कलाधर की
सुवर्ण की सुवर्णता, लताओं का विलास है।
गति मे मरालता है, भौहो मे करालता है;
अलकों मे अरालता, कपोलों मे विभास है
अगों मे उमग अहा ! आँखो मे अनग रंग,
मुख मे सु-हास और श्वास मे सु-वास है ॥[2]

रीतिकालीन शैली मे अकित इस चित्र मे चित्र के गुणो का प्राय अभाव ही है। नायिका तिलोत्तमा के रूप का भान बिल्कुल भी पाठक को नही हो पाता। इसमे एक भी ऐसी पक्ति नही है जो कल्पना-चित्र खडा करने मे समर्थ हो। किन्तु यह कवि का आरम्भ-कालीन प्रयास है। बाद मे तो उसने कई मधुर-स्निग्ध चित्र उपस्थित किए हैं। उदाहरण के लिए सिद्धराज से उद्धृत निम्न चित्र का अवलोकन कीजिए—

रात हो चुकी थी दीप दीपित था पौर मे,
काँपती शिखा-सी लिपे आगन मे रूपसी

१. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५६
२. चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ९७-९८

रानकदे संकुचित और नत थी खड़ी;
था खगार सम्मुख सजीव एक चित्र सा।[1]

कुम्भकार-पालित राज-कन्या रानकदे और नवयुवक राजा खगार एक-दूसरे के सम्मुख उपस्थित हैं। रात्रि का नीरव पर मादक क्षण है—दीपक का मन्द प्रकाश उस मादकता को और भी गहरी बनाने मे सहायक है। ऐसे मधुमय वातावरण मे अनिंद्य सुन्दरी, लज्जाविष्ट, सकोचसकुल कुलबालिका रानकदे सात्विक-सचारी के प्रभाव से विकम्पित है—पौर मे प्रज्वलित दीप-शिखा के समान ही कांप रही है। और खगार! वह तो रूप और शील की इस साकार प्रतिमा को देखकर स्तब्ध रह जाता है—चित्रस्थ-सा निश्चेष्ट और मूक खडा रह जाता है। मानस-चक्षुओ से चित्र का साक्षात्कार कर पाठक भी खगार के समान ही मन्त्र-मुग्ध हुए बिना नही रह पाता। यह तो हुआ एक सस्कार-पोषिता, लज्जा-शीला कुलबालिका का शुद्ध सात्विक रूप-चित्रण। और अब देखिए सस्कार एव सकोचहीन रमणी का अनावृत सौंदर्यांकन। पचवटी मे पर्णकुटी के प्रहरी के रूप मे लक्ष्मण बैठे हुए हैं। ढलती रात है—स्वच्छ ज्योत्स्ना प्रसारित है। लक्ष्मण एक क्षण के लिए उर्मिला के ध्यान मे डूब जाते है—किन्तु आंख खुलते ही सामने क्या देखते हैं—

अनुपम रूप अलौकिक वेष!
चकाचौंध-सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्यवदनी बाला!
रत्नाभरण भरे अगों मे ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ जुगनू जगमग करते थे।
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से झलक रही,
कमलों की मकरन्द-मधुरिमा मानो छवि से छलक रही![2]

बिजली की तरह कौंध जानेवाली रूप की कैसी प्रखर जगमगाहट है। वासना-लिप्त यह चित्र कितना उत्तेजनापूर्ण है। इसमे चित्र-तारिकाओ के नागरिक विलास की स्पष्ट छाप है। किन्तु ऐसे चित्र मैथिलीशरण के काव्य मे आपको अधिक नही मिलेंगे। उन्होंने अधिकाशत उत्तेजनाहीन सहज-सौंदर्य का ही अकन किया है। सीता माता का यह चित्र विशेषत द्रष्टव्य है—

अंचल-पट कटि मे खोस, कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे।
अकुर-हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जन मातृ-गर्वमय कुशल वदन भव-भावन।
पहने थीं दिव्य दुकूल अहा! वे ऐसे,
उत्पन्न हुआ हो देह-संग ही जैसे।

---

१. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६०
२. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १५

कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट-से,
थे पत्र-पुंज मे अलग प्रसून प्रकट - से !
कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके,
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके ।
मुख घर्म-विन्दुमय-ओस-भरा अम्बुज-सा,
पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा ?[1]

सीता का यह रूप-चित्रण देखते ही कालिदास की शकुन्तला का वन्य सौंदर्य स्मरण हो आता है। अपने आप मे कितना भव्य और पावन चित्र है। पाठक को सौंदर्यानुभूति तो होती है—किन्तु वासनाहीन—एकदम उत्तेजना रहित ! कवि पयोधरो की पीनता तक का उल्लेख करता है पर अगली ही पक्ति मे 'जन-मातृ-गर्वमय' शब्दावली का प्रयोग कर पाठक की श्रद्धा को जगा देता है। यदि इस चित्र की तुलना पूर्वोद्धृत पचवटी के चित्र से की जाए तभी इसकी गरिमा का पूर्ण आभास मिल सकता है।

स्थिर चित्रो का दिग्दर्शन तो हो चुका। अब गतिमय चित्रो का वैभव भी देखिए। वास्तव मे गतिमय चित्र ही काव्य की प्रकृति के अनुकूल हैं—स्थिर चित्र काव्य की अपेक्षा चित्रकारी के लिए अधिक उपयुक्त हैं। क्योकि साक्षात् दर्शन करने पर बहुसख्यक वस्तु-विन्यास अनुभवगम्य हो सकता है—किन्तु कल्पना-चक्षुओ द्वारा उसे हृदयगम करना दुष्कर है। इसके विपरीत गति की कल्पना सुगमता से हो सकती है पर पट पर उसका चित्रण अथवा प्रस्तर मे उसका अकन कठिन होता है। एक अग्रेज विद्वान् ने ठीक ही कहा है—"यदि गतिशील व्यापार के क्षेत्र से चित्रकार को बहुत कुछ त्याग देना चाहिए तो कवि के छोडने के लिए भी काफी कुछ है—उसे ऐसी वस्तुओ का जमघट उपस्थित नही करना चाहिए जो एक साथ नेत्रगम्य हो।"[2] अभिप्राय यह कि स्थिर चित्र का पट पर और गतिमय चित्र का काव्य मे अपेक्षाकृत अधिक सफलता से अकन किया जा सकता है। अस्तु !

विकट भट से एक गतिमय चित्र लीजिए—

निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—
वन मे ज्यों, डाले विना दृष्टि किसी ओर त्यों
भोर के भभूके सा प्रविष्ट हुआ साहसी
बलवीर, मन्द-मन्द धीर गति से धरा

---

१. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५६-१५७

2 If, then, there is much in the domain of progressive action which the painter must renounce, there is much also that the poet must renounce He must not paint—must not, that is to say, present a multitude of things which are to be apprehended simultaneously by the eye

—The making of Literature by R A Scott James, Edition 1928, pp. 185-186.

मानों धँसी जा रही थी सदन गभीर था,
उठता शरीर मानों अंगे मे न आता था।[1]

आप देख रहे हैं कि कुल-मर्यादा का अभिमानी क्षत्रिय किशोर किस शान से राज-दरवार मे प्रविष्ट होता है। उपर्युक्त पक्तियाँ पढते ही उसका पुष्ट शरीर और मन्द-मस्त चाल स्पष्टत दृष्टिगत हो जाते हैं। यह तो हुआ एक 'सिह सपूत' की निर्भय गति का चित्र। अव देखिए अश्वारोही नवयुवतियो के सैनिक वेष और गति का सौन्दर्य—

वामाएँ अनेक, दीर्घ शूल लिए दाहिने
हाथ मे, लगाम धरे वाएँ हाथ मे, कसे
क्षीण कटि जटित विचित्र कटि वधों से,
पीठ पर वाल छोड ढाल के से ढग से,
हैम शिरस्त्राण वाँधे, मोतियों की कलगी
जिन पर खेलती है स्वच्छ गुच्छ रूपिणी

* * *

मन्दिर-समान उस सुन्दर शिविर की
करती हैं मण्डल वनाकर परिक्रमा।[2]

हम देखते हैं कवि ने वाछित सामग्री का चयन कर कितने कौशल से सुसज्जित सैनिकाओ के शक्ति-समन्वित सुन्दर रूप और गतिशील चेष्टाओ का चित्र प्रस्तुत किया है। और यदि गति की तीव्रता देखनी हो तो निम्नोद्धृत चित्र का अवलोकन कीजिए—

प्रिया-कठ से छूट सुभट कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-वधू-जन-हस्त स्रस्त से वस्त्रों पर थे।[3]

शत्रुघ्नकृत आपत्सूचक शखनाद को श्रवण करते ही विलासमग्न दम्पति चौंक उठते हैं। आलिगनमुक्त हो वीर योद्धा शस्त्रास्त्र-सज्जित सैनिक रूप धारण करते हैं और तुमुल ध्वनि से आतकित अगनाएँ अपने अस्त-व्यस्त वस्त्रो को सँभालती हैं। यह सव काम दो क्षण मे ही हो जाता है। चेष्टा की गति कितनी तीव्र है। और उसका कैसा स्वाभाविक चित्र है। गतिशीलता का इससे भी अधिक सजीव चित्र देखना हो तो पद्य-प्रवन्ध की 'गोवर्द्धन लीला' से एक उदाहरण लीजिए। इन्द्र के कुपित होने पर व्रज मे घोर वर्षा होने लगी—मेघो का तुमुलनाद और तडित् का भयावना प्रकाश वातावरण की भीषणता मे और भी वृद्धि कर रहे थे। भयभीत गोप-ग्वाल, पशु-पक्षी आश्रय की खोज मे इधर-उधर भागते हैं—व्रज मे हडवडी मच जाती है। उस हडवडी के चित्र के ही दर्शन कीजिए—

आने लगी वन से रँभाती हुई गायें शीघ्र
भागे गोप-वृन्द वेग सारे सरावोर से।

---

१. विकट भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १४
२. सिद्धराज, तेरहवाँ सस्करण, पृष्ठ ७
३. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०५

क्षिप्त सलिलकरण किरणयोग पाकर सदा,
वार रहे हैं रुचिर रत्न-मरिण-सम्पदा।
वन-मुद्रा मे चित्रकूट का नग जड़ा,
किसे न होगा यहाँ हर्ष-विस्मय वडा ?[1]

देखिए निर्जीव पर्वत पर जीवन्त गजराज के व्यापारो का आरोप कितनी कुशलता से हुआ है। यदि झरनो और विकीर्ण जल-सीकरो का सीधा विवरण दे दिया जाता तो उनमे कभी यह सौंदर्य दृष्टिगत न होता। किन्तु इस विषय मे यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण गुप्त जी के काव्य में दो-चार ही मिल सकते हैं—अधिक नही।

## वर्ण-योजना

चित्रण-कला के साथ ही कवि की वर्ण-योजना पर भी विचार कर लेना आवश्यक है—वर्णों की व्यवस्थित योजना ही तो चित्र है। वास्तव मे उसी के काव्य मे उत्कृष्ट चित्रो की उपलब्धि हो सकती है जिसे वर्णों का सूक्ष्म परिज्ञान होगा। सस्कृत मे कालिदास और अंग्रेजी मे कीट्स रगो की व्यवस्था मे बहुत निपुण थे। इसीलिए वे अपने-अपने साहित्य को अत्यन्त समृद्ध चित्र भेंट कर सके हैं। हिन्दी मे भी विद्यापति, सूर, देव और विहारी के नाम इस विषय मे उल्लेखनीय हैं। किन्तु हिन्दी मे इस कला के सब से बड़े कोविद सुमित्रानन्दन पन्त हैं—वे इस क्षेत्र मे अद्वितीय हैं। गुप्त जी पन्त के समान सजग शिल्पकार नही हैं। अत उनके काव्य मे वर्णों की कुशल योजना का सन्धान व्यर्थ है। रगो का प्रसग आने पर वे प्राय. बात को इस प्रकार टाल जाते हैं—

कोट-कलशों पर प्रणीत विहग हैं,
ठीक जैसे रूप वैसे रग हैं।[2]

फिर भी गुप्त जी से कृती कलाकार के काव्य मे वर्ण-योजना के कई अच्छे उदाहरण मिल जाएँगे। इस विषय मे यह स्मरणीय है कि रगो की यह व्यवस्था एकदम अनायास है—सचेष्ट शिल्पकारो के समान यत्नसाधित नही। सब से पहले एक ही रग की उज्ज्वल आभा का अवलोकन कीजिए—

चारु चन्द्र की चचल किरणें खेल रही हैं जल-थल मे
स्वच्छ चाँदनी विछी हुई है अवनि और अम्बरतल मे।[3]

अठखेलियाँ करती हुई चन्द्र किरणो एव विश्व-व्यापी ज्योत्स्ना की धवलता के प्रभाव से पृथ्वी और आकाश श्वेत हैं। अत्यन्त सक्षिप्त होने पर भी यह विवरण कैसा चन्द्रिका-धवल है! यदि रग की और अधिक चमक देखनी हो तो उषाकालीन लालिमा का निम्नलिखित स्फुरण देखिए—

---

१. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ११३
२. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १४
३. पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ५

स्वर्णालोक पूर्ण नभ है,
जो सूना था सु-प्रभ है।

* *

यह सोने की मूर्ति उषा,
नवस्फूर्ति की पूर्ति उषा।

* *

वह ललाट सिन्दूर अहा।
देखो कैसा दमक रहा।

* *

यह सोने का थाल लिये,
उज्ज्वल उन्नत भाल किये।
सृष्टि तुम्हारे लिए खड़ी,
दृष्टि तुम्हारी किधर पड़ी।[1]

यह रक्ताभ उषा का वर्णन है। उषा की दो विशेषताएँ हैं—लालिमा और चमक। कवि ने कितने कौशल से 'स्वर्णालोक', 'सोने की मूर्ति', 'ललाट सिन्दूर' और 'सोने का थाल' आदि शब्दावली का प्रयोग करके लालिम कान्ति का दृश्य उपस्थित किया है। परन्तु मैथिलीशरण जी ज्योत्स्ना, उषा आदि के उज्ज्वल एव उद्भासित रगो की ही नही कालिमामय कलुषित वर्णों की भी योजना करते हैं। जय भारत से एक उदाहरण लीजिए—

सब ओर असित आवरण निशा का घोर घना तम छाया,
छिप गई उसी मे श्रान्त-क्लान्त-सी शिथिल सृष्टि की काया।
मारी मेघो की फूक पवन ने दिव के दीप बुझाये,
गोडे तमसा ने मार्ग सदा के सूझे और सुझाये।[2]

रात्रि का समय है, गहन अन्धकार छाया हुआ है। आकाश मेघो से आच्छादित है—नैश दीप नक्षत्र भी छिप जाते हैं। इसलिए जाने-पहचाने मार्ग भी दिखाई नही देते—चारो ओर कालिमा ही का प्रसार है, सम्पूर्ण सृष्टि उसी मे लीन है। यहाँ कालिमा का वैभव द्रष्टव्य है। पर एक बात आप देख रहे हैं कि आलोच्य कवि के चित्रो मे रगो की जगमगाहट नही है—वर्णों की प्रखरता का अभाव है। कवि के जीवन मे भी जगमगाहट एव प्रखरता ग्राह्य नही और काव्य मे भी उसी की प्रतिच्छाया मिलती है।

अभी तक हमने जो उदाहरण लिए उनमे एक ही रग का वैभव था। उसका निरूपण अपेक्षाकृत सरल होता है। कवि के वर्ण-परिज्ञान की परीक्षा तो वास्तव मे अनेक वर्णों की योजना मे होती है। हमारे कवि की विभिन्न वर्णों की योजना प्राय परम्परागत है, यथा—

---

१. वैतालिक, सस्करण संवत् २००८, पृष्ठ ८-९

२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०३

नाक का मोती अधर की कान्ति से
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है[1]
आदि ।

फिर भी कहीं-कहीं सर्वथा नूतन एवं अछूते प्रयोग मिल जाएँगे । ऐसे प्रयोग ही किसी कवि की शक्ति के परिचायक हुआ करते हैं । वैतालिक की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

हरे पाँवड़े बड़े-बड़े
जिनमें लाखों रत्न जड़े
बिछा चुकी है वसुन्धरा[2]

यहाँ पर कवि ने घास की हरीतिमा और हिम-बिन्दु की श्वेत आभा का आभास दिया है। वर्ण-योजना का अच्छा प्रयास है । किन्तु वैतालिक तो आरंभिक कृति है । बाद की रचनाओं में आप वर्णों की और भी कुशल योजना देखेंगे । एक उदाहरण साकेत से उपस्थित करता हूँ—

क्षिप्त सलिल कण किरण योग पाकर सदा
वार रहे हैं रुचिर रत्न-मणि-सम्पदा[3]

चमकते हुए जलबिन्दु सूर्य की किरणों के प्रभाव से और भी दीप्त हो जाते हैं । उस समय वे जलकण ही नहीं, रत्न और मणि बन जाते हैं । उनकी वह सतरंगी आभा देखते ही बनती है—वर्णों की कैसी सूक्ष्म योजना है ! अनेक वर्णों की संश्लिष्ट और सूक्ष्म-योजना का एक और उदाहरण लीजिए—

उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी
अंग मानों फूल, कच भृंग हरी शाटिका
ओस मुसकान बन ओठों पर आई थी
सुरभि-तरंग वायु-मण्डल में छाई थी[4]

सुन्दरी हिडिम्बा का चित्र है । उसके गौर वर्ण, कृष्ण अलकों, हरी साड़ी और श्वेत मुस्कराहट की योजना में कवि ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है । सभी रंग अपनी अलग आभा विकीर्ण कर रहे हैं । कौशल है उन सब के संश्लेषण में—एक साथ सभी की अनुभूति में ! अन्तिम पंक्ति द्वारा तो कवि ने गंध का भी अनुभव कराने का प्रयत्न किया है । पूर्वोद्धृत पंक्तियों के रंग में थोड़ी चटक है । किन्तु कहीं-कहीं रंगों को बहुत ही हल्का करके मिलाया गया है, यथा—

---

१ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २१
२ वैतालिक, संस्करण संवत् २००८, पृष्ठ ६
३ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११३
४. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२-१३

झलकना आता अभी तारुण्य है
आ गुराई से मिला आरुण्य है[1]

स्वास्थ्य, सौंदर्य और यौवन के मिश्रण मे शरीर मे हल्की रगीनी आ गई है। नव-यौवन की उस अरुणाभ गुराई मे सचमुच कितना आकर्षण होगा। अरुण एव गौर वर्णो का यह मिश्रण निम्न पक्तियो मे और भी सूक्ष्म हो गया है—

अरुण पट पहने हुए आह्लाद मे,
कौन यह बाला खडी प्रासाद मे ?
प्रकट-मूर्तिमती उषा ही तो नहीं ?
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं।
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गई।[2]

विहान की मधुर वेला मे अरुण पट भूषित प्रसन्नवदन उर्मिला प्रासाद मे खडी है। स्वस्थ और सुन्दर शरीर से स्वर्णिम आभा फूट रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मूर्तिमन्त उषा ही हो। अभिप्राय यह कि शरीर की गुराई, वस्त्र की अरुणाई और वातावरण की दमक सब मिलकर एक हो गए हैं—अपनी-अपनी आभा एक साथ विकीर्ण कर रहे हैं। रगो की यह योजना कितनी कोमल-मधुर है। इनसे आगे की पक्तियो में तो कवि स्पर्श का भी अनुभव करा देता है—

कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला।[3]

अन्तत निष्कर्ष यह कि चित्रण एव वर्ण-योजना आदि की ओर गुप्त जी का विशेष ध्यान नहीं है। विद्यापति और सूर तथा देव और बिहारी आदि के समान चित्रण शक्ति इस कवि मे नही है। उसकी कल्पना में पन्त के समान सभी भावनाएँ मूर्तरूप मे नहीं उपस्थित होती। वर्णों का भी सूक्ष्म परिज्ञान मैथिलीशरण जी को नही है। चटकीले रगो एव रगो की जगमगाहट का तो अभाव ही है। फिर भी वे कुछ अच्छे चित्र खींच सके हैं, कुछ स्थलो पर उनकी वर्ण-योजना भी स्तुत्य बन पडी है। यह उनकी प्रकृत कवि-प्रतिभा का प्रमाण है। उनके चित्रो की सबसे बडी विशेषता है वैविध्य। जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रो से उनकी सामग्री का चयन हुआ है। यही पर यह भी उल्लेख्य है कि गुप्त जी की चित्रण शक्ति मे उत्तरोत्तर विकास होता गया है। उनके प्रौढतर काव्यो मे आपको अपेक्षाकृत अनेक उत्कृष्ट चित्र मिलेंगे। चित्र तो आरभिक काव्य मे भी है—किन्तु उनमे अपरिपक्वता स्पष्टत परिलक्षित होती है। उपर्युक्त विवेचन के अन्तर्गत उदाहरणो के चयन मे इस तथ्य के स्पष्टीकरण का बराबर ध्यान रखा गया है।

---

१. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६
२. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६
३. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६

## अप्रस्तुत-विधान

वर्ण्य विषय की स्पष्टता एव सुबोधता के लिए कविगण अप्रस्तुत-योजना करते हैं प्रकृत अथवा प्रस्तुत की गोचरता एव बोधगम्यता के निमित्त सभी कवियो ने जीवन के नान किन्तु परिचित क्षेत्रो से अप्रस्तुत का विधान किया है। वस्तुत अप्रस्तुत-विधान अभिव्यक्ति को रमणीय एव सबल बनाने का सबसे सहज तथा उपयोगी साधन है।[1] इस अप्रस्तुत-विधान का मुख्य आधार है साम्य। पर पडित रामदहिन मिश्र के अनुसार अप्रस्तुत-योजन के मूल मे जन्म-जन्मान्तरो की सचित वासना काम करती है।[2] लेकिन यह वासना तो अप्रस्तुत-योजना ही क्या, काव्य मात्र के मूल मे अवस्थित रहती है। वास्तव मे जब हम अप्रस्तुत-योजना के मूल आधार की बात करते हैं तो अभिप्राय हमारा यह होता है कि अप्रस्तुत के चयन मे कवि किस बात का विशेष ध्यान रखता है। इस दृष्टि से अप्रस्तुत का प्रमुख आधार साम्य ही है—किसी भी भाषा के साहित्य की अप्रस्तुत-योजना के मूल मे अधिकाशत आपको किसी न किसी प्रकार की समता ही मिलेगी। साम्य के प्रमुख प्रकार तीन हैं रूप-साम्य अथवा सादृश्य, धर्म-साम्य अथवा साधर्म्य और प्रभाव-साम्य। गुप्त जी के काव्य से इन तीनो प्रकार के साम्य के उदाहरण लीजिए

### सादृश्य

प्रस्तुत के रूप एव आकार को स्पष्ट करने के लिए सदृश अप्रस्तुत का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि आज का कवि रूप-रग के सादृश्य की अवहेलना करने लगा है—वह साधर्म्य एव प्रभाव-साम्य के प्रति अधिक सचेष्ट है, फिर भी सादृश्य का सर्वथा त्याग कोई नही कर सका—क्योकि वस्तु के स्वरूप का बोध कराने के लिए इसका प्रयोग अनिवार्य है। अनादि काल से कवि-समाज सादृश्य का निरूपण करता आ रहा है। परिणामत बहुत से उपमान रूढ हो गए—किन्तु कालान्तर मे अतिरिक्त प्रयोग के फलस्वरूप उनका सारा सौदर्य बासी पड गया। आज के पाठक को उन पिष्टपेषित उपमानो मे कोई रस नही मिलता। अत अब सजग कवि उन्हे सयत्न बचाता है—वह अपनी रूप-चेतना को सवेदनीय बनाने के लिए नवीन अप्रस्तुतो की कल्पना करता है। लेकिन गुप्त जी के हृदय मे तो परम्परा के प्रति महती श्रद्धा है—उन्हे उसका सर्वथा त्याग स्वीकार्य नही। अतएव उनके काव्य मे 'कोमलता कज की है, कान्ति है कलाधर की'[3] आदि परम्परासिद्ध उपमानो का नियोजन आपको अनायास ही मिल जाएगा। साकेत जैसे प्रौढतर काव्य मे भी ऐसे अप्रस्तुतो का अभाव नही है। उर्मिला का रूपचित्रण करता हुआ कवि लिखता है—

> **पद्मरागों से अधर मानों बने,**
> **मोतियों से दाँत निर्मित हैं घने।**[4]

---

१. देव और उनकी कविता · डा० नगेन्द्र, सस्करण सन् १९४९, पृष्ठ १८२
२ काव्य मे अप्रस्तुत योजना · रामदहिन मिश्र, प्रथम सस्करण की भूमिका
३ तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ९७
४. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १९

पद्मराग और मोती क्रमश ओष्ठ तथा दाँतो के लिए प्रसिद्ध उपमान हैं। पद्मराग की लालिमा तथा मौक्तिक की धवल कान्ति से इन्कार नही किया जा सकता। किन्तु सतत प्रयोग ने इन उपमानो से सौंदर्योद्भावना की शक्ति का निराकरण कर दिया है। अत इनके प्रयोग मे असमर्थ परम्परा का पालन मात्र है—आज के पाठक को ऐसे उपमानो मे सौंदर्य की कुछ भी अनुभूति नही होती।

परम्परा-भक्ति के अतिरिक्त कवि की रूप-चेतना भी विशेष सूक्ष्म एव प्रखर नही है। फिर भी मैथिलीशरण प्रतिभासम्पन्न कवि हैं—उनके काव्य मे बिना प्रयास ही सादृश्य के कुछ अच्छे प्रयोग हो गए हैं। सबसे पहले आकार के सादृश्य का एक उदाहरण लीजिए—

"प्यार किया है तुमने केवल !" सीता यह कह मुसकाईं,
किन्तु राम की उज्वल आँखें सफल सीप-सी भर आईं।[1]

अश्रु-पूर्ण नेत्रो की तुलना सफल सीप से की गई है। अश्रुयुक्त नेत्र और मोतीयुक्त सीप मे वर्ण-साम्य भी है—किन्तु कवि यहाँ आकार का ही बोध कराना चाहता है। वास्तव मे इस उद्धरण का सौंदर्य आकार के साम्य मे ही निहित है। पर आकार-साम्य सादृश्य का स्थूल रूप है। सादृश्य का वास्तविक सौंदर्य तो रग और रूप के साम्य मे प्रकट होता है। गुप्त जी के काव्य मे इसका भी वैभव देखा जा सकता है। गुरुकुल की निम्नाकित पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

तोपो के उस धुवांधार मे,
शस्त्र चमकते थे इस भाँति,
विद्युद्दाम दमक उठते हैं
घिरते मेघों मे जिस भाति।[2]

तमसावृत युद्ध-स्थल मे चमकते हुए शस्त्रो वरन् चमक-चमक कर अन्धकार मे विलीन हो जाने वाले शस्त्रो के स्वरूप बोध के लिए कवि कैसा सटीक उपमान प्रस्तुत करता है। जिसने एक ओर घोर अन्धकार मे चमक-दमक कर विलीन होने वाले शस्त्र देखे हैं—और दूसरी ओर मेघाच्छादित आकाश मे तडित् का तीव्र-तीक्ष्ण पर क्षणिक प्रकाश देखा है वही दोनो के सादृश्य का अनुभव कर सकता है। उपर्युक्त पक्तियो मे तोपो की गडगडाहट से थोडी कर्कशता आ गई है। एक कोमल-करुण उदाहरण लीजिए—

होकर भी स्वर्गेश्वरी घोर चिन्ता-चर्विता,
हो उठी प्रदीप्त आत्म-गौरव से गर्विता।
दीख पडी अश्रुमुखी धूल-धुली माला-सी,
किंवा धूम-राशि मे से जागी हुई ज्वाला-सी।[3]

इन्द्र के स्वर्ग-भ्रष्ट और नहुष के इन्द्र हो जाने पर महादेवी शची घोर चिन्ता मे मग्न

---

१ पंचवटी, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ४

२. गुरुकुल, सस्करण सवत् २००४, पृष्ठ १६६

३. नहुष, दशमावृत्ति, पृष्ठ २०

हैं। वे धूल से आवृत कुसुम के समान म्लान अथवा धूम्र-निहित वह्नि सदृश मलिन हैं। इस दुख के अवसर पर असहाय अवस्था मे उन्हे अपने वीर-कृत्य स्मरण हो आते हैं। फलत वे अपने को अवला व अशक्त न समझकर आत्म-गौरव से दीप्त हो उठती हैं। शची की इस अकस्मात् परिवर्तित दशा की स्पष्ट अनुभूति कराने के लिए कवि ने दो उपमाएँ दी हैं रुदनरत शची आत्मगौरव-सभूत दीप्ति के कारण धुली हुई माला के समान प्रतीत होने लगी ( अश्रुबिंदु पुष्प-स्थित जलकण दिखाई दिए ) या फिर चिन्ता की म्लानता मे तेज के उद्भास से वे घनीभूत धूम से समुद्भूत अग्नि-शिखा तुल्य शोभायमान हुईं। मैं समझता हूँ कि ये दोनो उपमाएँ कवि-हृदय मे उत्थित शची के जटिल रूप को सवेद्य वनाने मे सक्षम हैं। यहाँ पर मैं साकेत के बहुप्रशसित सादृश्य-निदर्शन को उदाहृत करने का लोभ भी सवरण नही कर सकता—

> **जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,**
> **हत जिसकी पकज-पक्ति, अचल-सी काया।**
> **उस सरसी-सी, आभरण रहित, सितवसना,**
> **सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड रसना।[1]**

अलकारहीना, श्वेतवस्त्रा विधवा कौशल्या के अभिशप्त व्यक्तित्व और हिमाच्छादित, पद्मपुजविहीन सरसी के विनष्ट अस्तित्व मे अद्भुत सादृश्य है। डा० नगेन्द्र इस उद्धरण के सादृश्य-सौंदर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते हैं—"इस चित्र मे कवि ने कौशल्या के विधवा-वेश को अकित करने मे सादृश्य का बडा ही सूक्ष्म-विधान किया है। उसमे सादृश्य के कई तत्व हैं, इसीलिए रूप का विंव बडा पूर्ण उतरा है।"[2]

## साधर्म्य

साधर्म्य का आधार है धर्म अथवा गुण का साम्य। सादृश्य मे तो कवि का उद्देश्य पाठक को रूप-रग और आकार-प्रकार का वोध कराना ही होता है। किन्तु साधर्म्यमूलक उपमानो के द्वारा वह प्रस्तुत के गुण अथवा धर्म को प्रेषणीय बनाता है। और स्पष्ट शब्दो मे साधर्म्य के प्रयोग द्वारा कवि वस्तु के धर्म-विषयक आत्मस्थ अनुभूति को पाठक के लिए सवेदनीय बनाता है। आज सादृश्य का महत्व उतना नही रह गया है, शायद सदृश उपमानो के प्राय रूढ हो जाने से उनमे रस नही रहा। अव तो अधिकाश अप्रस्तुतो के मूल मे आपको धर्म-साम्य ही मिलेगा। आधुनिक कवि बडी कुशलता से साधर्म्य का प्रयोग करता है। गुप्त जी ने भी अपनी रचनाओ मे इसका सफल उपयोग किया है। प्रमाण के लिए हम यहाँ केवल दो-तीन उदाहरण उपस्थित करेंगे—

> उड़ते प्रभजन से यथा तप मध्य सूखे पत्र हैं,
> लाखों यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं।[3]

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७३

२ साकेत एक अध्ययन, पञ्चम सस्करण, पृष्ठ १८१-१८२

३ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ८७

सूखे पत्तो और भूखे भिखारियो मे कोई सादृश्य नही है। दोनो मे कृशता अवश्य है—पर केवल उसके बल पर इनमे रूप-साम्य नही मान सकते। वास्तव मे दोनो मे समता है उडने की, मारे-मारे फिरने की। कवि ने शुष्क पत्तो के उडने की उपमा द्वारा भूखे भिखारियो की दुर्दशा को स्पष्ट किया है। ये पक्तियाँ मैथिलीशरण जी की आरम्भिक रचना से उद्धृत की गई हैं। अत इनमे विशेष चारुत्व का सधान व्यर्थ है। पचवटी की निम्न पक्तियो मे भी साधर्म्य की छटा देखिए—

हुई विचित्र दशा रमणी की सुन यो एक एक की वात,
लगें नाव को ज्यो प्रवाह के और पवन के भिन्नाघात।[1]

लक्ष्मण शूर्पणखा को पूज्या मानकर उससे प्रेमालाप करने मे इन्कार कर देते हैं। राम उसको अनुजवधू मानकर उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर देते हैं। उन दोनो के तर्कों मे उलझी हुई शूर्पणखा की स्थिति ठीक ऐसी ही है जैसे कि कोई नाव वायु और जल के सम्मुख विरोधी प्रवाहो मे फँसकर निकलने का रास्ता न पा रही हो। शूर्पणखा की अवर्णनीय दशा के स्पष्टीकरण के लिए साधर्म्य के आधार पर कवि ने कैसे सटीक अप्रस्तुत की योजना की है। यशोधरा के निम्न उद्धरण मे साधर्म्य का द्विगुणित प्रयोग हुआ है—

रवि पर नलिनी की, पितृ-छवि पर मौन दृष्टि तव जा रही,
वहाँ अंक मे मधुप, यहाँ मैं, गिरा एक गुण गा रही।[2]

जय भारत से भी साधर्म्य का एक उदाहरण लीजिए—

धुँआ रहा था जो भीतर ही गीला-सा ईंधन पाकर,
हुआ प्रज्वलित दुर्योधन का द्वेषानल झोंका खाकर।[3]

इन्द्रप्रस्थ-स्थित 'मयकृत सभाभवन' के दर्शन कर ईर्ष्या-मलिन दुर्योधन का कल्याणार्द्र द्वेष भडक उठा जैसे गीले ईंधन की आग हवा के झोंके से सुलग उठती है। पाण्डवो की समृद्धि देखकर जागृत दुर्योधन के आर्द्र द्वेष मे और वायु के झोके से प्रज्वलित गीले ईंधन की आग मे सादृश्य का एकदम अभाव है। समता है केवल एक साथ भडक उठने के धर्म की। कवि ने सूक्ष्म वात को स्थूल अप्रस्तुत की सहायता से सहज बोधगम्य बना दिया है। बस, द्वापर से एक उदाहरण और देख लीजिए—

•• •• सील-सी लोकालय मे
रूढ़ि बैठ जाती है[4]

जैसे किसी स्थान की सील समाप्त होने मे नही आती—वह अन्दर ही अन्दर गहनतर गह्वरो मे प्रविष्ट होती चली जाती है ऐसे ही जब कोई चीज रूढि बन जाती है तब उसे

१. पंचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ३६
२. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ११७
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १३५
४. द्वापर, सस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ४३

उखाडना असभव हो जाता है—वह दिन प्रतिदिन समाज मे घर करती चली जाती है। सील और रूढि का यह साधर्म्य कितना सूक्ष्म-तरल है!

## प्रभाव-साम्य

साहश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य मे प्रभाव-साम्य सर्वाधिक श्रेष्ठ और सूक्ष्मतम है। इसकी योजना प्रस्तुत और अप्रस्तुत के प्रभाव की समानता को ध्यान मे रखकर की जाती है। "इसका प्रयोग व्यक्ति अथवा वस्तु के गुण को सवेदनीय बनाने के स्थान पर किसी प्रभाव की अनुभूति को स्पष्टतर करने के निमित्त होता है।"[1] साहश्य और साधर्म्य से प्रभाव की अनुभूति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इसीलिए उसे स्पष्टतर करने वाले प्रभाव-साम्य का इतना महत्त्व है। लक्षणा के पुजारी आधुनिक कवि की अधिकाश अप्रस्तुत-योजना का आधार प्रभाव-साम्य ही है। इसे देखकर प्राचीनतावादी पडित भी हर्षित है—"प्रसन्नता की बात है कि छायावादी युग की कविता प्राय प्रभाव साम्य पर ही अधिक दृष्टि रखकर की गई है।"[2] गुप्त जी के काव्य मे भी इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हुआ है। कुछ उदाहरण देखिए—

**जी रही हूँ देवराज्ञी कैसे मरे अमरी,**
**मडरा रही है शून्य वृन्त पर भ्रमरी**[3]

इन्द्र-वियुक्त शची के लिए नीरस जीवन भार हो गया है—उन्हे अमरत्व के अभिशप्त वरदान को वहन करना पड रहा है। वे उसी प्रकार उल्लासरहित हैं जैसे कि निष्पुष्पा लता पर मडराती हुई कोई भृ गी। इन्द्राणी और भ्रमरी मे साहश्य नही है। यहाँ साधर्म्य भी आपको नही मिलेगा। किन्तु अनाथ शची और शून्य वृन्त पर मडराती हुई भ्रमरी दोनो का अन्तिम प्रभाव मन पर एक ही पडता है—यही इन दोनो का साम्य है। देवराज्ञी की विषम स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इससे अधिक उपयुक्त उपमान शायद और नही हो सकता। जय भारत की निम्न पक्तियो मे भी प्रभाव-साम्य का ही चमत्कार है—

**खलबल से व्याकुल कुल-ललना वाष्प वेग से बफरी सी,**
**अपने खिचते केशजाल मे तडप रही थी शफरी सी!**[4]

दु शासनकृत केश-कर्षण के समय व्याकुल द्रौपदी जाल मे अवरुद्ध मछली के समान छटपटा रही थी। यहाँ द्रौपदी और मीन के छटपटाने मे स्थूल साधर्म्य है पर उसमे कुछ सौंदर्य नही है। सौंदर्य निहित है दोनो के सम्मिलित प्रभाव की समता मे। जिन्होंने कभी जाल मे फँसकर खिचती हुई मछली की तडफडाहट को देखा है, और जो बाल पकड कर खीची जाती हुई द्रौपदी की आकुल दशा की कल्पना कर सकते हैं वे लोग ही यह बता सकेंगे कि दोनो के सम्मिलित प्रभाव मे कितना अद्भुत साम्य है।

---

१ देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, संस्करण सन् १९४९, पृष्ठ १८५
२ काव्य मे अप्रस्तुत योजना प० रामदहिन मिश्र, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ९४
३. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ९
४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १३६

अर्जन और विसर्जन की निम्न पक्तियो पर भी दृष्टिपात कीजिए—

टूटती ज्वलन्त एक तारा-तुल्य अपनी
लीक कर जाने के लिये ही तुम सहसा
मेरे शून्य भाग्य मे हा ! उदित हुई थी क्या ?[1]

एक अस्वीकृत प्रेमी अपनी प्रेमिका को ये शब्द कहता है । टूटती हुई तारिका और प्रेमी को छोडकर जाती हुई प्रेयसी मे सादृश्य तो एकदम नही है—साधर्म्य भी न होने के बराबर है किन्तु साम्य है प्रभाव का । आकाश से टूटती हुई तारिका दर्शक के मन पर एक कोमल करुण लीक-सी छोड जाती है—ठीक ऐसा ही सघन प्रभाव मन पर उस समय पडता है जब कोई प्रेमिका अपने प्रेमी को त्याग कर चल दे । प्रभाव-साम्य का यह निदर्शन कितना अनुभवगम्य है। साकेत से भी प्रभाव-साम्य के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं । किन्तु मैं केवल एक उदाहरण देकर ही सन्तोष कर लेता हूँ—

हिया-पींजरा शून्य माँ को मिला,
गया सिद्ध मेरा, रही मैं शिला ।[2]

यह नव-वय मे ही विश्लिष्ट उर्मिला की आत्माभिव्यजना है। वह अपने को सिद्ध-शून्य शिला के समान मानती है । यह प्रयोग कितना लाक्षणिक है ! पति-वियुक्त उर्मिला के लिए सिद्ध-शून्य शिला कैसा सटीक उपमान है ! विरहिणी का अवसाद से जडीभूत जीवन मन पर जो करुण प्रभाव छोड जाता है, सिद्ध रहित शिला की करुण शून्यता और विजन वातावरण की भयानकता भी वही प्रभाव डालती है । प्रभाव-साम्य का यह करुण-माधुर्य निश्चय ही आकर्षक है ।

साकेत से ही सादृश्य के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत 'जिस पर पाले का एक पर्त सा छाया' आदि पद्य मे भी प्रभाव-साम्य का सौंदर्य देखा जा सकता है ।—और 'रथ मानो एक रिक्त घन था' (साकेत) आदि छन्द तो प्रभाव-साम्य के उत्कृष्ट निदर्शन के रूप मे पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ही चुका है । प्रदक्षिणा से एक उद्धरण और देख लीजिए—

मध्य भाग मे कुटिल भाग्य-सा
रक्खा था हर का कोदण्ड ।[3]

सीता-स्वयवर प्रसग चल रहा है । शिव-धनुप मच पर रखा हुआ है—वह वक्र है । उसकी वक्रता के द्योतनार्थ कवि कुटिलता के लिए प्रसिद्ध अप्रस्तुत—भाग्य—का विधान करता है । इस प्रकार धनुप का अत्यन्त टेढा-मेढा आकार स्पष्ट होता है । दूसरे धनुप की गति भी भाग्य के समान ही कुटिल है अर्थात् जैसे भाग्य का कुछ पता नही चलता—उससे पार पाना असम्भव है, वैसे ही शिव-धनुप से पार पाना भी कठिन है । तीसरे भाग्य की कुटिलता

---

१. अर्जन और विसर्जन, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५
२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २३६
३. प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृष्ठ १५

का उल्लेख होते ही मानव-मन कुछ असमर्थता का-सा अनुभव करने लगता है। अशक्ति और असामर्थ्य की-सी वैसी ही अनुभूति शभुचाप की बात चलने पर भी होती है। अत दोनो का प्रभाव भी एक ही है। यह सब कहने का अभिप्राय यह कि प्रदक्षिणा के इस उदाहरण मे सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य तीनो का स्पृहणीय सगम है। अस्तु!

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् मुझे यह कहने मे तनिक भी हिचकचाहट नही है कि गुप्त जी को औपम्य-मूलक अलकार सर्वाधिक प्रिय हैं। चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से रहित कवि के लिए शायद सबसे उपयोगी भी वे ही हैं! मैथिलीशरण जी के काव्य मे औपम्य-मूलक अलकारो के उदाहरण प्रचुर मात्रा मे यत्र-तत्र विकीर्ण हैं—एक से एक श्रेष्ठ उदाहरण पुष्कल परिमाण मे उपलब्ध हैं। ये पृष्ठ लिखते समय मेरे सामने चयन की जटिल समस्या बराबर बनी रही है। विवेचन से अधिक समय चयन मे ही लगा है।—और अब भी हमे पूर्ण सतोष नही है। अनेक अनुद्धृत पक्तियो के प्रति लेखक के मन मे मोह बना हुआ है—किन्तु विस्तारभय से उन्हे छोडना पड रहा है।

इस विषय मे इतना और वक्तव्य है कि कवि ने जीवन और जगत् को अपनी समग्रता मे ग्रहण किया है अत उसका अप्रस्तुत-योजना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसी कारण आपको उसके अप्रस्तुतो मे अत्यधिक विभिन्नता मिलेगी। एक ओर जहाँ नित्यप्रति के साधारण जीवन से गृहीत उपमान मिलेंगे—

**बस दीप से कज्जल सदृश निज पूर्वजो से हम हुए।**[1]

या फिर,

**चिन्तामयी मानो चिता,**
**होती सुता है हे पिता।**[2]

वहाँ समाज और राजनीति के व्यापक क्षेत्र से भी—

**बाहर से कुछ दीखे न आज,**
**सब रहे किन्तु भीतर विराज।**
**रम रहा व्यक्ति मे ज्यो समाज।**[3]

और प्रकृति की विस्तीर्ण क्रोड से लिए गए अप्रस्तुत तो सख्यातीत ही हैं। केवल एक उदाहरण लीजिए—

**बैठी है सीता सदा राम के भीतर,**
**जैसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर!**[4]

एक बात और! गुप्त जी के काव्य-शिल्प का शनै शनै विकास हुआ है। साकेत के समय मे ही उन्हे प्रौढि की उपलब्धि हो सकी थी। इसीलिए साकेत तथा उसके पश्चात् की

---

१. भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ १४७
२. वक-संहार, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १५
३. कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ २४
४. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६३

रचनाओ से उद्धृत उदाहरणो मे आपको प्रौढि एव परिमार्जन के दर्शन होगे। किन्तु उनसे पहली रचनाओ—विशेषत पञ्चवटीपूर्व कृतियो—मे से जो उद्धरण प्रस्तुत किए गए है वे अपरिपक्व और दीप्तिहीन मिलेंगे। उनका चयन केवल विकास-क्रम के स्पष्टीकरण के निमित्त किया गया है।

## मूर्त्त और अमूर्त्त अप्रस्तुत

स्वरूप-बोध तथा भाव-तीव्रता की स्पष्टतर अनुभूति के निमित्त कविगण क्रमश मूर्त्त एव अमूर्त्त उपमानो की योजना करते हैं। इसके चार रूप हो सकते हैं मूर्त्त का मूर्त्त-विधान, अमूर्त्त का अमूर्त्त-विधान, मूर्त्त का अमूर्त्त-विधान तथा अमूर्त्त का मूर्त्त-विधान। इनमे से प्रथम दो तो सुगम और सहज-साध्य है—साधारण कवियो की रचनाओ मे भी उनका उपयोग देखा जा सकता है। किन्तु अन्तिम दो का वैभव श्रेष्ठ कलाकारो की कृतियो मे ही उपलब्ध होगा। वास्तव मे इन दो के विधान मे ही कवि-कौशल की परीक्षा होती है। आलोच्य कवि की रचनाओ मे इनके उदाहरण प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध हैं। पहले मूर्त्त के अमूर्त्त-विधान के कुछ उदाहरण लीजिए—

> चला धन्य गुरु विजय पथ वह
> यहाँ यवन भय के ही सग;
> ग्रहणकाल भी दे जाता है
> मन्त्रसिद्धि का योग अभग।[1]

यवनो के अत्याचारो से पीडित समाज मे स्वरक्षा के निमित्त 'पथ' का शुभ जन्म हुआ। उस दूषित वातावरण मे भी श्रेय का उद्भव हुआ जैसे कि ग्रहण के अमगल काल मे ही कतिपय विशिष्ट मन्त्रो की सिद्धि का मगल अवसर मिलता है। यहाँ यवन-राज्य मे पथ का चल निकलना यह उपमेय है जो मूर्त है। इस जटिल तथ्य को बोधगम्य बनाने के लिए ग्रहणकाल मे मन्त्रसिद्धि के अवसर जैसा अमूर्त उपमान ही उपयुक्त है। सिद्धराज से एक उद्धरण देखिए—

> हाथी पर बैठा सिद्धराज जयसिंह था,
> भाव मानो मूर्तिमान हो उठा था छन्द मे।[2]

स्वास्थ्य और सौंदर्य की प्रतिमा राजा जयसिंह गजराज पर सवार है—गज भी सर्वगुणसम्पन्न है। हाथी सवार के और सवार हाथी के अनुकूल है। परस्पर की इस अनुकूलता से सौंदर्य बिखर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अनुकूल छन्द पाकर भाव-सौंदर्य उत्कीर्ण हो रहा हो। अप्रस्तुत अनुभूतिगम्य अतएव अमूर्त है—किन्तु उपमेय के मूर्त सौंदर्य का बोध कराने मे सक्षम है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जो स्वय अमूर्त है वह मूर्त की अनुभूति मे कैसे सहायक होगा? इसका समाधान यह है कि कुछ अमूर्त भावनाएँ हमारे मन मे मूर्त

---

१. गुरुकुल, सस्करण सवत् २००४, पृष्ठ ३४
२. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १२२

वस्तुओ से भी अधिक स्पष्ट होती हैं। पूर्वानुभूत होने के कारण वे अमूर्त होते हुए भी अनेक मूर्त किन्तु अननुभूत तथ्यो की अपेक्षा हमारे निकटतर होती हैं। इसीलिए वे उन तथ्यो को हृदयगम करने मे सहायक सिद्ध होती हैं।

अजलि और अर्घ्य की निम्न पक्ति मे भी मूर्त महात्मा गाँधी के लिए प्रयुक्त उपमान अमूर्त ही हैं—

आया था हम मे तू जय-सा
किन्तु अभय-सा चला गया[1]

और—

बुरे स्वप्न मे वीर आगया उद्बोधन-सा[2]

—तो गुप्त-साहित्य मे मूर्त्त के अमूर्त्त-विधान का एक श्रेष्ठ निदर्शन है ही। यह पक्ति लक्ष्मण-शक्ति प्रसग से उद्धृत है। शोक-सतप्त राम के शिविर मे सजीवनी लेकर हनुमान के आते ही आशा की एक लहर दौड जाती है जैसे दुस्स्वप्न की विभीषिका मे जागरण से उल्लास का सचार हो जाता है। कैसा सटीक और भावाभिव्यजक उपमान है। किन्तु यदि पन्त के समान अमूर्त अप्रस्तुतो की झडी देखनी हो तो द्वापर से गोपियों की गोष्ठी के लिए नियोजित निम्नलिखित उपमानो का अवलोकन कीजिए—

श्रम कर जो क्रम खोज रही हो,
उस भ्रमशीला स्मृति-सी,
एक अतर्कित स्वप्न देखकर,
चकित चौंकती धृति-सी,
हो होकर भी हुई न पूरी,
ऐसी अभिलाषा-सी;
कुछ अटकी आशा सी, भटकी,
भावुक की भाषा-सी;
सत्य-धर्म-रक्षा हो जिससे,
ऐसी मर्म मृषा-सी;
कलश कूप मे, पाश हाथ मे,
ऐसी भ्रान्त तृषा-सी।
उस थकान सी ठीक मध्य मे,
जो पथ के आई हो,

* * *

१ अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३६
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३१८

तुल्य दु:ख मे हत-ईर्ष्या-सी,
विश्व व्याप्त समता-सी ![1]
आदि ।

अब अमूर्त्त के मूर्त्त-विधान के भी दो-तीन उदाहरण देखिए—

फिर भी एक विषाद वदन के तपस्तेज मे पैठा था,
मानो लोह-तन्तु मोती को वेध उसी मे बैठा था ।[2]

माण्डवी के मुख-मण्डल का चित्रण है—वह तप के तेज से दीप्त है । पर उस दीप्ति मे विषाद का मालिन्य भी है । इस म्लान दीप्ति की स्पष्टतर अनुभूति के लिए—भावमय अमूर्त्त रूप को सहज-ग्राह्य बनाने के निमित्त कवि मूर्त्त उपमान उपस्थित करता है मानो वह लौह-तन्तु-विद्ध मोती हो । मौक्तिक की सहज कान्ति के प्रसार मे जैसे लौह-तन्तु बाधा उपस्थित करता है वैसे माण्डवी के तेज-दीप्त मुख के अकृत्रिम सौन्दर्य का प्रकाश विषाद की मलिनता से व्याहत है । इस प्रकार कवि ने बडे चातुर्य से एक अमूर्त्त तथ्य को मूर्तिमन्त कर दिया है । जय भारत से भी एक उदाहरण देखिए—

यदि जीवित होती, क्या कहती माद्री मुझ से आज,
शल्य-विद्ध-सा विकल हो गया विवश शल्य नरराज ।[3]

दुर्योधन के कपट-कृत्य के वशीभूत होकर मद्रराज शल्य को उसकी ओर होना पडता है । अनीप्सित कर्म करने की विवशता के कारण उन्हे अत्यधिक मानसिक कष्ट है । वे स्वभागिनेय पाण्डवो के कल्याणकामी हैं—किन्तु प्रतिश्रुत होकर उनको पक्ष लेना पडता है कुरुराज दुर्योधन का । मन और शरीर के इस असामजस्य के कारण, परिस्थिति के भीषण वैषम्य के कारण वे विवश हैं । उनकी वृत्तियाँ विकीर्ण हैं । —और यदि उनकी बहन माद्री जीवित होती तो इस तरह शत्रु का पक्ष लेते देखकर वह क्या कहती—यह ध्यान आते ही तो वे तडप उठते हैं । महाराज शल्य की इस तडफडाहट और अकुलाहट का उपमान है शल्यविद्ध व्यक्ति । अभिप्राय यह कि उनके मन मे द्वन्द्वजनित इतनी पीडा और व्याकुलता थी जितनी कि शल्य मे विद्ध होने पर किसी के शरीर मे होती है । यहाँ कवि ने मन की अमूर्त्त भावना के लिए मूर्त्त अप्रस्तुत की योजना करके उसे गोचरता प्रदान की है । मगल-घट मे सकलित 'भीष्म प्रतिज्ञा' शीर्षक कविता के निम्नोद्धृत पद्य मे भी यही बात देखी जा सकती है—

यों देख शोभा उसकी गम्भीर,
तत्काल भूपाल हुए अधीर ।
क्या देख पूर्णेन्दु नितान्त कान्त,
कभी रहा है सलिलेश शान्त ?[4]

---

१ द्वापर, सस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १६१, १६२ और १६४
२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २६६
३ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २६८
४. मंगल-घट, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ६५

यहाँ धीवर-कन्या योजनगंधा पर लुब्ध महाराज शान्तनु के मानसिक उद्वेलन का अनुभव कराने के लिए कवि ने कुशलतापूर्वक वैसे ही मूर्त अप्रस्तुत का विधान किया है। अस्तु!

## धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग

मूर्त के लिए अमूर्त और अमूर्त के लिए मूर्त अप्रस्तुत-विधान से भी अधिक आकर्षक एव सप्रभाव अभिव्यजना प्रणाली है धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग। कविगण प्रभाव को तीव्रता प्रदान करने मे इसका उपयोग करते हैं। निश्चय ही किसी वस्तु के गुण अथवा धर्म के बदले स्वय उस वस्तु का उल्लेख होने पर सवेदन मे तीव्रता आजाएगी। किन्तु यह प्रयोग बहुत कठिन है। इस प्रणाली को अपनाते समय कवि को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि धर्म के लिए प्रयुक्त धर्मी परम्परा से उसी धर्म-विशेष के लिए प्रसिद्ध हो। और स्पष्ट शब्दो मे धर्मी ऐसा होना चाहिए कि हम सस्कारत उसके उल्लेख मात्र मे वाछित धर्म को ग्रहण कर सके। छायावादी कवियो मे इस प्रणाली का विशेष प्रयोग मिलेगा। महाकवि पन्त की निम्न पक्तियों मे इसके उपयोग के कारण कितनी रमणीयता है—

उषा का था उर मे आवास
मुकुल का मुख मे मृदुल विकास,
चादनी का स्वभाव मे भास
विचारो में बच्चों के सास।[1]

छायावादी न होने पर भी युग-प्रतिनिधि मैथिलीशरण जी मे इस प्रवृत्ति का अभाव नही है। उनके दो-तीन प्रयोग देखिए—

(१) 'तुम पर आप जयसिह निछावर है।'
"मुझ पर ?" आके लगी मूठ सी गुलाल की
रानक को, . . ।[2]

राणा खगार अनिंद्य सुन्दरी रानकदे से बात कर रहे हैं। वे उसे सूचना देते है कि जेता जयसिह भी उस पर मुग्ध है। यह सुनते ही रानकदे के मुख पर लज्जा की लालिमा दौड जाती है मानो गुलाल की मूठ आ लगी हो। गुलाल अपने रक्तवर्ण के लिए प्रसिद्ध है अत रानकदे की लज्जा की सघन लालिमा अथवा घनीभूत लज्जा की अनुभूति मे सहायक है। एक उदाहरण पृथिवीपुत्र से लीजिए—

तुमसे साँझ मिले प्रिय, मुझको मुझसे तुम्हे सवेरा।[3]

यहाँ पर विराम के लिए 'साँझ' और उल्लास एव प्रकाश के लिए 'सवेरा' का प्रयोग हुआ है। ये दोनो उपमान अपने इन गुणो के लिए परम्परा से प्रसिद्ध हैं वरन् यो कहिए कि

---

१ आधुनिक कवि २ (पन्त), छठा सस्करण, पृष्ठ ११
२ सिद्धराज, तेरहवाँ सस्करण, पृष्ठ ६५
३ पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५०

प्रतीक वन गए है। ऐसे उपमान ही इस प्रणाली मे उपयोगी सिद्ध होते हैं। कावा और कर्वला की निम्न पक्ति की भी यही विशेपता है—

पशु वाईस-सहस्र उधर वे लड़ने वाले।[1]

गौतम के 'महाभिनिष्क्रमण' पर महाप्रजावती की यह उक्ति तो अत्यन्त तीव्र है—

किया मुझे कैकेयी तूने।[2]

कैकेयी के समान कुख्यात न कहकर कैकेयी ही कह देने मे निश्चय ही अतिशय तीव्रता है—उक्ति विशेपत. प्रभावपूर्ण वन गई है।

## धर्मी के लिए धर्म का प्रयोग

इसके विपरीत लेखकगण व्यक्ति अथवा वस्तु के स्थान पर गुण या धर्म का प्रयोग भी करते है। धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग करने मे यदि कवि का उद्देश्य तीव्रता होता है तो अभिव्यजना की इस प्रणाली का लक्ष्य व्यापकता हुआ करता है। उदाहरण लीजिए—

हित मे अहित अहित मे ही हित
किन्तु मानता है अविवेक।[3]

यहाँ अविवेकी न कहकर अविवेक कहा गया है जिसने निश्चय ही उक्ति के प्रभाव को व्यापक वना दिया है। यदि धर्मी का प्रयोग किया जाता तो उसका क्षेत्र प्रसगगत व्यक्ति-विशेप तक सीमित रहता—किन्तु धर्म के प्रयोग से इसका क्षेत्र-विस्तार हो गया है। साकेत की निम्नोद्धृत पक्ति की सप्रभावता का कारण भी यही विशेपता है—

राक्षसता उनको विलोक कर
थी लज्जा से लोहित-सी।[4]

राम-लक्ष्मण के आर्योचित सात्विक कर्मों को देखकर राक्षस अपनी हीनता पर, अपने दूपित कृत्यो पर लज्जित थे। कवि ने राक्षसो के स्थान पर उनके गुण अथवा धर्म राक्षसता का प्रयोग करके अपनी वात को अधिक गम्भीर और व्यापक वना लिया है।—और कावा और कर्वला के इस उद्धरण— -

नगी होकर नची जहाँ वह दानवता है।[5]

—मे दानवो के स्थान पर दानवता के प्रयोग ने अत्याचार की उस विभीपिका को द्विगुणित कर दिया है। इनके अतिरिक्त उक्ति को चमत्कृत एव वक्रतापूर्ण वनाने की और भी कई युक्तियो का प्रयोग गुप्त-साहित्य मे मिलेगा, जैसे

---

१. कावा और कर्वला, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ८१
२ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ २८
३ द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ६२
४. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २७८
५ कावा और कर्वला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८१

१ कर्त्ता के स्थान पर कार्य का ग्रहण—

शका-समाधान दोनो का
यों ही चिर आलाप चला ![1]

२ आधेय के स्थान पर आधार का प्रयोग—

भरी भरी फिरती है तेरे
अचल-धन से धरती।[2]

३ अग की जगह अगी का प्रयोग—

सुख-दु.ख दोन दृष्टियों से सृष्टि सुध-बुध खो रही।[3]

अथवा—

लिपि मुद्राओ भूमि-भाग्य की दमको-दमको।[4]

४ अगी की जगह अश का ग्रहण—

जब अंचल की छाया पाली,
तब क्या तप, क्या वृष्टि ?[5]

५ साधक के स्थान पर साधन का वर्णन—

ढाल लेखनी, ल अन्त मे मसि भी तेरी।[6]

## मानवीकरण

यह भी अभिव्यक्ति को कलापूर्ण बनाने की एक उत्तम युक्ति है। इसमे निर्जीव पदार्थो, अमूर्त भावनाओ अथवा अवयव-विशेप पर मानवीय गुणो का आरोप किया जाता है। जिससे उनकी सवेदनशीलता मे पर्याप्त वृद्धि होती है। अग्रेज़ी मे तो मानवीकरण को अलकारत्व-पद ही प्राप्त हो गया है। किन्तु हमारे यहाँ अलकारो का विवेचन और ही ढग से होने के कारण इसे यह पदवी नही मिल सकी। फिर भी भारतीय कवि चिरकाल से जाने-अनजाने इमका थोडा-बहुत प्रयोग करता रहा है। कालिदास ने तो मेघ को दूत बनाकर मानवीकरण के प्रति अपने असीम अनुराग का परिचय दिया है। हिन्दी के प्राचीन कवियो—विशेपत विद्यापति, सूर, तुलसी, देव आदि—मे भी प्रयास करने पर कुछ उदाहरण मिल सकते हैं। किन्तु इसका प्रचुर प्रयोग आधुनिक काल मे ही हुआ है—प्रसाद, पन्त और निराला की रचनाएँ मानवीकरण से परिपूर्ण हैं। हमारे कवि ने भी इस विधि के अपनाकर अपने साहित्य की श्रीवृद्धि की है। उसकी आरम्भ-कालीन रचनाओ मे भी मानवीकरण का सौन्दर्य देखा जा सकना है—

---

१ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १०१

२ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १५३

३. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ६४

४. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३०४

५ कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ६४

६ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २६४

कान पकड कर मन को,
प्रिय का गुण-जाल खींच झट लेता है ।[1]

मन एक अगोचर इन्द्रिय है—किन्तु कवि ने मानवता का आरोपण करके उसे शरीरी के रूप मे उपस्थित किया है। तभी तो उसका कान पकडकर खीचा जा रहा है। इस उद्धरण मे तो मानव अगो का आरोप सूक्ष्मेन्द्रिय मन पर हुआ है । पर निम्न पक्तियो मे स्थूल अवयव नासिका को सशरीर व्यक्तित्व प्रदान किया गया है—

जन्म दिया जिसने तुमको फिर,
पाला, बराबर अन्न खिलाया ।
नाक की नाक तुम्हारे लिए यहीं,
चन्द्र की चादी जो चान्दनी लाया ।[2]

इसी तरह कवि अमूर्त यौवन को भी मानव शरीर दे देता है—और फिर वार्द्धक्य द्वारा उसके दाँत तोडने, अग-भग करने आदि का उल्लेख करता है—

बोल, युवक, क्या इसीलिए है
यह यौवन अनमोल हाय !
आकर इसके दात तोड़ दे,
जरा भग कर अंग-काय ?[3]

यहाँ मानवीकरण की सहायता से कवि यौवन और जरा के चिरसघर्ष की अपनी गहरी अनुभूति को मूर्त रूप देने मे समर्थ हो सका है। अब लीजिए भावना पर मानवीय व्यापारो के आरोप का एक उदाहरण—

नहीं अन्ध ही किन्तु बधिर भी अबला वधुओं का अनुराग ।[4]

यहाँ अबलाओ के अनुराग को अन्धा और बहरा बताया गया है—वह कवि के सामने अमूर्त्त न होकर साकार प्रतिमा के रूप मे आता है। अतएव कवि ने उस पर मानव-गुण आरोपित कर दिया है। अबला वधुओ के अनुराग की मूर्ति होने के कारण वह अन्ध और बधिर है—क्योंकि कामिनियाँ प्रेम के वशीभूत हो जाने पर न कुछ देखती हैं और न कुछ सुनती हैं। मानवीकरण के साथ-साथ लक्षणा का चमत्कार भी द्रष्टव्य है। साकेत के इस उद्धरण—

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ ।[5]

—मे शिशु स्वभाव एव चेष्टाओ का आरोपण और भी स्पष्ट है। रुदन और गान दो

१. चन्द्रहास, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ ७७
२. स्वदेश-सगीत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १२०
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १४
४ साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २८२
५. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३६

हठी बालको के समान शर्त लगाए बैठे हैं।

निर्जीव पदार्थों मे गुप्त जी ने केवल प्रकृति का ही मानवीकरण किया है। यद्यपि वे मानव और मानवता के गायक हैं—मानवेतर सृष्टि अथवा प्रकृति के प्रति उनके मन मे छायावादी कवि का-सा सहज अनुराग नही है फिर भी उन्होंने अपनी रचनाओ मे यथा-प्रसग प्रकृति चित्रण किया है।—और तन्मयता के क्षणो मे उन्होने कही-कही उसका मानवी-करण भी कर दिया है। केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करना यथेष्ट होगा—

> है बिखेर देती वसुन्धरा मोती, सबके सोने पर,
> रवि बटोर लेता है उनको सदा सवेरा होने पर।
> और विरामदायिनी अपनी सध्या को दे जाता है,
> शून्य श्याम तनु जिससे उसका नया रूप झलकाता है।[1]

बिखेरना, बटोरना, देना—ये सब मानवीय व्यापार हैं। प्राकृतिक वस्तुओ पर इन क्रियाओ का आरोप करके उनका मानवीकरण किया गया है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि पृथ्वी से आकाश तक, हिमबिन्दुओ से तारागण तक विस्तीर्ण विराट् क्रिया-कलाप को कवि ने किस कौशल से मानवीय रग दिया है। साकेत मे छाया का मानवीकरण और भी अधिक कौशल से हुआ है—

> कहीं सहज तरु तले कुसुम-शय्या बनी,
> ऊघ रही है पडी जहाँ छाया घनी।
> घुस धीरे से किरण लोल दलपुंज मे,
> जगा रही है उसे हिलाकर कुज मे।
> किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं,
> कुछ करवट-सी पलट लेटती है वहीं।[2]

मानव-चेष्टाओ का आरोप इससे अधिक और क्या होगा ? यहाँ पर कवि ने मानवी-करण की अपनी अद्‌भुत क्षमता का परिचय दिया है। इसे किसी भी छायावादी कलाकार की रचना के समकक्ष रखा जा सकता है। साकेत मे ये पक्तियाँ पढ़ते ही मेरे मन मे तो छाया को मानव-रूप मे उपस्थित करने वाली पन्त की बहु-प्रशसित कविता—

> कहो कौन हो दमयन्ती-सी
> तुम तरु के नीचे सोई
> आदि।

—अकस्मात् ही घूम जाती है। गुप्त जी के उक्त उद्धरण मे मानवीकरण-सौन्दर्य के साथ ही उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण की भी दाद देनी पडेगी। लेकिन उनके काव्य मे ऐसे उदाहरण दो-एक ही मिलेंगे—अधिक नही।

---

१. पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ७

२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ११०

## नारीत्व का आभास

'कहीं सहज तरु तले कुसुम-शय्या बनी' आदि पूर्वोल्लिखित उद्धरण में आपने एक बात लक्ष्य की होगी कि छाया को अर्द्धनिद्रित पार्श्व-परिवर्तन करती हुई नायिका के रूप में उपस्थित किया गया है। उस उपस्थितीकरण में मानवीकरण का वैशिष्ट्य है—अचेतन पर चेतन के आरोपण का सौन्दर्य है। किन्तु उस सौन्दर्य का बहुत कुछ श्रेय नारीत्व को है। यदि नायिका के अतिरिक्त और किसी चेतन व्यक्तित्व का आरोप छाया पर होता तो निश्चय ही सौन्दर्य में अंशत: कमी आ जाती। नारी की 'सुन्दर कोमलता' का कुछ प्रभाव ही ऐसा है कि जहाँ भी उसका उल्लेख होता है वहीं अभिनव सौन्दर्य की विचित्र सृष्टि हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृति के जिन चित्रों में नारीत्व का आभास मिलता है वे विशेषत: रमणीय होते हैं। अधुनातन कवियों में इस प्रवृत्ति का विशेष विकास दृष्टिगत होता है। हमारा कवि भी उससे अछूता नहीं रह सका।

अरुण सन्ध्या को आगे ठेल,
देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल ;
यामिनी आ पहुँची तत्काल।[1]

यहाँ वर्णन है विलीन होती हुई सन्ध्या और बढ़ती हुई रात्रि का। उनको देखा गया है दो मुग्धा नायिकाओं के रूप में। शृङ्गारित-प्रसाधित रात्रि कुतूहलवश 'नूतन खेल' देखने के लिए अपने आगे खड़ी हुई सन्ध्या को धकेल कर आगे बढ़ रही है।

पावस के आगमन पर चिर-तृषित वनस्थली की तुष्टि हो जाती है, कम से कम कुछ दिन के लिए तो उसे शान्ति मिल ही जाती है—

लेकर सुख की सांस स्वस्थ थी आगतपतिका वनिका,
चौमासे भर तक चिन्ता से मुक्त हुई वह धनिका।[2]

प्राकृतिक वर्णन के पीछे झाँकता हुआ चिन्तामुक्त आगतपतिका का मधुर-तरल चित्र उसे कितना आकर्षक बना देता है।—और निम्नांकित पंक्तियों में गणिका के विलासी व्यक्तित्व का आरोपण भी देखिए—

तारक-चिह्नदुकूलिनी पी-पी कर मधुमात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।[3]

एक स्थान पर तो अमूर्त्त नियति पर भी नारी-सुलभ चेष्टाएं आरोपित हैं—

नियति, कितना स्वप्नमय है यह असित अभिसार तेरा ?[4]

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ४५
२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७३
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २२०
४. कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ३८

यहा कृष्णाभिसारिका की मनोरम कल्पना ने नियति के कुटिल-कराल चक्र को भी रमणीय बना दिया है। अस्तु।

## विशेषण-विपर्यय

मानवीकरण के साथ-साथ विशेषण-विपर्यय पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। पश्चिम के इन दोनो अलकारो को आज के कवियो ने बडे मनोयोग से अपनाया है। मानवीकरण का उल्लेख तो पहले ही हो चुका है। विशेषण-विपर्यय भी उसी के समान काव्य की श्रीवृद्धि मे सहायक एक सशक्त साधन है। इसमे विशेषण को उसके वास्तविक—अभिधा द्वारा निर्धारित—स्थान से हटाकर किसी दूसरे स्थान पर रख दिया जाता है। इस स्थानान्तरण के मूल मे भारतीय आचार्य की प्रयोजनवती लक्षणा रहती है। विशेषण-विपर्यय के उपयोग मे जहाँ उक्ति वक्र और चमत्कारपूर्ण बनती है वहाँ भाव-गाम्भीर्य की व्यक्ति भी सहज ही हो जाती है। श्री लक्ष्मीनारायण सुधाशु के अनुसार 'भावाधिक्य की व्यजना के लिए विशेषण-विपर्यय अलकार का व्यवहार बहुत सुन्दर है।'[1] यह अलकार, उक्ति की यह विधि यद्यपि पश्चिम की देन है फिर भी प्राचीन काव्य मे इसका एकान्ताभाव नही है। काव्य के उस अतल पारावार में डुबकी लगाने पर उदाहरण मिल ही सकते हैं, यथा—

> ह्वै है सोऊ घरी भाग उघरी अनदघन
> सुरस बरसि लाख देखि हौं हरी हमे।[2]

यहाँ 'भाग उघरी घरी' का उल्लेख किया गया है। शुभ घडी मे मनुष्य का भाग्य खुला करता है—किन्तु कवि ने विशेषण-विपर्यय से घडी को ही खुले भाग्य वाली बना दिया है।

प्राचीनों के काव्य मे उदाहरण प्राप्त होने पर भी यह प्रवृत्ति आधुनिक काव्य की ही विशेषता है। आज का कवि इसका सयत्न प्रयोग करता है। गुप्त जी ने भी किया है। बस, अन्तर केवल इतना है कि और कवि तो विशेषण-विपर्यय के प्रति सचेष्ट हैं—किन्तु उनमे प्रयत्न का अभाव है। इसीलिए उनके विपुल काव्य मे भी इसके बहुत कम उदाहरण हैं, पर हैं अवश्य इन्द्रपदारूढ महाराज नहुष को 'शुक्ल-श्यामाग सौभाढ्या', चिरयौवना उर्वशी कामोपभोग का निमन्त्रण देती है—

> आपमे हमारा काम आज मूर्त्तिमन्त है!
> चलिए न, नन्दन मे उत्सुक बसन्त है!![3]

यहाँ वसन्त की उत्सुकता का उल्लेख किया गया है। पर वास्तव मे वसन्त उत्सुक नही है वरन् वसन्त के प्रभाव से उल्लसित नन्दन वन का चिर उपभोगी अप्सरा-समाज नए इन्द्र के सम्पर्क के लिए उत्कण्ठित है। कवि ने उक्ति मे वैचित्र्य तथा विशेष अर्थ के समाहार

---

१ काव्य मे अभिव्यजनावाद, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १५१

२ काव्य-दर्पण. प० रामदहिन मिश्र, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ४३३ से उद्धृत

३ नहुष, दशमावृत्ति, पृष्ठ ३७

के लिए वसन्त को ही उत्सुक कह दिया है। एक उदाहरण और लीजिए—

मैं अपने लिए अधीर नहीं,
स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं।[१]

राम और सीता के आराध्य युग्म के साथ ही लक्ष्मण के भी अयोध्या का परित्याग कर वन को चले जाने पर दुखी उर्मिला अपनी सखी सुलक्षणा को यह बात कह रही है। वह उसे समझा रही है कि मैं इस समय अपने लिए व्यग्र नही हूँ—मेरे रुदन का कारण अपने स्वार्थ की अपूर्ति अथवा उसके पूर्ण होने की आशा का अभाव नही है। और स्पष्ट शब्दो मे वह बता रही है कि मैं स्वार्थी नही हूँ पर कवि ने विशेषण-विपर्यय मे 'लोचन-नीर' को ही अस्वार्थी कह दिया है। इससे कथन मे वक्रता तो आ ही गई है—उसके साथ ही अद्भुत समास गुण भी। 'स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं' मे विशेषण-विपर्यय का उपयोग न करके इसमे समाविष्ट भाव को यदि अभिधा के द्वारा प्रकट किया जाता तो कुछ इस प्रकार की बात कहनी पडती—मेरे नेत्रो से अश्रुपात हो रहा है, इसे देखकर तुम यह सोच सकती हो कि मैं अपने सुखाभाव के कारण रो रही हूँ। किन्तु यह बात नही है—मैं इतनी स्वार्थिनी नही हूँ। इतनी लम्बी बात को विशेषण-विपर्यय के बल पर ही कवि केवल एक पक्ति—'स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं' मे आबद्ध करने मे समर्थ हो सका है। 'शशि खिसक गया निश्चिन्त हसी हस बाकी' मे भी विशेषण-विपर्यय का ही सौंदर्य है। इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि मैथिलीशरण जी ने विशेषण-विपर्यय के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अभिशसित प्रकार का भी प्रयोग किया है, यथा—

कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली, तुझे खिलने की।[२]

लेकिन ऐसे उदाहरण गुप्त जी के काव्य मे बहुत कम हैं।

## अन्य अलंकार

गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त मानवीकरण एव विशेषण-विपर्यय जैसे पाश्चात्य अलकारो तथा औपम्यमूलक उपमानो का विवेचन हो चुका है। अल्पाश मे उन्होंने अन्यान्य प्रकार के अलकारो एव अप्रस्तुत-योजनाओ का प्रयोग भी किया है। कवि की अभिव्यजना-प्रणाली के पूर्ण परिचय के लिए उनका उल्लेख भी आवश्यक है। यहाँ पर उन्ही का दिग्दर्शन कराया जाएगा।

## सम्भावनामूलक अप्रस्तुत

कुछ उपमानो का सौंदर्य सादृश्य, साधर्म्य अथवा प्रभाव-साम्य मे न रहकर सभावना मे निहित रहता है। कल्पना-प्रधान कवि बडे मनोरम सभावित उपमानो की कल्पना किया करते हैं—उन्हे यही पर अपनी कल्पना की उन्मुक्त उडान भरने का अवसर मिलता है। किन्तु हमारा कवि कल्पना-प्रिय कवि नही है, फिर भी उनके काव्य मे कुछ मनोरम संभावनामूलक

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ११७
२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २२१

अप्रस्तुत-योजनाएँ सहज-प्राप्त हैं। केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

पहुँचे गगा-तीर धीर, धृति धार कर
यह थी एक विशाल मोतियो की लडी
स्वर्ग-कण्ठ से छूट, धरा पर गिर पडी
सह न सकी भव-ताप अचानक गल गई[1]

गगा को गली हुई मौक्तिक-माला बताया गया है। मौक्तिक-माला के द्रव मे और गगाजल मे जो रग का सादृश्य है वह तो बहुत स्थूल है। वास्तव मे यहाँ रमणीयता -सादृश्य की नही सभावना की है। कल्पना का विलास ही इसमे द्रष्टव्य है। साथ ही उसके स्वर्ग से गिरने, भव-ताप से द्रवित होने आदि का उल्लेख होने के कारण इस लोक मे गगा के अवतरण की पौराणिक कथा मन मे घूम जाती है। जिससे यह सम्भावना और भी प्रभावपूर्ण बन जाती है।

## आरोपमूलक अलकार

वे अलकार जिनके मूल मे किसी न किसी प्रकार से प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोपण रहता है, आरोपमूलक कहलाते हैं। प्राचीनो के रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति इसी प्रकार के अलकार हैं। हमारे कवि ने भी आरोपमूलक अलकारो का काफी प्रयोग किया है—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यो न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?[2]

विरहिणी उर्मिला पर रुदन्ती (जडी विशेष) का आरोप किया गया है। कवि ने अद्भुत कौशल से रूपक की योजना की है। निम्नोद्धृत पक्तियो मे भी साग रूपक की छटा देखिए—

निशि की अधेरी जवनिके, चुप चेतना जब सो रही,
नेपथ्य मे तेरे, न जाने, कौन सज्जा हो रही !
मेरी नियति नक्षत्रमय ये बीज अब भी बो रही,
मै भार फल की भावना का व्यर्थ ही क्यों ढो रही ?[3]

आरोपमूलक अलकारो के दो-एक उदाहरण और लीजिए—

उस काल मारे क्रोध के तनु कापने उनका लगा,

. .

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ९६
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १९५
३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ६३

मुख वाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा वोधित हुआ,
प्रलयार्थ उनके मिस वहा क्या काल ही क्रोधित हुआ ॥[1]

* * *

उत्थित वसुन्धरा से रत्नो की शलाका थी,
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी ।[2]

या

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाडिम का समझकर भ्रांति से,
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ।[3]

इनमे से प्रथम मे 'मिस' शब्द के द्वारा क्रुद्ध अर्जुन पर काल का, दूसरे उदाहरण मे सन्देह के द्वारा हिडिम्बा पर भिन्न-भिन्न वस्तुओ का आरोप किया गया है । अन्तिम पद्य मे अधर की लालिमा से प्रभावित नाक के मोती मे दाडिम के बीज का और उर्मिला के नाक पर शुक का आरोपण है ।

## प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का विधान

कभी-कभी अप्रस्तुत प्रस्तुत को निगीर्ण ही कर जाता है अर्थात् प्रस्तुत सर्वथा अनुल्लिखित रहता है ।—उसके स्थान पर वर्णन होता है अप्रस्तुत का । इसमे ध्यान रखने की बात यह है कि अप्रस्तुत-योजनाएँ ऐसी हो जिनसे प्रस्तुत के ग्रहण मे कोई बाधा न पडे । नही तो यह भूषण न होकर दूषण हो जाएगा । रूपकातिशयोक्ति एव अन्योक्ति आदि के मूल मे यही विशेषता रहती है । गुप्त जी के काव्य से इसके उपयोग के केवल तीन उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

पंजर भग्न हुआ, पर पंछी अब भी अटक रहा है आर्य ![4]

* * *

गजराज पक मे धँसा हुआ,
छटपट करता था फँसा हुआ ।
हथनिया पास चिल्लाती थीं,
वे विवश विफल बिल्लाती थीं ।[5]

* * *

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा संस्करण, पृष्ठ ३६
२. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२
३. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २१
४. प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृष्ठ ७३

अरे विहग, लौट आ, तेरा
नीड रहा इस वन में;
छोड उच्चपद की उडान वह,
क्या है शून्य गगन मे ?[1]

पहली पक्ति मे मरणासन्न जटायु, दूसरे छन्द मे राम-वियोग मे छटपटाते महाराज दशरथ और तीसरे पद्य मे गोपियो द्वारा मथुरा-स्थित कृष्ण के प्रति निवेदन का आलेखन हुआ है। ये सभी उदाहरण स्वय व्यक्त हैं, इनके विवेचन की आवश्यकता नहीं है। वास्तव मे ऐसे उदाहरणो का गुण भी यही है।

## चमत्कारमूलक अलकार

उत्तम काव्य का मूलोद्देश्य सहृदय के मन का प्रसादन है। किन्तु इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि उसमे अल्पाश मे बौद्धिक विस्मय भी निहित रहता है। प्रसादन और विस्मय के मणि-काचन सयोग से काव्य की रोचकता एव दीप्ति मे वृद्धि होती है। किन्तु इन दोनो का मिश्रण उचित अनुपात मे होना चाहिए। जो लोग विस्मय अथवा चमत्कार का एकान्त विरोध करते हैं उनकी रचना मे एकरसताजनित अरुचि आजाती है—और जो लोग चमत्कार के चक्कर मे पडकर भाव की हत्या करते हैं उनका काव्य खिलवाड बन जाता है। गुप्त जी के काव्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि चमत्कारमूलक अलकार उन्हे विशेष प्रिय नही हैं। ऐसे अलकारो के उदाहरण उनके काव्य मे गिनती के ही मिलेंगे।—और जो हैं भी उनमे चमत्कार भावाभिव्यजना मे साधक ही हुआ है बाधक नही—

हा! नेत्र-युत भी अन्ध हूँ, वैभव-सहित भी दीन हूँ,
वाणी-विहित भी मूक हूँ, पद-युक्त भी गति-हीन हूँ।[2]

अथवा—

देखो, दो दो नयन बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी![3]

यहाँ विशेषोक्ति अलकार है—कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य सम्पन्न नही होता। किन्तु चमत्कार-आधृत यह अलकार उत्तरा अथवा यशोधरा के विलाप की गभीरता मे बाधक नही है वरन् उनकी असहाय अवस्था की प्रभावपूर्ण व्यजना मे सहायक ही सिद्ध हुआ है। और भी दो-एक उदाहरण लीजिए—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो, रात का जाना हुआ।

---

१ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १८५
२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ २६
३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ११९

क्योंकि उसके अग पीले पड चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।[1]

✿ ✿ ✿

प्राण तो हैं, किन्तु कोई प्राणी नहीं जिनमे
एक हैं जो, किन्तु ऐक्य भाव नहीं जिनमे।[2]

✿ ✿ ✿

दीप्ति मुझे देगा अभिराम कृष्ण पक्ष ही।[3]

ये सब उदाहरण चमत्कारमूलक अलकारो के हैं—प्रथम मे विभावना, द्वितीय और तृतीय मे विरोधाभास का उद्भास है। किन्तु आप देखते हैं कि आलकारिकता कही भी भाव-व्यजना मे व्याघात नही डालती। अन्तिम पक्ति को छोडकर और कही तो अलकारत्व का भान भी नही होता।—और उसमे भी कोई क्लिष्ट कल्पना नही है। वरन् उसकी आलकारिकता सहज-ग्राह्य है।

आतिशय्यमूलक अलकार

प्रभावक्षमता की वृद्धि के निमित्त कविगण अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं। मानव-स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह विषय के साधारण वर्णन से प्रभावित नही होता—अतिशयोक्ति-पूर्ण उपस्थिति से ही उसमे वाछित प्रभाव की सृष्टि की जा सकती है। अतएव आतिशय्य-मूलक अलकार चिरकाल से प्रभाव की सिद्धि के लिए मुख्य साधन रहे हैं। पर अतिशयोक्ति का महत्त्व साधन रहने मे ही है। जब वह स्वय साध्य बन जाती है, भाव और प्रभाव को भूलकर जब कवि आतिशय्य को ही उद्देश्य मान बैठता है तब उसकी रचना काव्य न होकर बौद्धिक कसरत मात्र रह जाती है। किन्तु इस बौद्धिक ऊहापोह मे इतना आकर्षण है कि बिहारी जैसे रससिद्ध कवि भी उसके प्रयोग का लोभ सवरण नही कर पाए। उनके—

इत आवति, चलि जाति उत, चलि छसातक हाय।
चढी हिंडोरे-सी रहै, लगी उसासन साथ॥[4]

—आदि दोहो मे जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाने वाली यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। भाव की सप्रभाव व्यक्ति के साधन के स्थान पर जब अतिशयोक्ति स्वय साध्य बन बैठती है तब भाव की इसी तरह मट्टी पलीद हुआ करती है। सौभाग्य से हमारे कवि मे इस प्रवृत्ति का एकान्ताभाव है। चमत्कारमूलक अलकारो के समान ही आतिशय्यमूलक अलकार भी उसे प्रिय नही है। फिर भी कोई कवि आतिशय्य से बिल्कुल बच नही सकता। हाँ, गुप्त जी ने उसे साधन रूप मे ही स्वीकार किया है। अपनी स्थापना की पुष्टि के लिए केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

---

१. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७
२. पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४६
३ झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३४
४. बिहारी-बोधिनी, ला० भगवानदीन 'दीन,' दोहा न० ४६६

(१) शर खींच उसने तूण से कब किधर सन्धाना उन्हे ;
बस विद्ध होकर ही विपक्षी-वृन्द ने जाना उन्हें ।[1]

(२) वहाँ हर्ष के साथ कुतूहल छा गया,
नाव चली या स्वयं पार ही आगया ।[2]

प्रथम उद्धरण मे अभिमन्यु के अद्भुत युद्ध-कौशल तथा द्वितीय मे नाव की तीव्र गति के वर्णन में आतिशय्य का उपयोग हुआ है । किन्तु आप देख रहे हैं कि यह प्रयोग किसी प्रकार भी उपहासास्पद नही है वरन् भाव की सप्रभाव व्यजना मे सहायक ही है। अतिशयोक्तिपूर्ण अन्य वर्णनो की भी यही विशेषता है ।

अन्तत निष्कर्ष यह कि गुप्त जी के काव्य मे प्राय सभी अलकार विद्यमान हैं। अभिव्यजना की सभी श्रेष्ठ प्रणालियो का सुष्ठु प्रयोग हुआ है। अपेक्षाकृत औपम्यमूलक अप्रस्तुत-योजनाए अधिक हैं । उनके प्रभूत निदर्शन सहज उपलब्ध हैं । किन्तु चमत्कारमूलक अलकार बहुत कम हैं—और जो हैं भी वे साधन-रूप मे ही आए हैं, साध्य कभी नही बन पाए । यह कवि की समृद्ध भावुकता का परिणाम है । उधर विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, धर्मी के स्थान पर धर्म का प्रयोग और धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग आदि लक्षणामूलक अलकार उसके कलात्मक दृष्टिकोण के परिचायक हैं । इन अभिव्यजना-प्रणालियो के कई प्रयोग तो अत्यन्त उत्कृष्ट हैं जो किसी भी छायावादी रचना के प्रतियोगी के रूप मे उपस्थित किए जा सकते हैं।

साधारणत मैथिलीशरण जी के काव्य को अलकारहीन कह दिया जाता है । किन्तु उपर्युक्त परिदर्शन के पश्चात् इस भ्रम का निवारण हो जाना चाहिए। अभिव्यजना की विभिन्न प्रणालियो के निदर्शन-स्वरूप पूर्वोद्धृत अवतरण अलकृत स्थलो का अश मात्र हैं। और भी एक-से-एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं । अत गुप्त जी का काव्य अलकृतिहीन नही है । हाँ, अलकार के प्रति आग्रह उनको कभी नही रहा है । इसीलिए उनकी रचना अलकार-भूषित तो है—किन्तु अलकार-मुखर नही । यहाँ पर यह भी उल्लेख्य है कि आलोच्य कवि के अलकरण के उपकरणो का क्षेत्र अधिकाश आधुनिक कवियो के समान परिमित नही है । वरन् उनमे जीवन-व्यापी विस्तार मिलता है जो उसे सूर, तुलसी प्रभृति साहित्यिक महारथियो की समकक्षता प्रदान करता है ।

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां सस्करण, पृष्ठ १२

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १०४

# (ग) भाषा

भाषा अभिव्यक्ति का सहज और सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। चाहे वह ईश्वर-प्रदत्त हो या व्यक्तिकृत—निश्चय ही वह सबल और निर्भ्रांत अभिव्यंजना का अनिवार्य साधन है। भाषा के आविष्कार से पहले मनुष्य किस प्रकार विचार-विनिमय करते होंगे आज इसकी कल्पना भी हमारे लिए असह्य और असम्भव है, फिर भी कोई ऐसा युग रहा होगा अवश्य ! और नहीं, कम से कम ऐसा युग तो निश्चय ही रहा होगा जिसका शब्दकोष सौ-पचास शब्दों तक ही सीमित था। प्रमाण के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। हमारे कवि द्वारा प्रयुक्त उस खडी बोली को ही लीजिए जिसे हम लिखते, पढते और बोलते हैं। आज यह काफी समृद्ध और समर्थ है—इसमें कोमलता और मसृणता, पौरुष और ओज तथा कान्ति और माधुर्य—ये सभी गुण सुतरां उपलब्ध हैं। पर यह सदा से ऐसी ही नहीं चली आई है—अनेक संस्थान इसके जीवन-पथ में रहे हैं। शुरू-शुरू में इसकी शब्द-संख्या भी अल्प ही थी। विस्तृत देश की वृहत् योजनाओं एवं हृदय के 'गहनतर गह्वरों की सूक्ष्म भाव-वीचियों' की अभिव्यक्ति में अक्षम खडी बोली का शब्द-भण्डार भी आरम्भ में निश्चित रूप से संकुचित ही था। आरम्भ में ही क्यों, साहित्य-क्षेत्र में मैथिलीशरण जी के पदार्पण के समय भी वह निर्धन और अपुष्ट थी—मार्दव एवं कान्ति का तो उसमें सर्वथा अभाव ही था। ऐसी क्षीण-कोशा और अपरिमार्जित भाषा उन्हें उत्तराधिकार स्वरूप मिली थी ! उसके वर्द्धन और मार्जन में कवि के योगदान का विवेचन एवं मूल्यांकन करने से पूर्व हिन्दी साहित्य के पूर्वमैथिलीशरण युगों के काव्य में खडी बोली के प्रयोग का संक्षिप्त दिग्दर्शन भी आवश्यक है।

### गुप्त जी से पूर्व काव्य-भाषा के रूप में खडी बोली

ऐतिहासिक दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश के पश्चात् हिन्दी का उद्भव हुआ। किन्तु परवर्ती अपभ्रंश में भी स्पष्टतः हिन्दी के लक्षण विद्यमान हैं अतएव कतिपय भाषाविद् तो उसे पुरानी हिन्दी कहना ही अधिक पसंद करते हैं। "मध्यकाल के पहले भाग में हिन्दी की पुरानी बोलियों ने विकसित होकर ब्रज, अवधी और खडी बोली का रूप धारण किया।"[1] इनमें से ब्रज और अवधी तो साहित्यिक भाषाओं के रूप में स्वीकृत हुई—उनमें प्रचुर मात्रा में काव्य-प्रणयन हुआ, किन्तु खडी बोली वर्तमान काल से पहले उपेक्षित ही रही। इसीलिए उसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक विद्वानों को भ्रान्ति रही है। उपर्युक्त तथ्य से अपरिचित मनीषियों ने खडी बोली को एक नवाविष्कृत भाषा माना। खडी बोली के सम्बन्ध में दूसरा भ्रम यह भी रहा है कि उसका निर्माण उर्दू के फ़ारसी-अरबी के शब्दों के स्थान पर संस्कृत शब्द रखकर किया गया है। किन्तु यह सब एकदम अशुद्ध है। इसके विरुद्ध सबसे बडा तर्क यह है कि रामप्रसाद निरंजनी, इंशाअल्ला खाँ, सदलमिश्र, लल्लूलाल तथा सदासुखलाल की

---

१. हिन्दी भाषा : श्यामसुन्दरदास, संस्करण सन् १९५४, पृष्ठ ४३-४४

रचनाओ मे उपलब्ध भाषागत प्रौढ़ि और वाक्यगत विन्यास किसी नव-निर्मित भाषा मे नही आ सकते ।

उपर्युक्त भ्रान्तियो का मुख्य कारण शायद यह है कि विक्रम की बीसवी शताब्दी के आरम्भ तक काव्य-भाषा के रूप मे ब्रज का एकच्छत्र राज्य रहा है ( और उस समय तक हिन्दी साहित्य मे काव्य के अतिरिक्त कुछ था ही नही ), खडी बोली अन्यान्य उपभाषाओ के समान उपेक्षित होकर 'एक कोने मे पडी रही'। लेकिन, जैसा कि शुक्ल जी कहते हैं, "किसी भाषा का साहित्य मे व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नही है कि उस भाषा का अस्तित्व नही था ।"[1] वस्तुत खडी बोली की विद्यमानता का आभास अपभ्रश काल से ही बराबर मिलता चला आ रहा है । यह बात दूसरी है कि काव्य-भाषा के रूप मे वह आधुनिक काल से पूर्व गृहीत नही हुई ।

खडी बोली की सर्वस्वीकृत विशेषता है 'आ'कार-बाहुल्य । ब्रज की प्रवृत्ति 'ओ'कार की ओर है तो अवधी 'ए'कार-बहुला भाषा है । पुरानी हिन्दी और अपभ्रश में इनकी ये परस्पर-भिन्न प्रवृत्तियाँ ही इनके अस्तित्व की परिचायक हैं । इस दृष्टि से देखें तो खडी बोली का इतिहास भी काफी पुराना है, काव्य-भाषा के रूप मे अगीकृत न होने पर भी प्राचीन काल से ही उसका व्यवहार हो रहा है । सिद्ध हेमचद्र शब्दानुशासन (बारहवी शताब्दी) मे अपभ्रश के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत—'भल्ला हुआ जु मारिया ' '—आदि प्रसिद्ध दोहे के भल्ला, हुआ, मारिया आदि शब्दो मे खडी बोली की उक्त विशेषता द्रष्टव्य है । बारहवी और तेरहवी शताब्दियो के अन्य अनेक अपभ्र श-कवियो की कृतियो मे भी खडी बोली का विशेष लक्षण—'आ'कार प्रामुख्य—स्पष्टत वर्तमान है । अत यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि कोई अपभ्रश खडी बोली के रूप मे विकसित हो रही थी । अपभ्र श के पश्चात् रासो ग्रन्थ आते हैं—शायद हिन्दी के प्रथम ग्रन्थ वे ही हैं । उनकी भाषा मे भी खडी बो ी की विशिष्ट प्रकृति स्पष्टत परिलक्षित है । बीसलदेव रासो की निम्न पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

सुरनर मोह्या सुरगका ।[2]

* * *

दवका दाधा हो कूपल लेइ
जीभका दाधा न पाल्हवइ ।[3]

—फिर चौदहवी शताब्दी के अमीर खुसरो ने तो खडी बोली के काफी परिमार्जित रूप का प्रयोग किया ही है, यथा—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, नवाँ सस्करण, पृष्ठ ४०८-४०९

२ बीसलदेव रासो, स० डा० माताप्रसाद गुप्त तथा अगरचद नाहटा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ७१

३ बीसलदेव रासो, स० डा० माताप्रसाद गुप्त तथा अगरचद नाहटा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ९७

एक पुरुष बहुत गुन भरा। लेटा जागे सोवे खड़ा॥
उलटा होकर डाले बेल। यह देखो करतार का खेल॥[1]

आप देख रहे हैं खडी बोली का कैसा व्यवस्थित और निखरा हुआ रूप है। परन्तु खुसरो की रचनाओ के ऐसे अंश एकान्तत मौलिक और प्राचीन नही है। असल मे खुसरो के नाम से प्रचारित सभी पहेलियो, मुकरियो और दो-सखुने आदि को प्रामाणिक मानना असम्भव और असगत कल्पना है, फिर भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि उनमे निश्चित रूप से खडी बोली का पूर्वाभास है। अस्तु।

इसके बाद साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भक्ति काल आता है। उसमे भी खडी बोली की विद्यमानता का आभास है। प्रमाण के लिए निम्नांकित उद्धरण पर्याप्त हैं—

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहिं तर भला न होइ॥[2]

—कबीर

हरि-सा हीरा छाँडि कै, करै आन की आस।[3]

—रैदास

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ें ते और॥[4]

आगे के काव्य मे भी खडी बोली का बराबर प्रयोग होता रहा है। रहीम, भूषण, सूदन, तोष आदि कवियो की रचनाओ मे उसके प्रचुर उदाहरण सहज उपलब्ध हैं। रहीम विरचित मदनाष्टक के अधोलिखित पद्य—

कलित ललित माला वा जवाहिर जडा था।
चपल चखन-वाला चादनी मे खडा था॥
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥[5]

—मे खडी बोली का माधुर्य दर्शनीय है। इसी प्रकार भूषण के—

वुभ्कने सवाई तेरा भाई सलहेरि पास,
कैद किया साथ का न कोई बीर गरजा।[6]

—जैसे पद्यांशो मे निश्चित रूप से खडी बोली व्यवहृत है।

मध्यकाल मे ही गद्य मे भी खडी बोली का प्रयोग आरभ हुआ। अकबर के सम-

---

१. कविता-कौमुदी (पहला भाग), स० रामनरेश त्रिपाठी, सातवाँ संस्करण, पृष्ठ ५३६
२. कबीर-ग्रथावली, सं० श्यामसुन्दरदास, पांचवां सस्करण, पृष्ठ ४
३ कविता-कौमुदी (पहला भाग), स० रामनरेश त्रिपाठी, पांचवां सस्करण, पृष्ठ १६४
४ „ „ „ „ पृष्ठ २७५
५. रहीम रत्नावली, स० मायाशंकर याज्ञिक, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ७३
६ भूषण-भारती, इडियन प्रेस (प्रयाग), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १५३

कालीन कवि गग ने 'चद छद वरनन की महिमा' की रचना खडी बोली गद्य मे की। इसकी भाषा परिमार्जित नही, फिर भी काफी व्यवस्थित और महज-ग्राह्य है। 'चद छद वरनन की महिमा' को देखने पर मन मे यह वात जम जाती है कि इसकी रचना के समय (१६वी शताब्दी मे) खडी वोली वोल-चाल की भापा अवश्य रही होगी। रामप्रसाद निरजनीकृत 'भापा योगवासिष्ठ' की स्वच्छ और व्यवस्थित खडी वोली को देखकर यह विश्वास और भी दृढ हो जाता है—क्योकि भापा मे वैसा परिमार्जन पर्याप्त प्रयोग के पश्चात् ही आता है। अतएव मध्यकाल मे खडी वोली को प्रचारित मान लेना सुसगत और साधार है।

किन्तु मध्यकाल मे खडी बोली का निश्चित व्यवहार होने पर भी साहित्य मे वह आदृत कभी नही हुई—उसे काव्य-भाषा का स्थान तो कभी नही मिला। आधुनिक काल के प्रवर्तक भारतेन्दु ने भी खडी वोली का व्यवहार गद्य मे ही किया है। उनके पद्य मे प्राय चिरव्यवहृत ब्रज ही प्रयुक्त है—क्योकि ब्रजभाषा-काव्य का अभ्यस्त उनका रसिक मन खडी वोली को काव्योचित ही स्वीकार नही कर सका। प० वालकृष्ण भट्ट के अनुसार भी खडी बोली की कविता मे सरसता, मनोहरता, और काव्य-गुणो का समावेश असम्भव है।[1] प० प्रतापनारायण मिश्र का भी यही विचार था। किन्तु यह धारणा उचित नही है—निर्भ्रान्ति नही है। वास्तव मे किसी भी भापा का सौरस्य एव माधुर्य एकान्तत वस्तुनिष्ठ नही हुआ करता वरन् अधिकाशतः आत्मनिष्ठ ही होता है। इसकी पुष्टि के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है, हरिऔध जी अपने प्रिय-प्रवास की विद्वत्तापूर्ण भूमिका मे इस विषय का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। उनका यह निष्कर्ष सोलह आने सही है—"जिन प्राचीन विद्वान् सज्जनो का सस्कार ब्रजभाषा के माधुर्य और कान्तता के विषय मे दृढ हो गया है, और इस कारण उसकी ममता उनके हृदय मे वद्धमूल है, वे यदि कहे कि खडी वोली की कविता कर्कश होती है, तो इसमे आश्चर्य ही क्या!"[2] यह 'दृढ सस्कार' और 'वद्धमूल ममता' ही भारतेन्दु, भट्ट जी और मिश्र जी की पूर्वोल्लिखित धारणा का मूल है।

धीरे-धीरे ब्रज का यह जादू उतरने लगा, फिर भी वावू हरिश्चन्द्र का इतना प्रभाव था कि उनके जीवन-काल मे कोई भी उनका विरोध न कर सका। खडी बोली मे कविताएँ अवश्य लिखी गईं पर केवल खडी बोली का कोई कवि नही था। किन्तु भारतेन्दु के पश्चात् खडी वोली का आन्दोलन बडे जोर-शोर से चल पडा। गद्य मे तो उसे भारतेन्दु के जीवन-काल मे ही प्रमुख स्थान मिल चुका था, यह आन्दोलन उसे पद्य मे भी उसी तरह ग्रहण करने के लिए हो रहा था। अन्दोलनकर्त्ताओ मे सर्वाधिक उग्र थे मुजफ्फरपुर के वावू अयोध्याप्रसाद खत्री। प्रतापनारायण मिश्र आदि उनका विरोध करते थे। किन्तु ईसा की वीसवी शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते हवा ही वदल गई। दिन प्रतिदिन ब्रजभापा का स्थगन और उसके स्थान पर खडी वोली की प्रतिष्ठा होने लगी।

---

१ दे० प्रिय-प्रवास, पंचम सस्करण की भूमिका, पृष्ठ १०

२ प्रिय-प्रवास, पचम सस्करण की भूमिका, पृष्ठ २८

जनरुचि के इस परिवर्तन के मूल मे अयोध्याप्रसाद खत्री के उग्र प्रयत्नो को विस्मृत नही किया जा सकता, फिर भी गद्य की सर्वस्वीकृत भाषा खड़ी बोली को पद्य की प्रमुख भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करने का अधिकांश श्रेय प० महावीरप्रसाद द्विवेदी को ही दिया जाना चाहिए। सन् १९०३ ई० मे सरस्वती के सम्पादक-पद पर आरूढ होते ही उन्होने गद्य और पद्य की भाषा के एकीकरण के निमित्त प्राणपण से प्रयत्न किया। यह प्रयत्न जारी तो पहले से ही था, किन्तु—"द्विवेदी जी का गौरव इस बात मे है कि उनके आदर्श, उपदेश और सुधार के परिणामस्वरूप ही हिन्दी-ससार ने गद्य की भाषा को ही पद्य की भाषा स्वीकार कर लिया।"[1] उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही अनेक कवियो ने खड़ी बोली मे लिखना शुरू किया तथा कुछ नये कवि प्रकाश मे आए जिनमे से एक मैथिलीशरण जी भी हैं। पत्र-पत्रिकाओ—विशेषत. सरस्वती—मे खड़ी बोली की कविताओ की धूम मच गई, वह काव्य की प्रधान भाषा बन गई।

## काव्य-क्षेत्र मे गुप्त जी के पदार्पण के समय खड़ी बोली की दशा

प्रमुख काव्य भाषा के पद पर आसीन होने पर भी खड़ी बोली का रूप अभी अनिश्चित और अस्थिर था। यद्यपि भारतेन्दु काल से ही वह गद्य की एकान्त भाषा चली आ रही थी फिर भी उसमे वाक्य-विन्यास और व्याकरण-सबधी अनेक त्रुटियाँ बनी हुई थी। ईसा की बीसवी शताब्दी के इन प्रारम्भिक वर्षो मे खड़ी बोली की अपरिपक्वता, अपरिमार्जन, शक्तिहीनता और शब्द-कोष-क्षीणता का सभी विद्वानो ने उल्लेख किया है। आधुनिक युग के पूर्वमैथिलीशरण काल मे तो खड़ी बोली लड़खड़ा ही रही थी, प्रमाण के लिए निम्नाकित अवतरण देखिए—

(१) बरसा रितु सखि सिर पर आई पिय बिदेस छाए।
हमें अकेली छोड़ आप कुबरी सों बिलमाए॥
सदेश भी नहीं भेजवाए।
वादे पर वादा झूठा कर अब तक नहिं आए।
बिथा सो कही नहिं जाती।
पिया बिना मैं व्याकुल तड़पूं नींद नहीं आती॥
रात अघेरी पंथ न सूझै घोर घटा छाई।
रिमझिम रिमझिम बूंदे बरसें झोंके पुरवाई॥
पपीहन पी पी रट लाई।[2]
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानु सिंह, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २९१
२ भारतेन्दु-ग्रथावली, स० ब्रजरत्नदास, संस्करण संवत् १९९१, पृष्ठ ५०६

(२) सकल सृष्टि की सुघर सौम्य छवि एकत्रित तह छाई है।
अति की बसै मनुष्यों ही के मन मे अति अधिकाई है॥

*　　　　*　　　　*

देखूं हूं मैं इन्हें मनुज-कुल-नायकता का अधिकारी॥[1]

—श्रीधर पाठक

—पर साहित्य मे गुप्त जी के प्रवेश के समय भी स्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ था। खडी बोली का अपना शब्द-भाण्डार अब भी सीमित था—उस क्षति की पूर्ति के लिए सस्कृत और अरबी-फारसी के शब्दो का उन्मुक्त आदान या फिर साधारण बोल-चाल के भद्दे अनगढ और कवित्वहीन शब्दो का प्रचुर प्रयोग हो रहा था। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण जी के सहयोगी अथवा समसामयिक और उनसे पाँच-दस साल पहले के कवियो के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) अजब है रगत दुनिया की।
बदलती रहती है तेवर।
किसी पर सेहरा बधता है।
उतर जाता है कोई सर॥[2]

—अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध'

(२) रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीडा-कला पुत्तली।[3]

—'हरिऔध'

(३) कामिनियों के मधुर मधुर रवकारक नव नूपुर-धारी,
पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी।
गुद्दे से लेकर अशोक ने, तत्क्षण महा मनोहारी,
कली नवल-पल्लव-युत सुन्दर धारण की प्यारी प्यारी॥[4]

—महावीर प्रसाद द्विवेदी

(४) वन-बीच बसे थे, फसे थे ममत्व मे, एक कपोत-कपोती कहीं,
दिन रात न एक को दूसरा छोडता, ऐसे हिले मिले दोनो वहीं।
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रहीं,
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं।[5]

—रूपनारायण पाण्डेय

---

१ कलरव, स० हरिकृष्ण 'प्रेमी', द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ६३

२. पारिजात, हरिऔध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २५८

३ प्रिय-प्रवास, पचम सस्करण, पृष्ठ ३६

४. कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ११

५ कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १३०

(५) कहीं गोचर भूमि मे सांड सुडौल, भरे अभिमान सुहा रहे थे;
कहीं ढोरों को साथ में लेके अहीर, मनोहर वेणु बजा रहे थे।[1]

—लोचनप्रसाद पाण्डेय

(६) नृप नीति जगै न अनीति ठगै भ्रम भूत लगै न प्रजाधर को।
झगड़े न मचै खल खर्व लचै मद से न रचै भट संगर को॥
सुरभी न कटैं न अनाज घटैं सुख भोग डटैं डपटैं डर को।
दिन फेर पिता वर दे सविता, कर दे कविता कवि शकर को॥[2]

(७) करने चले तंग पतंग जलाकर मिट्टी मे मिट्टी मिला चुका हूँ।
तम-तोम का काम तमाम किया दुनिया को प्रकाश मे ला चुका हूँ॥
परवा न हवा की करैं कुछ भी, भिडे जाके जो कीट पतग जलाये।
निज ज्योति से दे नव ज्योति जहान को अन्त मे ज्योति मे ज्योति मिलाये॥[3]

—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

उपर्युद्धृत अवतरणो मे से १ और ७ मे उर्दू का पुट है तो ३ मे सस्कृत शब्दो की भरमार है, और २ की सस्कृत पदावली मे तो हिन्दी का सधान ही दुष्कर है। ५ और ६ मे साँड, ढोरो, झगडे, डटैं, डपटे, आदि अकाव्यात्मक शब्दो का प्रयोग तथा ४ की नीरस गद्यात्मकता कैसी भद्दी और अरुचि-उत्पादक है।

गद्य की दशा भी अच्छी नहीं थी। भाषा-सुधारक के रूप मे प्रसिद्ध आचार्य द्विवेदी की आरम्भिक रचनाएँ भी त्रुटिपूर्ण है। "उनकी आरम्भिक रचनाओ—'अमृत लहरी', 'भामिनी विलास', 'वेकन-विचार-रत्नावली', 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' आदि—मे लेखन-त्रुटियो, व्याकरण की अशुद्धियो और रचना सम्बन्धी दोषो की इतनी प्रचुरता है कि वे, भाषा की दृष्टि से, द्विवेदी जी की कृतियाँ नही प्रतीत होती।"[4] असल मे आज अशुद्ध माने जाने वाले बहुत-से शब्द उस समय शुद्ध माने जाते थे। दूसरा कारण यह भी था कि वे पहले सस्कृत और मराठी के अध्येता थे—हिन्दी का अध्ययन उन्होंने बाद मे किया। उनका प्रभाव भी हिन्दी के वास्तविक रूप के उद्भास मे बाधक रहा। किन्तु आगे चलकर अपने व्यापक अध्ययन, गहन मनन और गम्भीर चिन्तन के द्वारा उन्होंने अपनी भाषा का परिष्कार कर लिया। अपनी ही क्या, सरस्वती के सम्पादक की हैसियत से, द्विवेदी जी ने औरो की भाषा का भी मार्जन और शोध किया। कितने परिश्रम और मनोयोग से उन्होंने यह कार्य किया शायद उसकी कल्पना भी आज असम्भव है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन मे सुरक्षित सरस्वती की हस्तलिखित प्रतियो के अवलोकन से ही उस भगीरथ

१. कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १३४
२. कलरव, सं० हरिकृष्ण 'प्रेमी', द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८१
३ कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १५२
४. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : डा० उदयभानुसिंह, प्रथम आवृत्ति, पृष्ठ १६२

प्रयत्न का कुछ अनुमान हो सकता है। भाषा-सुधार के उस गुरु-कार्य के सामान्य परिचय के लिए द्विवेदी युग के शोध-कर्त्ता डा० उदयभानुसिंह के शोध-प्रवन्ध 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' (प्रथमावृत्ति) के २१३ से २४४ तक के पृष्ठ देखे जा सकते हैं। उस समय के प्राय. सभी लेखको की भाषा द्विवेदी जी ने ठीक की है। उन लेखको मे से अध्यापक पूर्णसिंह 'पूर्ण', कामताप्रसाद गुरु, मिश्रवन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, रामचरित उपाध्याय और गणेश शकर विद्यार्थी आदि के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त महानुभाव खडी वोली के यशस्वी, प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लेखक हैं। ये लोग भी आरम्भ मे भ्रष्ट भाषा लिखते थे। इनकी अपनी शिक्षा-दीक्षा मे कुछ कमी अथवा दोप नही था वरन् यह युग की व्यापक प्रवृत्ति थी—द्विवेदी जी के सरस्वती-सम्पादन से पूर्व शब्दो के अशुद्ध एव त्रुटिपूर्ण रूप यदि प्रशसित नही तो कम से कम अभिशसित भी नही थे।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल अपनी अतुल प्रतिभा से आधुनिक युग को आच्छादित करनेवाले आचार्य हो गए हैं। भाषा पर उनका अद्‌भुत अधिकार सर्वमान्य है। आलोच्य काल मे वे भी—अन्तर्ध्यान, चैतन्यता, अस्थिपिंजर, समझी जाने लगी है—आदि—दुष्ट प्रयोग करते हैं—औरो की तो वात ही क्या! ऐसे ही समय मे हमारे कवि ने काव्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया। उसकी भाषा मे भी अनेक त्रुटियाँ थी—खडी वोली की दृष्टि से गलत प्रयोग थे। उदाहरण लीजिए—

ओढ़ें दुशाले अति उष्ण अग,
धारें गरू वस्त्र हिये उमग।
तो भी करें हैं सब लोग सी, सी,
हेमन्त मे हाय कँपे बतीसी।

१६०५ ई० मे गुप्त जी ने 'हेमन्त' शीर्षक एक कविता सरस्वती मे छपने के लिए भेजी थी। ऊर्ध्वलिखित अवतरण उसी का अश है। इसमे 'ओढे' और 'धारें' क्रियापद अनुपयुक्त हैं—प्रकृत भाव की अभिव्यक्ति मे असमर्थ हैं। यहाँ 'ओढते हैं' के अर्थ मे 'ओढें' और 'धारते हैं' के लिए 'धारें' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो ठीक नही है। 'करें हैं' और 'कँपे' भी अशुद्ध हैं। द्विवेदी जी ने सरस्वती मे छापने से पहले भाषा की इन त्रुटियो का परिहार किया। भाषागत त्रुटियो का परिहार ही क्या उन्होंने शब्दो के स्थानान्तरण और परिवर्तन द्वारा इसे दीप्त किया। उपर्युक्त पक्तियो का द्विवेदी जी द्वारा शोधित रूप नीचे दिया जाता है—

अच्छे दुशाले, सित, पीत, काले,
हैं ओढ़ते जो वहुवित्त वाले।
तो भी नहीं वंद अमन्द सी, सी,
हेमन्त मे है कँपती वतीसी।[1]

इस प्रकार उन्होंने मैथिलीशरण जी की असमर्थ और अनुपयुक्त क्रियाओ को समर्थ

१. पद्य-प्रवन्ध, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १०६

एव भावाभिव्यजक वनाया। भापा—विशेपत' क्रियाओ की इस असमर्थता और भाव-प्रतिकूलता ने हमारे कवि को आचार्य द्विवेदी का कोपभाजन भी वनाया। 'क्रोधाष्टक' के निम्न पद्य—

होवे तुरन्त उनकी वलहीन काया।
जानें न वे तनिक भी अपना पराया।
होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी।
रे क्रोध, जो जन करें तुझको कदापि।[1]

—को लेकर एक वार वे गुप्त जी पर वरस पडे थे—क्योकि इसमें प्रयुक्त क्रियाओ से ऐसा प्रतीत होता है मानो क्रोध को आशीर्वाद दिया जा रहा है। उपर्युद्धृत पद्य का द्विवेदी जी द्वारा सशोधित रूप भी देखिए—

होती तुरन्त उनकी वलहीन काया,
वे जानते न कुछ भी अपना पराया।
होते अचेत वर बुद्धि-विहीन पापी,
रे क्रोध! जो जन तुझे करते कदापि।[2]

इस प्रकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीकृत सशोधन के उपरान्त मैथिलीशरण जी की रचनाएँ सरस्वती मे प्रकाशित होती रही।

## गुप्त जी की अपनी भापा का क्रमिक विकास

ईसा की वीसवी शताब्दी के प्रथम दशाब्द तक आचार्य द्विवेदीकृत सशोधन के पश्चात् प्रकाशन का यही क्रम चलता रहा। सन् १६०६ ई० में मैथिलीशरण जी की प्रथम पुस्तक रग में भग प्रकाशित हुई। महावीरप्रसाद द्विवेदी के आदेश और उपदेश के प्रभाव से अव तक उनकी भापा कुछ सुधर चुकी थी। अत रग में भग की भापा क्रोधाष्टक आदि के पूर्वोद्धृत छन्दो की अपेक्षा परिमार्जित है। रग में भग का सर्वप्रथम छन्द ही लीजिए—

लोक-शिक्षा के लिए अवतार जिसने था लिया,
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका सर्व-मगल-धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा-समेत प्रणाम है।[3]

इस पद्य में अनेक दोपो का उल्लेख किया जा सकता है—इसे कवित्वहीन तक वताया जा सकता है, फिर भी भापा की दृष्टि से तो इसमें खडी वोली का विकसित रूप है। पूर्वरचनाओं से इनकी तुलना करने पर ही मेरे कथन की पुष्टि हो सकती है। यहाँ 'पूर्वरचनाओं' से तात्पर्य मैथिलीशरणकृत मूल रचनाओं से है—आचार्य द्विवेदी द्वारा सशोधित कविताओं से नहीं। हो सकता है रग में भग की भापा का भी यत्किंचित् परिमार्जन द्विवेदी

---

१. सरस्वती (पत्रिका), फरवरी, सन् १६२६
२. पद्य-प्रवन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८६

जी ने किया हो—क्योंकि वे ही उसके भूमिका-लेखक हैं। पर इसकी सम्भावना बहुत कम है—भूमिका में इस विषय में कोई सकेत नही है। दूसरे कोई भूमिका-लेखक पुस्तक की भाषा का परिमार्जन करता भी नही। अत निश्शक भाव से यह माना जा सकता है कि सर्वप्रथम 'रग मे भग' में ही कवि की अपनी (दूसरो द्वारा परिशोधित एव परिमार्जित नही) भाषा उपलब्ध होती है। अभिप्राय यह है कि 'रग में भग' में न तो 'हेमन्त' और 'क्रोधाष्टक' के पूर्वोद्धृत मूल अवतरणो के समान अशक्त और असमर्थ भाषा है और न 'भीष्म-प्रतिज्ञा' के—

> कैवर्त-कन्या वह सुन्दरी थी,
> बिम्बाधरी और कृशोदरी थी।
> मनोभिरामा मृगलोचनी थी,
> मनोज-रामा-मद-मोचनी थी ॥[1]

—आदि के समान सस्कृतगर्भित।

किन्तु इसका यह मतलब नही है कि 'रग मे भग' की भाषा एकदम शुद्ध खडी बोली है या गुप्त जी १९०९ ई० मे ही शक्तिशाली भाषा के निर्माण मे सफल एव समर्थ हो गए थे। तात्पर्य कहने का केवल इतना ही है कि वे दोनो सीमाओ को छोड़कर खडी बोली के अपने अथवा स्वाभाविक रूप की ओर बढने लगे थे। रग मे भग मे शुद्ध खडी बोली की तो आशा और कल्पना ही असह्य है। उसमे एक ओर—उद्वह, अपारार्णव, वीरवर्योचित, त्वेष, मातृभूमि-तिरस्क्रिया जैसे दुष्पाच्य सस्कृत शब्द हैं तो दूसरी ओर ठौर, नेह, गह, निहोर निहोर के, निरा, अखियाँ, दीजे, थिरता आदि ऐसे व्रज के और देशज शब्द हैं जो खडी बोली के लिए त्याज्य हैं। इसके अतिरिक्त 'वर्णन चला' और 'रोष का उत्थान' आदि मुहावरे भी खडी बोली की प्रकृति के अनुकूल नही हैं। ये सब शब्द एक ही पुस्तक (रग मे भग) से उपस्थित किए गए हैं—और वह पुस्तक केवल ३० पृष्ठ की है। ऐसी लघुकाय पुस्तिका मे इतनी त्रुटियाँ या असाधु एव अवाछित प्रयोग इस तथ्य के परिचायक है कि अभी कवि खडी बोली के वास्तविक स्वरूप को अपना नही पाया है—किन्तु वह इस दिशा मे बराबर प्रयत्न-शील है। अगले ही वर्ष जयद्रथ-वध प्रकाशित हुआ।—और उसकी भाषा मे हमे खडी बोली के वास्तविक स्वरूप के सर्वप्रथम दर्शन होते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

> अपराध सौ-सौ सर्वदा जिसके क्षमा करते रहे।
> हँसकर सदा सस्नेह जिसके हृदय को हरते रहे।
> हा ! आज उस मुझ किंकरी को कौन-से अपराध मे—
> हे नाथ ! तजते हो यहाँ तुम शोक-सिन्धु अगाध मे ?[2]

लक्ष्य करने की बात है कि सवत् १९६७ मे कितनी स्वच्छ और सुबोध खडी बोली गुप्त जी ने लिखी। न इसमे सस्कृत के सधि-समासयुक्त शब्दो का भार है, न अनगढ देशज

---

१ मंगल-घट, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ६४

२ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ २२

शब्दो की भरमार—और न उर्दू की मुहावरेबाजी। भाषा की यह स्पष्टता, सुबोधता और स्वच्छता भारत-भारती मे और भी निखरे हुए रूप मे हमारे सामने आती है, जैसे—

भूलोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशो से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है ॥[१]

एक पद्य और लीजिए—

उन पूर्वजों की कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है
गाते नहीं उनके हमीं गुण गा रहा ससार है।
वे धर्म पर करते निछावर तृण-समान शरीर थे,
उनसे वही गम्भीर थे, वर वीर थे, ध्रुव धीर थे ॥[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जयद्रथ-वध और भारत-भारती की भाषा काफी परिमार्जित है, या फिर यो कहिए कि इनमे खडी बोली का सहज रूप प्राप्त है। किन्तु इन्हे भाषा की दृष्टि से सर्वथा दोषमुक्त कह देना भी अत्युक्ति ही होगी। क्योकि इनमे भी सस्कृत के—जाज्वल्यज्वालामय, करारोपण, दर्शन-विलम्बाकुल, सासारिकी, मार्म्मिकमना आदि तथा लखना, बखानना, ओप, विलोकेंगे, निहार लो, तर्जना, लौटालना आदि अग्राह्य शब्द एव करियो, कीजियो, बिसारियो, छोडियो, मोडियो, दीजो आदि पडताऊ प्रयोग प्रचुर मात्रा मे विद्यमान हैं। कही-कहीं तो सस्कृत के चक्कर मे पडकर गुप्त जी श्रुति-प्रियता को भी भूल गए हैं। निम्न पक्तियाँ देखिए—

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।[3]

व्याकरण-सम्मत होने पर भी रेखाकित शब्द भाषा-सौंदर्य के अपकर्षक हैं—अपनी कर्कशता के कारण कविता के अनुपयुक्त हैं। निष्कर्ष यह कि जयद्रथ-वध और भारत-भारती मे कई स्तरो की भाषा है—किसी एक भाषा का स्थिर रूप से व्यवहार नही हुआ।

वास्तव मे गुप्त जी की भाषा का क्रमिक विकास हुआ है। उस विकास-पथ के कई सस्थान है। वैसे तो प्रत्येक पुस्तक ही अपने आप मे एक सस्थान है—किन्तु मुख्य सस्थान तीन माने जा सकते हैं। उनकी भाषा को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ आरभिक काल—रग मे भग से पचवटी तक
२ मध्यकाल—पचवटी से साकेत-यशोधरा तक
३ उत्तरकाल—साकेत-यशोधरा के पश्चात्

---

१ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ४
२. भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ५
३. भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ३

आरम्भिक काल उनकी भाषा का प्रयोग काल है। मध्यकाल उसकी दीप्ति और समृद्धि का समय है—और उत्तरकाल मे वह प्रौढि को प्राप्त हुई। इस प्रकार जयद्रथ-वध और भारत-भारती प्रयोग काल की रचनाएँ ठहरती हैं। इनके प्रणयन मे कवि खडी बोली के प्रकृत स्वरूप का सन्धान कर रहा था। कभी वह सस्कृत-बहुला भाषा का प्रयोग करता और कभी बोलचाल की साधारण भाषा का। कभी दोनो का सम्मिश्रण कर देता और कभी उन्हें अमिश्र ही रखता। इसीलिए इनकी भाषा मे पूर्वोल्लिखित वैषम्य है। जयद्रथ-वध और भारत-भारती मे ही क्या पचवटी-पूर्व सभी रचनाओ मे यह विषमता विद्यमान है। अपनी इस स्थापना की पुष्टि के लिए तिलोत्तमा से भी दो पद्य उद्धृत करता हूँ—

**१. प्रिय हमको स्वतन्त्र जीवन है,**
**मान्य एक अपना ही मन है।**
**आता है जी मे जब जैसा—**
**करते हैं बस हम तब तैसा॥**[1]

**२ जब तक पशु-प्रवृत्तिया छोडेंगे न सयत्न।**
**तब तक शोधन का यही—आयोधन है यत्न॥**[2]

इन दोनो पद्यो को एक ही कवि की, और एक ही समय की रचना नही बताया जा सकता। प्रथम की सरल-सुबोधता और द्वितीय की सस्कृत-गरिष्ठता मे दोनो का पार्थक्य मुखर है। इस समय की किन्ही दो पुस्तको की भाषा भी एक नही है। कतिपय पुस्तको की भाषा मे तो आकाश-पाताल का अन्तर है—शकुन्तला और किसान की तुलना मेरे कथन की साक्षी है। प्रतिपाद्य विषय भी इस वैषम्य के लिए अशत उत्तरदायी माना जा सकता है। किन्तु मुख्य कारण है खडी बोली का अस्थिर रूप। गुप्त जी के सामने खडी बोली का कोई निश्चित अथवा आदर्श स्वरूप नही था। वे स्वय रूप-स्थैर्य का प्रयत्न कर रहे थे। आरम्भकालीन रचनाओ मे उसके लिए ही प्रयोग हुए हैं। अतएव उनकी भाषा मे अस्थिरता, अनेकरूपता और विषमता मिलती है।—और अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त हैं जो खडी बोली मे नही पचाए जा सकते, जैसे—अयस्कान्त, आयोधन, मृगाम्बु, शुभाकृष्टता, अप्रतिबधकता, शिथिलित, बेंट की आसें, लेखी, हूजो, वैठाल, दीठ, जुडाना, हूले, औंटी, इजारा, सर्द, लासानी, कबूलत, इन्दुलतलब आदि। खडी बोली के लिए दुष्पाच्य इन शब्दो के अतिरिक्त कुछ सन्धि-समास भी हैं जो भाषा को कर्णकटु और अस्वाभाविक बनाते हैं, जैसे—सर्वथैव, असुरेन्धन, करुणै-कधाम, क्षुब्धेन्द्रियोपासनाएँ, बोधोदय—आदि। दीजो, लीजो, कीजो, आव, जाव आदि पडताऊ प्रयोग भी बहुत हैं। सज्ञा से क्रिया बनाने का प्रयत्न भी कवि ने किया है, जैसे—सन्धाना, निर्धारि, सम्मानते हैं—आदि। ये सब शब्द आरम्भिक अथवा प्रयोगकालीन रचनाओ से प्रस्तुत किए गए हैं। भिन्न-विभिन्न प्रकार के शब्दो के प्रयोगो द्वारा कवि भाषा के वास्तविक स्वरूप के स्थिरीकरण मे सलग्न था।

---

१ तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ २८

२ तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४१

पचवटी तक आते-आते वह इस रूप-निर्धारण मे सफल हुआ। पचवटी मे आकर हमे खडी वोली के प्रकृत स्वरूप के दर्शन होते हैं। उसका प्रथम पद्य लीजिए—

पूज्य पिता के सहज सत्य पर वार सुधाम, धरा, धन को,
चले राम, सीता भी उनके पीछे चलीं गहन वन को।
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे, कहा राम ने कि "तुम कहाँ ?"
विनत वदन से उत्तर पाया—"तुम मेरे सर्वस्व जहाँ॥"[1]

एक छन्द और लीजिए—

जो अन्धे होते हैं वहुधा प्रज्ञाचक्षु कहाते हैं,
पर हम इस प्रेमान्ध वन्धु को सव कुछ भूला पाते हैं।
इसके इसी प्रेम को यदि तुम अपने वश में कर लोगी,
तो मैं हँसी नहीं करता हूँ, तुम भी परम धन्य होगी॥[2]

उपर्युक्त दोनो अवतरणो मे खडी वोली का कैसा सहज-प्रसन्न रूप है। सस्कृत शव्दकोष का अनिवार्य आश्रय लिया गया है, पर 'धाम', 'धरा', 'सर्वस्व', 'परम' आदि छोटे-छोटे सुपाच्य शव्द ही गृहीत हैं। अनगढ और अकाव्यात्मक, ग्राम्य और पडताऊ शव्दो का भी अभाव है—उर्दू-फारसी के शव्दो का तो प्रश्न ही नही उठता। किन्तु पचवटी मे पूर्वकथित दोषो का एकान्ताभाव सम्भव नही था—उनमे भी विश्वानुकूल्य, शाखासनस्थ, विहरते हैं, खनते हो, हनते हो, प्रकटे, अवलोका आदि कुछ अग्राह्य शव्द प्रयुक्त हैं। किन्तु उनकी मात्रा अपेक्षाकृत वहुत कम है।

पचवटी के पश्चात् गुप्त जी की भाषा दिन प्रतिदिन निखरती ही चली गई। उसकी शक्तियो का आशातीत विकास हुआ—कुछ ही दिन मे वह अनेक प्रकार के वर्णनो मे सक्षम हो गई। साकेत-यशोधरा तक पहुँचते तो वह काफी समृद्ध वन चुकी थी। पचवटी और साकेत-यशोधरा के वीच मे प्रणीत रचनाओ से काल-क्रमानुसार कुछ उद्धरण देता हूँ—

१. डम डम डमरु का स्वर, दूर करे भय ताप-ज्वर
वम् वम् वोलो, हो जर्जर-विषय पंचशर विष वर्वर,
वहे शाति निर्झर झर झर।[3]

२. रश्मि राशि को ग्रहण, स्वर्ण की रेखा को ज्यों शाण,
धरने चला दैत्य दुर्गा को ताने विकट विषाण।[4]

३. वँठती है वह जव चुपचाप
अचानक चढ़ते हैं भ्रू चाप

---

१. पंचवटी, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ३-४
२. पचवटी, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ३८
३. हिन्दू, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ३८६
४. शक्ति, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७

ओंठ करते हैं मौनालाप,
उमड़ते हैं फिर आंसू आप।
और वह उठती है तत्काल,
पकड़कर अपने बिथुरे बाल![1]

४. कट जावेंगे पुण्य भूमि की पराधीनता के सब पाश,
पाचाली की लाज रहेगी होगा दु शासन का नाश।[2]

ये चारो उदाहरण भिन्न-भिन्न समय के हैं—और सबका वर्ण्य भी भिन्न है। आप देख रहे हैं कि भाषा किसी भी प्रसग के वर्णन मे असमर्थ नही है। या यो कहिए कि कवि के पास नाना-वर्णन-क्षमा भाषा है। तीसरे उद्धरण मे 'बिथुरे' शब्द कुछ खटक सकता है। इस विषय मे स्वय कवि का वक्तव्य है—"हमारी प्रान्तिक बोलियो मे कभी-कभी ऐसे अर्थपूर्ण शब्द मिल जाते हैं, जिनके पर्य्याय हिन्दी मे नही मिलते। जब हम अरबी, फारसी और अँगरेज़ी के शब्द निस्सकोच भाव से स्वीकार करते हैं तब आवश्यक होने पर अपना प्रान्तीय भाषाओ से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने मे हमे क्यो सकोच होना चाहिए।"[3] मैं समझता हूँ कि यह दृष्टिकोण पूर्णत सतुलित है। 'बिथुरे' शब्द को ही लीजिए। यदि इसके स्थान पर 'विकीर्ण' अथवा 'बिखरे हुए' का प्रयोग किया जाए तो 'बिथुरे बाल' की-सी सरस व्यजना नही रह पाएगी। अस्तु!

प्रसग चल रहा था भाषा के विकास का। साकेत से पूर्व की रचनाओ की भाषा का उल्लेख हो चुका है। साकेत-यशोधरा मे आकर भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार हो गया। गुप्त जी की तुक-प्रियता चिर-अभिशसित है। इन दोनो पुस्तको के आलोचको ने प्राय उनके तुको की भर्त्सना की है। फिर भी यह तुकातता उनके अपरिमित भाषाधिकार की परिचायक तो है ही, इतने परिमाण मे तुकान्त-रचना कोई मज़ाक थोडे ही है! पता नही इसके लिए कितने विस्तृत शब्द-भाण्डार की अपेक्षा है।—और यह काम सहज ही—अल्प-प्रयास से हो गया है, 'कठिन से कठिन तुक भी कवि को सरलता से मिल जाती है और उसके प्रयोग भी प्राय दुहरे हैं।"[4] इस प्रकार साकेत-यशोधरा के समय ही मैथिलीशरण भाषा के सर्वमान्य अधिकारी बन चुके थे। यद्यपि इस मध्यकाल मे भी अनेक दोष इनकी भाषा मे विद्यमान रहे, उदाहरणत अक्रौर्य, तौर्यत्रिकशाला, विघूर्ण, हविर्वहन, जिष्णु, सव्य-अपसव्य, अन्ततोगत्वा, नक्र, अरुन्तुद, क्रव्याद, अनुक्रोश, आनुगत्य, अस्थैर्य, त्वेष, ढोटे, तीता, भीता, टीम-टाम, घूम-घाम, झूम-झाम, अभ्कड, मुँह बाना, पीनस, व्यूढ, बोदर, महबूब, न्याजउल्लाह, सवारी, दरगोर, आचरना, लोभा, अवलोका, अनुकूलना, जबलो, तबलो, आव, जाव आदि—खडी बोली मे अस्वीकार्य अनेक शब्दो का प्रयोग भी इस काल की रचनाओ मे हुआ है।

---

१ वन-वैभव, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ९
२. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ १०२
३ गुरुकुल की भूमिका, सस्करण संवत् २००४, पृष्ठ ७-८
४ साकेत : एक अध्ययन (डा० नगेन्द्र), पचम संस्करण, पृष्ठ २०३

साकेत मे तो सस्कृत के सधि-समासयुक्त कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो खडी बोली काव्य मे सर्वथा अग्राह्य हैं, यथा—हेमाद्रि-शृ ग-ममताकारी, हिमवाप्पभाराक्रान्त, दयाधृष्टलक्षरण, उपभोचितस्तनी, तिमिराम्भोधि-समुद्धृतामही आदि। फिर भी पचवटी और यशोधरा के बीच मे कवि की भाषा अत्यन्त समृद्ध हो चुकी थी—उपर्युक्त प्रयोगो को 'कवि का अधिकार' माना जा सकता है।

साकेतोत्तर रचनाओ मे तो गुप्त जी की भाषा का प्रौढ स्वरूप ही मिलता है। दो-तीन उदाहरण लीजिए—

(१) दिया तुम्हारे कृती पिता ने तुम-सा व्रती सपूत,
उनका ऋण-परिशोध करोगे तुम अपुत्र अवधूत![1]

(२) आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओ की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा![2]

(३) ......... ढके अग दीर्घ कच-भार से,
सूक्ष्म थी झलक किन्तु तीक्ष्ण असि-धार से!
दिव्य गति लाघव सुरागनाओं ने धरा,
स्वर्ग मे सुगौरव तो है शची से ही भरा।[3]

(४) भव-विभव-भरे गृह से निस्पृह,
निज धर्म-कर्म कर भले भले,
सम्पूर्ण प्रपंचों से ऊपर
उठ पाच पंच ये कहाँ चले?[4]

ये गुप्त जी की प्रौढ भाषा के उदाहरण है। इनमे लक्ष्य करने की बात है भाषा की स्वच्छता और दीप्ति। यह भाषा उनको अनायास या परम्परा मे नही मिली थी—इसके पीछे वर्षो की अनवरत साधना है—अविश्राम परिश्रम है। उस घोर परिश्रम का अनुमान इस बात मे ही लगाया जा सकता है कि मैथिलीशरण जी से अनन्य साधक को रग मे भग की अनगढ लडखडाती भाषा से जय भारत की दीप्त और परिमार्जित भाषा तक पहुँचने मे लगभग ४० वर्ष लग गए। ४० लम्बे वर्षो की इस उपलब्धि का वास्तविक परिचय रग मे भग, जयद्रथ-वध अथवा भारत-भारती तथा सिद्धराज, नहुष अथवा जय भारत के उत्तरकालीन अशो को एक साथ रखकर पढने से ही हो सकता है।

## गुप्त जी की भाषा का स्वरूप और सौष्ठव

अभी तक ऐतिहासिक दृष्टि से गुप्त जी की भाषा पर विचार हुआ है। अब उनकी शक्ति और सीमा, गुण और दोष, स्वरूप और सौष्ठव का भी विवेचन-विश्लेषण करना

---

१. पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १०
२ हिडिम्बा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १८
३. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ २६
४. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४२६

चाहिए। वैसे तो अभिव्यजना-कौशल के विवेचन के समय भी भाषा पर प्रकाश डाला जा चुका है। वास्तव मे काव्य-शिल्प और भाषा अन्योन्याश्रित हैं—एक पर विचार किए विना दूसरे का दिग्दर्शन हो ही नही सकता। विशेषण-विपर्यय, धर्मी के स्थान पर धर्म का प्रयोग, धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग और मानवीकरण आदि का सम्बन्ध मूलत भाषा से ही तो है।—इनमें से प्रथम तीन उसकी लाक्षणिकता से और अन्तिम मूर्त्तिमत्ता से सबद्ध है। फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें वहाँ स्थान नही दिया जा सकता—यहाँ पर उन्ही का विवेचन किया जाएगा।

## कवि की भाषा का मूल-स्रोत

हमारे कवि ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा प्रवर्त्तित, श्रीधर पाठक द्वारा अनुमोदित तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा परिष्कृत खडी बोली को काव्य-भाषा के रूप मे ग्रहण किया जिसका कोश मुख्यत सस्कृत शब्दकोश ही है। और स्पष्ट शब्दो मे गुप्त जी की भाषा का मूल-स्रोत सस्कृत है। गुप्त जी ही क्या खडी बोली के सभी लेखको की भाषा का मूलाधार सस्कृत है। पर सबने अपनी-अपनी रुचि एव स्वभाव के अनुसार उसका रूप-निर्माण किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जयशकर प्रसाद तथा रामचन्द्र शुक्ल की भाषाओ का वैभिन्न्य प्रमाण है। मैथिलीशरण जी ने अपनी भाषा को प्राय लम्बे एव जटिल सधि-समासो से बचाया है—और न उसे प्रिय-प्रवास के समान ही सस्कृत-प्राय बनने दिया है। अर्थात् उनकी सस्कृतमयी भाषा मे खडी बोली विलीन नही हो गई है। निम्नाकित पद्य देखिए—

> काल अपराह्न, तरु तन्द्रित-से घुप थे,
> नीचे मृग, ऊपर विहग बैठे चुप थे।
> अस्थिर शची ही थी सखी के साथ मन मे—
> शान्त सुरगुरु के सुरम्य तपोवन मे।[1]

इस उद्धरण के अधिकाश शब्द शुद्ध सस्कृत है, फिर भी 'रूपोद्यान प्रफुल्लप्रायकलिका' वाली प्रवृत्ति का अभाव है। वैसे गुप्त-साहित्य मे—

> काचनयनी, कृत्रिमदशना।
> यथारुचि अखिल जन्तु अशना।
> प्रलयपिण्डा, विद्युद्दहसना।
> वाष्पनि:श्वसना, बहुवसना॥[2]

—जैसे स्थल भी मिल जाएँगे। पर यहाँ सस्कृत का प्रयोग सस्कृत का रग देने के लिए नही वरन् व्यग्य को गहरा करने के लिए हुआ है।—और फिर ऐसे स्थल कुल दो-तीन हैं जो नगण्य हैं। सस्कृत के कुछ अग्राह्य शब्दो का भी प्रयोग हुआ है, जैसे शुभाकृष्टता,

---

१. नहुष, दशमावृत्ति, पृष्ठ ४६

२. विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २

ातिवधकता, अक्रौर्य, जिष्णु, लेश, अरुन्तुद, अनुक्रोश, क्रव्याद आदि। कुछ अरुचिकर धियाँ, यथा—असुरेन्वन, कलुणैकवाम, क्षुव्वेन्द्रियोपासनाएँ आदि तथा कतिपय दुष्पाच्य ास—तिमिराम्भोधि-समुद्धृतामही, हेमाद्रि-शृङ्ग-समताकारी आदि भी मिल सकते हैं। न्तु साहित्य के परिमाण को देखते हुए बहुत कम है तथा आरम्भिक एव मध्यकालीन नाओ मे हैं। दूसरे ऐसे शब्दो का प्रयोग कवि को प्राय तुक के आग्रह से करना पडा है।

प्रकृति-रूप मे ही नही कही-कही तो आपने सस्कृत पदो का भी प्रयोग किया है, —दैवात्, जयति, मुख्यतया आदि। पर ये सभी पद बहु-प्रचलित हैं। पदो के अतिरिक्त कृत पदावलियाँ भी ज्यो की त्यो प्रयुक्त हैं, यथा—'कोऽहं', 'दासोऽहं', 'सोऽहं', 'बुद्ध रण गच्छामि', 'सघ शरण गच्छामि', 'दैवोऽपि दुर्बलघातक.', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि। केन सस्कृत पदावलियो का प्रयोग अवसरानुकूल है। उपर्युक्त मे से पहली तीन का वहार धार्मिक वातावरण के सृजन के निमित्त, चौथी और पाँचवी का बौद्ध धर्म मे दीक्षित ने के समय और अन्तिम दो का मुहावरे के रूप मे हुआ है। अवसर का ध्यान रखकर ही होंने दीठ, जुडाना, ढोटे, पखारना, सदेसा, बिसासी, निरख, गेह आदि ब्रज के, टिकुली, र, डगर, कछोटा आदि देशज, मुखबिर, मोमिन, महबूब, कबूलत, ला इलाह इल्लिल्लाह, ासा आदि उर्दू तथा वार्डर, आर्डर, बैरक, बालडान्स आदि अँग्रेजी शब्दो का प्रयोग किया । किन्तु इस प्रकार के प्रयोग—विशेषत अँग्रेजी और उर्दू शब्द—अतिन्यून हैं।

अन्तत निष्कर्ष यह कि गुप्त जी की भाषा का मूल-स्रोत सस्कृत है। अधिकाश शब्द द्ध सस्कृत हैं—अवसरानुकूल ब्रज, उर्दू और अँग्रेजी शब्द भी गृहीत हैं।

## ुछ विचित्र प्रयोग

द्विवेदी-युग मे हिन्दीकरण की कुछ ऐसी प्रवृत्ति फैली कि लोग साधारण देशज अथवा न्य भाषाओ के शब्दो का सस्कार कर उन्हे मिलता-जुलता सस्कृत शब्द बनाने लगे। क्समूलर' को 'मोक्षमूलर' और 'चश्मा' को 'चक्ष्मा' मे परिवर्तित करने का परामर्श इसी ग का है। गुप्त जी भी इसके प्रभाव से अछूते नही रहे। उनके यहाँ 'जापान' को 'जयपाणि', ंकाशायर' को 'लकासुर' तथा 'मुन्शी जी' को 'मनीषी जी' बनना पडा। सस्कृतीकरण के चक्कर मे पडकर उन्होंने और भी कई विचित्र प्रयोग किए है, जैसे—'पिचकारी' के लिए ारा-यन्त्र'। 'मृगतृष्णा' के लिए 'मृग-जल' का प्रयोग तो हो सकता है पर आपने 'मृग-जल' ा भी 'मृगाम्बु' बना दिया है। इनके अतिरिक्त कई शब्दो का प्रयोग ऐसे अप्रचलित अर्थो मे या है कि साधारणत आप उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते—अमन्द के अर्थ मे 'मृदु', रगी के लिए 'मुक्तप्रिय', कबूतर के लिए 'कलरव', साहस के अर्थ मे 'स्पर्धा' आदि ऐसे ही योग हैं। यद्यपि ये अर्थ कोश-अनुमोदित हैं, फिर भी सर्वथा अप्रचलित हैं। अतएव पाठक ो विचित्र लगते हैं। गुप्त जी ने कुछ शब्द नए भी गढ लिए हैं, जैसे—साध्मण्य, रिवर्तमान, क्रौर्य, प्रत्यय-दृढ, विरुद-भ्रष्ट, औदास्य आदि।

## ्याकरण

अनेक विचित्र प्रयोगो की अवस्थिति मे भी गुप्त जी की भाषा व्याकरण-शुद्ध ।—और फिर वे शिष्य भी तो प्रख्यात भाषा-सुधारक द्विवेदी जी के हैं। द्विवेदी

जी अपनी आलोचनाओ मे भाषा की साधुता-असाधुता को ही अधिक परखते थे—इस क्षेत्र मे कालिदास तक की 'निरकुशता' उन्हे असह्य थी। मैथिलीशरण जी की भला क्या मजाल थी जो भाषा मे त्रुटि कर जाते ! डा० नगेन्द्र ठीक ही कहते है—"कवि (मैथिलीशरण जी) को खडी बोली की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान है, दूसरे द्विवेदी जी के चरणो मे दीक्षा लेकर व्याकरण की त्रुटि करना सम्भव नही था ! अत उसकी भाषा सर्वत्र व्याकरण-सम्मत है।"[1] हमारे कवि की भाषा मे कर्त्ता, कर्म एव क्रिया मे से किसी का भी अभाव नहीं मिलेगा। अभाव तो क्या प्रायः उनके स्थान तक मे व्यतिक्रम नही मिलेगा। अर्थात् वाक्य पूरे हैं—और उनमे विभिन्न शब्द अपने उचित स्थान पर हैं—

**कुछ 'शीघ्र बोध' रटा कि फिर वे गणक पुंगव बन गए,**
**पचांग पकडा और बस सर्वज्ञता मे सन गए।[2]**

उपर्युक्त उद्धरण मे वाक्यो के सभी अग अपने प्रकृत क्रम से विद्यमान है। इस प्रकार गुप्त जी के पद्यो की भाषा व्याकरण की दृष्टि से गद्य से अधिक भिन्न नही है—द्विवेदी जी यही तो चाहते थे ! वैसे कही-कही अग्रेजी वाक्य-विन्यास का भी वाछनीय प्रभाव है—

**"मैं हूँ" हँस बोली वह—"जो भी तुम जान लो**
**हानि क्या मुझे यदि निशाचरी ही मान लो।"[3]**

पर ऐसी योजना बहुत कम है। और इसमें भी वाक्य पूर्ण है। वाक्य पूर्ण होने के कारण व्याकरणगत त्रुटियाँ प्राय नही हैं। किन्तु उनका एकान्ताभाव नही है—असुरी, सतकार्य आदि शब्द अशुद्ध हैं। आत्मा[4], देह[5], आदि शब्दो का पुल्लिग मे तथा व्यक्ति[6] और देवता[7] जैसे शब्दो का स्त्रीलिंग मे प्रयोग सस्कृत व्याकरण के अनुसार तो शुद्ध है—किंतु हिन्दी मे ग्राह्य नही। 'अपने' के अर्थ मे अनेक वार 'आप' शब्द का प्रयोग हुआ है—किंतु यह अशुद्ध प्रयोग है, यह प्रान्तीयता का प्रभाव है। अनघ मे 'पकडी जाऊँगी' के स्थान पर 'पकड जाऊँगी'[8] तथा झकार मे 'पर मैंने पहचान न पाया'[9] जैसे अशुद्ध प्रयोग भी विद्यमान है। किंतु ऐसे उदाहरण बहुत कम है—प्रयत्न करने पर ही दो-चार मिल सकते है।

इसके अतिरिक्त मैथिलीशरण जी ने—अनुकूलना, स्वीकारना, सन्मानना, व्यापना,

---

१ साकेत : एक अध्ययन, पचम संस्करण, पृष्ठ २०१
२. भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ १३०
३. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १५
४ अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३६
५. „ „ „ „ २६
६. अजित, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ६८
७ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३६
८. अनघ, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ ३६
९ झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १०६

उच्चारना, शोषणा, जन्मना आदि—क्रियाओं का भी प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ कि यह उनका श्लाघनीय प्रयास था। क्रियापदों की दृष्टि से हिंदी अत्यन्त निर्धन भाषा है। 'करना' और 'होना' को जोड़कर कृत्रिम क्रियापद बनाने पड़ते हैं। यदि उपर्युक्त क्रियाएँ अपना ली जातीं तो भाषा का कितना उपकार होता! पर ऐसा नहीं हुआ—और तब हमारे कवि को भी अपनी परवर्ती रचनाओं में यह प्रवृत्ति त्यागनी पड़ी।

## शब्दालंकार

अभी तक भाषा के स्वरूप का विवेचन हुआ है। अब सौष्ठव पर भी विचार कर लेना चाहिए। भाषा के अलंकरण का सबसे पहला साधन शब्दालंकार हैं। वास्तव में भाषा की साज-सज्जा से उनका सहज सम्बन्ध है अतः वे भाषा के ही अंग हैं। गुप्त जी के काव्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अलंकारों के प्रति उनके मन में कोई विशेष अनुराग नहीं है। अर्थात् वे बलात् अलंकार का विधान नहीं करते। हाँ, अनायास आगत अलंकारों से उनका काव्य अवश्य सज्जित है। अनुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा का संयत तथा सुष्ठु प्रयोग उनकी भाषा को दीप्ति प्रदान कर रहा है। सर्वप्रथम अनुप्रास की छटा देखिए—

१. झटित खण्डित मुण्ड उनका भू-लुठित होने लगा,
शूलमूलक भूल मानों धूल में धोने लगा।[1]

२. चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में।[2]

३. लटपट चरण, चाल अटपट सी मन भाई है मेरे।[3]

विभिन्न प्रकार की अनुप्रास-योजना ने उपर्युक्त पंक्तियों में एक विशेष झंकार पैदा की है—भाषा को विशेषतः चमत्कृत किया है। कहीं-कहीं तो पद्माकर अथवा रत्नाकर की याद दिलाने वाली आनुप्रासिकता भी मिल जाती है—

झाँक न झंझा के झोंके में
झुककर खुले झरोखे में।[4]

किन्तु अनुप्रास की ऐसी झड़ी शायद और कहीं नहीं है। वीप्सा और पुनरुक्ति प्रकाश भी अनुप्रास की तरह भाषा को गति और झंकृति देते हैं। मैथिलीशरण जी के काव्य से केवल दो उदाहरण उपस्थित करता हूँ—

१. देखो, दो दो मेघ बरसते
मैं प्यासी की प्यासी![5]

---

१. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १४
२. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ५
३ यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ४६
४. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २६
५. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ११६

२ झूम झूम रस की रिमझिम मे
दोनों हिले मिले थे।[1]

यमक और श्लेष भी भाषा को विशेष सौंदर्य एव कसावट प्रदान करते हैं—लेकिन शर्त यह है कि उनका प्रयोग सयत और सीमित हो। नही तो कविता कलाबाजी करने लगती है। हमारे कवि ने इन अलकारो को वहुत कम अपनाया है—और जहाँ वे हैं फिट वैठे हैं, बलात् ठूँस-ठाँस नही हुई है। कुछ उदाहरण लीजिए—

१ रात बीतने पर है अब तो मीठे बोल बोल दो तुम।[2]
(यमक)

२. उसे नाथ कर सबको उसने किया सनाथ सहज में।[3]
(यमक)

३. यमुना वहा ले गई, पानी उतर गया सुरराज का।[4]
(श्लेष)

४. वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा,—
मेरा विनोद तो सफल,—हँसी तुम आहा![5]
(श्लेष)

आप देख रहे हैं कि अलकार-नियोजन कितना सहज अतएव मनोहारी एव भाषा के सौन्दर्य-वर्द्धन मे सफल है। बस, यमक और श्लेष का मणि-काचन सयोग और देख लीजिए—

बोला वह—"जो हो तुम गुरुजन अन्तत,
मारूँ क्या तुम्हें मैं, उपहार में लो हार ही!"[6]

'उपहार मे लो हार ही'—इस वाक्य मे यमक और श्लेष के प्रयोग से कितनी सजावट और कसावट आ गई है। चमत्कार-प्रिय कलाकारो के हाथ मे यही अलकार अनर्थ-कारी बन जाते हैं—देव जैसे रससिद्ध कवि भी इस गोरख-धन्धे मे उलझ जाते हैं।

### अर्थ-ध्वनन

अपने अर्थ को ध्वनित कर देना शब्द की शक्ति और सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष है। —और ऐसे शब्दो का प्रयोग कवि की भाषा की चरम परिणति! अनादि काल से कविगण जाने-अनजाने अर्थ-ध्वनन में समर्थ शब्दों का व्यवहार करते आ रहे हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र

---

१ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १८०
२. पंचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ २५
३. द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ २१३
४. द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ६८
५ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६३
६. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३७०

में तो 'Onomatopoeia' (ओनोमेटोपोइया) के नाम से इसे स्वतन्त्र अलकार भी मान लिया गया है। किन्तु अपने यहाँ ऐसा नही हुआ है (चाहें तो इसे अनुप्रास के अन्तर्गत मान सकते हैं)। इसे स्वतन्त्र अलकार का पद न मिलने पर भी हमारे कवियो ने अर्थ मुखर अथवा प्रतिपाद्य की ध्वनि का अनुकरण कर सकने वाले शब्दो का प्रयोग किया है। तुलसीदास का 'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा' इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है। रीतिकालीन कवियो मे देव और पद्माकर तथा आधुनिक युग मे पत और निराला अर्थ-ध्वनन के कुशल प्रयोक्ता हैं। हमारा कवि इस फ़न का उस्ताद नहीं है—पर उसके काव्य मे इनका सर्वथा अभाव भी नही है। दो-एक उदाहरण देखिए—

१. उग्र उल्का खण्ड से चण्डच्छटा छाने लगे।[1]

२. ओ निर्झर, झरझर नाद सुना कर झड़ तू,
पथ के रोड़ों से उलझ सुलझ बढ़ अड तू।
उत्तरीय, उड, मोद-पयोद, घुमड तू,
हम पर गिरि-गद्‌गद भाव, सदैव उमड तू।[2]

प्रथम मे अर्जुन के बाणो की प्रचण्डता और द्वितीय मे पर्वत-प्रदेश मे पत्थरो से टकरा कर आगे बढते हुए निर्झर की ध्वनि शब्दो से ही व्यजित है।—और अब मशीनो का 'खटराग' भी सुनिए—

सुनो क्या, देखो यह खटराग,
अनोखा खटपट अटपट राग।
विकट नटखट, नर्तित नट-राग,
लाख घट और एक रट-राग।[3]

ऐसा प्रतीत होता है मानो आपके सामने ही भारी मशीने चल रही हैं। कितना नीरस है यह पद्य!—पर मशीनो की खटपट भी तो नीरस ही होती है!

इस प्रकार गुप्त जी की भाषा अर्थ-मुखर भी है। किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत नहीं मिलेंगे।

### प्रसंग-गर्भत्व

यह भाषा को सुष्ठु और गौरवान्वित करने की एक उपयोगी प्रणाली है। प्राय. सभी पठित-पण्डित कवियो ने साहित्य-क्षेत्र मे अत्यन्त प्रसिद्ध अथवा बहुचर्चित विषयों को भी अपने प्रतिपाद्य के प्रकटीकरण अथवा स्पष्टीकरण के साधन-रूप मे अपनाया है। यह युक्ति ही प्रसग-गर्भत्व कहलाती है। आलोच्य कवि साहित्य और शास्त्र का विश्रुत ज्ञाता है। अत: उसके काव्य मे प्रसग-गर्भत्व के अनेक श्रेष्ठ उदाहरण उपलब्ध हैं। केवल तीन स्थल नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृष्ठ ८६

२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६०

३. विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ३

१ तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय ! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।[1]

२ बैठीं नाव निहार लक्षणा-व्यजना,
'गगा मे गृह' वाक्य सहज वाचक बना।[2]

३. बाधे थे सौ शस्त्र लुटेरे
और निहत्थे थे हम लोग,
तू 'नैन छिन्दन्ति' मन्त्र सा
जगा, भगा सारा भय-रोग।[3]

इन अवतरणो मे से प्रथम मे कृष्ण और उनके सदेश-वाहक मित्र उद्धव मन मे घूम जाते हैं। उनकी कहानी चिरपरिचित है—उस कहानी के द्वारा ही पक्तियो का अर्थ स्पष्ट होगा। दूसरे उद्धरण मे 'गगाया घोष' के स्थान पर 'गगा मे गृह' लक्षणा और व्यजना के विवेचन मे चिर-प्रयुक्त वाक्य है। साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी इससे परिचित है। पर आज यह लक्षणा और व्यजना का उदाहरण न रहकर अभिधा का बन गया था। तीसरे मे महात्मा गाधी को गीता के अत्यन्त प्रसिद्ध और बहु-उद्धृत 'नैन छिन्दन्ति' आदि मन्त्र के समान बताया गया है अर्थात् उनका प्रभाव इस मन्त्र के समान ही गम्भीर, व्यापक और अचूक था। इस प्रकार परम्पराओ के सम्यक् ज्ञान के बिना ऐसे स्थल स्पष्ट ही नही होते। विद्वान् साहित्यिको को इनके स्पष्टीकरण मे विशेष रस मिलता है। इसीलिए साधारण भाषा की अपेक्षा प्रसग-गर्भित भाषा आदरास्पद पद की स्वामिनी है।

## शक्ति

मैथिलीशरण मुख्यतया अभिधा के कवि हैं। तात्पर्य कहने का यह कि भाव की सहज अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य रहता है, शिल्प-विधान नही। किन्तु, जैसे-जैसे कोई कवि प्रौढि की ओर बढता है वैसे-वैसे उसकी भाषा बिना किसी प्रयत्न के ही समृद्ध, विदग्ध और वक्रतापूर्ण होती चली जाती है—यही तो लक्षणा और व्यजना का चमत्कार है। हमारे कवि के लिए भी यही सत्य है—उसकी आरभिक कृतियो की भाषा एकदम अभिधाश्रित है। परन्तु परवर्ती रचनाओ की भाषा मे उत्तरोत्तर समृद्धि, वैदग्ध्य और वक्रता आती चली गई है। अभिव्यजना-कौशल मे 'धर्मी के स्थान पर धर्म का प्रयोग', 'मानवीकरण' आदि के अन्तर्गत गुप्त जी के काव्य से उपस्थित सब उद्धरण वास्तव मे लक्षणा के ही हैं। यहाँ पर कुछ और उदाहरण लीजिए—

१. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ४२
२. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १०२
३ अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३५

(१) जो था बिना विचारे उनका आज्ञापालन सा सशरीर ।[1]

श्रद्धालु शिष्य के लिए 'आज्ञापालन सा सशरीर' कितना सार्थक है ।

(२) खिला सलिल का हृदय-कमल खिल हसो की कलकल मे ।[2]

कमल को सलिल का हृदय मानना, और फिर हसो की कलकल ध्वनि मे उनका खिलना—कितनी मनोरम कल्पना है !

(३) वृद्ध न होकर बालबनी थी
पलट प्रौढता बांकी ।[3]

प्रौढता की परिणति वार्द्धक्य मे है—प्रौढि के साथ-साथ मनुष्य वृद्ध होता जाता है । पर कृष्ण के साथ यह बात उल्टी थी । प्रौढि उनमे वृद्ध बन कर नहीं बालक बन कर आई थी ।

(४) जननी सरस्वती के छौने,
मधुर सलौने शुचि सोत्साह,
तुम्हीं खिलौने मुग्धामति के,
तुम्हीं ज्ञान के पुतले वाह ![4]

इस पद्य मे 'शब्द' का आख्यान कितना विदग्ध है !

और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं । तारागण के लिए 'नैशदीप', प्रह्लाद के लिए (ईश्वर का) 'नामोच्चारक कीर', भाभी के लिए 'सहज सखी' आदि प्रयोगो मे लक्षणा का ही वैभव है ।

लक्षणा की अपेक्षा व्यजना का प्रयोग हमारे कवि ने कम किया है । व्यजना की मूल है वक्रता—और वक्रता में कवि का विश्वास नही है । मन, वचन और कर्म—किसी की भी वक्रता गुप्त जी को प्रिय नही । उनके काव्य मे उपलब्ध व्यजना के दो-एक उदाहरण प्रस्तुत कर इस प्रसग को समाप्त करता हूँ—

(१) आँखों का कारुण्य आँसुओ का भूखा है ।[5]

कर्बला-युद्ध मे लोग पिपासाकुल थे—उनकी असहाय अवस्था अत्यन्त कारुणिक थी । किन्तु आँखो मे आँसुओ के लिए भी पानी नही था—इस प्रकार जल का अत्यन्ताभाव व्यग्य है ।

(२) मैं अबला ! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे ।[6]

मैदान से अबल भागता है—सबल नही । किन्तु यहाँ गौतम ही ससार छोडकर भागने

---

१. गुरुकुल, संस्करण सवत् २००४, पृष्ठ ४५
२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ४२
३. द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १३६
४ मगल-घट, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २६४
५. काबा और कर्बला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६७
६. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ३८

हैं, यशोधरा नही। अत यशोधरा उपर्युक्त पक्ति मे कहना चाहती है कि विश्रुत वीर होने पर भी तुम मन से कायर हो।

(३) अरी व्यर्थ है व्यजनो की बडाई,
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई ?[१]

उर्मिला सखी को कहती है कि तू विना मँगाए भोजन क्यो लाई है ? पर वास्तविकता यह है कि प्रिय-वियोग के कारण उसे भोजन अच्छा नही लगता। किन्तु यह भाव कथित न होकर व्यग्य है।

## रीति और वृत्ति

**विशिष्टपदरचना रीतिः**

—काव्यालकारसूत्र १।२।७

डा० नगेन्द्र ने हिन्दी काव्यालकारसूत्र की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भूमिका मे उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या-विवेचना कर निष्कर्ष रूप मे लिखा है—"सुन्दर पद रचना का नाम रीति है—यह सौदर्य शब्दगत तथा अर्थगत होता है।"[२] वामन ने—वैदर्भी, गौडीया (अथवा गौडी) तथा पाचाली—रीति के तीन प्रकार माने हैं—

**सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाचाली चेति**

—काव्यालकारसूत्र १।२।९

इन रीतियो को ही काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने क्रमश उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्ति के नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार रीति और वृत्ति तथा उनके प्रकारो मे नाम का ही भेद है—और कोई अन्तर नही। किन्तु डा० नगेन्द्र इन दोनो मे निश्चित पार्थक्य मानते हैं—और कुछ नही तो अग-अगी भाव तो मानते ही हैं।[३] किन्तु अधिकाश विद्वान् दोनो को पर्याय रूप मे स्वीकार करते हैं। शास्त्रीय विवेचन मेरा विषय नही है—अत मैंने दोनो को एक साथ लिया है। दूसरी बात यह है सिद्धान्तत रीति और वृत्ति मे चाहे कुछ भी अन्तर हो, व्यवहार मे तो दोनो एक ही हैं। वैदर्भी और उपनागरिका, गौडी और परुषा तथा पाचाली और कोमला के उदाहरण प्राय. एक ही होगे। अस्तु!

काव्य-रचना के समय कवि को प्रतिपाद्य के अनुकूल कोमल अथवा कठोर, मधुर अथवा कटु, अलकृत अथवा अनलकृत (सरल) पद-योजना करनी पडती है। पद-योजना की इस विभिन्नता पर ही किसी रीति अथवा वृत्ति-विशेष का अस्तित्व निर्भर है। प० रामदहिन मिश्र के शब्दो मे उनकी परिभाषा इस प्रकार होगी—

१. "माधुर्य-व्यजक वर्णों की जो ललित रचना है उसे वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति कहते हैं।"[४]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १९९

२ हिन्दी काव्यालकारसूत्र की भूमिका डा० नगेन्द्र, सस्करण संवत् २०११, पृष्ठ ३८

३ " " " " " " " " पृष्ठ ५२-५४

४ काव्य-दर्पण, रामदहिन मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३१८

२ "ओज प्रकाशक वर्णों से आडम्बर-पूर्ण बन्ध को—रचना को—गौडी रीति या परुषा वृत्ति कहते हैं।"[1]

३ "दोनो रीतियों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पचम वर्णवाली रचना को पाचाली रीति या कोमला वृत्ति कहते हैं।"[2]

गुप्त जी ने सम्पूर्ण मानव-जीवन को—जीवन मे सभव प्रायः सभी स्थितियों को अपने काव्य का विषय बनाया है। अतः उनके काव्य मे रीति अथवा वृत्ति के सभी प्रकारो के उदाहरण सहज-उपलब्ध हैं। उदाहरण लीजिए :

१ वैदर्भी रीति अथवा उपनागरिका वृत्ति—

जल मे शतदल तुल्य सरसते
तुम घर रहते, हम न तरसते,
देखो, दो दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी !
आओ हो बनवासी।[3]

२. गौडी रीति अथवा परुषा वृत्ति—

(क) बनी गढी-सी पहिन मढी का मुकुट पहाडी,
रक्षक सेना घनी घनी काटों की झाडी।[4]

(ख) शर-रूप खर-रसना पसारे रिपु-रुधिर पीती हुई,
उत्कृष्ट भीषण शब्द करती जान मनचीती हुई।
अर्जुन कराग्रोत्साहिता प्रत्यक्ष कृत्या-मूर्ति-सी,
करने लगी गाण्डीव-मौर्वी प्रलयकाण्ड स्फूर्ति-सी॥[5]

३. पाचाली रीति अथवा कोमला वृत्ति—

(क) देकर निज गुंजार-गन्ध मृदु मन्द पवन को।[6]

(ख) चारु चन्द्र की चचल किरणें खेल रही हैं जल-थल मे,
स्वच्छ चांदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल मे।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानों झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोकों मे॥[7]

---

१. काव्य-दर्पण, रामदहिन मिश्र, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ३१८
२. " " " " पृष्ठ ३१६
३. यशोधरा, सस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ११६
४ अजित, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ८५
५ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां सस्करण, पृष्ठ ६४
६ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २६६
७ पंचवटी, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ५

### गुण

"जो रस के धर्म एव उत्कर्ष के कारण हैं और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है, वे गुण कहे जाते हैं।"[1] रस के धर्म होने पर भी—उसमे उनकी 'अचल स्थिति' रहने पर भी उपचारतः गुणो का सम्बन्ध अथवा अस्तित्व भाषा मे मान लिया जाता है। पडितराज जगन्नाथ के अनुसार तो माधुर्य आदि गुण केवल रस मे ही नही, शब्द और अर्थ मे भी रहते है—"तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्य इति मादृशा।"[2] अतएव भाषा के प्रसग मे उन पर भी विचार कर लेना अनिवार्य है।

गुणो की सख्या के विषय मे आचार्यों मे बहुत मतभेद रहा है। भरत और दण्डी ने गुण दस माने है। वामन के अनुसार बीस हैं—दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण—और बढते-बढते भोज के यहाँ तो उनकी सख्या ७२ हो गई।[3] परन्तु मम्मट ने सम्यक् समीक्षा के पश्चात् कुल तीन गुण स्वीकार किए हैं। शेष सब को इन्ही मे अन्तर्भूत कर दिया अथवा इन्ही तीन गुणो का भेद सिद्ध किया, या फिर गुणो की परिधि मे ही बहिष्कृत कर दिया और तब से आज तक गुण प्राय तीन ही माने जाते हैं अथवा यो कहिए कि केवल तीन गुणों का ही महत्त्व है। वे तीन गुण हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। आलोच्य कवि के काव्य से तीनो गुणो के राशि-राशि श्रेष्ठ निदर्शन प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

### माधुर्य

चित्त को द्रुतिमान् अथवा द्रवीभूत करनेवाला गुण माधुर्य कहलाता है। माधुर्य गुण सम्पन्न रचना मे ट, ठ, ड, ढ को छोडकर स्पर्श वर्णों (क से म तक), अनुस्वार, ह्रस्व तथा असमस्त पदो का प्राधान्य रहता है। रसो मे शृगार, शान्त एव करुण ही माधुर्य के अनुकूल हैं—

(१) निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रजन ने नयन इधर मन भाये।[4]

(२) हा भगवन्! हो गई व्यर्थ वह प्रसव-वेदना सारी,
लेकर यह अनुभूति-चेतना कहा रहे यह नारी?[5]

### ओज

मन मे तेज उत्पन्न करनेवाला—उसे दीप्ति प्रदान करनेवाला गुण ओज है। जिस रचना मे ट, ठ, ड, ढ आदि कठोर, द्वित्व और सयुक्त वर्णों का आधिक्य होता है वह ओज

---

१ काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग (रसमंजरी) सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पचम सस्करण, पृ० ३३०

२. रसगगाधर, निर्णय-सागर प्रेस, सस्करण सन् १९३९, पृष्ठ ६८

३ दे० हिन्दी काव्यालकारसूत्र की भूमिका डा० नगेन्द्र, सस्करण सवत् २०११, पृष्ठ ६८

४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २१६

५ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ८६

गुणमयी होती है। वीर, रौद्र और वीभत्स रस-पूर्ण रचनाएँ ओजगुणयुक्त होती हैं—

(१) छातियां सजीव सी शिलाएँ टकराती थी,
देख देख दर्शकों की आँखें चकराती थी।
लड लड़ जाते कुछ गडकों-से मुंड थे,
टागें मारते थे मत्त वारणों के शुंड थे।
कर धरते थे कर किंवा अजगर थे,
करते अमानुषिक नाट्य वे दो नर थे![1]

(२) तव निकलकर नासा-पुटों से व्यक्त करके रोष त्यों,
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों—[2]
आदि।

## प्रसाद

मन को विकसित अथवा व्यापक बनाने वाला गुण प्रसाद के नाम से अभिहित किया जाता है। श्रवण करते ही जिस रचना की अर्थ-प्रतीति हो जाए वह प्रसादगुणमयी होती है। आचार्यों ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रसाद वह गुण है जिनके कारण कोई रचना चित्त मे सूखे ईंधन मे आग अथवा स्वच्छ वस्त्र मे जल के समान तुरन्त व्याप्त हो जाती है।

हमारा कवि मुख्यतया प्रसाद का ही कवि है—यह उसकी सबसे वडी विशेषता है। उसके काव्य से दो-एक उदाहरण लीजिए—

(१) भूल इस भव मे मनुष्य से ही होती है,
अन्त मे सुधारता है उसको मनुष्य ही।
किन्तु वह चूक हाय! जिसके सुधार का
रहता उपाय नहीं, हूक बन जाती है,
और जन-जीवन बिगड़ जैसे जाता है।[3]

(२) तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके, पर है मानों कल की बात,
वन को आते देख हमें जब आर्त, अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब अवधि पूर्ण होगी वन की;
किन्तु प्राप्ति होगी इस जन को इससे बढ़कर किस धन की?[4]

(३) "बन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है?
देखो फँसा स्वच्छन्द यहा लघु नद है।

---

१. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २२-२३
२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां सस्करण, पृष्ठ ३७
३. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ८०
४. पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ८

इसको भी पुर मे लोग बांध लेते हैं।"
"हां वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं!"[१]

## उक्ति-वैचित्र्य अथवा उक्ति-सौन्दर्य

व्यजना के प्रसग मे मैं कह चुका हूँ कि हमारा कवि वक्रता-प्रिय नही है। अभिप्राय यह है कि वह जानबूझकर उक्ति को वक्र नही बनाता। किन्तु लेखन के अभ्यास एव भाषा की समृद्धि के साथ-साथ कथन की प्रणाली मे अपने आप विचित्रता आती चली जाती है। यह कवि भी इस साधारण नियम का अपवाद नही है।

वक्रता के समावेश से उक्ति विशेष रूप से आकर्षक, चमत्कृत और सप्रभाव बन जाती है। उक्ति के इस वैचित्र्य के मूल मे विरोधाभास, साम्य अथवा वैषम्यमूलक पद-योजना या फिर क्रमिक वर्णना आदि का सौन्दर्य रहता है। गुप्त जी के काव्य से उक्ति-वैचित्र्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

(१) जहाँ हाथ मे लौह वहाँ पैरो मे सोना।[२]
(२) दीप्ति मुझे देगा अभिराम कृष्ण-पक्ष ही।[३]
(३) मानुष की सत्ता हा! अमानुषिकता मे है।[४]
(४) रानी-सी रखते हैं मुझको,
स्वय सचिव-से रहते।[५]

पत्नी को प्रसन्न रखने वाले नन्द के विषय मे यशोदा की यह उक्ति कितनी विचित्र और मधुर है।

(५) प्रभु की नाम मुद्रिका देकर परिचय, प्रत्यय, धैर्य दिया।[६]
(६) सैन्यसर्प जो, फण उठाये फुंकारित थे,
सुन मानो शिव-मन्त्र, विनत, विस्मित, वारित थे![७]
(७) मूंदे तब तक ये दृग तूने बनकर कठिन उदार![८]
(८) नेत्रों को लुभाया श्रवणो ने था यथार्थ ही,
उत्सुक किया है अब श्रवणो को नेत्रों ने।[९]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६४
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३०७
३ झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३४
४ युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ५०
५. द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ १४
६ प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृष्ठ ५५
७ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३१६
८ कुणाल-गीत, संस्करण सवत् २००२, पृष्ठ २९
९ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६०

गुण-श्रवण के उपरान्त दर्शनेच्छा और दर्शन के पश्चात् मधुमय वचन के श्रवण की उत्कट अभिलाषा की व्यक्ति की कैसी अनौपचारिक—किन्तु सप्रभाव युक्ति है !

(६) वेद का अन्त अहा निर्वेद ![1]

(१०) सबके शासन मे कौन सहे अनुशासन ?[2]

(११) भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है ।[3]

(१२) अगों मे उमग अहा ! आँखों मे अनग रग ।[4]

(१३) गति मे मरालता है, भौहो मे करालता है ।[5]

(१४) नाच रहे हैं अब भी पत्ते मन-से सुमन महकते हैं ।[6]

(१५) प्रज्वलित अनल-सा, क्षुब्ध-अनिल-सा, चल प्रपात के जल-सा ।[7]

उपर्युक्त उद्धरणो मे से १, २, ३, ७ और ६ मे विरोधाभास का सौंदर्य है । ११, १३ और १५ के वैचित्र्य का मूलाधार साम्य है तो १० और १४ का वैषम्य ।—और १२ मे साम्य-वैषम्य दोनो ही वर्तमान हैं । ६ और ८ के सौंदर्य का कारण क्रम-विन्यास ही है ।

## मुहावरे और कहावतें

'मुहावरे और कहावतें प्रौढ भाषा के सहज गुण है ।' भाषा की कसावट, शक्तिमत्ता, लाक्षणिकता और प्रभावपूर्णता के लिए उनका प्रचुर प्रयोग अपेक्षित है । किन्तु हिन्दी मे उनका प्रयोग बहुत कम हुआ है । सूर, तुलसी, बिहारी और घनानन्द के अतिरिक्त शायद और कोई इस दिशा मे सफल नही हो सका । गुप्त जी के काव्य मे भी मुहावरे और कहावतें अल्प ही हैं—भाषा के ऐसे सर्वमान्य अधिकारी की भाषा मे उनका अभाव तो सम्भव ही नही था !—वे सख्या मे तो कम हैं, पर हैं अपने स्थान पर युक्तियुक्त । स्वाभाविक रूप मे व्यवहृत होने के कारण उनका सौंदर्य प्रस्फुटित है । बिहारी के चिर-अभिशसित 'गू ड चटाए ह्र रहै' आदि के समान उनका बलात् नियोजन नही हुआ है । निम्नाकित उद्धरणो का अवलोकन कीजिए—

(१) मेरी मलिन गूदडी मे भी है राहुल-सा लाल[8]

(२) नाको चने चबाने पड़े थे और फिर भी
निष्कृति के हेतु पडे दांतो तृण दाबने[9]

---

१ विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३७

२ राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २२

३. पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ६

४ तिलोत्तमा, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६४

५ तिलोत्तमा, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६४

६ पचवटी, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १०

७. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४०७

८. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ३४

९. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ५१

(३) जागे नहीं कच्ची नींद माता और भ्राता ये[१]
(४) लगे इस मेरे मु ह मे आग[२]
(५) मैं हूं वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ मे[३]
(६) छाती फटती हाय ! दु ख दूना मैं पाती[४]
(७) नहीं, नहीं, मेरे अनुजो को मुझसे भी लोहा लेना[५]

आप देख रहे है कि उपर्युक्त मुहावरे अपने स्थान पर कैसे उद्भासित हैं। यदि सकेत न किया जाए तो कदाचित् पाठक उन पर ध्यान किए विना ही आगे वढ जाएगा। इनके अतिरिक्त—दांत उखाडना, धूल भरे हीरे, भरती का, मुँह मोडना, मुँह तकना, दांत पीसना, मन रखना, अवसर खोना, सम्बन्ध जोडना, प्राणो पर खेलना, नशे मे चूर होना, पसीने की जगह लोहू वहना, कागजी घुडदौड, हराम की खाना, मुँह न खुलना, आँखें फटना आदि—अनेक मुहावरो का सुष्ठु एव आकर्षक प्रयोग हुआ है। पर गुप्त जी के पुष्कल-परिमाण साहित्य मे वे नगण्य से ही हैं—साहित्य के परिमाण की दृष्टि से उनकी सख्या वहुत कम है।—कहावतें तो और भी कम हैं। प्रयास करने पर भी कहावते थोडी ही उपलव्ध हो सकेंगी। हां, जो हैं उनका प्रयोग पर्याप्त पटुता के साथ हुआ है। दो-एक उदाहरण लीजिए—

(१) यह साधारण वात काटता है जो वोता।[६]
(२) सिंह और मृग एक घाट पर आकर पानी पीते हैं।[७]
(३) कहते हैं स्वर्ग नहीं मिलता विना मरे।[८]

दो-एक स्थान पर कवि ने अग्रेज़ी और सस्कृत के मुहावरो अथवा लोकोक्तियो का भी अच्छा प्रयोग किया है, जैसे—

पलटा पृष्ठ उसी ने "तुमको सुरपुर कैसा भाया"[९] मे अग्रेज़ी के to turn page की भावना का व्यवहार हुआ है। इसी प्रकार—

हो गए सब चौकन्ने,
भय वा कौतुक भरे काल-पुस्तक के पन्ने।[१०]

---

१. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १३
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३४
३ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृष्ठ २५
४ सैरन्ध्री, अष्टमावृत्ति, पृष्ठ ३३
५ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३३४
६ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ३०८
७ पचवटी, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ १२
८ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १७
९ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७७
१० अजित, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ८३

—मे भी अंग्रेजी मुहावरे का प्रयोग है और निम्न पंक्ति मे सस्कृत की 'वीरभोग्या वसुन्धरा' के तलवर्ती भाव का सुचारु उपयोग हुआ है—

वीर की ही वसुधा है, वीरव्रत पालें हम ।[1]

मुहावरो और कहावतो का सौंदर्य उनके प्रसिद्ध और प्रचलित स्वरूप मे ही सुरक्षित रहता है—क्योकि वे रूढ होते हैं। उनकी शब्दावली क्षति के बिना परिवर्तित नही की जा सकती। किन्तु मैथिलीशरण जी की सस्कृतीकरण की प्रवृत्ति यहाँ भी दृष्टिगत होती है। हिन्दी का मुहावरा है 'गागर मे सागर भरना' पर हमारे कवि ने लिखा है—

आश्चर्य है, घट मे उन्होंने सिन्धु को है भर दिया ।[2]

इसी प्रकार पचवटी मे 'उगली पकडकर पहुँचा पकडना' का 'अगुली पकड प्रकोष्ठ पकड लेना'[3] बन गया है। निम्न पक्तियो मे भी यही बात है—

(१) आचारो के आडम्बर में बंधें न अधिक हमारे हस्त ।[4]

(२) भाल पीटते हैं अपना ही क्लीव-कर्महीनो के हस्त ।[5]

'हाथ' की जगह 'हस्त' का प्रयोग होने से इनकी सारी सजावट ही बिखर गई है। डा० रमाशकर 'रसाल' तो शायद यह कहेगे कि इस प्रकार मुहावरे अथवा लोकोक्ति को 'उत्कृष्ट' बना दिया गया या उनका 'परिष्कार' कर दिया गया है।[1] किन्तु मैं उनसे सहमत नही हूँ। मुहावरे-कहावतो को मैं तो रूढ अतएव अपरिवर्तनीय मानता हूँ। उपर्युक्त प्रयोगो की वैभवहीनता मेरे मत की पुष्टि के लिए पर्याप्त है।

सौभाग्य से हमारे कवि मे यह 'उत्कृष्टीकरण' अधिक नही है।

अन्तत निष्कर्ष यह कि गुप्त जी की भाषा काफी पुष्ट और प्राजल है। खडी बोली की लाक्षणिक शक्तियो का विकास यद्यपि उनमे नही हो पाया, फिर भी अपनी शुद्धि, व्यापकता और नानावर्णनक्षमता के कारण वह समादरणीय है।—और उन्हे भाषा का व्युत्पन्न पडित, विश्वस्त विद्वान् तथा पूर्ण अधिकारी स्वीकार करने मे हमे तनिक भी सकोच नही है।

## खड़ी बोली के विकास मे गुप्त जी का योगदान

काव्य-भाषा के रूप में खडी बोली पर विचार करते समय इस बात का उल्लेख हो चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा प० प्रतापनारायण मिश्र प्रभृति कविगण उसे काव्योपयुक्त नहीं मानते थे—वह भला ब्रज जैसी 'मिठनौनी' कहाँ थी। भारतेन्दु और मिश्र जी ही

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११३

२. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ३२

३. पंचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ३७

४. गुरुकुल, सस्करण सवत् २००४, पृष्ठ १३६

नही जार्ज ग्रियर्सन का भी यही मत था। इन लोगो को ब्रजभाषा की कविता ही पसन्द थी। खडी बोली के सबन्ध मे तो इनकी निश्चित धारणा थी—"ब्रजभाषा सी पै मिठलौनी कहाँ ?" प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इसका मुँहतोड जवाब दिया। प्रिय-प्रवास की विस्तृत भूमिका मे उन्होंने अनेक उद्धरण देते हुए सतर्क सिद्ध किया कि भाषा का 'मिठलौनापन' तो अभ्यास और प्रयोग पर आधृत है। केवल ब्रजभाषा का ही उस पर अधिकार नही है—खडी बोली मे भी उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है।

प्रिय-प्रवास की भूमिका के उक्त अभिमत से आश्वस्त उस समय के कवि और पाठक ने यह कल्पना की थी कि प्रिय-प्रवास मे खडी बोली के वैभव का दर्शन होगा। किंतु ऐसा नही हुआ—हरिऔध उसका कोई स्थिर अथवा प्रकृत रूप प्रस्तुत नही कर सके। उन्होंने या तो प्रिय-प्रवास की कृदन्त-प्रधान समासबहुला सस्कृत पदावली उपस्थित की या फिर चोखे चौपदे की 'हिन्दुस्तानी'। अभिप्राय यह कि वे अपने सिद्धान्तो को व्यवहार मे परिणत नही कर सके। इस दिशा मे कृतकार्य हुए प० महावीर प्रसाद द्विवेदी। वैसे उनकी अपनी कविता मे भी खडी बोली का सहज-प्रसन्न रूप नही है—किन्तु उन्होंने दूसरो को उसकी सिद्धि का आदेश और उपदेश दिया। पर उनकी सर्वाधिक कृतकार्यता है मैथिलीशरण जी के सन्धान और उन्नयन मे। डा० सत्येन्द्र का यह कथन—"उनको (द्विवेदी जी को) सबसे अधिक सफलता मिली गुप्त जी को चुन लेने मे, तथा उनको प्रोत्साहित करने मे"[1]—सोलह आने सही है। काव्य-भाषा-विषयक अपने जिस आदर्श को भावुकता की क्षीणता के कारण द्विवेदी जी स्वय भी उपस्थित नही कर पाए थे उसे हमारे कवि ने प्रतिष्ठित किया। परिणामत उसकी भाषा ही द्विवेदी-काल की आदर्श भाषा बन गई। "श्री रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी और श्री गोकुलचन्द्र शर्मा की भाषा भी हमे मैथिलीशरण की ही अनुसारिणी दिखाई देती है।"[2]

खडी बोली को काव्योचित सिद्ध करनेवालो मे श्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शकर शर्मा 'शकर', ठाकुर गोपालशरणसिंह, सत्यशरण रतूडी, रामचरित उपाध्याय आदि कवियो के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं। इनमे सबसे अधिक महत्त्व है श्री मैथिलीशरण का। ठाकुर गोपालशरणसिंह भी खडी बोली के परिमार्जन मे सहायक हुए है—उनकी भाषा भी काफी स्वच्छ थी। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था—"पर जिस प्रकार बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरणसिंह ऐसे कवियो की लेखनी से खडी बोली को मजते देख आशा का पूर्ण सचार होता है ।"[3] सचमुच उस समय गुप्त जी और ठाकुर साहब की भाषा को देखकर ही 'आशा का पूर्ण सचार' होता था—अन्य कवियो द्वारा खडी बोली के नाम से गृहीत भाषा को देखकर तो मन मे 'आशका' ही होती थी। पर बाद मे ठाकुर साहब पिछड गए—वे खडी बोली को कोई स्थायी महत्त्व की चीज नही दे सके। दूसरे भाषा का सहज रूप अपनाने पर भी उन्होंने छन्द पुराने ही रखे—कवित्त और

---

१. गुप्त जी की कला : सत्येन्द्र, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ४

२ हिन्दी कविता मे युगान्तर · प्रो० सुधीन्द्र, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४०५

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, नवाँ सस्करण, पृष्ठ ६४०

सवैये का ही व्यवहार किया जो खडी बोली के अधिक अनुकूल नही हैं। एक शब्द मे गोपालशरणसिंह के पास मैथिलीशरण जैसी कवि-प्रतिभा नही थी। उनके पीछे रह जाने का यही कारण है—क्योकि सम्यक् प्रयोग के बिना भाषा किस काम की। इसीलिए मैंने कहा है कि खडी बोली को काव्योपयुक्त प्रमाणित करनेवालो मे गुप्त जी का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। वस्तुत "उनकी भाषा-सबन्धिनी साधना उनके भावयोग के साथ उनकी समस्त कृतियो मे व्याप्त देख पडती है जैसा कि उनके पहले के(साथ के भी) आधुनिक किसी कवि मे नही देख पडती।"[1]

गुप्त जी से पहले तो खडी बोली का कोई स्थिर रूप ही नही था। सस्कृत-प्रधान भाषा भी खडी बोली के नाम से अभिहित होती थी, और उर्दू-फारसी प्रधान भी। अपितु कभी-कभी तो ब्रज की भी भरमार रहती थी जिसको कि स्थानापन्न करने खडी बोली जा रही थी। सिद्धातत्त खडी बोली के पृष्ठपोषक भी ऐसा ही कर रहे थे—श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की कविताए मेरे कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन समय सस्कृत, उर्दू अथवा ब्रज से मुक्त खडी बोली के अस्तित्व की कल्पना ही असभव थी। शायद इसीलिए ब्रजभाषा के कुछ पक्षपाती सोचा करते थे—

"यह ब्यारि तबै बदलेगा कछू,
पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ ?"

पर देखते ही देखते १६०३ ई० मे खडी बोली के प्रबल पोषक आचार्य द्विवेदी सरस्वती के सम्पादक नियुक्त हो गए। जिनके अथक परिश्रम से खडी बोली का प्रचार और प्रभाव बढा। १६१० ई० मे गुप्त जी का जयद्रथ-वध प्रकाशित हुआ जिसने ब्रजभाषा की आशा का ही हनन कर दिया।—और उनकी भारत-भारती ने जनता के गले का हार बन कर खडी बोली को ब्रज और उर्दू दोनो से मुक्त कर दिया। इनके प्रकाशन से खडी बोली का विकास-पथ उन्मुक्त हुआ—और लोगो ने इनकी भाषा का अनुकरण किया। उस काल के प्राय सभी आलोचको ने एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है। दो-एक की सम्मति नीचे उद्धृत की जाती है—

"उनके जयद्रथ-वध ने ब्रजभाषा के मोह का वध कर दिया,' और भारत-भारती मे तो जैसे सुनिश्चित भारतीय भाषा का सहज रूप ही खडा हो गया।"[2]

—डा० सत्येन्द्र

"बीसवीं शताब्दी मे साधारण तुकबन्दी से प्रारम्भ करके पहले जयद्रथ-वध की

---

१ हिन्दी साहित्य . बीसवीं शताब्दी—नन्द दुलारे वाजपेयी, सस्करण सन् १६४७, पृष्ठ ३१

२. गुप्त जी की कला, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ७

अबाध गतिपूर्ण सरल साहित्यिक रचना हुई··· ।"[1]

—डा० श्रीकृष्ण लाल

"उनकी (गुप्त जी की) लेखनी से 'जयद्रथ-वध' और 'भारत-भारती' की सृष्टि हुई तो वर्षों तक इन दोनो काव्यो की ही भाषा का सौष्ठव अनुकरणीय हो गया। उसमे खडी बोली की जो गरिमा, जो सुषमा प्रस्तुत हुई वह एक मानदण्ड बन गई ।"[2]

—प्रो० सुधीन्द्र

जयद्रथ-वध और भारत-भारती ग्रन्थ काफी लोकप्रिय हुए। उनकी इस लोकप्रियता ने यह शका निर्मूल कर दी कि खडी बोली की कविता पाठको को मुग्ध नही कर सकती। दूसरे इन पुस्तको ने खडी बोली की काव्योपयुक्तता निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दी। इस विजय-प्राप्ति के पश्चात् तो वह निरन्तर परिमार्जित, समृद्ध और दीप्त होती चली गई। ब्रजभाषा का स्वर मन्द पड गया। आधुनिक युग मे जन्म होने पर भी प्राचीन युग मे श्वास लेने वाले—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' तथा प० सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे—कवि अन्त तक ब्रजमाधुरी पर ही मुग्ध रहे—किन्तु युगधर्म के प्रति जागरूक कवि ने खडी बोली का ही व्यवहार किया। अनेक प्रतिभाशाली आत्माओ के करस्पर्श से निरन्तर वर्द्धमान खडी बोली आज काफी पुष्ट और शक्तिसम्पन्न हो गई है। अब उसकी कलात्मक सभावनाओ और लाक्षणिक शक्तियो का अपरिमित विकास हो गया है—मैथिलीशरण तो शायद इस दिशा मे पिछड गए हैं। साहित्य के सन् १६२६ से १६४७ ई० तक के इतिहास के अनुसधाता डा० भोलानाथ खडी बोली के अधुनातन औज्ज्वल्य, दीप्ति, समृद्धि और विकसित अभिव्यजना-शक्ति का इतिहास बताते हुए लिखते हैं—

"· महावीर प्रसाद द्विवेदी तक आते-आते खडी बोली मे भी कविता लिखी ानी प्रारम्भ हुई। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खडी बोली की कविता को बहुत प्रोत्साहन या और खडी बोली गद्य का परिष्कार एव परिमार्जन किया। जयशकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन न्त, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', रामकुमार वर्मा, हरिवशराय 'बच्चन', ामधारी सिंह 'दिनकर' तथा रामेश्वर शुक्ल 'अचल' आदि ने कविता मे प्रयुक्त होने वाली डी बोली को विकसित करने और उसमे कलात्मकता का समावेश करने मे अपना-अपना हत्वपूर्ण योग दिया।"[3]

प्रसाद से अचल तक के कवियो ने निस्सदेह खडी बोली को 'विकसित करने और उसमे कलात्मकता का समावेश करने मे अपना-अपना महत्वपूर्ण योग दिया है।' चाहे तो उपर्युक्त सूची मे सर्वश्री सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और 'सुमन' प्रभृति कवियो के नाम और जोडे जा सकते हैं। लेकिन पता नही

---

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १४२

२ हिन्दी कविता मे युगान्तर, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४०४

३ हिन्दी साहित्य ( १६२६ ई०—१६४७ ई० ), सस्करण १६५४ ई०, पृष्ठ १४

डा० भोलानाथ महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात् एकदम जयशंकर प्रसाद पर कैसे कूद पड़े।—प्रसाद और महावीर प्रसाद के बीच के अनिवार्य सेतुमार्ग—मैथिलीशरण जी—को न जाने वे किस प्रकार विस्मृत कर गए? मैं मानता हूँ कि आज हिन्दी मे गुप्त जी से अधिक व्यंजनापूर्ण और लाक्षणिक शक्तिसम्पन्न भाषा के अधिकारी तथा कलात्मक अभिव्यंजना में समर्थ कवि विद्यमान हैं। और स्पष्ट शब्दो मे कम से कम प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की भाषा हमारे कवि से अधिक सशक्त, उज्ज्वल तथा समर्थ है। फिर भी क्या उनके महत्व को अस्वीकार किया जा सकता है?—क्या काव्य-भाषा खड़ी बोली के विकास मे उनका योगदान विस्मरणीय है? यदि इतिहास का एक पृष्ठ उलटकर देखें तो पता लगेगा कि आरम्भ मे खड़ी बोली के यशस्वी कवि-कलाकार प्रसाद जी ने भी ब्रजभाषा मे ही कविता की थी। बाद मे वे खड़ी बोली की तरफ आए।—उस खड़ी बोली की ओर जो कि मैथिलीशरण जी द्वारा प्रवर्तित थी। खड़ी बोली की प्रकृति को प्रारम्भ मे ही पहचानने वाला आलोच्य कवि ही है।[1]

फिर भी भाषा की समृद्धि, शक्ति और दीप्ति की दृष्टि से आज हमारा कवि पीछे रह गया है। शक्ति भर वह उसमें कलात्मकता का समावेश करता रहा, पर कब तक! आखिर एक न एक दिन सभी तो हार जाते हैं।—४५, ५० वर्ष की आयु के बाद मनुष्य के लिए नूतनता का अर्जन कष्ट-साध्य किंवा असम्भव हो जाता है। यही इस कवि के साथ हुआ। अन्य कवि उससे आगे बढ गए—प्रगति के लिए यह अनिवार्य है। इस तथ्य में गुप्त जी की हीनता अथवा असमर्थता के सन्धान को विक्षेपण ही कहा जाएगा। क्योंकि यह एक स्वीकृत सत्य है कि पूर्ववर्ती कवियो की श्रम-अर्जित सभी सिद्धियाँ परवर्तियो को सहज-उपलब्ध होती हैं। अत वे और भी विकास-विवर्द्धन मे सफल हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी तथा अन्य कवियो की सिद्धियो के मूल मे गुप्त जी की उपलब्धियाँ हैं। इन कलाकारो की अपनी शक्तियो से इन्कार नही किया जा सकता, फिर भी यदि मैथिलीशरण जी का योग न होता तो खड़ी बोली का इतना संस्कार, परिष्कार एवं वैभव-विकास शायद अभी तक न हुआ होता। इस प्रकार खड़ी बोली के विकास मे उनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है—"किसी माला मे प्रथम मणि, उपवन मे प्रथम पुष्प, गगन मे प्रथम नक्षत्र का जो महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है वही वर्त्तमान हिन्दी-कविता मे गुप्त जी का है।"[2]

---

१. दे० हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, संस्करण सन् १९५५, पृष्ठ ४२२
२. हमारे साहित्य-निर्माता : शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृष्ठ ७१

## (घ) छन्द

छन्द ज्ञान का प्रमुख अग है। वेद के षडाग मे उसे भी स्थान मिला है। यद्यपि अन्य पाँचो अगो—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण और ज्योतिष—की अपेक्षा उसे हीनतर स्थान दिया गया है, वेद-पुरुष के चरण माना गया है—

छन्द पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयन चक्षुर्निरुक्त श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणन्तुवेदस्य मुख व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सागमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥[1]

फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि उसे विद्या के एक अग के रूप मे स्वीकार किया गया है।—और फिर अपेक्षाकृत हीन होने पर भी चरणो की परम आवश्यकता से इन्कार नही किया जा सकता। अत उक्त श्लोक के अनुसार छन्द अथवा छन्द शास्त्र विद्या का आवश्यक अग है। यही पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह अन्यान्य शास्त्रो के समान ही आर्ष तथा अतिप्राचीन है। महर्षि पिंगल इस शास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं। इसीलिए छन्द शास्त्र को पिंगलशास्त्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

### छन्द और उसका स्वरूप

'छन्द' शब्द का साधारण अथवा कोशगत अर्थ है 'बधन'। काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द 'छन्द' में भी उसका यही अर्थ गृहीत है। कविता की गति को आबद्ध करने वाले नियम ही छन्द हैं। किन्तु ये नियम उसकी गति को अवरुद्ध न कर व्यवस्था ही प्रदान करते हैं। इस प्रसग में कवि-कलाकार पन्त की निम्न पक्तियाँ विशेषत अवलोकनीय हैं—

"... कविता का स्वभाव ही छन्द मे लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता मे अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दो के रोडो मे एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं।"[2]

वास्तव मे 'बन्धन' चिरकाल से अभिशसा का पात्र है—उसमे बाधा का भाव भी सम्मिलित है। शायद लोग इसीलिए उसे त्याज्य अथवा गर्हित समझने लगे हैं। किन्तु छन्द तो कविता को गद्य से पृथक् करने वाले धर्म—लय का बाधक न होकर साधक ही है। अतएव ग्राह्य एव अभिनन्दनीय है। 'बन्धन' शब्द की प्रकृत भावाभिव्यजना मे इस असमर्थता के कारण ही कदाचित् सुधाशु जी को उससे पहले 'कृत्रिम' विशेषण लगाना

---

१. पाणिनीयशिक्षा (निर्णयसागर प्रेस), श्लोक नं० ४१-४२
२ पल्लव, पाँचवा सस्करण, भूमिका पृष्ठ २१

पड़ा—उन्होंने छन्द के 'बन्धन' को 'कृत्रिम बन्धन' कहा है।[1] अर्थात् वह बाधक प्रतीत होता है—पर है नहीं।

आज मुक्त छन्द अथवा स्वच्छन्द छन्द का काफी ज़ोर है। किन्तु उसमें छन्दत्व के बहिष्कार की कल्पना उचित नहीं। क्योंकि छन्द के मूलाधार लय की चिन्ता उनमें भी की जाती है, उनका बराबर ध्यान रखा जाता है—यही तो छन्द की आत्मा है। फिर छन्द का तिरस्कार अथवा बहिष्कार कहाँ हुआ ?—मुक्त छन्द में भी उसकी आत्मा सुरक्षित है। बस, बदला है केवल बाह्य कलेवर। पुष्कल परिमाण में रचना हो जाने पर उसका भी वैज्ञानिक अध्ययन संभव होगा, उसकी विभिन्न पद्धतियों का भी नामकरण हो सकेगा—लक्ष्य के समक्ष होने पर ही तो लक्षणों का निर्माण हुआ करता है। परम्परा-प्राप्त छन्द शास्त्र क्या शुरू में ऐसा ही था ? न जाने वह कितने परिवर्तन-परिवर्द्धन का परिणाम है।

ऋग्वेद में प्रयुक्त प्रधान छन्द केवल सात हैं।[2] किन्तु बाद में ये छन्द छन्दोजातियाँ बन गए। संस्कृत काल में 'प्रस्तार' के द्वारा छन्दों की संख्या लाखों तक पहुँचा दी गई। हिन्दी में 'प्रस्तार' का यह विस्तार भानु कवि के छन्द प्रभाकर में देखा जा सकता है। वर्ण अथवा मात्रा के प्रत्येक संभव अथवा संभावित क्रम की परिकल्पना द्वारा एक-एक छन्द के शत-सहस्र छन्द बन गए। उदाहरणार्थ ३२ मात्राओं के पैंतीस लाख चौबीस हज़ार पाँच सौ अठत्तर छन्द हो सकते हैं।[3]—और १२ वर्णों के चार हज़ार छियान्वे छन्द बन सकते हैं।[4] किन्तु यह सारा विस्तार-प्रस्तार कौतुक मात्र है। प्रयोग में आने वाले छन्द कुछेक ही हैं, शेष का तो अस्तित्व ही नहीं। वस्तुतः छन्द शास्त्र में 'प्रस्तार' के अन्तर्गत विवेचित गणितीय ऊहापोह में बौद्धिक मनोरंजन के अतिरिक्त कोई सार नहीं है। अस्तु !

## गुप्त जी द्वारा अनेक छन्दों का प्रयोग

हमारे कवि ने वर्णिक और मात्रिक, सम और विषम सभी प्रकार के छन्दों का व्यवहार किया है। अपेक्षाकृत मात्रिक और वे भी सम—अधिक प्रयुक्त हैं। वास्तव में मात्रिक छन्द ही हिन्दी के अधिक अनुकूल हैं। वर्णिक तो उसके लिए असह्य भार हैं—उसका प्रकृत सौंदर्य परिस्फुट ही नहीं होता वरन् दब जाता है, विलीन हो जाता है। पल्लव की भूमिका में पन्त जी ने लिखा है—

"हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कलरव

---

१. दे० जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३९

२ तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि ' इति ह्याम्नातम्।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यस्त्वेतानि सप्त छन्दांसि।

३ दे० छन्द प्रभाकर : भानुकवि, संस्करण सन् १९२२, पृष्ठ ३५

४. दे० हिन्दी छन्द प्रकाश : रघुनन्दन शास्त्री, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०३

छलूछल् तथा अपने क्रीडा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो वैठती, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर, मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ हो जाती, उसका चचल भृकुटि-भग दिखलावटी गरिमा से दव जाता है।"[1]

मैथिलीशरण जी ने ऐसा कही लिखा तो नही—किन्तु वे भी मात्रिक छन्दो मे अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करते है और उन्ही को हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल मानते हैं। फिर भी उन्होंने वर्णिक वृत्त लिखे अवश्य हैं—हाँ, प्राधान्य मात्रिक का ही है। रही सम छन्दो के अधिक व्यवहार की वात।—यह कवि की अपनी रुचि है। मम छन्द ही कदाचित् विशेप रूप से सौम्य स्वभाव के अनुरूप हैं। फिर भी विपम छन्दो का एकान्ताभाव नही है। सव मिलाकर आलोच्य कवि के छन्द-विधान मे व्यापकता और वैविव्य है। उसके काव्य मे गीतिका, हरिगीतिका, दोहा, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, द्रुतविलम्वित, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी, शिखरिणी, शृङ्गार, पीयूपवर्ष, सुमेरु, पदपादाकुलक, मानव, वियोगिनी, वीर और रोला तथा छप्पय आदि हिन्दी के सभी प्रसिद्ध छन्द व्यवहृत हैं। और प्राय सभी का कुशल प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरण लीजिए

गीतिका

लोक-शिक्षा के लिए, अवतार जिसने था लिया,
निर्विकार निरीह होकर, नर सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका, सर्व-मंगल-धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को, श्रद्धा-समेत प्रणाम है॥[2]

इसके प्रत्येक चरण मे २६ मात्राएँ हैं। दूसरे और तीसरे मे १४, १२ पर किन्तु पहले और चौथे मे १२, १४ पर यति है। ये दोनो ही नियमानुकूल हैं।[3] द्वितीय के अतिरिक्त शेप तीनो चरणो के अन्त मे गीतिका को कर्ण-मधुर वना देने वाला 'रगण' भी है। गीतिका की चारु गति के लिए उसके प्रत्येक चरण की तीसरी, दसवी और सतरहवी मात्राएँ लघु होनी चाहिएँ। उपर्युक्त छन्द के चारो चरणो मे यह विशेपता विद्यमान है।

हरिगीतिका

पापी मनुज भी आज मुँह से, राम नाम निकालते!
देखो भयकर भेडिये भी, आज आँसू डालते!
आजन्म नीच अधर्मियों के, जो रहे अधिराज हैं—
देते अहो! सद्धर्म की वे, भी दुहाई आज हैं!![4]

---

१. पाँचवाँ सस्करण, पृष्ठ २२-२३
२ रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ५
३ दे० छन्द प्रभाकर—भानुकवि, सस्करण सन् १९२२, पृष्ठ ६५
४. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृष्ठ ७८

यहाँ नियमानुसार १६, १२ की यति से २८ मात्रा हैं। चौथे चरण में यतिभंग का भ्रम हो सकता है—किन्तु 'वे' और 'भी' अपने आप में पूर्ण हैं। अत वह शंका निर्मूल है। हरिगीतिका में छठी, सातवी तथा आठवी और इक्कीसवी, बाइसवी तथा तेइसवी मात्रा का क्रम '।ऽ।' नही होना चाहिए।[1] उक्त छन्द के चारो चरणो मे इस सूक्ष्मता का भी भलीभाँति परिपालन हुआ है।—और माधुर्य के निमित्त चरणान्त मे रगण भी है।

इन सभी विशेषताओ से युक्त हरिगीतिका का एक पद्य और लीजिए—

> अब चित्रशालाएँ हमारी, नाम शेष हुईं यहाँ,
> पर आज भी आदर्श उनके, हैं अनेक जहाँ तहाँ।
> अब भी अजंटा की गुफाएँ चित्त को हैं मोहती;
> निज दर्शको के धन्य रव से, गूंज कर हैं सोहती॥[2]

दोहा

> धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम-रूप के सङ्ग,
> मुझ पर चढने से रहा, राम ! दूसरा रग।[3]

यहाँ विषम चरणो मे १३ और सम मे ११ मात्राएँ तो हैं ही। पर साथ ही दोहे की निर्दोषता के लिए अनिवार्य विषम चरणो के आदि मे जगण का अभाव है।—और अन्त मे लघु भी है।

बरवै

> अवधि-शिला का उर पर, था गुरु भार,
> तिल तिल काट रही थी, दृग्जल-धार।[4]

यथानियम प्रथम और तृतीय चरणो मे बारह-बारह तथा द्वितीय और चतुर्थ मे सात-सात मात्राएँ हैं। अन्त मे जगण है जो बरवै को अधिक रोचक बनाता है।

वीर अथवा मात्रिक सवैया

> नहीं जानते तुम कि देखकर, निष्फल अपना प्रेमाचार,
> होती हैं अबलाएँ कितनी, प्रबलाएँ अपमान विचार।
> पक्षपातमय सानुरोध है, जितना अटल प्रेम का बोध,
> उतना ही बलवत्तर समझो, कामिनियों का वैर-विरोध।[5]

१६, १५ पर यति से प्रत्येक चरण मे ३१ मात्राएँ है। सभी के अन्त मे ऽ। है। वीर छन्द का ऐसा दोषमुक्त उदाहरण है।

---

१ दे० छन्द प्रभाकर—भानुकवि, संस्करण सन् १९२२, पृष्ठ ६७

२ भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ४७

३ द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ६

४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २४८

५. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ४०-४१

गीति ( आर्य्या )

नाथ, कहाँ जाते हो ?
अब भी यह अन्धकार छाया है ।
हा ! जग कर क्या पाया,
मैंने वह स्वप्न भी गँवाया है ।[1]

यहाँ गीति के लिए अपेक्षित विषम चरणो मे १२ तथा सम पदो मे १८ मात्राए हैं । किन्तु यह तो उसका स्थूल नियम है । इसका थोडा और विश्लेषण किया जाए । गीति छन्द आर्य्या के पाँच प्रधान भेदो में से एक है ।—और भानु जी ने आर्या के विषय मे लिखा है—

"आर्य्या छन्द मे चार मात्राओ के समूह को 'गण' कहते हैं । ऐसे चतुष्कलात्मक सात गण और एक गुरु के विन्यास से आर्य्या का पूर्वार्द्ध होता है ।"[2] गीति भी आर्य्या के ही अन्तर्गत है अत. उस पर भी यह बात लागू होती है । अर्थात् उसके प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणो को मिलाकर 'चतुष्कलात्मक सात गण और एक गुरु' वाले पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध बनते हैं । अब इस पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के 'विषम गणो मे जगण न हो । छठवें जगण हो और अन्त मे गुरु हो'[3] तब जाकर कही शुद्ध गीति की सिद्धि होती है । परीक्षा के लिए उपर्युक्त छन्द को पूर्वकथित रूप मे उपस्थित करता हूँ—

| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नाथ क | हाँ जा | ते हो | अब भी | यह अ | धकार | छाया | है |
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ग |
| हा जग | कर क्या | पाया | मैंने | वह स्वप् | न भी गँ | वाया | है |

आप देख रहे हैं कि दोनो अर्द्धांशों के विषम ( १, ३, ५ और ७ ) गणो मे जगण नही है । किन्तु षष्ठ मे जगण ( । ऽ । ) अनिवार्यत. विद्यमान है । अन्त मे गुरु भी है । इस प्रकार यह छन्द सर्वांशेन शुद्ध है । इसमे शास्त्र के सूक्ष्म-कठोर नियमो का भी सफल निर्वाह किया गया है ।

छप्पय

हिन्दी को केवल न, मातृभाषा ही मानो,
व्यापकता मे उसे, देश-भाषा भी जानो ।
होगी मन की बात, परस्पर ज्ञात न जब लों,
होकर भी हम एक, भिन्न ही से हैं तब लों ।

१. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ २३
२. छन्दःप्रभाकर, संस्करण सन् १६२२, पृष्ठ ६८
३ ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ६६

वस हिन्दी ही यह भिन्नता, दिन दिन करती दूर है।
निःशेष शक्तिमय ऐक्य को, भरती वह भरपूर है॥[1]

इनमे नियमानुसार पहले चार पद ११, १३ की यति से २४ मात्राओ वाले रोला के हैं।—और अन्तिम दो चरण १५, १३ की यति से उल्लाला के दो दल हैं।

द्रुतविलम्बित

सुख सभी जिसको तुमने दिये,
विविध रूप धरे जिसके लिये,
न कुछ वस्तु अलभ्य रही जहाँ,
अब हरे वह भारत है कहाँ ?[2]

यहाँ प्रत्येक चरण मे क्रमश नगण ( । । । ), भगण ( ऽ । । ), भगण ( ऽ । । ) और रगण ( ऽ । ऽ ) आयोजित हैं। द्रुतविलम्बित का यही नियम है।[3] इसी छन्द का अन्य नाम सुन्दरी है।

वसन्ततिलका

रे क्रोध, जो सतत अग्नि विना जलावे,
भस्मावशेष नर के तनु को बनावे।
ऐसा न और तुझ-सा जग बीच पाया,
हारे विलोक हम किन्तु न दृष्टि आया॥[4]

यथानियम इनके प्रत्येक चरण मे ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ अर्थात् तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु हैं।

शिखरिणी

आदर्शी राजा से, न निज सुत तो शासित हुए,
खरे भी खोटे-से, बुध विदुर निष्कासित हुए।
चिकित्सा ऐसी क्या, शमन करती शल्य उनका ?
बढ़ा आगे से भी, विषमतम वैकल्य उनका ?[5]

इन पद्य के प्रत्येक चरण मे १७ वर्ण हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—य म न स भ ल ग—तथा ६, ११ पर यति है जो शिखरिणी के नियमानुसार ही है।[6]

---

१ पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ७७
२ स्वदेश-सगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३४
३. द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।
४. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६०
५. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८३
६. यमी ना सो भूला, गुरु गरुनि गा गा शिखरिणी ( छन्द-प्रभाकर )

स्रग्धरा

"राना ऐसा लिखेंगे, यह अघटित है, की किसी ने हँसी है।
मानी हैं एक ही वे, बस नस नस मे, धीरता ही धँसी है।"
यों ही मैंने सभा मे, कुछ अकबर की, वृत्ति है आज फेरी।
रक्खो चाहे न रक्खो, अब सब विध है, आपको लाज मेरी॥[1]

यहाँ प्रत्येक चरण मे मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण, यगण के क्रम से २१ वर्ण हैं। ७, ७, ७ पर यति है। इस प्रकार स्रग्धरा के लिए अपेक्षित सभी उपकरण उपस्थित हैं।

सवैया

सखि मैं भव-कानन मे निकली वनके इसकी वह एक कली,
खिलते खिलते जिससे मिलने उड आ पहुँचा हिल हेम-अली।
मुसकाकर आलि, लिया उसको, तब लों यह कौन बयार चली,
'पथ देख जियो' कह गूंज यहा किस ओर गया वह छोड छली ?[2]

यह दुर्मिल सवैया है—इसके प्रत्येक पाद मे आठ सगण (।।ऽ) हैं।

विदेशी छन्द

गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त कुछ हिन्दी-सस्कृत छन्दो के उदाहरण दिए जा चुके हैं।—और भी अनेक प्रस्तुत किए जा सकते हैं। पर वह शायद अनीप्सित विस्तार होगा। स्थालीपुलाक-न्याय द्वारा इतने से ही कवि की विशद छन्द-योजना का अनुमान लगाया जा सकता है। अब उसके द्वारा व्यवहृत कुछ विदेशी (यहा विदेशी से मेरा अभिप्राय है हिन्दी-सस्कृत-बाह्य) छन्दो का नमूना भी देखिए

गज़ल

भारत-भारती की 'विनय' शीर्षक अन्तिम लम्बी कविता एक गज़ल है—यद्यपि कवि ने स्वय उसे सोहनी (एक प्रकार की रागिनी) लिखा है।—और हिन्दी छन्द शास्त्र के अनुसार उसका प्रत्येक पद्य हरिगीतिका है। फिर भी हमारे विचार में उसे गज़ल मानना ही उचित है। क्योंकि उसका विन्यास उसी के अनुसार है—हरिगीतिका के अनुरूप नही। उस कविता की प्रारम्भिक कुछ पक्तियाँ लीजिए—

इस देश को हे दीनबन्धो ! आप फिर अपनाइए,
भगवान ! भारतवर्ष को फिर पुण्य-भूमि बनाइए।
जड-तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधा-पूर्ण है,
हेरम्ब अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए॥

---

१ पत्रावली, सस्करण सवत् २०११, पृष्ठ ६
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २३०

हम मूक किंवा मूढ हों, रहते हुए तुझ शक्ति के !
मां आह्नि कह दे श्रह्य से सुख-शान्ति फिर सरसाइए।
सर्वत्र बाहर और भीतर रिक्त भारत हो चुका,
फिर भाग्य इसका हे विधाता ! पूर्व-सा पलटाइए ॥[1]

अब इन आठ पंक्तियो मे आप देखेंगे कि दो-दो पंक्तियाँ अर्थात् पहली और दूसरी, तीसरी और चौथी, पांचवी और छठी तथा सातवीं और आठवीं भाव की दृष्टि से अपने आप मे प्राय पूर्ण हैं। सर्वथा असम्बद्ध तो वे नही हैं, फिर भी एक युग्म को पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती अन्य युग्म की आकाक्षा नही है जैसी कि किसी पद्य के चारो चरणो मे हुआ करती है। दूसरे तुक भी पहली, दूसरी, चौथी, छठी और आठवी पंक्ति का मिलता है। अतएव इन्हे हरिगीतिका मानने मे सकोच होता है। वास्तव मे पूर्वोक्त युग्म उर्दू के शेरो के समान हैं—कुछ शेरो का समूह ही तो गजल है ! बस शर्त यह है कि वे एक ही 'वजन' और एक ही 'काफिया' वाले हो तथा पहली शेर की दोनो पंक्तियो का तुक मिले—और फिर हर दूसरी पंक्ति का तुक मिलता चला जाए।[2] स्पष्ट शब्दो मे तुक का क्रम क—क—ख—क—ग—क—घ—क ' '' होना चाहिए।

भारत-भारती की विचाराधीन रचना मे गजल की ये सभी विशेषताएं उपलब्ध है। स्पष्टत पहली, दूसरी, चौथी, छठी पंक्तियो का तुक मिल रहा है। हाँ, लम्बाई पर अवश्य कुछ शका उठ सकती है। साधारणत यह माना जाता रहा है कि गजल मे कम से कम पाच तथा अधिक से अधिक ग्यारह शेर होने चाहिए। और प्रस्तुत रचना मे ४० पंक्तिया अर्थात् २० शेर हैं। 'मगर इस जमाने मे इसकी (उक्त नियम की) पैरवी[3] नहीं की जाती और कोई तादाद मुतइयन[4] नही है बाज बाज हजरात बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस मतला[5] कहने पर भी सुस्त और मुतमइन[6] नहीं होते।[7] अत. इस रचना की लम्बाई को भी इस युग मे अनियमित नहीं कह सकते। इस ग़ज़ल की बहर—छन्द प्रभाकर मे मुसतफ़अलन मुसतफ़अलन मुसतफ़अलन मुसतफ़अलन अथवा मुतफ़ायलुन मुतफायलुन मुतफायलुन मुतफायलुन के निदर्शन स्वरूप उद्धृत—

अय चहरये जेबाय तो, रश्के बुताने आजरी
हरचद वस्फत मी कुनम, दर हुस्न जा जेबा तरी
मन तू शुदम् तू मन शुदी, मन तन शुदम् तू जा शुदी[8]
आदि।

---

१. भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ १८१

२. दे० आइनए बिलायत . मिर्जा मुहम्मद असकरी बी० ए०, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७

३. अनुसरण, ४. निश्चित, ५. शेर, ६ संतुष्ट

७. आइनए बिलायत . मिर्जा मुहम्मद असकरी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७ (पाद टिप्पणी)

८ सस्करण सन् १६२२, पृष्ठ ६७

—फारसी गज़ल से मिलती-जुलती है। अत. यह असदिग्ध रूप से गज़ल है।

## रुबाई

हिन्दी मे उर्दू-फारसी का सर्वाधिक प्रचलित अथवा गृहीत छन्द रुबाई है। कुछ लोग इसे 'चौपदा' कहना पसन्द करते हैं। हरिऔध जी के 'चोखे चौपदे' प्रसिद्ध ही है। निराला ने भी दो-चार रुबाइयाँ लिखी हैं तथा बच्चन की मधुशाला इसी छन्द में लिखी गई है। कवि-सम्मेलनो मे आजकल कविता-पाठ करने से पूर्व कविगण प्राय रुबाइयाँ पेश किया करते हैं। हमारे कवि ने भी उमर खय्याम की जगत्प्रसिद्ध रुबाइयो के अनुवाद मे इसी छन्द का व्यवहार किया है।

रुबाई वज़न-विशेष के चार चरणो का एक छन्द है जिनमे कि कोई विषय पूर्णत समाहित हो गया हो। इसमे पहले दो पाद तुकयुक्त, तीसरा कभी तुकयुक्त और कभी तुक-विहीन तथा चौथा पहले दो के अधीन होता है।[1] गुप्त जी की रुबाइयो मे तीसरा चरण सदैव अतुकान्त है। चारो चरणो मे अन्त्यानुप्रासवाली रुबाइयाँ उन्होंने नही लिखी। नीचे उनकी दो रुबाइया उद्धृत की जाती है—

**वाम-कनक-कर ने ऊषा के जब पहला प्रकाश डाला**
**सुना स्वप्न मे मैंने सहसा गूंज उठी यों मधुशाला—**
**उठो, उठो, ओ मेरे बच्चो, पात्र भरो, न विलम्ब करो,**
**सूख न जावे जीवन-हाला, रह जावे रीता प्याला।[2]**

यहाँ प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरणो मे तुक-साम्य है—और चारो चरणो का वज़न भी एक ही है। इस प्रकार रुबाई के नियमो का भलीभाँति पालन हुआ है। उपर्युक्त रुबाई उनके अनुवाद-ग्रथ रुबाइयात उमर खय्याम से उद्धृत है। पर उन्होंने कुछ रुबाइयाँ स्वतन्त्र रूप से भी लिखी हैं। उनमे भी यही विशेषता है, जैसे—

**नष्ट हों त्रय-ताप लोचन वृष्टि में,**
**दीन क्यों हो मोतियों की सृष्टि मे,**
**भोगते हैं ईश भी याचक बने,**
**उस तुम्हारी एक करुणा-दृष्टि मे![3]**

---

१. औज़ान मख़सूस मे ऐसे चार मिस्रे जिनमे कोई एक मज़मून तमाम कर दिया जाए। पहले दो मिस्रे मुक़फ्फा और कभी ग़ैर मुक़फ्फा और चौथा मिस्रा पहले दो मिस्रो का ताबे होता है।

—आइनए विलायत मिर्जा मुहम्मद अस्करी, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १० से रुबाई की परिभाषा

२ रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३१

३ सरस्वती (पत्रिका), मई १९१५

## चतुर्दशपदी

अंग्रेजी छन्द-शास्त्र मे से हिन्दी मे सर्वाधिक अनुकरण हुआ है सॉनेट अर्थात् चतुर्दशपदी का। पर हमारे कवि के लिए उसमे विशेष आकर्षण नही है। उन्होंने कुल दो चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं—एक अनुवादित और एक मौलिक है। 'मित्राक्षर' शीर्षक उनकी अनूदित चतुर्दशपदी तो मेघनाद-वध के प्रारम्भ मे देखी जा सकती है।[1] किन्तु उनकी मौलिक चतुर्दशपदी अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। वह उन्होंने अपने जन्म-दिवस के उपलक्ष्य मे लिखी थी। मुझे कवि के हस्तलिखित कविता-संग्रह से उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उस संग्रह के पृष्ठ १४५ पर लिखित वह चतुर्दशपदी निम्नलिखित है—

छोटो पर छोह तो बडो की ही महत्ता है
    और जो हो, अच्छा कहाँ आत्म अवसाद है,
तृण ही रहूँ मैं किन्तु मेरी एक सत्ता है
    वाटिका में जन्म यह प्रभु का प्रसाद है।
मेरी मातृभूमि ने पिलाया मुझे रस है,
    उर्वरा ने साथ ही उगाये फूल फल भी,
एक हिम व्योम विन्दु मेरे अर्थ बस है
    एक ज्योतिरिंगण सा आश्रित अनल भी!
स्थान गुण मेरा, पशु भोजन न मैं बना
    साथी सुमनो ने निज गुच्छ मे गुथा लिया,
धन्य, मेरा माली वह उन्नत महामना
    मैं क्या और चाहूँ मुझे क्या न उसने दिया
प्रेरक हों राम तो जयन्त से भी होड लूं
    चाहता हूँ, हिन्दी पर अपने को तोड दूं।[2]

## कतिपय नवीन छन्द

परम्पराप्राप्त छन्दो के अतिरिक्त कुछ नवीन छन्द भी गुप्त जी के काव्य मे व्यवहृत हैं

१. साकेत के सप्तम सर्ग मे १७ मात्रा के एक सर्वथा नवीन छन्द का प्रयोग हुआ है। यों तो १७ मात्राओ के २५८४ विभिन्न छन्द बन सकते हैं—किन्तु सप्तम सर्ग मे प्रयुक्त प्रकार का व्यवहार इससे पहले किसी कवि ने नही किया। भानु जी ने अपने छन्द-प्रभाकर मे १७ मात्राओ के केवल दो छन्दो—राम और चन्द्र—का उल्लेख किया है। राम मे ९,८ पर यति तथा अन्त मे ।ऽऽ होता है—और चन्द्र मे १०,७ पर यति होती है। किन्तु साकेत का पद—

---

१. द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५

२. कवि से मुझे पता चला है कि यह बनारस और आगरा मे सुनाई जा चुकी है।

सूत, रथ की गति करो कुछ मन्द,
अश्व अपने से चलें स्वच्छन्द ।
अनुज, देखो, आगया साकेत,
दीखते हैं उच्च राज-निकेत ।[1]

इसमे न राम के लिए अपेक्षित यति है न अन्त मे ।ऽऽ—और न ही चन्द्र के लिए आवश्यक १०, ७ पर विराम । इसके विपरीत ७, १० पर यति प्रतीत होती है । अतः यह अप्रयुक्त-पूर्व छन्द है ।

२ हमारे कवि का दूसरा नवीन छन्द है गणो के नियन्त्रण से मुक्त १५ वर्णों का समवृत्त । हाँ, अन्त मे गुरु अनिवार्यत विद्यमान है, यथा—

ऋण ही चुकाया नहीं उसका नृपति ने
आप उसको भी पुरस्कार दिया प्रेम से
कहते हैं, उसने प्रजा का ऋण भर के
साका किया और निज सवत् चला दिया ।[2]

अथवा

रामानुज शूर चले छोड उस वन को
भानु-कुल-भानु जहाँ प्रभु थे शिविर मे ।
देख के किरात यथा वन मे मृगेन्द्र को
अस्त्रागार मे है दौड जाता वायु-गति से[3]

शास्त्र मे ऐसे—१५ वर्णों के गणमुक्त—वृत्त का उल्लेख नही है । शास्त्रीयता का आग्रह ही हो तो इसे घनाक्षरी (कवित्त मनहरण) का उत्तरार्द्ध मान सकते हैं—शायद इसकी लय भी उस उत्तरार्द्ध वाली ही है । फिर भी यह कवि का नव-प्रयास तो है ही ।

इस प्रसग मे यह भी उल्लेख्य है कि सुधीन्द्र जी ने उपर्युक्त वृत्त मे ही तुलसी का निम्न छन्द प्रस्तुत किया है—

देखि ! द्वै पथिक गोरे सावरे सुभग हैं ।
सुतिय सलोनी सग सोहत सुभग हैं ।
सोभा सिन्धु सम्भव से नीके नीके मग हैं ।
मात पिता भागिबस गये परि फग हैं ।[4]

ऐसी दशा मे यह कहा जा सकता है कि मैथिलीशरण जी इसके प्रथम प्रयोक्ता नही हैं । पर यह मानना भूल होगी कि उन्होंने तुलसीकृत छन्द के अनुकरण पर अथवा उससे परिचय के बाद ऐसा किया है । वास्तव मे १४ अक्षरो वाले बगला छद 'पयार'

---

१. साकेत (सप्तम सर्ग), सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १२६
२ सिद्धराज, तेरहवाँ सस्करण, पृष्ठ ११४
३ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३०१
४ हिन्दी कविता मे युगान्तर, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४३४-४३५

का सुगमतापूर्वक अनुवाद करने के लिए उन्होंने यह आविष्कार किया था। —और आधुनिक युग मे तो उनसे पहले किसी ने भी इसका प्रयोग नही किया।

३ दो छन्दो के मिश्रण से भी कभी-कभी नवीन छन्द का निर्माण कर लिया गया है, जैसे—

हेमन्त महिष, अश्व, वराह-जाति—
होती प्रसन्न अति ही गज, काक-पाति।
पुन्नाग, लोध्र तरु सन्तत फूलते हैं,
भौंरे सहर्ष इन ऊपर झूलते हैं॥[1]

इस वृत्त मे पहले दो पाद वसततिलका के तथा शेष दो हरिलीला (मुकुन्द) के है। इस प्रकार एक नया मिश्र छन्द निर्मित हुआ। दो ही नही दो से अधिक छन्दो का मिश्रण भी गुप्त जी ने किया है, यथा—

हर हर हर वम भोला!
थर थर थर तेरा आसन भी कह विजयी क्यो डोला।
तुच्छ एक अणु ही था मैं तो तूने हो विच्छिन्न किया,
भेद भेद कर पाप-बुद्धि से मुझे मुझी से भिन्न किया।
रहूँ क्यों न कितना ही क्षुद्र,
मुझमे भी है मेरा रुद्र।
कुशल नहीं तेरा भी अब तो फैला फूट फफोला,
हर हर हर वम भोला![2]

उपर्युक्त छन्द 'अणुबम' के आठ-दस पद्यो मे से एक है। यह कविता पुस्तक-रूप मे अभी प्रकाशित नही हुई है, हां किसी पत्रिका मे छप चुकी है। इसका 'स्थायी' सार छन्द का उत्तरार्द्ध है। उसके पश्चात् सार का पूरा चरण है। फिर दो पाद ३० मात्रा के शोकहर (८, ८, ८, ६) छन्द के हैं। और इनके बाद के दो चरण 'पुनीत' के हैं। फिर एक चरण सार का आया है। इस प्रकार तीन भिन्न छन्दो के सम्मिश्रण से एक नवीन छन्द का अस्तित्व संभव हुआ है।

## छन्दो की प्रसगानुकूलता

छन्द वाणी का परिधान है। पर जैसे मानव-जीवन मे एक ही परिधान प्रत्येक समय और प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त नही हो सकता वैसे ही काव्य मे भी सदा-सर्वदा किसी एक ही छन्द से काम नही चल सकता। वाणी की भाव-भगी अर्थात् वक्तव्य के साथ ही छन्द मे भी परिवर्तन होना चाहिए—और होता है। समर्थ कवि सर्वत्र इस बात का ध्यान रखते हैं। आलोच्य कवि को भी यह तथ्य कभी विस्मृत नही होता।

१. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०५
२. गुप्त जी के हस्तलिखित कविता-संग्रह के पृष्ठ १४३ से उद्धृत

वृत्त-वर्णन या प्रकथन मे बड़े अथवा लम्बे छन्द अधिक उपादेय हुआ करते हैं। हमारे कवि की दृष्टि भी जहाँ केवल प्रकथन पर केन्द्रित है वहाँ दीर्घ छन्द ही व्यवहृत हैं। रग मे भग मे गीतिका, जयद्रथ-वध मे हरिगीतिका प्रयुक्त हैं। साकेत के ११वें और १२वें सर्ग मे—जिनमे इतिवृत्त ही प्रधान है—भी क्रमश महातैथिक (३० मात्राओ वाले) तथा रोला छन्दो का ही व्यवहार हुआ है। जय भारत के 'योजनगन्धा' अध्याय मे ३१ मात्राओ का और भी बड़ा वीर छन्द स्वीकृत है—

> **पूज्य ययाति पिता के वर से हुई पुत्र पुरु की कुल-वृद्धि;**
> **और आप यदु ने भी पाई आभिजात्य के साथ समृद्धि।**
> **उपजे भरत भूप पुरु-कुल मे बना उन्हीं से भारतवर्ष**
> **कर अवतरित आप श्रीहरि को पाया यदु-कुल ने उत्कर्ष।**[1]

किन्तु जहाँ कवि ने विवरण पर नही वर्णन पर ध्यान दिया है वहाँ अपेक्षाकृत छोटा छन्द गृहीत है। साकेत के पचम सर्ग मे चित्रकूट के चित्रण के निमित्त २१ मात्राओ के त्रिलोकी छन्द का प्रयोग हुआ है। वन-वैभव मे तो इससे भी छोटा षोडशमात्रिक छन्द है—

> **चांदनी छिटकी थी उस रात,**
> **विचरता था वासान्तिक वात**
> **सो रहे थे यद्यपि जलजात,**
> **अयुतशशि थे सर मे प्रतिभात।**[2]

इस प्रकार वर्णन और विवरण मे कोई न कोई एक छन्द गृहीत है। किन्तु प्रगीतो मे प्राय एक साथ दो-दो, तीन-तीन छन्द मिला दिए गए हैं। कुणाल-गीत के निम्न उद्धरण मे चौपाई और हरिगीतिका का मिश्रण देखिए—

> **व्यथा-वरण करके रोना क्या ?**
> **अपना धीरज-धन अपने ही हाथों से खोना क्या ?**
> **क्लेश नाम से ही कर्कश है,**
> **किन्तु सहन तो अपने वश है।**
> **भीतर रस रहते बाहर के विष के वस होना क्या ?**[3]

—और अधोलिखित अवतरण मे दश तथा द्वादश मात्रिक चरण हैं—

> आशा थी हरा हरा=१२ मात्रा
> होगा भव भरा भरा=१२ ,,
> किन्तु प्रलय-मग्न धरा=१२ ,,
> **अब न और एरे,**=१० ,,

---

१. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २१

२ वन-वैभव, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २२

३ कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ५६

ठहर तनिक ठहर ग्राह !=१२ मात्रा
ओ प्रवाह मेरे ![1]=१० ,,

नवम सर्गान्तर्गत साकेत के प्रगीतों में भी भिन्न-विभिन्न छन्दों का मिश्रण हुआ है। गीत और प्रगीत के लिए यह उचित भी है—गान में आरोह-अवरोह-जन्य लोच की उपलब्धि के लिए पाद-मिश्रण आवश्यक ही है। सूक्ति के लिए गुप्त जी ने अपेक्षाकृत छोटे छन्द ग्रहण किए हैं। प्राचीन कवि ने इनके लिए अधिकांशत दोहे का प्रयोग किया है। वास्तव में स्मरण में सुगमता के लिए सूक्ति में छोटे छन्दों का प्रयोग उचित ही है, यथा—

हार-जीत दोनो ही विधाता के विधान हैं[2]

राहुल को दिए गए यशोधरा के उपदेश—

मन ही के माप से मनुष्य बड़ा छोटा है,
और अनुपात से उसी के खरा खोटा है।[3]

—में भी यही छन्द है।

रस और छन्द का भी घनिष्ठ संबंध है जो अन्तिम और आत्यन्तिक न होते हुए भी काफ़ी गहरा है। श्रेष्ठ कवि सदैव रसानुकूल छन्द का प्रयोग किया करते हैं। गुप्त जी भी बड़ी सतर्कता से भावों के अनुकूल छन्द का चुनाव करते हैं। साकेत के प्रथम सर्ग में दम्पति के प्रेम-परिहास के लिए उन्होंने शृंगार के 'खास छन्द' पीयूषवर्ष को चुना है तो दशम सर्ग में उर्मिला के करुणोच्छ्वास की व्यक्ति के निमित्त वैतालीय अथवा वियोगिनी का व्यवहार हुआ है। महाकवि कालिदास ने भी अज-विलाप में इसी छन्द का प्रयोग किया है। दुःख और शोक के उद्‌गार भारत-भारती के हरिगीतिका में आबद्ध हैं—पन्त जी ने भी इसे 'करुणा-रस के लिए अच्छा'[4] माना है। सिद्धराज, विकट भट आदि वीर-दर्पपूर्ण रचनाओं में १५ वर्णों का गणमुक्त छन्द प्रयुक्त है। मेघनाद-वध का दुर्धर प्रवाह तो और किसी छन्द में शायद सुरक्षित ही न रह पाता। घनाक्षरी के इस उत्तरार्द्ध की लय और गति इन प्रसंगों के सर्वथा अनुकूल है। यशोधरा में भी भाव के उच्छ्वसित आवेग के लिए यही छन्द गृहीत है—

... ..... · यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठ रहती मैं ? छान डालती धरित्री को।
सिंहनी-सी काननों में, योगिनी-सी शैलों में,
शफरी-सी जल में, विहगिनी-सी व्योम में,
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं।[5]

१ झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ८४
२ सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४६
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ५४
४ पल्लव की भूमिका, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ३१
५. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२६

इस प्रकार मैथिलीशरण जी छन्द-निर्वाचन मे प्रसगानुकूलता का वरावर ध्यान रखते हैं।

किन्तु उनके छन्द-विधान मे महाकाव्योचित गरिमा की कमी है। कुल मिलाकर उन्होंने तीन महाकाव्यो का प्रणयन किया है। जिनमे से मेघनाद-वध तो अनूदित है। उसमे मूल के ही अनुकरण पर आद्यत केवल एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। शेष दो—जय भारत और साकेत—मे से जय भारत के पूर्व-प्रणीत अशो को छोडकर अवशिष्ट मे अवश्य कुछ औदात्त्य है। लेकिन उनके सर्वप्रसिद्ध महाकाव्य साकेत मे अन्तिम दो सर्गों के अतिरिक्त और कही भी छन्द मे महाकाव्य के अनुरूप विस्तार और महार्घता नही है। एक उदाहरण लीजिए—

**सुख से सद्य स्नान किये, पीताम्बर परिधान किये,**
**पवित्रता मे पगी हुई, देवार्चन मे लगी हुई,**
**मूर्तिमयी ममता माया, कौसल्या कोमल काया,**
**थीं अतिशय आनन्दयुता, पास खडी थीं जनक सुता।**[1]

ऐसी पाद-योजना का तरगाकुल-प्रवाह महाकाव्य के गम्भीर नद के से महाप्रवाह के विपरीत है। ऐसे छन्दो मे श्रोता की चेतना को अभिभूत करने की शक्ति प्राय नही होती अतएव वे महाकाव्य के अनुकूल हैं। वास्तव मे गुप्त जी का छन्द-विधान भावानुकूल तो है पर उदात्त नही। महाकाव्य की भव्यता की रक्षा उनके छन्दो मे नही हो पाती।

## तुक अथवा अन्त्यानुप्रास

तुक छन्द शास्त्र के ही अन्तर्गत आता है अत उस पर भी विचार कर लेना चाहिए। वैसे आज काव्य मे तुक की उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लग गया है पर हिन्दी साहित्य के पहले तीन कालो का सम्पूर्ण काव्य अन्त्यानुप्रासयुक्त है—और आधुनिक युग का अधिकाश काव्य भी तुकयुक्त ही है। फिर भी उससे पराङ्मुखता का फैशन चल पडा है। किन्तु वह ऐसी हेय, गर्हित अथवा अभिशसनीय वस्तु नही है। समर्थ कवि द्वारा प्रयुक्त होने पर तुक भी काव्य की मधुरता एव प्रभावक्षमता की वृद्धि मे सहायक होता है। और नही तो कुपात्र के हाथ मे पडने पर किसी भी चीज की दुर्गति हो सकती है।

गुप्त जी का अधिकाश काव्य तुकात ही है। यद्यपि मेघनाद-वध की भूमिका मे उन्होंने अमित्राक्षर के प्रति स्नेह प्रकट किया है।—और विकट भट, सिद्धराज, मेघनाद-वध, युद्ध आदि में तुक को तिलाजलि भी दे दी गई है, फिर भी अपेक्षाकृत उनकी तुकान्त रचना अधिक है। और वे हैं भी इस फन के पूरे उस्ताद! कठिन से कठिन तुक मिलाने मे वे सक्षम हैं मानो वह विना प्रयास ही उनकी लेखनी से नि सृत हो जाता है, यथा—

**यदि है यह दोष, दम्भकृत है,**
**आत्मा से कौन अनाहृत है ?**[2]

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ७२

२ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३३७

अच्छे-अच्छे कवियो को भी जहाँ तुक मिलाने मे काठिन्य का अनुभव होता है वहाँ हमारा कवि एक शब्द की तुक के लिए कई शब्द सहज ही ढूंढ लेता है—

राम से सुत को भी वनवास,
सत्य है यह अथवा परिहास,
सत्य है तो है सत्यानाश,
हास्य है तो है हत्यापाश।[1]

निश्चय ही तुक पर इस कवि का अद्भुत अधिकार है। प्रसाद जहाँ एक 'नाच' शब्द पर नाच गए[2] वहाँ मैथिलीशरण की लेखनी से 'चक्र' के लिए वक्र, तक्र, शक्र, नक्र आदि शब्द निकलते चले जाते हैं।[3]—और ये सबके सब उत्तम तुक हैं। आलोच्य कवि के यहाँ मध्यम तुक भी मिल जाएगा, जैसे—

एक दुर्ग मे उतर रहे वह विस्फोटक हैं,
बने वहाँ कुछ बन्धु भारवाही घोटक हैं।[4]

किन्तु उनका अधम रूप कही नही मिलेगा। परन्तु फिर भी गुप्त जी की तुक-योजना सर्वथा निर्दोष नही है। उनकी अतिरिक्त तुक-प्रियता के कारण कही-कही बड़े भद्दे कवित्वहीन प्रयोग हुए हैं—

भुवन बन रहा भयकर भाड,
चने से जिसमे भुने पहाड!
झुलसते जाते हैं सब झाड,
कौन दे और कौन ले आड?[5]

यहाँ अन्त्यानुप्रास माधुर्य के स्थान पर अरुचि ही उत्पन्न करता है। कुणाल-गीत की निम्न पक्तियो की भी यही दशा है—

तुम घूम चारों खूंट लो,
रथ, अश्व, गज या ऊट लो,
रस के जहाँ लो घूट लो।[6]

साकेत मे भी ऐसे लचर प्रयोगो का अभाव नही है। अस्तु मे अति सर्वत्र वर्जित है। उचित परिमाण मे तुक जहाँ सौंदर्य का उपकारक है वहाँ उसकी अति अथवा अनुपयुक्त प्रयोग माधुर्य का अपकारक अतएव अवाछनीय है।

---

१. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ५१

२ कामायनी के छठा सर्ग मे नाच की तुक के लिए कुलाच शब्द का प्रयोग हुआ है, यह अधम तुक है।

३. दे० यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १२

४. अजित, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ८३

५ विरह-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २१

६ कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ३२

## मूल्यांकन

मैथिलीशरण जी द्वारा प्रयुक्त छन्दो के पूर्वोल्लिखित विस्तार-वैविध्य के अवलोकन के पश्चात् इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता कि छन्दो पर उनका पूरा अधिकार है। अधिकाशत मात्रिक छन्द ही उनके काव्य मे व्यवहृत हुए है—हिन्दी की गति के अधिक अनुकूल भी वे ही हैं। पर गुप्त जी वर्ण-वृत्तो के भी सफल प्रयोक्ता हैं। करने को तो उन्होने ग़ज़ल, रुबाई और चतुर्दशपदी का प्रयोग भी किया है—किन्तु वह बहुत सीमित है। वास्तव मे किसी भी प्रकार की विदेशीयता हमारे कवि को स्वीकार्य नही। विदेशी छन्दो का यत्किचित् प्रयोग कुतूहलवश ही हो गया है।

परम्परा-प्राप्त छन्दो के प्रयोग के अतिरिक्त उन्होने दो-एक का आविष्कार भी किया है। १५ वर्णों के गणमुक्त छन्द का आविष्कर्त्ता यदि तुलसी को ही मान लें तब भी साकेत के सप्तम सर्ग मे प्रयुक्त १७ मात्राओ के छन्द के आविष्कार का श्रेय तो उन्हे देना ही पडेगा।—और फिर १५ वर्णों के उक्त वृत्त का प्रचुर प्रयोग करने वाले पहले कवि भी मैथिलीशरण ही हैं।—तथा तुलसी ने इसे तुकान्त रखा था और हमारे कवि ने अतुकान्त। वास्तव मे उन्होंने ही इसे छन्दत्व प्रदान किया है। दूसरा छन्द जिस पर कि कवि ने अपनी छाप लगादी हरिगीतिका है। जयद्रथ-वध और भारत-भारती की प्रसिद्धि और प्रचार ही इस छन्द की प्रसिद्धि और प्रचार हैं। सचमुच इन दो छन्दो मे जितनी गति और क्षमता आलोच्य कवि को प्राप्त है उतनी और किसी भी प्राचीन-अर्वाचीन कवि को नही।

कतिपय छन्दो का मिश्रण भी कवि ने किया है। साकेत तथा यशोधरा मे कुछ के चरण घटा-बढा भी दिए गए हैं। लेकिन गम्भीरता से विचार करने पर विदित होगा कि उसने किसी कुशल शिल्पी की भाँति चरणो मे काट-छाँट नही की है। वरन् कही किसी चरण-विशेष का अर्द्धांश ले लिया गया है तो कही किसी अन्य छन्द का एकाध चरण रख दिया गया है। "उन्होने निराला और पन्त की भाँति छन्द की टेकनीक पर प्रयोग नही किए और उनके न कान ही उतने शिक्षित प्रतीत होते हैं।"[1] फिर भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि उनकी छन्द-योजना विशद, व्यापक और भावानुकूल है। पन्त और निराला के समान 'टेकनीक पर प्रयोग' न करने पर भी भावाभिव्यजक अथवा भावानुरूप छन्दो की कमी उनके पास नही है। छन्द शास्त्र का उनका व्यापक पाण्डित्य उस क्षति की पूर्ति कर देता है। फलत उनके काव्य मे हतवृत्तत्व दोष आपको कही नही मिलेगा।

तुक-कौशल तो उनका सर्वमान्य ही है। यद्यपि उसके चक्कर मे रत्ती, तत्ती, 'चला गया रे चला गया', 'दला गया रे दला गया' जैसे अकाव्योचित प्रयोग भी हुए हैं। फिर भी यह तो मानना ही पडेगा कि अन्त्यानुप्रास पर कवि को अपूर्व अधिकार प्राप्त है। उसके विपुल साहित्य मे अधम तुक का उदाहरण मिलना दुष्कर है। वास्तव मे यह स्वामित्व उनकी शक्ति भी है और अशक्ति भी। खोज करने पर यतिभग एव गतिभग भी

---

१ साकेत एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र, पचम सस्करण, पृष्ठ २१५

मिल जाएगा। किन्तु ऐमा वहुत कम स्थलो पर हुआ है—और वे स्थल महार्णव मे क्षुद्र वीचि-तुल्य नगण्य हैं।

सारांश यह कि गुप्त जी का छन्द-विधान स्तुत्य और सफल है। छन्दो पर उनका अद्भुत प्रभुत्व है—किन्तु सफल शिल्पी के समान नही, शक्तिशाली प्रयोक्ता की तरह !

---

# मैथिलीशरण गुप्त के अनुवाद-ग्रन्थ

अनुवाद भी साहित्य का एक अग है। गुप्त जी ने मौलिक रचनाओ के साथ-साथ अपनी अनूदित कृतियो से भी हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है। उन्होंने तीन भाषाओ से पाँच काव्य-पुस्तको और एक नाटक का अनुवाद किया है।

अनुवाद-कार्य वहुत कठिन और श्रम-साध्य है—क्योकि किन्ही दो भाषाओ मे प्रकृतिगत पूर्ण साम्य नही मिल सकता, और न ही कभी भिन्न कलाकारो की प्रकृति और प्रवृत्ति अर्थात् व्यक्तित्व मे एकान्त अभेद हो सकता है। अत दो रचयिताओ की शैली, जो व्यक्तित्व का ही प्रोद्भास होती है, कभी विषमता रहित नही होती। अनुवाद-कर्त्ता प्रयत्न करने पर भी मूल की शैली के अन्तरण मे असफल ही रहता है। तात्पर्य कहने का यह कि मूल-ग्रन्थ का स्वालक्षण्य अशत अननूदित रह ही जाता है। इसीलिए क्रोचे कला-कृतियो का अनुवाद असम्भव मानते हैं। वास्तव मे सफल अनुवाद अनुवादक के व्यक्तित्व से सस्पृष्ट होने के कारण भिन्न कृति वन जाता है—शैली-वैभिन्न्य के कारण विल्कुल वही नही रहता जो मूल है। अस्तु।

मैथिलीशरण जी ने चार भिन्न व्यक्तियो की तथा तीन भिन्न भाषाओ की छ पुस्तको का हिन्दी मे अनुवाद किया है। यहाँ उनकी अनूदित रचनाओ पर विचार करेंगे।

## विरहिणी व्रजागना

गुप्त जी ने वगाली से चार काव्य-ग्रन्थो का अनुवाद किया है। उनमे से तीन—व्रजागना, वीरागना और मेघनाद-वध के मूल रचयिता वगाल के युगप्रवर्तक कवि माइकेल मधुसूदनदत्त हैं। इन तीनो मे सवसे पहले व्रजागना का अनुवाद किया गया जो सवत् १९७१ मे प्रकाशित हुआ। सवत् २००६ मे इस पुस्तक का दूसरा सस्करण भी निकल चुका है।

मधुसूदनदत्त मुख्यत 'ओज' के कवि हैं। किन्तु व्रजागना मे उन्होने अपना चिरसचित माधुर्य उँडेल दिया है। इस काव्य मे राधा के करुण विरह की सप्रभाव एव मनोमोहक वर्णना है। द्रवीभूत पाठक प्रणयोन्मत्त व्रजागना के क्रन्दन की अवाध धारा मे वहता चला जाता है। व्रजागना काव्य के इस माधुर्य के कारण ही प्रस्तुत कवि उसके अनुवाद मे तत्पर हुआ था।

अनुवादक के अनुसार विरहिणी व्रजागना मधुसूदनकृत 'व्रजागना काव्य का

भावानुवाद'[1] है। परन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही है। यह व्रजागना का अविकल अनुवाद है। वशी-ध्वनि, जलधर, यमुना-तट आदि मूल के अठारह खण्ड इसमे वर्तमान हैं। उनका परिमाण भी मूल से कम नही है। बस, एक प्रथम खण्ड 'वशी ध्वनि' की छन्द-सख्या मे अन्तर है—व्रजागना के छ: पद्य विरहिणी व्रजागना मे ६ पद्यो मे अनूदित हैं। शेष सतरह खण्डो की पद्य-सख्या भी प्राय समान है। मूल के भाव और विचार-घटक बडी सावधानी से रूपान्तरित हुए हैं। एक उदाहरण लीजिए—

नाचिछे कदम्वमूले, वाजाए मुरलि रे,
राधिकारमन !
चल, सखि, त्वरा करि, देखिगे प्राणेर हरि,
व्रजेर रतन !
चातकी आमि सजनि, शुनि जलधर-ध्वनि,
केमने धैरज धरि थाकि लो एखन ?
जाक् मान जाक् कूल, मन-तरी पावे कूल,
चल, भासि प्रेमनीरे, भेवे ओ चरन ![2]

यह मधुसूदनकृत व्रजागना काव्य का प्रथम छन्द है। गुप्त जी ने निम्नाकित छ चरणो ( डेढ पद्य ) मे इसका अनुवाद किया है—

श्री व्रजरत्न प्राणधन हरि को, चल सखि ! चल, देखें सत्वर,
हैं कदम्ब के तले नाचते, वेणु वजाते राधावर।
घनश्याम की ध्वनि सुन क्यो कर मैं चातकी धैर्य्य धारूँ !
क्यो न प्राण प्यारे के ऊपर अपना तन, मन, धन वारूँ !
मान जाय, कुल तजे भले ही, मानस तरणी पावे कूल,
चल सखि ! डूब प्रेम-जल-तल मे सेवें वह पद-पंकज-मूल ![3]

यहाँ मूल भाव अपने पूर्ण वैभव के साथ—हृदय-द्रव की अन्तर्धारा सहित उपस्थित है। यद्यपि चतुर्थ चरण—'क्यो न प्राण प्यारे के ऊपर अपना तन, मन, धन वारूँ'—कवि ने अपनी ओर से बढा दिया है, फिर भी यह अन्वर्थक अनुवाद है क्योकि यह चरण बढा हुआ होने पर भी मूल भाव का विकास ही करता है, ह्रास नही।

मूल वक्तव्य की रक्षा करते हुए भी गुप्त जी ने कही-कही अभिव्यजना की प्रणाली मे अन्तर कर दिया है, यथा—

(१) मदन राजार विधि लघिव के मने ?[4]

---

१. विरहिणी व्रजागना, सस्करण सवत् २००६, पृष्ठ १
२. व्रजागना काव्य १।१
३ विरहिणी व्रजागना, सस्करण सवत् २००६, पृष्ठ ५
४. व्रजागना १।२

अर्थात् कामदेव की व्यवस्था अथवा निर्देश का उल्लघन मैं कैसे करूँ ? प्रस्तुत कवि ने इस विशिष्ट उक्ति को सामान्य बना दिया है—

मदन राज के विधि-लघन मे कर सकता है कौन प्रयास ?[१]

(२) आमि रेखेछि इहारे ।[२]

अर्थात् मैंने इसको रखा है। अनुवादक ने इस उक्ति को निषेधात्मक बना दिया है—

. . मैंने नहीं किया है उसको दूर ।[3]

एकाध स्थान पर थोडा परिवर्तन भी मिल सकता है—

तितिछे वसन मोर नयनेर जले ।[४]

का अनुवाद हुआ है—

दृग-जल से भीगी . ।[५]

यहाँ मूल बगला मे नेत्र-जल से वस्त्र भीगने की बात कही गई है—किन्तु अनुवाद मे अपने ही भीगने का उल्लेख है। दो-एक स्थान पर कुछ छूट भी गया है। उदाहरणत वि० अ० के निम्न पद्य मे—

अहो शिशिरकण ! निशा मध्य तुम फूलो को न भिगोना आज,<br>
राधा का अविरल लोचन-जल कर देगा व्रज मे यह काज।<br>
मुदित करेंगी रसिक जनो को सज प्रमदाए जहाँ तहा,<br>
व्रजवालाए विरह-मूर्ति की करें प्रेम-आरती यहाँ ।[६]

मूल का एक चरण—

वृथा व्यय उचित गो हय न तोमार ।[७]

अननूदित ही रह गया है।

किन्तु यह सब कुछ होने पर भी मूल भाव और विचार-घटक अक्षुण्ण है। ऊपर जिन बातो का उल्लेख किया गया है वे सब अत्यन्त साधारण हैं—मूल की भावधारा मे कोई व्याघात उपस्थित नही करती। भाव और विचार ही नही कवि ने शब्द-प्रतीको के अन्तरण का प्रयास भी किया है, जैसे—'अनाथा अतिथि आमि तोमार'[८] के लिए 'मैं तव

---

१ वि० अ०, सस्करण सवत् २००६, पृष्ठ ५

२ व्रजागना ३।५

३ वि० अ०, सस्करण सवत् २००६, पृष्ठ १०

४ व्रजागना ३।३

५ वि० अ०, सस्करण सवत् २००६, पृष्ठ ६

६ वि० अ०, सस्करण सवत् २००६, पृष्ठ २१

७. व्रजागना ११।४

८ व्रजागना ३।३

अतिथि अनाथा हूँ'[1] तथा 'यमुना पुलिने भ्रमि भ्रमि एकाकिनी'[2] के अनुवाद-स्वरूप 'मैं आज अकेली फिरती थी यमुना के तीर'[3] लिखा गया है। ध्वनि, सुधांशु रजनीवन, पादप, कूल आदि अनेक शब्द ज्यों के त्यों अन्तर्भूत कर लिए गए हैं। कहीं-कहीं छन्द के आग्रह से पर्यायवाची शब्द ग्रहण करने पड़े हैं, जैसे—'ध्वनि के लिए 'निनाद', 'अश्रुधारा' की जगह 'दृग-जल', 'तिमिर यामिनी' के स्थान पर 'तमिस्रा'—आदि। ये नव मूल भावाभिव्यंजना में समर्थ हैं। एकाध स्थान पर उपयुक्त शब्द का प्रयोग नहीं भी हो सका, जैसे 'यमुना तट' शीर्षक खंड के तीसरे पद्य में 'एकाकिनी' के लिए 'सहमा' शब्द का प्रयोग हुआ है जो निश्चय ही मूल भाव की अभिव्यक्ति में असमर्थ है। किन्तु ऐसा कदाचित् यह अकेला ही उदाहरण है।

हिन्दी की प्रकृति का विघात अनुवादक ने कहीं नहीं होने दिया। विरहिणी ब्रजांगना की भाषा सहज-प्रसन्न एवं सर्वथा दोषमुक्त है। मुहावरे का शाब्दिक अर्थ न करके उसके समानान्तर हिन्दी मुहावरा दिया गया है, जैसे 'साजह तुमी नाना आभरने'[4] के लिए 'सजती हो कितने शृंगार'[5] तथा 'बेडी भांग'[6] के स्थान पर 'बेडी काट'[7] लिखा गया है 'बेडी तोड' नहीं।—और मूल का रस तो अव्याहत है ही। वस्तुतः विरहिणी ब्रजांगना में मौलिक रचना का-सा रस है। यही अनुवाद की सबसे बड़ी सफलता है।

## पलासी का युद्ध

बाबू नवीनचन्द्र सेन के 'पलाशीर युद्ध' का यह अनुवाद संवत् १९७७ में प्रकाशित हुआ था। इस काव्य का विषय—पलासी का युद्ध—भारतीय इतिहास की अविस्मरणीय घटना है। इसी में विजय प्राप्ति के पश्चात् भारत में अंग्रेजों की जड़ें जम गई थीं। आधुनिक इतिहास से सम्बद्ध होने पर भी पलासी के युद्ध में रचयिता ने 'इतिहास के बन्धन की परवा' नहीं की।[8] अभिप्राय यह कि उसमें वर्णित सभी घटनाएँ प्रामाणिक इतिहास में प्राप्त नहीं हैं। अनुवादक ने वृत्त की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के प्रपंच में न पड़ मूल को उसी रूप में रूपान्तरित करने का प्रयास किया है—अनुवादको न दुष्यते।

प्रस्तुत काव्य में मूल के भाव और विचार ज्यों के त्यों अवतरित हैं—

> कि आश्चर्य !
> बंगेर अदृष्ट न्यस्त याहांदेर करे,
> उज्ज्वल बंगेर मुख यादेर गौरवे,

१ वि० ब्र०, संस्करण संवत् २००६, पृष्ठ ९
२ ब्रजांगना १५।१
३ वि० ब्र०, संस्करण संवत् २००६, पृष्ठ २६
४. ब्रजांगना ५।५
५. वि० ब्र०, संस्करण संवत् २००६, पृष्ठ १३
६ ब्रजांगना १३।४
७. वि० ब्र०, संस्करण संवत् २००६, पृष्ठ २४
८. दे० पलासी का युद्ध, प्रथम संस्करण, निवेदन, पृष्ठ १

तारा केन आजि एत विषण्ण अन्तरे,
निशीथ निभृत स्थाने वसिया नीरवे ?
सहस्रे वेष्टित हये स्वर्ण-सिंहासने,
वसेन सतत यारा तारा केन हाय,
निर्जन मलिन मुखे विषादित मने,
वसिया गभीर भावे मजिया चिन्ताए ?[1]

(याहादेर=जिनके, यादेर=जिनके, तारा=उनके, वसेन=वैठे हैं)

विस्मय है वग का अदृष्ट जिनके है हाय,
जिन से है वग-शिर ऊचा गुरुता के साथ।
सिंहासनासीन होते जो हजारो से घिरे,
वैठे आज क्यों हैं यों अकेले मे वही निरे ?
मुख पर उदासी है, सोच है हृदय मे,
चिन्तित इकट्ठे हुए ये किस विषय मे ?[2]

यहाँ मूल के चतुर्दश-वर्णिक पयार छन्द के आठ चरणो का अनुवाद १५ वर्णों के गणमुक्त छन्द के छ चरणो मे ही कर दिया गया है—परन्तु भाव-विचार का कोई भी अश छूटा नही है। वाग्विस्तार—घुमा-फिराकर एक ही वात कहते रहना—नवीन वावू का स्वभाव है। अत अनुवादक को कई स्थलो पर सक्षेप से काम लेना पडा है। एक उदाहरण लीजिए—

शार्दूल-कवल-गत, किंवा नागपाशे
वद्ध येइ जन हाय! भीषण वेष्टने,
निरापद, वसि येन आपनार वासे
भावे से यद्यपि मने तवे ए ससारे
ततोधिक मूर्ख आर वलिव कहारे ?[3]
सोचे—घर वैठा हू—जो व्याघ्र मुख मे पडा,
होगा कहाँ, कौन, और मूढ उससे वडा ?[4]

मूल की पाच पक्तियो को अनुवादक ने केवल दो मे आवद्ध कर दिया है—किन्तु उनमे प्रकटित भाव पूर्णत सुरक्षित है।

सक्षेपण के साथ ही कही-कही वात को अधिक स्पष्ट करने के लिए विस्तार से भी काम लिया गया है, यथा—

---

१. पलाशीर युद्ध १।१०
२. पलासी का युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ५-६
३ पलाशीर युद्ध १।३६
४. पलासी का युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १६

अहिफेन-मुग्ध मिरजाफर पामर—
ढुलु ढुलु करितेछे आरक्त लोचन।[1]
(ढुलु ढुलु करितेछे=झूम रहा है)
अधम मीरजाफर अफीम से झींम रहा है झूमकर,
झेंपक लाल दृग झलक रहे हैं पलक जाल मे घूमकर।[2]

यहाँ विस्तार के मूल मे थोड़ा छन्द का आग्रह भी है। 'पलक जाल मे घूम कर' तो निश्चय ही पाद-पूर्ति के लिए लिखा गया है। इस प्रकार का सक्षेपण अथवा विस्तारण मूल भावधारा मे बाधक कहीं भी नहीं है—और अधिकाश मे तो यह अनुवाद अन्वर्थक ही है। शब्दो तक के अन्तरण का इसमे प्रयत्न हुआ है—

. . . . ,नीरव अवनी,
निविड जलदावृत गगन मण्डल,
विदारि आकाशतल,—येन दुष्ट फणी—
खेलितेछे थेके थेके बिजली चचल।[3]
(थेके थेके=ठहर ठहरकर)
. . . ,मौन महीतल है,
सघन घनो से घिरा घोर नभस्थल है।
करके विदीर्ण उसे—नाग ज्यो करे कला—
रह रह कर कौंधती है चला चचला।[4]

आप देख रहे हैं कि यहाँ प्राय प्रत्येक शब्द का रूपान्तर वर्तमान है। शब्द-प्रतीक ही नहीं उनकी आत्मा भी अवतरित है बगला मे 'दुष्ट' शब्द का प्रयोग हीन अर्थ मे नहीं होता, अतएव अनुवादक ने 'येन दुष्ट फणी खेलितेछे' के लिए लिखा है—'नाग ज्यो करे कला'। दूसरी बात यहाँ पर लक्ष्य करने की यह है कि मूल अवतरण के द्वितीय और तृतीय चरणो मे 'गगन-मण्डल' और 'आकाशतल' के प्रयोग के कारण पुनरुक्ति है। अनुवादक ने तीसरे चरण मे 'आकाशतल' अथवा उसका समानार्थक शब्द न रखकर 'उसे' का प्रयोग कर उक्त दोष का परिहार किया है। इसी प्रकार द्वितीय सर्ग मे शब्द-परिवर्तन द्वारा उक्ति को अधिक रमणीय बना दिया गया है—

शोभिछे एकटि रवि पश्चिम-गगने[5]
शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अचल मे[6]

---

१. पलाशीर युद्ध ५।१
२ पलासी का युद्ध, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११३
३. पलाशीर युद्ध १।१
४ पलासी का युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १
५ पलाशीर युद्ध २।१
६. पलासी का युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३०

कही-कही अनुवाद शाब्दिक न होने पर भी अन्वर्थ है, जैसे—

**उन्मत्तता व्याघ्ररूपे करित निवासे ।**[1]

**·· उन्मत्तता दानवी घूम घहरती ।**[2]

इन दोनो पक्तियो द्वारा प्रकटित भाव एक ही है—किन्तु अनूदित पक्ति निश्चित रूप मे अधिक सप्रभाव है ।

प्रस्तुत अनुवाद मे हिन्दी का अकृत्रिम रूप उपलब्ध है—कही भी उसकी प्रकृति का विघात नही मिलेगा । सस्कृत के—मौन, नीरव, चिन्ता, अधम, भू, गगन आदि—सुपाच्य शब्द ही गृहीत हैं । समास भी छोटे-छोटे हैं । दूसरे अनुवादक ने भाषा की पात्रानुकूलता का ध्यान भी रखा है । नवाब की विलासिता को लक्ष्य कर पलाशीर युद्ध मे लिखा गया है—

**वग-रग भूमे नाहि करिब विहार** [3]

इसका अनुवाद इस प्रकार है—

**वग-रग भू पर न सजेंगे परिस्तान के साज ।**[4]

हम समझते हैं नवाब के प्रसग मे 'परिस्तान के साज सजना' 'विहार' की अपेक्षा उत्तम प्रयोग है । नवीनचन्द्र सेन ने यह रचना राष्ट्रीय भावनाओ से प्रेरित होकर की थी । मैथिलीशरण जी का भी यह स्वानुभूत विषय है । इसीलिए यह अनुवाद इतना भावप्रवण बन सका है । सौरस्य की दृष्टि से पलासी का युद्ध मूल से किसी प्रकार भी कम नही है । दोनो को एक साथ रख कर पढने से इसकी पुष्टि हो सकती है ।

सब मिलाकर पलासी का युद्ध अनुवाद-कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य-ग्रथ है ।

### वीरागना

यह माइकेल मधुसूदन की इसी नाम की पुस्तक का अनुवाद है । इसमे ग्यारह पद्यात्मक पत्र सगृहीत हैं । इन पत्रो से सम्बद्ध सभी व्यक्ति ऐतिहासिक-पौराणिक हैं, किन्तु ये पत्र काल्पनिक हैं । तात्पर्य कहने का यह है कि ये वास्तव मे मूल पात्रो द्वारा कभी लिखे नही गए थे ।—ये कवि की परिकल्पना मात्र हैं । उसने यहाँ पात्र-विशेष की मन स्थिति को पत्र के माध्यम से परिव्यक्त किया है । यह अनुवाद सवत् १९८४ मे प्रकाशित हुआ था, अब तक इसके दो सस्करण निकले हैं ।

वीरागना एक उत्तम अनुवाद है । यह मूल के अत्यन्त निकट है । भाव और विचार-अवयव ही नही प्राय मूल का क्रम भी इसमे सुरक्षित है । देखिए एक पक्ति का रूपान्तर एक पक्ति मे ही किस कौशल से हुआ है—

---

१. पलाशीर युद्ध २।११

२ पलासी का युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३५

३ नवीनचद्र सेन ग्रथावली (भाग १), वसुमती साहित्य मन्दिर, पृष्ठ ३४

४ पलासी का युद्ध, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १०२

(१) केमने ए अपमान सव धैर्य धरि ?[१]
(केमने=कैसे, सव=सहन कर)
कैसे सहूं ऐसा अपमान धैर्य धर के ?[२]
(२) छाड़िव ए पोडा प्राण जान्हवीर जले ।[३]
(पोडा=जले हुए)
दग्ध प्राण जान्हवी के जल में ये छोडूंगी ।[४]

यहां पर यह भी लक्ष्य करने की बात है कि अनुवाद में मूल के प्रत्येक शब्द का रूपान्तर उपलब्ध है । शब्द-प्रतीकों के अन्तरण का एक उदाहरण और लीजिए—

थाके यदि धर्म, तुमि अवश्य भुंजिवे
ए कर्मेर प्रतिफल .... ..... .।[५]
(थाके=है, भुंजिवे=भोगोगे)
धर्म यदि है तो इस कर्म का अवश्य ही
भोगना पड़ेगा तुम्हें प्रतिफल ! ....[६]

आप देख रहे हैं कि इस उद्धरण में मूल के प्रत्येक शब्द के लिए प्रतिशब्द वर्तमान है । भाव-विचार-घटक के अन्तरण का भी एक निदर्शन प्रस्तुत करते हैं—

ए कि कथा शुनि आज मथरार मुखे
रघुराज ? किंतु दासी नीचकुलोद्भवा
सत्यमिथ्या ज्ञान तार कभु न सम्भवे
कहो तुमि के न आजि पुरवासी यत
आनन्द-सलिले मग्न ? छडाइछे केह
फूल-राशि राजपथे, केह गाथिछे
मुकुल-कुसुम-फल-पल्लवेर माला
साजाइते गृहद्वार-महोत्सवे येन
केन वा उडिछे ध्वज प्रति गृह चूडे ?[७]

{ तार=उसको, यत=जितने (सब), छड़ाइछे=बिखरते हैं,
गाथिछे=गूंथते हैं, साजाइते=सजाते हैं, येन=मानो }

---

१ वीरांगना काव्य, स० ब्र० बन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ ६७
२. वीरांगना, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६६
३. वीरांगना काव्य, स० ब्र० बन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ ६७
४. वीरांगना, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६६
५. वीरांगना काव्य, स० ब्र० बन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ ३०-३१
६ वीरांगना, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४३
७. वीरांगना काव्य, स० ब्र० बन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ २७

मैं यह क्या सुनती हूँ मन्थरा के मुख से
आज रघुराज ? किंतु दासी नीच कुल की
वह है, विचार सच-झूठ का उसे कहा ?
तुम बतलाओ, सब पौरजन आज क्यों—
मोद-जल मे हैं मग्न ? कोई राज-पथ मे
छींटता है फूल, कोई गूथता है मालाए,—
फूल-फल-पल्लवो से, द्वारों के सजाने को,
मानो महा उत्सव मे, और उडते हैं क्यों
प्रति गृहशीर्ष पर केतु ? । [1]

यहाँ मूल भाव-विचार का कोई भी अश छूटने नही पाया है। भाव-विचार-घटक का सुरक्षित रखते हुए कही-कही मूल के शैथिल्य का निवारण भी कर दिया गया है—

एस तुमि, प्राणनाथ, रण परिहरि
पचखनि ग्राम मात्र मागे पचरथी
कि अभाव तव कह ? तोष पचजने,
तोष अन्ध बाप माये, तोष अभागी रे !
रक्ष कुरुकुल, ओहे कुरुकुल-मणि ![2]

(एस=आओ, पचखनि=पाँच नग, पाँच अदद)

आओ तुम प्राणनाथ छोडकर रण को
पाँच गाँव मात्र पाँच पाण्डव हैं मागते,
तुमको अभाव क्या है ? तुष्ट करो उनको,
तुष्ट करो अध पिता-माता को, अभागी को !
रक्खो कुरुवश कुरुवश-अवतस हे ![3]

उपर्युद्धृत मूल और अनूदित अवतरणो की तुलना करने पर हम देखते हैं कि द्वितीय पक्ति मे अनुवादक ने 'खनि' का पर्यायवाची 'अदद' नही दिया। हम समझते हैं 'पाँच अदद गाँव मात्र' की अपेक्षा 'पाँच गाँव मात्र' कही अच्छा है। इसी प्रकार उद्धरण की दूसरी और तीसरी पक्ति मे पचपाडवो के लिए 'पचरथी' तथा 'पचजने' शब्दो का प्रयोग किया गया है जो निश्चय ही पुनरुक्ति है—किन्तु अनुवादक ने तीसरी पक्ति मे 'उनको' का प्रयोग करके पुनरुक्ति का परिहार कर दिया है। अनूदित अवतरण—विशेषत अन्तिम पक्ति—की झकार भी मूल से रमणीयतर है। हिन्दी मे तो वह दुर्लभ ही है।

मूल भाव को सुरक्षित रखते हुए ही कही-कही कहने के ढग मे थोडा अन्तर कर दिया गया है—

---

१. वीरागना, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३७-३८
२ वीरागना काव्य, स० अ० वन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ ४६
३ वीरागना, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ७२

नाहि निद्रा नाहि रुचि हे नाथ आहारे ।[1]
निद्रा नहीं आती, मिटी भोजन की रुचि है ।[2]

'भोजन की रुचि मिट गई है' निश्चय ही 'भोजन मे रुचि नही है' से अधिक सप्रभाव है। दो-एक स्थल पर अनुवादक ने अपनी ओर से भी कुछ जोड दिया है, किन्तु मूल भाव-धारा की उससे कोई क्षति नही होती, जैसे—

कांपे हिया थरथरे ।[3]

का अनुवाद हुआ है—

थरथर कांपती है छाती महाभय से ।[4]

'महाभय से' के लिए मूल मे कोई शब्द नही है, पर यह वृद्धि मूल भाव की विवृत्ति मे सहायक ही है। कहीं-कहीं एकाध शब्द छूट भी गया है, यथा—

भूलिते तोमारे कभु पारे कि अभागी ?[5]
· ? पर भूल सकती है वह क्या तुम्हे ?[6]

यहाँ मूल उद्धरण के 'अभागी' शब्द का समानान्तर अनुवाद मे नही है, फिर भी प्रकटित भाव मे कोई अन्तर नही है।

मूल की ऋजु-सरल उक्ति को अनुवाद मे कहीं-कहीं मुहावरेदार भी बना दिया गया है। उदाहरणार्थ निम्न पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

थाकिब निरखि पथ, स्थिर आँखि होये ।[7]
(थाकिब = रहूँगी)
एक टक दृष्टि से रहूँगी राह देखती ।[8]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वीरांगना एक विश्वसनीय अनुवाद है। इसमे मूल के भाव और विचार ही नहीं शब्द-प्रतीक तक रूपान्तरित है, फिर भी इसमे मौलिक रचना का-सा रस है। क्योकि अनुवादक ने अपनी भाषा का विशेष ध्यान रखा है—मूल की भाषा का पुट उसमे नही है जो प्राय अनुवादो मे आजाया करता है। अस्तु।

मेघनाद-वध

यह बगीय महाकवि माइकेल मधुसूदनदत्त की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अपने अप्रतिबद्ध

१. वीरांगना काव्य, स० ब्र० वन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ ४५
२ वीरांगना, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६५
३. वीरांगना काव्य, स० ब्र० वन्दो तथा स० दास, पृष्ठ ४५
४ वीरांगना, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६६
५ वीरांगना काव्य स० ब्र० वन्दो तथा स० दास, पृष्ठ ८
६. वीरांगना, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १०
७ वीरांगना काव्य, स० ब्र० वन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ ६७
८ वीरांगना, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ८१

भावावेश एव दुर्धर प्रवाह के कारण वगाली साहित्य मे मेघनाद-वध काव्य का अपूर्व स्थान है। वास्तव मे इस ग्रथ के कारण ही मधुसूदन उन्नीसवी शताब्दी के युगान्तरकारी कवि माने गए हैं।

रामचरित से सबद्ध इस काव्य का नायक मेघनाद है—इसमे उसी के शौर्य का गान हुआ है। राम और लक्ष्मण के चरित्र की परम्परागत गरिमा मेघनादवध काव्य मे सुरक्षित नही रह सकी। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह लका के राजकवि की कृति है। इस काव्य की विचारधारा निश्चय ही प्रस्तुत कवि के मनोनुकूल नही है, फिर भी वह इसके काव्य-वैभव पर मुग्ध है। इसीलिए उसने इसका अनुवाद किया है—'मेघनाद-वध-सदृश काव्य एक प्रान्त का ही धन न रहे, राष्ट्रभाषा के द्वारा वह राष्ट्रीय सम्पत्ति वन जाए, इतना न हो सके तो अन्तत. उस रत्न की एक झलक हिन्दीभाषाभाषियो को भी देखने को मिल जाए ।'[1]

मेघनाद-वध एक आदर्श अनुवाद है,—अन्वर्थता इसकी विशेषता है। आरम्भ से अत तक अनुवादक ने मूल के विचार और भाव-घटक का बडे कौशल से रूपान्तर किया है। एक उदाहरण लीजिए—

उत्तरिला विभीषण वृथा ए साधना
धीमान राघव दास आमि की प्रकारे
ताहार विपक्ष काज करिव रक्षिते
अनुरोध ? उत्तरिला कातरे रावनि
हे पितृव्य तव वाक्ये इच्छि मरिबारे
राघवेर दास तुमि केमने ओ मुखे
आनिले ए कथा तात कहो ता दासेरे ![2]

उत्तर मे बोला यो विभीषण कि—"धीमते,
व्यर्थ यह साधना है ! मैं हू राघवेन्द्र का
दास, कैसे कार्य्य करू उनके विपक्ष मे,
रक्षा करने को मैं तुम्हारे अनुरोध की ?"
कातर मेघनाद फिर कहने लगा—
"काका मरने की आप इच्छा मुझे होती है
वातें ये तुम्हारी आज सुनकर, लज्जा से !
राघव के दास तुम ? कैसे इस मुख से
वात निकली है यह ? तात, कहो दास से ।"[3]

आप देख रहे हैं कैसा शुद्ध अनुवाद है—मूल और अनुवाद के उद्धरणो मे कितना

---

१ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, निवेदन

२. मेघनादवध काव्य, स० ब्रजेन्द्रनाथ वन्दोपाध्याय तथा सजनीकान्त दास, पृष्ठ १७३-१७४

३ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३२३

भाव-साम्य है। मूल के भाव-विचार-घटक की रक्षा के निमित्त ही राम का अनन्य उपासक होते हुए भी अनुवादक को ऐसी पंक्तियां तक लिखनी पड़ी हैं जिनमें उनके इष्टदेव की धीरोदात्तता पर ही आघात हुआ है, यथा—

प्रभु ने कहा यों—"मित्र, देख इस दूती की
आकृति, मैं भीत हुआ मन में, विसार के
तत्क्षण ही युद्ध-साज ! मूढ वह जन है,
छेड़ने चले जो ऐसी सिंहियों की सेना को,
देखूं चलूं मैं तुम्हारी भ्रातृ-पुत्र-पत्नी को।"[1]

मूल इस प्रकार है—

........ कहिला राघव
"दूतीर आकृति देखि डरिनु हृदये
रक्षोवर युद्ध-साध त्यजिनु तखनि
मूढ़ ये घांटाय सखे हेन वाघिनी रे
चल मित्र देखि तव भ्रातृ-पुत्र-वधू।"[2]
(घांटाय=छेड़ते हैं, हेन=ऐसी)

यहाँ राम के भीत होने का भी उल्लेख है—'मैं भीत हुआ मन में'। आस्तिक कवि मैथिलीशरण के सम्पूर्ण मौलिक साहित्य में ऐसा कहीं नहीं मिलेगा—किन्तु अनुवाद में उन्होंने वह भी किया है। मूल के भाव-विचार-अंश का ही नहीं शब्द-प्रतीकों के रूपान्तर का प्रयास भी उपर्युक्त उद्धरणों में देखा जा सकता है। मूल रचना के शब्दों के अन्तरण के दो उदाहरण और लीजिए—

(१) अभिमाने महामानी वीरकुलर्षभ
रावन, कहिला वली सिन्धु पाने चाहि,—
"कि सुन्दर माला आजि परियाछ गले,
प्रचेत ! हा धिक् .....।"[3]
(सिन्धु पाने चाहि=सिन्धु की ओर देखकर, परियाछ=पहनी)

सिन्धु—ओर देख महामानी राक्षसेन्द्र यों
बोला, अभिमान-वश—"क्या ही मंजु मल्लिका
पहनी प्रचेत, आज तुमने, हा ! धिक् है[4]

(२) यथा दूर दावानल पशिले कानने
अग्निमय दशदिश देखिला सम्मुखे

१ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २३८
२ मेघनादवध काव्य, स० अ० वन्द्योपाध्याय तथा स० दास, पृष्ठ ९५
३ " " " " " " पृष्ठ ३९
४ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १७९

राघवेन्द्र विभा-राशि निर्धूम आकाशे,
सुवर्णि वारिद-पुंजे ! ।[१]
लगने से दावानल दूर यथा वन मे,
अग्निमयी होती हैं दिशाए दसों, सामने
देखी विभा-राशि राघवेन्द्र ने गगन मे
धूमहीन, करती सुवर्ण-वर्ण मेघो को ![२]

इन दोनो उद्धरणो मे मूल के प्रत्येक शब्द के लिए प्रतिशब्द वर्तमान है। मेघनाद-वध मे ऐसे राशि-राशि उदाहरण प्राप्य हैं।

कही-कही अभिव्यजना शैली मे थोडा अन्तर भी हो गया है, जैसे—

(१) अविदित नहे तब काछे[३]
इसे हो तुम जानते[४]

(२) पाषान दिया गडिला विधाता हिया
तोर ।[५]
तेरा हिया पत्थर का है बना[६]

यहाँ मूल और अनुवाद का वक्तव्य प्राय एक ही है, अन्तर है केवल कहने के ढग मे। कही-कही अनुवादक ने अपनी ओर से दो-चार शब्द बढा भी दिए है—

छाड द्वार याव अस्त्रागारे
पाठाइब रामानुजे शमन-भवने।[७]
(याव = जाऊगा, पाठाइब = भेजूगा, शमन-भवने = यमलोक मे)

द्वार पथ छोड दो
जाऊ और लाऊ अभी अस्त्र अस्त्रागार से
लक्ष्मण को शीघ्र पहुँचाऊँ यमलोक में।[८]

और कभी-कभी कुछ छोड भी दिया गया है, यथा—

कुरग, विहग आदि मृग-शिशु यत
करभ करभी

---

१ मेघनादवध काव्य, स० व्र० बन्दोपाध्याय तथा स० दास, पृष्ठ ६५
२ मेघनादवध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २३८
३ मेघनादवध काव्य, स० व्र० वन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ १७२
४. मेघनादवध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३२१
५ मेघनादवध काव्य, स० व्र० वन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ ११७
६ मेघनादवध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २६१
७ मेघनादवध काव्य, सं० व्र० वन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ १७३
८ मेघनादवध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३२३

आसि उतरिल सबे ।[1]
खग, मृग आदि जीव आए ।[2]

तथा एकाध स्थान पर थोडा परिवर्तन भी हो गया है, यथा—

त्रासे हीन गति
पथिक, ...... ।[3]

अर्थात् पथिक भय से हीनगति हो जाता है—का अनुवाद हुआ है—

पथिक भीत, हीनगति होता है[4]

अर्थात् पथिक भयभीत होता है और हीनगति हो जाता है। कहीं-कहीं एकाध शब्द का परिवर्तन करके मूल के दोष का परिहार भी हुआ है—

वाछि वाछि लइते सत्वरे
तीक्ष्णतर प्रहरण नश्वर संग्रामे ।[5]

यहाँ संग्राम को नश्वर बताया गया है जो असंगत है। अनुवादक ने इसके स्थान पर नाशकारी शब्द का प्रयोग करके कवि के वक्तव्य को स्पष्ट बना दिया है—

चुन चुन तीक्ष्ण शर लेने को तुरन्त ही
जो हो प्राणनाशी नाशकारी रणक्षेत्र में ।[6]

किन्तु सब मिलाकर यह परिवर्तन-परिवर्द्धन और संशोधन आदि परिमाण में अल्प ही है। वस्तुतः गुप्त जी के अनुवाद-ग्रंथों में मेघनाद-वध में आनुगुण्य सबसे अधिक है।

मूल की प्रकृति और प्रवाह की रक्षा के निमित्त अनुवाद में भी संस्कृतप्रपुष्ट भाषा का व्यवहार हुआ है। परन्तु संस्कृत के प्राधान्य के कारण हिन्दी की प्रकृति विलीन नहीं हो गई है।—और न मेघनाद-वध की भाषा में बंगाली की प्रतिच्छाया ही है। प्राय हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल ही वाक्य-विन्यास एवं मुहावरों का प्रयोग हुआ है। यद्यपि दो-एक स्थान पर बंगाली मुहावरे का शाब्दिक अनुवाद भी हुआ है—'छुटिल गौरभ' के लिए 'दौड़ उठा गंध' तथा 'आमिनाचिछे' की जगह 'नेत्र जानता है'—लिखा गया है। किन्तु इतने बड़े काव्य में ऐसे दो-चार प्रयोग नगण्य हैं। मूल की भाषागत त्रुटियों को अनुवादक ने स्वीकार नहीं किया है, वरुण की पत्नी के लिए मधुसूदन ने 'वारुणी' शब्द का प्रयोग किया है—'कहिला वारुणी पुन'[7]—जो अशुद्ध है। किन्तु मैथिलीशरण जी ने इसके स्थान पर शुद्ध 'वरुणानी'

१ मेघनादवध काव्य, स० अ० वन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ ११७
२ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २६१
३ मेघनादवध काव्य, स० अ० वन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ १७०
४ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३१९
५ मेघनादवध काव्य, स० अ० वन्दो तथा स० दास, पृष्ठ १५३
६ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३०१
७ मेघनादवध काव्य, स० अ० वन्दो० तथा स० दास, पृष्ठ ४६

लिखा है—'बोली वरुणानी फिर' ।[१] पर उन्होंने कतिपय असम-पद समास भी गढ लिए हैं, जैसे—'कानन' के लिए 'फूलवाटिका', 'कुसुम शय्या' के स्थान पर 'फूल शय्या' तथा 'स्वर्ण-पाटिकेल' की जगह 'स्वर्ण-ईंट' आदि । ऐसे समास अग्राह्य हैं । वास्तव मे गुप्त जी को छन्द के आग्रह से ये विचित्र समास बनाने पडे, अन्यथा उपर्युक्त तीन शब्दो मे से कम मे कम प्रथम दो को अनुवाद मे अन्तर्भूत किया जा सकता था । छन्द के कारण ही—

**अस्ते गेला दिनमणि, आइला गोधूलि**[२]

के शब्द-प्रतीको का अन्तरण करते हुए लिखा गया है—

**दिनमणि अस्त हुआ, धेनु-धूलि आगई**[३]

यहाँ और सब शब्द तो मूल से गृहीत हैं, बस एक 'गोधूलि' के स्थान पर 'धेनु-धूलि' का प्रयोग हुआ है जो व्याकरण-शुद्ध होने पर भी प्रचलित नही है । चिर अभ्यस्त मन पर 'गो-धूलि' का जो रमणीय-मधुर प्रभाव पडता है वह समानार्थक होने पर भी 'धेनु-धूलि' का नही है । परन्तु अनुवादक यदि 'गो-धूलि' का प्रयोग करता तो उपर्युक्त चरण मे एक वर्ण कम रह जाता ।

समग्रत मेघनाद-वध अत्यन्त सफल अनुवाद है । गुप्त जी के अनुवाद-ग्रथो मे ऐसा अन्वर्थक अनुवाद और कोई नही है । इसमे मूल की आत्मा ही नही शरीर भी सुरक्षित है मूल के अदम्य ओज और प्रबल प्रवाह के साथ-साथ शब्द-प्रतीक और छन्द भी सफलता से रूपान्तरित हुए हैं । इतने बडे काव्य-ग्रथ का ऐसा सरस अनुवाद निश्चय ही प्रशसनीय है । यह अनुवाद सवत् १९८४ मे प्रकाशित हुआ था, अब तक इसकी दो आवृत्तियाँ हुई है ।

## स्वप्न वासवदत्ता

यह महाकवि भास-प्रणीत स्वप्नवासवदत्तम् का हिन्दी अनुवाद है जो सवत् १९८६ मे प्रकाशित हुआ था । अब तक इसके दो सस्करण निकले हैं । सक्षेप मे स्वप्न वासवदत्ता की कथा इस प्रकार है—

वत्सदेश के राजा उदयन राज्य-च्युत होकर रानी वासवदत्ता और मत्री यौगन्धनारायण के साथ लावाणक नामक गाँव मे निवास करते हैं । उदयन के विषय मे सिद्धो की भविष्यवाणी है कि मगधराज दर्शक की बहन पद्मावती से विवाह करने पर उनको पुन राज्य-प्राप्ति होगी । परन्तु वासवदत्ता के रहते हुए उदयन अन्य किसी कन्या को पत्नी-रूप मे स्वीकार करने को तैयार नही—और न दर्शक उस दशा मे उदयन से अपनी बहन के परिणय के लिए प्रस्तुत हैं । फलत स्वामिभक्त मन्त्री यौगन्धनारायण षड्यन्त्र रचते हैं । अकस्मात् एक दिन लावाणक गाँव मे आग लगती है—और वासवदत्ता तथा मन्त्री यौगन्धनारायण अन्तर्धान हो जाते हैं । प्रचारित कर दिया जाता है कि वासवदत्ता अग्नि मे

---

१ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १८६

२ मेघनादवध काव्य, स० व्र० वन्दो तथा स० दास, पृष्ठ ५९

३. मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १९९

जल गई और उसको बचाने के प्रयत्न में यौगन्धनारायण भी नहीं बच सके। यहीं से स्वप्नवासवदत्ता की कथा प्रारम्भ होती है।

यौगन्धनारायण वासवदत्ता को अपनी प्रोषित-पतिका बहन बताकर राजकुमारी पद्मावती के पास धरोहर-रूप में छोड़कर चले जाते हैं। कालान्तर में उदयन और पद्मावती का विवाह सम्पन्न होता है।—और अन्त में सब भेद खुलने पर उदयन और वासवदत्ता का पुनः संयोग होता है। भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

मैथिलीशरण जी ने स्वप्न वासवदत्ता में गद्य का अनुवाद गद्य में और श्लोकों का पद्य में किया है। मूल के भाव-घटक और विचार-घटक का रूपान्तर उन्होंने बड़ी योग्यता से किया है, यथा—

(१) स्मराम्यवन्त्यधिपतेः सुतायाः
प्रस्थानकाले स्वजनं स्मरन्त्याः।
बाष्पं प्रवृत्तं नयनान्तलग्नं
स्नेहान्ममैवोरसि पातयन्त्याः॥[1]
करता हूँ मैं याद अवन्ती राज-सुता की,
गमन समय आत्मीय जनस्मृति शोच युता की।
आँखों में उस समय अहा! आँसू भर आए,
मेरे उर पर गये प्रेमवश जो बरसाये।[2]

(२) तदिदानीं न जाने। 'इह तया सह हसितम् इह तया सह कथितम्, इह तया सह पर्युषितम्, इह तया सह कुपितम् इह तया सह शयितम्' इत्येवं तं विलपन्तं राजानममात्यैर्महता यत्नेन तस्माद् ग्रामाद् गृहीत्वापक्रान्तम्।[3]

यह मैं नहीं जानता। "यहीं उसके साथ हँसा हूँ, यहीं उसके साथ बातें की हैं, यहीं उसके साथ बैठा हूँ, यहीं उसके साथ प्रणय-कलह किया है, यहीं उसके साथ सोया हूँ", इस प्रकार विलाप करते हुए उस राजा को राजमन्त्री किसी प्रकार गाँव से लेकर चले गए।[4]

आप देख रहे हैं कि उपर्युक्त उद्धरणों में मूल के विचार अथवा भाव का कोई अंश छूटने नहीं पाया। विचार और भाव-घटक ही नहीं गुप्त जी ने यथासंभव शब्द-प्रतीकों के अन्तरण का भी प्रयास किया है

(१) नाहं काषायं वृत्तिहेतोः प्रपन्नः।[5]
पहने मैंने वृत्ति हेतु काषाय नहीं "।[6]

---

१. स्वप्नवासवदत्तम् ५।५
२. स्वप्न वासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६८
३. स्वप्नवासवदत्तम्, हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला, संस्करण संवत् २०१२ पृष्ठ ५३–५४
४. स्वप्न वासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ८९
५. स्वप्नवासवदत्तम् १।६
६. स्वप्न वासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३६

(२) पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यं ।[1]
प्यारी है अत्यन्त मुझे पद्मावती,
रूप-शील-माधुर्य-मयी ।[2]

(३) उद्दिश्य माम् च विरहे [3]
उद्देश्य कर मुझको विरह मे [4]

(४) कालक्रमेण जगत परिवर्तमाना [5]
काल किया करता है जग मे परिवर्तन का काम ।[6]

यही पर यह भी उल्लेखनीय है कि इस अनुवाद-कार्य मे लेखक ने उलझन कही नही आने दी। यह अनुवाद सर्वत्र स्वच्छ और स्पष्ट है। स्वच्छता और स्पष्टता के निमित्त अनुवादक ने पक्तियाँ बढा दी, बडे छन्द का प्रयोग किया— किन्तु उनका विघात नही होने दिया। एक उदाहरण लीजिए—

इमा सागरपर्यन्ता हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।
महीमेकातपत्राका राजसिंह प्रशास्तु न. ॥[7]

हिमगिरि और विन्ध्य जिसके हैं दो कुण्डल द्युतिमन्त,
सीमा है जिस हरी भरी की रत्नाकर पर्यन्त,
उस विशाल वसुधा का होकर प्रेममात्र सर्वत्र,
रहे हमारा राजसिंह चिर-शासक एकच्छत्र ।[8]

इस पद्य मे स्पष्टता के निमित्त वाग्विस्तार अथच बडे छन्द का प्रयोग करना पडा है। ऐसे और भी कई स्थल प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

लेकिन यह सब कुछ होने के बावजूद स्वप्न वासवदत्ता मे आनुगुणत्व की कमी है। उपर्युद्धृत अवतरण को ही देखिए उसके प्रथम चरण मे 'द्युतिमन्त' और द्वितीय मे 'हरी भरी' ऐसे विशेषण हैं जिनके लिए मूल मे कोई शब्द नही है। निम्न अवतरणो का भी अवलोकन कीजिए—

---

१ स्वप्नवासवदत्तम् ४।४
२ स्वप्नवासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ८१
३ स्वप्नवासवदत्तम् ६।२
४. स्वप्नवासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १११
५ स्वप्नवासवदत्तम् १।४
६ स्वप्नवासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३३
७ स्वप्नवासवदत्तम् ६।१९
८ स्वप्नवासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १०

विश्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया ।[१]
शंकारहित अचकित हरिण आनन्द से हैं चर रहे ।[२]

स्वप्न वासवदत्ता की उपर्युक्त पंक्ति में मूल के 'देशागतप्रत्यया' का भाव नहीं है—किन्तु 'आनन्द' शब्द अपनी ओर से बढ़ा दिया गया है। कहीं-कहीं पर आदर्शवादिता के कारण भी परिवर्तन हुआ है, जैसे मूल के अधोऽवतरित—

श्रुतिसुखनिनदे ! कथ नु देव्या
स्तनयुगले जघनस्थले च सुप्ता ।
विहगगणरजोविकीर्णदण्डा
प्रतिभयमध्युषिताऽस्यरण्यवासम् ॥[3]

श्लोक के अनुवाद में कवि ने 'स्तनयुगले' और 'जघनस्थले' के स्थान पर ऐसे शब्द रखे हैं जिनमें इन अंगों का स्पष्ट कथन बच जाता है—

श्रुति-मधुर-रवे, तू प्रिया-वक्ष पर रहती,
गोदी में लेटी कथा उसी की कहती ।
खग-धूलि-धूसरित विरह दाव से दहती,
कैसे दारुण वनवास रही फिर सहती ।[४]

इस छोटे से नाटक में परिवर्तन, परिवर्द्धन अथवा परित्याग के ऐसे ही राशि-राशि निदर्शन प्राप्य हैं। उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा ही स्थाली-पुलाक-न्याय से उनका अनुमान लगाया जा सकता है। अस्तु !

गुप्त जी संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। उनका पौराणिक ज्ञान तथा उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा प्रमाण है, फिर भी कतिपय असावधान क्षणों में इस अनुवाद में एक स्थान पर त्रुटि भी हो गई है। वासवदत्ता और पद्मावती की चेटी का निम्न संवाद देखिए—

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) अय्यउत्तं भत्तारं अभिलसदि ।
(प्रकाशम्)केण कारणेण ?
(आर्यपुत्र भर्तारमभिलषति । केन कारणेन ?)

चेटी—साणुक्कोसो त्ति ।
(सानुक्रोश इति)

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) जाणामि जाणामि । अअ वि जणो एव्वं उम्मादिदो ।
(जानामि जानामि । अयमपि जन एवमुन्मादित. ।)[५]

---

१ स्वप्नवासवदत्तम् १।१२

२. स्वप्न वासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४२

३ स्वप्न वासवदत्तम् ६।१

४ स्वप्न वासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १११

५ स्वप्न वासवदत्तम्, इण्डियन-संस्कृत-ग्रंथमाला, संस्करण संवत् २०१२, पृष्ठ ७१-७२

यहाँ चेटी वासवदत्ता को बताती है कि राजकुमारी पद्मावती महाराज उदयन पर इसलिए मुग्ध है कि वे दयालु हैं—तब वासवदत्ता (स्वगत) कहती है कि मैं जानती हूँ, यह जन भी इसीलिए (उदयन की दयालुता के कारण) मुग्ध हुआ था। चेटी और वासवदत्ता के इस सवाद मे उदयन को दयालु बताया गया है और 'यह जन' का प्रयोग वासवदत्ता के लिए हुआ है। किन्तु मैथिलीशरणकृत स्वप्न वासवदत्ता मे यह स्थल उचित रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सका—

**वासवदत्ता—(स्वगत) अच्छा, आर्यपुत्र को वरना चाहती है। (प्रकट) क्यों ?**

**चेटी—राजकुमारी की कृपा।**

**वासवदत्ता—(स्वगत) समझ गई, समझ गई ! यह भी उनके लिए पागल है।[1]**

यहाँ 'राजकुमारी की कृपा' की तो बात ही असगत और अप्रासगिक है। किन्तु वासवदत्ता के कथन मे व्यजित पद्मावती का उन्माद प्रसग मे फिट बैठ सकता है, फिर भी वह त्रुटि है—अशुद्ध अनुवाद है।

हिन्दी की प्रकृति का अनुवादक ने सर्वत्र ध्यान रखा है। आद्यत हिन्दी मुहावरे की रक्षा हुई है, जैसे—"भवतु भवतु। दत्त वेतनमस्य परिखेदस्य"[२] का अनुवाद हुआ है—"धन्य भाग्य मैंने सब भर पाया।"[३] इसी प्रकार "जयतु भर्तृदारिका। भर्तृदारिके ! दत्तासि"[४] के लिए उन्होंने लिखा है—"राजकुमारी की जय हो, आपका सम्बन्ध निश्चित हो गया।"[५] हिन्दी की प्रकृति की रक्षा करने के कारण ही स्वप्न वासवदत्ता मे 'वैधेय' के लिए मूर्ख, 'कथा-योग' के स्थान पर कथा-प्रसग और 'मुखर' के अनुवाद-स्वरूप 'वाचाल' शब्द का प्रयोग हुआ है।

सर्वांगिन दृष्टिपात करने पर स्वप्न वासवदत्ता काफी अच्छा नाटक है। इसमे मूल की आत्मा सुरक्षित है। इस नाटक मे स्वप्न वासवदत्तम् से रच मात्र भी रस की न्यूनता नही है—और रस भी मौलिक रचना का-सा है।

## रुबाइयात उमर खय्याम

उमर खय्याम फारसी के जगत्प्रसिद्ध कवि हैं। यदि केवल प्रचार की दृष्टि से देखा जाए तो वे फारसी के अन्यतम कवि हैं। ससार की अनेक भाषाओ मे उमर की रुबाइयो का अनुवाद हो चुका है। उनके नाम से लगभग बारह सौ रुबाइया प्रचारित हैं—किन्तु विद्वत्गण केवल तीन सौ को प्रामाणिक मानते हैं।

---

१ स्वप्नवासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५६

२. स्वप्नवासवदत्तम्, हरिदास-सस्कृत-ग्रन्थमाला, सस्करण सवत् २०१२, पृष्ठ

३. स्वप्नवासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ८२

४ स्वप्नवासवदत्तम्, हरिदास-सस्कृत-ग्रन्थमाला, सस्करण सवत् २०१

५ स्वप्नवासवदत्ता, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५७

फिट्ज़ेराल्ड उमर खय्याम के सबसे सफल अनुवादक माने जाते हैं। उन्होंने उमर की रुबाइयों का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया है जो फिट्ज़ेराल्ड और उमर खय्याम दोनों की विश्व-प्रसिद्धि का कारण है। "फिट्ज़ेराल्ड ने मूल का अविकल अनुवाद नहीं किया। उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार कहीं एक रुबाई को तोड़कर दो के रूप में छन्दोबद्ध किया है, कहीं दो-तीन रुबाइयों को लेकर एक कर दिया है।"[१] फिट्ज़ेराल्ड का यह अंग्रेजी अनुवाद पचहत्तर रुबाइयों में हुआ है। प्रस्तुत कवि ने 'रुबाइयात उमर खय्याम' में उन पचहत्तर रुबाइयों का ही अनुवाद किया है। अतः यहाँ पर हम फिट्ज़ेराल्डकृत अनुवाद को ही मूल मानकर रुबाइयात उमर खय्याम की समीक्षा करेंगे।

मैथिलीशरण जी अंग्रेजी नहीं जानते। फिट्ज़ेराल्ड द्वारा किया गया पद्यानुवाद उन्होंने रायकृष्णदास जी से सुना—और तब उसके आधार पर इन रुबाइयों की रचना की, फिर भी उनमें मूल के विचार और भाव पूर्णतः सुरक्षित हैं। कवि ने अवयवभूत विचार और भाव के रूपान्तरण का सफल प्रयास किया है। निदर्शन-स्वरूप निम्न पद्यों का अवलोकन कीजिए—

(1) The Ball no Question makes of Ayes and Noes,
But Right or Left as strikes the Player goes,
And He that toss'd Thee down into the Field,
He knows about it all—He knows—He knows ![२]
दाएँ बाएँ जिधर खिलाड़ी है उछाल देता जब कुछ,
कन्दुक उधर उछल जाता है, हाँ-ना करता है कब कुछ ?
जिसने तुम्हें उछाला है इस प्रान्तर में, किसलिए ? इसे,
वही जानता, वही जानता, वही जानता है सब कुछ।[३]

(2) With them the Seed of Wisdom did I sow,
And with my own hand labour'd it to grow
And this was all the Harvest that I reap'd—
'I came like Water, and like Wind I go'[४]
उनकी सगति में रह मैंने ज्ञान-बीज बोया भरपूर,
उसे बढ़ाने की चेष्टा में बना रहा मैं चिर दिन चूर,
उससे जो फल पाया मैंने वह था केवल एक यही—
'आया नीर-समान और मैं जाना हूँ समीर-सा दूर।'[५]

इन दोनों रुबाइयों में मूल के भाव और विचार-तत्त्व पूर्णतः अन्तर्निहित हैं—हम

---

१ रुबाइयात उमर खय्याम, गुप्त जी, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २० (भूमिका)
२. स्वप्न वा[illegible] e's Golden Treasury, ed 1925, page 349
३. स्वप्न वासवदत्तर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५५
४. स्वप्न वासवदत्ता, Golden Treasury, ed 1925, page 340
५ स्वप्न वासवदत्तम्, खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४४

समझते हैं कि उसके दिग्दर्शन के लिए किसी व्याख्या की अपेक्षा नही है। भाव और विचार ही नही पूर्वोक्त पद्यो मे यथासम्भव प्रत्येक शब्द-प्रतीक का भी रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। दो उदाहरण और लीजिए—

(1) While the Rose blows along the River Brink,
With old Khayyam the Ruby Vintage drink[1]
खिलती है सरिता के तट पर जब पाटल-प्रसून-माला,
पियो, वृद्ध खय्याम संग तब तुम उमग से गुल्लाला।[२]

(2) Now the New Year reviving old Desires,
The Thoughtful Soul to Solitude retires[3]
हुआ पुरानी इच्छाओ का नये वर्ष के सग विकास,
चिन्ता-शील जीव निर्जन को चला वहाँ करने को वास।[४]

यहाँ अनुवाद मे मूल के प्राय सभी शब्दो के लिए प्रतिशब्द लभ्य है। अनुवादक ने शब्द-प्रतीको का ही नहीं उनके 'शेड' (Shade) के अन्तरण का भी प्रयास किया है, उदाहरणत 'Wine'[5] के लिए 'मदिरा',[६] 'Grape'[7] के लिए 'अगूरी'[८] तथा 'Daughter of the Vine'[9] के स्थान पर 'द्राक्षा-दुहिता'[१०] शब्द का प्रयोग किया गया है।

पूर्वोद्धृत अवतरणो मे आपने एक बात लक्ष्य की होगी कि अनूदित पद्यो मे कही भी अस्पष्टता नही है। वास्तव मे अनुवादक स्वच्छता बनाए रखने के लिए निरन्तर यत्नशील रहा है—

The Grape that can with Logic absolute
The Two-and-Seventy jarring Sects confute
The subtle Alchemist that in a Trice
Life's leaden metal into Gold transmute[11]
जिन मतमतान्त्रो की माया द्वन्द्व-भाव ही सेती है,
न्याय तर्क से उन्हे काटकर जो गुरु-गौरव लेती है।

---

1 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 349
२ रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५४
3 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 343
४ रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३२
5 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 348
६ रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५०
7 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 348
८ रु० उ०, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५१
9 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 348
१० रु० उ०, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५०
11 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 348

सूक्ष्म-बुद्धि वाली रसायनी, कौन बडी द्राक्षा से, जो
क्षण मे जीवन-सीसक-भाजन सोने का कर देती है।[1]

मूल के ऐसे अर्द्धव्यक्त और अर्द्धस्पष्ट पद्य के अनुवाद मे उलझन हो सकती थी—किन्तु प्रस्तुत कवि मूल रूपक तक का यथावत् रूपान्तर करने मे सक्षम है। स्पष्टता के ही निमित्त कही-कही एकाध शब्द भी जोडना पडा है, यथा—

(1) A Flask of Wine, a Book of Verse[2]
पीने को मधु-पात्र पूर्ण हो, करने को हो काव्य विवेक[3]
(2) Let Hatim Tai Cry Supper[4]
भोजनार्थ हातिमताई को लोगों को पुकारने दो[5]

तात्पर्य कहने का यह कि अनुवाद मे कही भी उलझन अथवा अस्पष्टता नही आने दी गई वरन् एकाध स्थान पर तो अनुवाद की अभिव्यंजना मूल से भी अधिक रमणीय हो गई है। मैथिलीशरण जी ने फिट्जेराल्ड की निम्न पंक्ति—

And look—a Thousand Blossoms with the Day[6]

—का अनुवाद इस प्रकार किया है—

देखो लाख-लाख फूलो ने आँखें खोलीं दिन के संग[7]

यहाँ 'लाख लाख' का पुनरुक्ति प्रकाश निश्चय ही मूल के 'Thousand' से और (फूलो का) 'आँखे खोलना' 'Blossoms' से अधिक व्यंजनापूर्ण अतएव मनोरम है। एक उदाहरण और लीजिए—

Awake! for Morning in the Bowl of Night
Has flung the Stone that puts the Stars to Flight
And Lo! the Hunter of the East has caught
The Sultan's Turret in a Noose of Light[8]

उठो उषा ने रात्रि-पात्र मे अरुण-उपल निक्षेप किया,
ऋक्ष-पक्षियों को जिसने है नभ-क्षेत्र से उडा दिया।
और पूर्व के जालिक रवि ने वह ऊँचा शाही मीनार
देखो कोटि-कोटि किरणो के फंदे मे है फाँस लिया।[9]

---

१. र० उ०, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५१
2 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 344
३. रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २५
4 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 343
५. रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २४
6 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 343
७. रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३४
8 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 342
९ रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३०

इस रुबाई मे प्रात काल होते ही तारिकाओ के लुप्त होने तथा रवि-रश्मि द्वारा उच्च 'शाही मीनार' के उद्भासित होने का वृत्तान्त पात्र, प्रस्तर, शिकारी और जाल का रूपक बाँधकर कथित हुआ है। अग्रेज़ी और हिन्दी दोनो की रुबाइयो मे एक ही बात कही गई है—किन्तु हिन्दी की रुबाई मे अभिव्यजनागत रमणीयता अधिक है। मूल मे सूर्य के लिए 'Stone' का प्रयोग हुआ है पर 'अरुण-उपल' उसकी तुलना मे मनोरम और अभिप्रेत का बिम्ब-ग्रहण कराने मे कही अधिक सक्षम है। तीसरे और चौथे चरणो मे सूर्य को अपनी किरणो के जाल द्वारा 'मीनार' को फाँसने वाला बहेलिया बताया गया है। मूल मे उसके लिए 'Hunter' शब्द प्रयुक्त है—किन्तु यह अनुपयुक्त है। क्योकि 'Hunter' मे पीछा करने की ध्वनि है—जाल द्वारा शिकार पकडने की नही। इस दृष्टि से अनुवाद का 'जालिक' शब्द साभिप्राय है।

ऊपर स्वच्छता एव स्पष्टता के निमित्त वाग्विस्तार का उल्लेख किया गया है—किंतु कभी-कभी छन्द अथवा तुक के आग्रह से भी वैसा हुआ है—

The Worldly Hope man set their Hearts upon
Turns Ashes [1]

**सासारिक लिप्साएँ, जिन पर आशा करते हैं हम लोग,**
**मिट्टी मे मिल जाती हैं सब पाकर सौ विघ्नों के रोग।[२]**

द्वितीय चरण का उत्तरार्द्ध—'पाकर सौ विघ्नो के रोग' अनुवादक ने अपनी ओर से जोड दिया है। उसका उद्देश्य निश्चित रूप से स्पष्टीकरण अथवा स्वच्छता-सम्पादन नही हो सकता—क्योकि उसके बिना भी वक्तव्य पूर्णतः स्पष्ट है। उस चरणार्द्ध का उद्देश्य केवल एक है, और वह है पाद-पूर्ति। निम्नाकित रुबाई मे तुक-पूर्ति के लिए ऐसा हुआ है—

× × ×

That He who subtly wrought me into Shape
Should Stamp me back to common Earth again [3]

**बोला उठा तब निस्सदेह**

× × ×

**मिल जाने देगा मिट्टी मे क्या फिर मुझको वह गुणगेह ?[४]**

'गुणगेह' के लिए मूल मे कोई शब्द नही है। अनुवादक ने तुक के आग्रह से स्वय बढा दिया है। ऐसे और भी कई स्थल उद्धृत किए जा सकते हैं। इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि मैथिलीशरणकृत यह 'वर्द्धन' मूल भाव का बाधक नही है, अपितु यत्र-तत्र उसका विकास ही करता है। अनुवादक की अपनी प्रतिज्ञा भी यही रही है—" मैंने कही-कही

1 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 344

२ १० उ० द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३७

3 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 351

४ रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६०

वाक्य अपनी ओर से बढाए हैं। ऐसा करने मे इस बात का पूरा ध्यान रक्खा है कि वे मूल के अर्थ का ह्रास न करके विकास ही करें।"[1]

परिवर्द्धन ही नही एकाधस्थान पर परिवर्तन भी हुआ है, जैसे—

That every Hyacinth the Garden wears[2]

का अनुवाद है—

. . . . . . गुल्लाला जो फूलों की शोभा है।[3]

यहाँ 'Garden wears' के लिए लिखा गया है 'जो फूलो की शोभा है', फिर भी दोनो के व्यग्य मे विशेष अन्तर नही है। कवि-अनुवादक की उपर्युक्त प्रतिज्ञा अक्षुण्ण है। किन्तु एक स्थान पर त्रुटि भी हो गई है। मूल से उद्धृत निम्न पद्य और उसका अनुवाद देखिए—

But come with old Khayyam, and leave the Lot
Of Kaikobad and Kaikhosru forgot
Let Rustum lay about him as he will,
Or Hatim Tai cry Supper—heed them not[4]

विस्मृत कैकुबाद, कैखुसरो, इन सबसे अब मुंह मोडो,
सोने दो चाहे जिस करवट, उस रुस्तम को भी छोडो।
भोजनार्थ हातिमताई को लोगो को पुकारने दो,
चिर-परिचित खय्याम सग तुम आओ निज नाता जोडो ![5]

यहाँ दूसरे चरण का अनुवाद अशुद्ध है—'Lay about him as he will'—के अनुवाद-रूप मे—'सोने दो चाहे जिस करवट'—लिखा गया है। किन्तु अंग्रेजी मुहावरे 'To lay about one' का अर्थ निश्चिन्त शयन नही वरन् कर्मठ प्रयत्न करना, शक्ति भर कार्य करना आदि होना है।[6]—और फिर इस रुबाई मे उल्लिखित कैकुबाद और कैखुसरो फारस के प्रसिद्ध सम्राट् थे तथा हातिमताई प्रख्यात आतिथेय थे तो रुस्तम विश्रुत वीर योद्धा था जो अपनी कर्मठता के लिए चिरप्रसिद्ध है—सोने के लिए नही। अभिप्राय यह कि यहाँ मुहावरे को समझने मे गलती हुई है। किन्तु यह त्रुटि अनुवादक की नहीं व्याख्याता की है।

हिन्दी की प्रकृति का सर्वत्र ध्यान रखा गया है। अंग्रेजी मुहावरो का शाब्दिक अर्थ न देकर हिन्दी मे प्रचलित मुहावरे का व्यवहार हुआ है 'Heed not' के लिए 'मुंह मोडो', 'To make merry' के लिए 'मौज उड़ाना', 'To drown the memory' के स्थान पर 'याद भुलाना' तथा 'Fools ! Your reward is neither here nor there !' के

---

^ रु० उ०, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ६-७ (भूमिका)
4 Palgrave's Golden Treasury, ed. 1925, page 345
५. रुबाइयात द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३६
6 Palgrave's Golden Treasury, ed 1925, page 343
७. रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३४
8 Palgrave's Golden English Dictionary (1933) Vol. VI, page 127

अनुवाद-स्वरूप 'मूढो, यहाँ, वहाँ, न कही भी होगा सिद्ध तुम्हारा काज' आदि का प्रयोग किया गया है। कुछ शब्द गुप्त जी ने नये भी गढ लिए हैं, जैसे—'Winter garment' के लिए 'शिशिर-वसन' और 'Barren Reason' के लिए 'बाँझ तर्कना'। किन्तु अप्रयुक्तपूर्व होने पर भी ये शब्द सुगमता से हिन्दी मे चल सकते हैं, अत भाषा के विघातक नही हैं।

सब मिलाकर रुबाइयात उमर खय्याम सफल अनुवाद है। अनुवादक अपने कर्म के प्रति सर्वत्र जागरूक रहा है, अतएव फिट्जेराल्ड द्वारा तैयार किए गए 'खय्याम' के जाम को ज्यो का त्यो हिन्दी-जनता के सामने पेश करने मे कृतकार्य हो सका है। इसमे मूल का भाव, प्रवाह, दीप्ति और कान्ति सभी कुछ वर्तमान है। गुप्त जी फारसी और अग्रेजी नही जानते। केवल सुनकर ऐसा श्रेष्ठ अनुवाद करने के कारण वे और भी अधिक यश के भागी है।

इस पुस्तक का रचना-काल सवत् १९८८ है, अब तक इसकी दो आवृत्तियाँ हुई हैं।

## मूल्याकन

मैथिलीशरण जी द्वारा अनूदित एक नाटक और पाँच काव्य-ग्रथो का विवेचन कर चुके हैं। हमने देखा कि उन्होने मूल भाव और विचार-घटक का बडे यत्न से रूपान्तर किया है—कही कुछ भी छूटने नही पाया है। कारणवश यत्र-यत्र किंचित् परिवर्तन, सक्षेपण अथवा विस्तारण भी हुआ है पर वह कही भी मूल भावधारा मे व्याघात उपस्थित नही करता। ऐसा अन्वर्थ अनुवाद अत्यन्त दुष्कर है। गद्य-रूपान्तर तो भाषा से अभिज्ञ और साहित्यिक अभिरुचि-सम्पन्न कोई भी व्यक्ति थोडे श्रम से कर सकता है—किन्तु पद्यानुवाद के लिए महती साधना की आवश्यकता है। काव्य-ग्रथ के सुष्ठु अनुवाद के लिए मूल लेखक से तादात्म्य की अपेक्षा है।

मैथिलीशरण जी ने काव्य-ग्रथो का ही पद्य-रूपान्तर किया है। नाटक के भी श्लोक पद्य मे अनूदित हैं। आनुगुण्त्व उन सब की विशेषता है। मूलभूत भाव और विचार ही नही शब्द-प्रतीक तक अन्तरित हैं। प्रस्तुत कवि-अनुवादक के अनुवाद-ग्रथो मे साधारणत. मूल ग्रन्थ के प्रत्येक शब्द का रूपान्तर प्राप्य है। कुछ स्थलो पर अभिव्यजना प्रणाली मे थोडा अन्तर भी मिल जाएगा। अधिकाशत ऐसे स्थलो पर आप देखेंगे कि मूल की किसी त्रुटि का परिहार हुआ है अथवा उक्ति मे विशेष दीप्ति एव चारुता आ गई है। इसके अतिरिक्त जहाँ शाब्दिक अनुवाद मूल भावाभिव्यजना मे असमर्थ था वहाँ अनुवादक ने प्राय हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल शब्दावली का ही प्रयोग किया है। परिणामत अनुवादो की भाषा सर्वत्र अव्याहत है।

अनुवाद-ग्रथो मे गुप्त जी एक कुशल शिल्पी के रूप मे हमारे समक्ष आते हैं—उन्होने मूल एव अनुवाद के छन्द-साम्य का प्रयत्न किया है, और इसमे उन्हे काफी सफलता भी मिली है। रुबाई का अनुवाद उन्होने रुबाई में तथा बगला के चतुर्दशवर्णिक 'पयार' छन्द का पन्द्रह वर्ण के नूतन छन्द मे किया है। सम्पूर्ण मेघनाद-वध मे यही छन्द व्यवहृत है। पलाशीर युद्ध के समान पलासी के युद्ध मे भी विभिन्न छन्दो का प्रयोग हुआ है। छन्द ही नही मूल की लय और झकृति भी बडे कौशल से अन्तरित हुई है। मूल और अनुवाद को एक साथ रखकर पढ़ने से आपको लय एव झकार का अद्भुत साम्य मिलेगा।

लेकिन शब्द-प्रतीक, छन्द आदि यह सब तो बाह्य आवरण है। काव्य का अन्तरंग है गुण और रस। उनका रूपान्तर भी यह कवि कर सका है। मैथिलीशरण जी मूलतः 'प्रसाद' के कवि हैं—परन्तु अनुवादों में उन्हें प्राय माधुर्य और ओज का अन्तरण करना पड़ा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रयास सर्वथा सफल हुआ है। उनके अनुवाद-ग्रन्थों में ओज का प्रबल प्रवाह और माधुर्य की तरल धारा सहज ही उपलब्ध है। इधर मूल का रस भी अनुवादों में अव्याहत है। इस प्रकार उनमें मूल ग्रन्थों की आत्मा भी अवतरित हो सकी है।

मूल कवियों में से भास और नवीनचन्द्र से तो अनुवादक की थोड़ी-बहुत प्रतिभागत समानता हो सकती है। किन्तु मधुसूदन और खय्याम अथवा फिट्ज़ेराल्ड से उनका कोई साम्य नहीं है। कहाँ परम्परा-भंजक माइकेल तथा अलमस्त खय्याम एवं उनके काव्य के रसिक फिट्ज़ेराल्ड, और कहाँ परम्परानिष्ठ मर्यादा-प्रेमी मैथिलीशरण गुप्त। फिर भी वे उनकी काव्य-कृतियों का अन्वर्थ अनुवाद करने में सफल हैं—मूल के ही समान विरहिणी व्रजांगना में तरल द्रव, वीरांगना में करुणोच्छ्वास, मेघनाद-वध में ओजमय प्रवाह तथा रुबाइयात उमर खय्याम में मस्ती का स्वर वर्तमान है। प्रतिभा और प्रकृतिगत वैषम्य की अवस्थिति में भी खय्याम और माइकेल मधुसूदन का ऐसा आनुगुण्य-सम्पन्न अनुवाद सम्भव कैसे हुआ? समाधान इसका यह है कि अनुवाद में गुप्त जी की दृष्टि अत्यन्त वस्तुपरक रही है। अपनी वृत्तियों को नियन्त्रित कर उन्होंने अननुकूल विषय को ग्रहण किया है। निश्चय ही मन के सुशासन के बिना विरोधी और विसदृश तत्त्वों में इतनी एकात्मता असम्भव है। बड़ी साधना और अभ्यास के पश्चात् ऐसी सामर्थ्य आती है।

वस्तुनिष्ठ दृष्टि और अभ्यास एवं व्युत्पत्ति के बल पर ही मैथिलीशरण मूल ग्रन्थों को ऐसे सहज स्वाभाविक ढंग से रूपान्तरित कर सके हैं कि कहीं अनुकरण की गंध भी नहीं है। गुप्त जी के अनुवाद-ग्रंथों में मौलिक ग्रंथों का-सा रस है। यदि बताया ना जाए तो पाठक को यह भान भी नहीं होता कि ये ग्रंथ अनूदित हैं। यही तो अनुवादक की सबसे बड़ी सफलता है। हिन्दी में राजा लक्ष्मणसिंह और पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' अनुवादक के रूप में प्रसिद्ध हैं—मैथिलीशरण इस दिशा में उनसे भी आगे हैं। राजा लक्ष्मणसिंह और 'कविरत्न' में निश्चय ही एकात्म्य-स्थापना की इतनी शक्ति नहीं है।

यहाँ पर यह भी उल्लेख्य है कि इन अनुवादों—विशेषत मेघनाद-वध—का गुप्त जी के अपने काव्य के विधान में भी पर्याप्त योगदान और प्रभाव है। उनके प्रौढ़ काव्य में जो गुम्फित प्रसार है उसका प्रेरक कदाचित् मेघनाद-वध ही है। गुप्त जी आज 'प्रबन्धता' के कवि हैं—किन्तु मेघनाद-वध के अनुवाद-कार्य में संलग्न होने से पूर्व इतना प्राबल्य उनमें नहीं था। विकट भट, सिद्धराज आदि का प्रवाह एवं अद्भुत ओज इसी का प्रभाव है। साकेत की शैली पर भी मेघनाद-वध का प्रभूत प्रभाव है। प्रत्येक सर्ग के आदि में किसी महाकवि की वन्दना इसी के अनुकरण पर हुई है।—और पहली कथा को बाद में रखने का संकेत भी उन्होंने यहीं से ग्रहण किया है।

---

# उत्तरार्द्ध

★

[ संस्कृति-खण्ड ]

# भारतीय संस्कृति के आख्याता : मैथिलीशरण गुप्त

संस्कृति मानव-जातियों के दो विभेदक लक्षणों में से एक है। दूसरा लक्षण है शरीर-निर्माण अथवा शारीरिक गठन। इनमें से प्रथम अपेक्षाकृत सूक्ष्म और जटिल है। मानव हृदय से सबद्ध और सब कुछ भी तो जटिल ही है। इसीलिए उसे परिभाषाबद्ध करना, परिभाषा द्वारा चारों खूँट बाँध डालना कठिन हुआ करता है। संस्कृति के विषय में भी विद्वानों के अनेक मत हैं—

"संस्कृति × × × विवेक बुद्धि का, जीवन को भले प्रकार जान लेने का नाम है।"[1]

—डा० राधाकृष्णन्

"किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए।"[2]

—डा० मंगलदेव शास्त्री

"संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।"[3]

—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

"लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति है।"[4]

—करपात्री जी

"असल में, संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा

---

१. स्वतन्त्रता और संस्कृति, अनु० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, संस्करण १९५५, पृष्ठ ५३

२. भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा), प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४

३. अशोक के फूल (निबन्ध-संग्रह), प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६४

४ कल्याण—हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ ३५

होकर उस समाज मे छाया रहता है जिसमे हम जन्म लेते हैं।"[१]

—दिनकर

"चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम सस्कृति के रूप मे प्राप्त होता है।"[२]

—डा० सत्यकेतु

"अपने से सम्बद्ध सभी विषयों तथा सृष्टि मे कथित और विचारित सर्वोत्तम के ज्ञान द्वारा पूर्ण सिद्धि-सम्पादन एव इस ज्ञान द्वारा अपनी पूर्वसचित कल्पनाओ और अभ्यासो पर, जिनका आज हम विश्वासपूर्वक—किन्तु यन्त्रवत् अनुसरण करते हैं, नूतन और स्वतन्त्र चिन्ताधारा का प्रवह ही सस्कृति है।"[3]

—मैथ्यू आर्नल्ड

—और भी अनेक मनीषियो द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ उद्धृत की जा सकती हैं, किन्तु वहाँ भी इसी प्रकार का मत-वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होगा। फिर भी, मतैक्य के अभाव मे भी, जैसा कि सस्कृति की उपर्युक्त कतिपय परिभाषाओ और व्याख्याओ से स्पष्ट है, एक बात सर्वसम्मत है—वह यह कि सस्कृति मन और मस्तिष्क का सस्कार-परिष्कार करनेवाली, मानव-जाति का श्रेय-सम्पादन करनेवाली है। उसका व्युत्पत्त्यर्थ भी इसी ओर सकेत करता है। 'सस्कृति' शब्द 'कृ' धातु मे 'सम्' उपसर्ग तथा 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बना है। अत सस्कृति का अर्थ हुआ सम्यक् कृति।—और सम्यक् कृति किसी शुभ चेष्टा या फिर श्रेयस्कर कर्म को ही कहा जा सकता है। यद्यपि आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का विश्वास है कि सस्कृति शब्द का धातुगत अर्थ उसके 'व्यावहारिक अर्थ के स्पष्ट करने मे सहायक नही होगा'।[४] फिर भी हम समझते हैं कि धातुगत अर्थ व्यावहारिक अर्थ की ओर सकेत अवश्य करता है—वह उससे एकान्तत असम्बद्ध अथवा असम्पृक्त नही है। सस्कृति का अग्रेजी पर्याय है कल्चर(Culture)। व्युत्पत्तित कल्चर कल्टीवेशन के ही सदृश है।[५]—दोनो का मूल है लैटिन शब्द

---

१ सस्कृति के चार अध्याय, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ६५३

२ भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १९

3 " Culture being a pursuit of our total perfection by means of getting to know, on all the matters which most concern us, the best which has been thought and said in the world , and through this knowledge, turning a stream of fresh and free thought upon our stock notions and habits, which we now follow staunchly but mechanically "

—Culture and Anarchy (Preface)

४. विचार और वितर्क (निबन्ध-सग्रह), सस्करण सन् १९५४, पृष्ठ १२३

5 Etymologically the term Culture is equivalent to cultivation

—Glories of India by M M Dr P K. Achrya, Second Edition, Introduction

कुल्तुरा (Cultura)। कल्टीवेशन का कोशगत अर्थ कृषिकर्म के साथ-साथ संवर्धन,[१] और उन्नति[२] भी है। अन्तिम दो अर्थ ही कल्चर मे गृहीत हैं।—और उनका सांकेतिक अर्थ भी संस्कृति के निकट है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि संस्कृति और कल्चर व्युत्पत्ति और व्यवहार दोनो की ही दृष्टि मे समान हैं—उपयुक्त पर्याय हैं। किन्तु श्री हिरेन्द्रनाथ दत्त इससे सहमत नही है। हिन्दी मे कल्चर के पर्याय-रूप मे संस्कृति शब्द का प्रयोग देखकर वे अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे हैं—और बंगवासियो को संस्कृति के स्थान पर कृष्टि शब्द के प्रयोग का परामर्श देते हैं।[3] किन्तु हमारी सम्मति मे यह विचार उचित नही है। कल्चर और संस्कृति का धातुगत अर्थ भिन्न होने पर भी सांकेतिक अर्थ एक ही है। अत उसके प्रयोग से इतना चौंकने की आवश्यकता नही।—और फिर लोक-प्रचार का भी तो कुछ महत्व है।

एक बात और, वह यह कि संस्कृति जातीय सम्पदा है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि-समालोचक श्री टी० एस० इलियट ने संस्कृति के तीन अर्थो अथवा अभिप्रायो का निर्देश किया है। उनके अनुसार वह व्यक्तिगत, वर्गगत तथा जाति अथवा समाजगत होती है।[४] किन्तु संस्कृति व्यक्तिगत नहीं हो सकती, वर्ग मे भी उसे सीमित नही किया जा सकता। वह तो व्यापक रूप से जाति की ही सम्पत्ति है। वैसे संस्कार तो व्यक्ति के भी होते है लेकिन, जैसी कि बाबू गुलाबराय की भी सम्मति है, संस्कृति जातीय संस्कारो को ही कहा जा सकता है।[५] वास्तव मे "भाव-वाचक होने के कारण संस्कृति एक समूह-वाचक शब्द है।"[६] व्यक्ति के लिए उसका प्रयोग लाक्षणिक है।

---

1. दे० Comprehensive English-Hindi Dictionary by Dr Raghuvira, Edition June 1955, page 447

2 दे० The Student's English-Sanskrit Dictionary by V S Apte, 3rd ed , Page 80

3 Now, as you may be aware, our "Hindiphil" friends . are bringing into vogue the word "Sanskrti" ( संस्कृति ) as a substitute for 'Culture" and some of us are imitating that in Bengal I venture to think that that expression is not a happy one, and it and its cognate "Sanskara" had better be reserved to connote what is called "Reformation '—the old Vedic word Krshti (कृष्टि) being used as the appropriate synonym for "Culture"

—Indian Culture, edition 1941, page 3

4 ✓ The term culture has different associations according to whether we have in mind the development of an individual, of a group or class, or of a whole Society

—Notes towards the Definition of Culture

Third impression, page 21

५. भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ १

६. " " " " पृष्ठ १

## संस्कृति तथा सभ्यता

सभ्यता और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहाँ तक कि एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग सुगमता से किया जा सकता है। साधारण बोल-चाल की भाषा मे तो ये दोनो शब्द ऐसे घुल-मिल गए हैं कि इलियट जैसे विद्वान् की यह धारणा बन गई है कि इनमे पार्थक्य का प्रयत्न ही व्यर्थ है।[1] फिर भी दोनों के निश्चित पार्थक्य से इन्कार नही किया जा सकता। संस्कृति तत्वत मानसिक है, किन्तु सभ्यता भौतिक और वाह्य। वस्त्र-भोजन, मकान-यान, महल-मोटर आदि सब सभ्यता के उपकरण हैं। किन्तु इनके प्रयोग की विशिष्ट रीति मे संस्कृति सन्निहित है। इस प्रकार संस्कृति मानसिक विकास की सूचक है जबकि सभ्यता शारीरिक व्यापारो एव भौतिक प्रगति की। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे—"सभ्यता समाज की वाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का।"[2] बस, यही दोनो का मौलिक भेद है—संस्कृति अपेक्षाकृत सूक्ष्म है और सभ्यता स्थूल। किन्तु दोनो का सम्बन्ध भी काफी प्रगाढ है। कवि-विचारक दिनकर ठीक ही कहते है—"संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज़ होती है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध मे मक्खन या फूलो मे सुगन्ध।"[3] इसीलिए इन दोनो का अस्तित्व अथवा अनस्तित्व साधारणत एक साथ ही मिला करता है। किन्तु एक के अभाव में दूसरे का भाव असम्भव भी नही है। हमारे प्राचीन ऋषि इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं जो भौतिक उपकरणो की सभ्यता से दूर होते हुए भी संस्कृतिसम्पन्न एव संस्कृति के निर्माता थे। फिर भी दोनो का सह-अस्तित्व तो मानना ही पडेगा। शायद इसीलिए युग्म के रूप मे सभ्यता और संस्कृति का प्रयोग होता रहा है।

## संस्कृति और धर्म

संस्कृति और धर्म का चोली-दामन का साथ है—विश्व की विभिन्न संस्कृतियो का इतिहास प्रमाण है। सभी के साथ किसी न किसी धर्म का सम्बन्ध रहा है। इस अनिवार्य सम्बध के ही कारण कुछ लोग दोनो को एक मानने के भ्रम मे पड जाते हैं।[4] वस्तुत धर्म और संस्कृति निश्चित रूप से भिन्न हैं। दोनो का अतर स्पष्ट करते हुए बाबू गुलाबराय लिखते हैं—"धर्म मे श्रुति, स्मृतियो और पुराण ग्रथो का आधार रहता है। किंतु संस्कृति मे परम्परा का आधार रहता है।"[5]—परम्परा मे सभी बाते शास्त्रविहित नही हुआ करती

---

१ दे० Notes towards the Definition of Culture, third impression Introduction, page 13

२ विचार और वितर्क (निबन्ध-सग्रह), संस्करण सन् १९५४, पृष्ठ १२३

३ संस्कृति के चार अध्याय, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६५२

४ दे० कल्याण के हिन्दू संस्कृति अंक मे प० श्री हरिबक्ष जी जोशी का लेख (पृष्ठ १५८-१६१)

५ भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, संस्करण सन् १९५६, पृष्ठ १

कुछ शास्त्रबाह्य 'लोक-लीक' भी बन जाया करती हैं। अतः धर्म तो शास्त्र-आधृत होता है पर संस्कृति के अन्तर्गत और भी बहुत-सी बातें आ जाती हैं। प्रसिद्ध धर्मोपदेशक स्वामी करपात्री जी का भी यही विश्वास है—"धर्म और संस्कृति में इतना ही भेद है कि धर्म केवल शास्त्रैकसमधिगम्य है और संस्कृति में शास्त्र से अविरुद्ध लौकिक कर्म भी परिगणित हो सकता है।"[1] इस प्रकार संस्कृति धर्म की अपेक्षा व्यापक है। पर अब तक हमने धर्म को संकुचित अर्थ में ही ग्रहण किया है। उसका एक व्यापक रूप भी होता है जब हम उसे सत्य, अहिंसा, शुद्धाचरण आदि सर्वधर्म-प्रशंसित सार्वभौम गुणों की समष्टि रूप में स्वीकार करते हैं। इस रूप में वह संस्कृति से व्यापकतर है—क्योंकि संस्कृति तो फिर भी देश-सापेक्ष है पर धर्म अपने व्यापक रूप में सार्वभौम होता है। तात्पर्य यह कि संस्कृति और धर्म का सापेक्षिक संकोच अथवा व्यापकत्व धर्म के प्रति दृष्टिकोण पर आवृत है। श्री टी० एस० इलियट ने भी इस विषय में यही विचार प्रकट किया है।[2]

## संस्कृति के तत्व

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि संस्कृति मानव-मन का संस्कार-परिष्कार करने वाली है या फिर जैसा कि प्रोफेसर नगेन्द्र कहते हैं "संस्कृति मानव-जीवन की वह अवस्था है जहाँ उसके प्राकृत राग-द्वेषों में परिमार्जन हो जाता है।"[3] लेकिन वह स्थिति कोई आकस्मिक घटना नहीं हुआ करती—और न किसी सुनिश्चित योजना का फल होती है। वह तो मानव की—सभी प्रकार के मनुष्यों की सहस्रों वर्ष की सतत साधनाओं का परिणाम हुआ करती है। अतः उन्हीं के क्रियाकलाप, विचार-विश्वास, रीतियाँ और नियम आदि संस्कृति के अंग हैं। आगे संक्षेप में उन पर विचार करेंगे :

## समाज-संघटन

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अभिप्राय इसका यह हुआ कि उसमें संगमन की सहज प्रवृत्ति है।—और वह समाजबद्ध हो उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। संस्कृति की तो पहली अनिवार्यता ही समाज है। संस्कृति का अस्तित्व समाज के अस्तित्व पर ही निर्भर है। प्रदेश-विशेष में संगमित मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहारों, विचारों, आदर्शों और व्यवस्थाओं में ही संस्कृति का उद्भव है।—और किसी समाज के सदस्यों के सांस्कृतिक संबंध ही सामाजिक संघटना का प्रारूप हैं। तात्पर्य कहने का यह कि संस्कृति के अनुरूप ही

---

१. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ ३६

2 According to the point of view of the observer, the culture will appear to be the product of the religion, or the religion the product of the culture

—Notes towards the Definition of Culture,
Third impression, page 15

३. साकेत : एक अध्ययन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १००

किसी समाज की व्यवस्था हुआ करती है या यो कहिए कि सामाजिक व्यवस्था के अनुसार ही संस्कृति का भी स्वरूप होता है। अत समाज की संघटना संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है।

## रीति-नीति

किसी देश अथवा जाति की रीति-नीति भी संस्कृति का ही अंग है। 'हमारे यहाँ ऐसा होता है', 'ऐसा नहीं' आदि वाक्य रीति-नीति को भी संस्कृति का तत्व सिद्ध करते हैं।[1] वास्तव मे समाज की स्थापना पर सामूहिक जीवन को सुखी बनाने के लिए कुछ नियमो की निर्धारणा होती है (नियम ही कालान्तर मे रीतियाँ बन जाया करते हैं)। समाज-संघटना भी तो इसी का एक उपाय है।[2] मानव की अनियन्त्रित क्षुधाओ के शमन और नियमित तृप्ति के लिए यह आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो मनुष्य जाति की परम्परा को बनाए रखने के लिए स्त्री-पुरुष का संयोग मात्र पर्याप्त है। किन्तु तब पशु और मनुष्य मे कोई अन्तर थोडे ही रह जाएगा। संस्कृति ही उसे पशुत्व से ऊँचा उठाती है। साधारणधर्मा इस द्विपद पशु को मनुष्य बनने के लिए, 'प्राकृत राग-द्वेषो का परिष्कार' करने के लिए कुछ नियम बनाने ही होंगे—कुछ स्वस्थ रीतियो की स्थापना करनी ही होगी। जो संस्कृति जितनी उच्च होगी उसकी रीति-नीति भी उतनी ही उन्नत होगी।

## आदर्श

रीति-नीति से ही संबद्ध हैं मूल्य। प्रत्येक देश अथवा जाति के मूल्यो का निर्धारक दृष्टिकोण भिन्न हुआ करता है। यद्यपि किसी एक ही समाज के व्यक्ति-व्यक्ति के मूल्यो मे भी अन्तर मिल सकता है, किन्तु वह अन्तर नगण्य हुआ करता है। उनका एक समाज मे बधा होना ही मूल्यों की एकता का प्रमाण है। वास्तव मे, जैसा कि विदेशी विद्वान् ए०एल० क्रोबर भी कहते हैं, मूल्य व्यक्तिकृत की अपेक्षा कही अधिक समाज द्वारा आरोपित होते

---

1 "We don't do that way, we do like this"—Such a statement, which every human being is likely to make at some time is a recognition of Cultural phenomenon

—The Nature of Culture by A L Kroeber, Edition 1952, page 118

2 Social Structure is one of the methods evolved for keeping individual rivalry, competition and aggression within bounds

—The Cultural Approach To History, Edited by Caroline F. Ware, Edition 1940, page 31.

हैं।[1]—और ये मूल्य ही किसी समाज-विशेष के आदर्शों में परिव्यक्त हुआ करते हैं। संस्कृति के अभिज्ञान के लिए मूल्यों, और मूल्यों को हृदयंगम करने के लिए आदर्शों का अध्ययन अपेक्षित है। अतः आदर्श भी संस्कृति का महत्वपूर्ण तत्व है।

## धर्म और दर्शन

पशुत्व की मूढता से ऊपर उठते ही मनुष्य नाना पदार्थों और तत्संबंधी क्रियाकलाप को देख चकित होता है। उनकी चालिका शक्ति के परिचय की जिज्ञासा करता है। कुछ आनंद घटनाओं से वह भयभीत भी होता है। उनके शमन अथवा रक्षा के लिए वह किसी अज्ञात शक्ति में साहाय्य की कामना किया करता है। यह भय तथा जिज्ञासा ही धर्म तथा उसके अनेक अनुष्ठानों की प्रवर्तनी है। इसीलिए 'समाजविज्ञान-विश्वकोश' (Encyclopaedia of the Social Sciences) के विद्वान् लेखक धर्म को मानव की प्राथमिक आवश्यकताओं से संबद्ध मानते हैं।[2]

धर्म का ही विकसित तथा सूक्ष्म रूप दर्शन है। जिस देश अथवा जाति में धर्म की जितनी अधिक पैठ होगी वह उतनी ही अधिक दार्शनिक भी होगी। धर्म और दर्शन तथा आदर्श एक-दूसरे को प्रभावित किया करते हैं। किसी समाज के आदर्शों के अनुरूप ही धर्म तथा दर्शन का और इसी प्रकार धर्म एवं दर्शन के अनुरूप आदर्शों का स्वरूप-निर्माण हुआ करता है। और इन तीनों का संस्कृति के रूप-विन्यास में बहुत कुछ हाथ रहता है।

## साहित्य

साहित्य समाज का दर्पण है। अतः वह किसी भी देश अथवा काल की संस्कृति का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं विश्वस्त सूत्र तथा स्रोत होता है। जातीय मनोभाव जो किसी भी संस्कृति का सर्वस्व होते हैं उसमें सुरक्षित रहते हैं। दूसरे उसका तो उद्देश्य भी—मानवीय भावनाओं का संस्कार-परिष्कार—संस्कृतिमय है। अतः साहित्य संस्कृति का अनन्य अंग है।

---

1 Values, like all socio-cultural manifestations, are largely super-personal. That is, far more of any individual's values are instilled into him from outside, directly or indirectly from his Society, than he produces within and by himself.

—The Nature of Culture by A. L. Kroeber, Edition 1952, page 129

2 Religion, however, can be shown to be intrinsically although indirectly connected with man's fundamental, that is, biological needs.

—Volume IV, Edition February, 1949, page 641.

## ललित कलाएँ

कलाएँ समूहबद्ध मानव को और भी निकट सम्पर्क मे लाती है।—'हमारे भावो और विचारो की द्योतिका होने के कारण संस्कृति की परिचायिका होती हैं।'[1] इनके विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण सास्कृतिक व्यापारो अथवा तत्वो मे ये स्वरूप की दृष्टि से सर्वाधिक जातीय—किन्तु प्रभाव की दृष्टि से सबसे अधिक अन्तर्जातीय होती हैं। सगीत, नृत्य, वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला आदि ऐसी ही कलाएँ हैं।

मिट्टी के वर्तन, लकडी, लोहे, ताँबे, पीतल, सोने, चाँदी आदि का काम तथा वस्त्राभूषण का निर्माण आदि सब गौण कलाएँ हैं। किन्तु गौण होने पर भी ये संस्कृति से प्रत्यक्षत. सम्बद्ध हैं। वस्तुत ये सब चीजें—मुख्य और गौण कलाएँ—संस्कृति-विशेष के स्तर का निर्धारण करती हैं।

## शिक्षा

समाज कुछ व्यक्तियो का एकत्रीकरण मात्र नही है, वरन् एक जीवन्त सघात है। नई पीढियाँ पूर्वजो के अनुभवों को सीखती हैं—बच्चा माता-पिता का ज्ञान अर्जित करता है। यह ज्ञानार्जन ही शिक्षा है। आदिम युग मे कुछ औजारो के प्रयोग और जातीय परम्पराओ के ज्ञान तक ही शिक्षा का क्षेत्र सीमित रहा होगा। नवागत शिशु उन्हे माता-पिता से ही सीख लेता होगा। परन्तु ज्यो-ज्यो वह क्षेत्र विस्तृत होता है त्यो-त्यो शिक्षा-स्थानो और शिक्षको का क्षेत्र भी घर और माता-पिता से आगे बढ जाता है। और उसी मात्रा मे संस्कृति का भी उन्नयन होता रहता है। अत शिक्षा भी संस्कृति का प्रमुख तत्व है।

## विज्ञान

शिक्षा के साथ ही विज्ञान का प्रवेश होता है। यह भी समाज-सापेक्ष है—उसकी उन्नति और समृद्धि मे ही विज्ञान की कीर्ति है।[2] औजारो का निर्माण और प्रयोग, पशुपालन, स्वास्थ्य के रक्षक भोजन और भेषज का सन्धान आदि सब विज्ञान के ही विषय हैं। उधर सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र आदि को देख मानव के आश्चर्य ने एक ओर तो धर्म को जन्म दिया दूसरी ओर ज्योतिष जैसे विज्ञान को।—और जैसे-जैसे विज्ञान का विकास होता है वैसे-वैसे अज्ञान, दारिद्र्य, रुग्णता और अपूर्णता का नाश तथा सामाजिक उत्थान होता चला जाता है। साधारणत. वैज्ञानिक उन्नति का तात्कालिक प्रभाव तो सभ्यता पर ही पडता है, संस्कृति पर नही। लेकिन कालान्तर मे वह भी प्रभावित हुए विना नही रह सकती। अत

१ भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—बाबू गुलाबराय, सस्करण सन् १९५६, पृष्ठ १२९

2 It is admitted by most that the Crown of Science is its contribution to the enrichment and betterment of human life

—Encyclopaedia of Religion and Ethics, Edited by James Hastings, volume IX, Edition 1920, page 253.

किसी संस्कृति के पूर्ण परिचय और निर्भ्रान्त मूल्यांकन के लिए विज्ञान पर भी विचार होना चाहिए। वह भी निश्चित रूप से संस्कृति का एक तत्त्व है।

## भारतीय संस्कृति

मानव के 'प्राकृत राग-द्वेषों का परिष्कार' संस्कृति है। अतः वह मानवमात्र की वस्तु है—अन्तर्राष्ट्रीय है। तब फिर उसके भारतीय, अभारतीय, यूरोपीय, रोमन, ग्रीक आदि भेद क्यों? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो स्पष्टतः इस भेद-प्रभेद का प्रत्याख्यान किया है—"मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है।"[1] आचार्य जी के उक्त अभिमत से कोई भी विद्वान् असहमत नहीं हो सकता। विश्वजनीन एक व्यापक मानव-संस्कृति की अपेक्षा और उपयोगिता से किसी को भी इन्कार नहीं है। पर अभी तक उसका अस्तित्व नहीं है। वास्तव में जैसा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू का विचार है—"संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं। और इसमें कोई संदेह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिये हैं।"[2] या फिर जैसा कि महामहोपाध्याय डा० पी०के० आचार्य कहते हैं "जिस प्रकार संसार राष्ट्रों और जातियों में विभक्त है उसी तरह वह विशिष्ट चरित्र और चेतना आदि से सम्पन्न संस्कृति के प्रकारों में भी विभाजित है।"[3] कहने का तात्पर्य यह कि अपने विशिष्ट दृष्टिकोण, आदर्शों एवं आचार-विचारों के कारण प्रत्येक देश एवं जाति की संस्कृति में कुछ मौलिक भेद मिलेगा। इसीलिए संस्कृति को उपाधिविशिष्ट करना सम्भव एवं व्यावहारिक है, अध्ययन के लिए आवश्यक भी। वास्तव में भारतीय, रोमन, आर्य, मुस्लिम आदि किसी विशेषण के बिना तो संस्कृति का विवेचन ही असम्भव है। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी भी घूम-फिर कर ऐसा मान ही लेते हैं। 'हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध' शीर्षक उनके निबन्ध का एक वाक्य देखिए—"भारतीय संस्कृति और कोई भी अन्य संस्कृति (अगर संस्कृति शब्द को विशेषण बिना कहा ही न जा सके।) —विश्वजनीन सत्य की विरोधी नहीं है।"[4] इस वाक्य के कोष्ठकबद्ध शब्दों में निर्विशेषण संस्कृति की अव्यावहारिकता और असमर्थता की ही स्वीकृति है। अस्तु!

मैंने अभी कहा कि प्रत्येक देश अथवा जाति की अपनी संस्कृति हुआ करती है। भारतीय संस्कृति भी भारतीय जाति अथवा जनता की संस्कृति है। किन्तु भारतीय जनता

---

१. अशोक के फूल (निबन्ध-संग्रह), प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७७

२. संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर, प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, पृष्ठ ५

3. Just as the world is divided into nations and races, so it is divided into types and Culture, each having its distinctive character, its esprit, its talent, its tone as recognizable in a nation as in an individual.
—Glories of India, Edition 1952, Introduction, page V

४. विचार और वितर्क (निबन्ध-संग्रह), संस्करण सन् १९५४, पृष्ठ १३४

कोई जाति-विशेष थोडे ही है। भारत तो 'महामानवेर सागर' है। न जाने समय-समय पर कितनी जातियाँ आईं और इस महामानवसमुद्र मे समा गईं। अनादिकाल से यह आगमन और विलयन भारत मे चलता रहा है। सभी की अपनी विकसित-अविकसित सस्कृति भी अवश्य रही होगी। उन्ही के मिश्रण और समन्वय से भारतीय सस्कृति का निर्माण हुआ है। सस्कृति-सगम के इस पवित्र प्रयागराज मे मज्जन के उपरान्त श्री दिनकर का यह विश्वास कि "भारत की सस्कृति आरम्भ से ही सामासिक रही है"[१] सोलह आने सही है। निश्चय ही भारतीय सस्कृति सच्चे अर्थों मे सामासिक है। कतिपय विद्वान् उसे आर्य अथवा वैदिक सस्कृति कहते भी सुने जाते हैं। लेकिन वह अपने विशुद्ध रूप मे आर्य सस्कृति नही है। भारतीय सस्कृति मे अनार्यों का योगदान भी कम अथवा कम महत्व का नही है। —और यह दृष्टिकोण भी कोई आज की नई उद्भावना नही है। प्राचीनो ने भी इस तथ्य को लक्षित किया था। तभी तो वे अपने विचारों, विश्वासो और आदर्शों को 'निगमागम सम्मत' कहा करते थे। "निगम का मौलिक अभिप्राय, हमारी सम्मति मे निश्चित या व्यवस्थित वैदिक परम्परा से है, और आगम का मौलिक अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सास्कृतिक परम्परा से है।"[२] इस प्रकार भारतीय सस्कृति मे वैदिकेतर तत्व भी पर्याप्त मात्रा मे हैं। फिर भी उसके प्रवर्तन का अधिकाश श्रेय वेद के रचयिता आर्यों को ही दिया जाता है। लेकिन इस विषय मे यह स्मरणीय है कि वे उसके सकलयिता मात्र हैं, निर्माता नही। दिनकर के शब्दो मे उन्होंने मधुमक्खी का काम किया है। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय सस्कृति को आर्य तथा वैदिक आदि नामो से अभिहित नही किया जा सकता। एक बात और, वह यह कि आर्यों की सभ्यता और सस्कृति को श्रेष्ठतर मानने का विचार भी अनेक व्यक्तियों के मन मे बद्धमूल है। परन्तु वास्तव मे, जैसा कि श्री हुमायूँ कबीर ने लिखा है इस दृष्टि से आर्य पूर्ववर्ती अथवा आदि भारतवासियो की तुलना मे हीन थे (उनकी विजय का कारण था उनका आक्रामक स्वभाव और युद्ध-कौशल)।[3] परन्तु फिर भी भारतीय सस्कृति के रूप-विन्यास मे आर्यों का काफी हाथ रहा है। वास्तव मे उनके भारत आगमन पर ही उसको स्वरूप मिला है। "आर्य तथा आर्येतर सस्कृतियो के मिलन से जो सस्कृति उत्पन्न हुई वही भारत की बुनियादी सस्कृति बनी।"[४]

---

१. सस्कृति के चार अध्याय, प्रथम संस्करण, लेखक का निवेदन, पृष्ठ १३

२. भारतीय सस्कृति का विकास (वैदिक धारा) —डा० मगलदेव, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ८

3 In the scale of civilization, the Aryans were perhaps inferior to the people of Mohenjodaro, but their more aggressive character and their superiority in the art of warfare gave them the victory
—The Indian Heritage by Humayun Kabir, Edition 1955, Introduction, page 3

४. सस्कृति के चार अध्याय, प्रथम सस्करण, लेखक का निवेदन, पृष्ठ १२

## उद्गम और विकास (भारतीय संस्कृति का)

कहते हैं प्रारम्भ में पृथ्वी एक ज्वलन्त पिण्ड थी। उस समय वह न तो देशों में विभाजित थी—और न उस पर कहीं जीव-जन्तुओं का अस्तित्व था। दीर्घकाल के उपरान्त उसे वर्तमान रूप प्राप्त होना शुरू हुआ। अनेक भौगोलिक कारणों से अन्यान्य देशों की तरह भारतवर्ष भी एक पृथक् देश बना।—और कई अवस्थाओं को पार करने के बाद उस पर भी मानवता का अवतरण हुआ। कब ऐसा हुआ, कौन जाने ?

प्रागैतिहासिक उन मनुष्यों द्वारा अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त प्रयुक्त उपकरणों के आधार पर ही विद्वानों ने उनके युगों के नाम रखे हैं। मुख्य युग हैं—पूर्व-प्रस्तर युग, उत्तर-प्रस्तर युग, ताम्र-युग, कांस्य-युग और लोह-युग। डा० राधाकुमुद मुकर्जी का कथन है—"भारतवर्ष में अन्य देशों की भांति विकास-क्रम की ये सब अवस्थाएँ बीती हैं। केवल कांस्य-युग के स्थान पर (कुछ प्रदेशों को छोड़कर) ताम्र-युग से मिलती संस्कृति यहां थी।"[१] भारत में ये अवस्थाएँ, इन चीजों का प्रयोग प्रागैतिहासिक काल में हुआ है। अतः इनके प्रचलन का निर्विवाद समय-निर्धारण असम्भव ही है। फिर भी विद्वानों ने प्रयत्न अवश्य किया है। श्री भगवतशरण उपाध्याय भारत में पूर्व-प्रस्तर युग का काल आज से लगभग २५००० वर्ष पूर्व तथा उत्तर-प्रस्तर युग का समय आज से करीब १०००० वर्ष पूर्व ठहराते हैं।[२] भारत में प्राप्त तांबे के हथियार लगभग २००० वर्ष ई० पू० के बताए जाते हैं।—और लोहे का तो ऋग्वेद में ही जिकर आया है जिसे डा० राधाकुमुद मुकर्जी २५०० ई० पू० के बाद का नहीं मानते।[३] प्रयोग तो उसका न जाने कितना पहले से हो रहा होगा।

ये सब प्रागैतिहासिक संस्कृतियां हैं। इनके "यत्किंचित् अवशेष ही भारत भर में बिखरे मिलते हैं।"[४] पर्याप्त और प्रामाणिक सामग्री मिली है हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो नामक स्थानों में। उनकी सभ्यता और संस्कृति को सिन्धु घाटी की सभ्यता कहा जाता है। उनका समय ईसा से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व अनुमानित किया गया है। यह संस्कृति पर्याप्त उन्नत थी। आर्य अभी तक भारत में नहीं आए थे, यह सब कुछ उनके आने के पूर्व ही हो गया था। बल्कि आर्यों को तो इसका ध्वंसक कहना चाहिए। इसीलिए तो आर्यों के प्रधान देवता इन्द्र 'पुरन्दर' भी हैं (आर्यों की सभ्यता मूलतः ग्राम-सभ्यता थी इसके विपरीत 'सिंधु-सभ्यता' पुर-सभ्यता थी)।

तब प्रश्न उठता है कि इस 'सिंधु-सभ्यता' और पूर्वोल्लिखित प्रागैतिहासिक संस्कृतियों की जन्मदात्री जातियां कौनसी थीं ?—इसका उत्तर सहज-सरल नहीं है। क्योंकि जैसा कि

---

१. हिन्दू सभ्यता, अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, संस्करण १९५५, पृष्ठ ११

२. दे० सांस्कृतिक भारत, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १६

३. दे० हिन्दू सभ्यता, अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, संस्करण १९५५, पृष्ठ १५

४. " " " " पृष्ठ १५

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं—"आर्यों के आने से पहले इस देश मे बहुत सी जातियाँ बसी हुई थी, ( परन्तु ) सबका पता उपलब्ध साहित्य से नही चलता।"[1] फिर भी श्री रामधारीसिंह दिनकर रग, भाषा और शरीर-रचना आदि की दृष्टि से निश्चित करते हैं कि भारत मे आर्यो के अतिरिक्त नीग्रो, आग्नेय और द्राविड जातियाँ अथवा उनके चिह्न मिलते हैं।[2] अधिकाश पडितो का यह विचार है कि यहाँ सबमे पहले नीग्रो, फिर आग्नेय और फिर द्राविड जातियो का आगमन हुआ है।—नीग्रो सम्भवत पूर्व-प्रस्तर युग मे आग्नेय उत्तर-प्रस्तर युग के प्रतिष्ठापक तथा द्राविड सिन्धु सभ्यता के निर्माता रहे हैं। द्राविडो के भी बाद आए आर्य, तभी भारत मे सास्कृतिक समन्वय का महत्वपूर्ण कार्य आरम्भ हुआ—और, भारतीय सस्कृति की नीव रखी गई। यहाँ पर यह भी उल्लेख्य है कि नीग्रो तथा आग्नेय और आर्य जातियो के बीच बृहद् अन्तराल है। अत भारतीय सस्कृति पर उनके प्रभाव और योगदान का सधान दुष्कर है। फिर भी प्राचीन सभ्यता, सस्कृति और इतिहास के विद्वानो ने नीग्रो जाति को धनुषबाण का आविष्कारक तथा सस्कृति मे यही उनका योगदान माना है। आग्नेय जाति का अशदान बरतन बनाने की कला है। परन्तु उनका इससे भी बडा योगदान है मुण्डा परिवार की भाषाएँ जो आज तक ससार के विस्तृत भूभाग ( पजाब से लेकर न्यूजीलैण्ड तक और मेडगास्कर से ईस्टर द्वीप तक ) बोली जाती है। हाँ, इस बात से किसी को भी इन्कार नही है कि भारतीय सस्कृति का अधिकाश आर्य और द्राविड सस्कृतियो के समागम से ही निर्मित है।

आर्य और आर्येतर सस्कृतियो के इस मिलन, मिश्रण, समन्वय और सश्लेषण से भारतीय सस्कृति उद्भूत हुई। किन्तु उसका जो रूप आज हमारे सामने है वह सदा से ऐसा ही नही चला आया है। वह न जाने कितने परिवर्तन—ग्रहण और त्याग—के बाद प्राप्त हुआ है। वस्तुत ग्रहण और त्याग से ही सस्कृतियो का विकास हुआ करता है—और यह प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। आज भी चल रही है, वह बात दूसरी है कि उसका परिणाम वर्षो के बाद लक्षित किया जा सकेगा। भारतीय सस्कृति के परिवर्तन अथवा विकास-पथ के अनेक सस्थान हैं वैदिक अर्थात् वेदकालीन सस्कृति, उत्तर वैदिक सस्कृति, रामायण और महाभारतकालीन सस्कृति, बौद्धकालीन सस्कृति, मौर्यकालीन सस्कृति, शुंग-सातवाहन-शक युगीन सस्कृति, गुप्त राजाओ के समय की सस्कृति, मध्ययुगीन सस्कृति, मुसलमानी राज्यकाल की सस्कृति तथा आधुनिक सस्कृति आदि। इनके बीच-बीच मे और भी सोपान माने जा सकते है। किन्तु भारत के सम्पूर्ण सास्कृतिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि भारतीय सस्कृति के विकास और इतिहास के मुख्य सस्थान कुल चार हैं—

"आर्य तथा आर्येतर सस्कृतियो के मिलन से जो सस्कृति उत्पन्न हुई वही भारत की बुनियादी सस्कृति बनी × × × दूसरी क्रान्ति तब हुई जब महावीर और गौतम बुद्ध ने इस स्थापित धर्म या सस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया × × × तीसरी क्रान्ति उस

१ विचार और वितर्क, संस्करण सन् १९५४, पृष्ठ १३५

२ दे० सस्कृति के चार अध्याय पुस्तक का पहला अध्याय

समय हुई जब इस्लाम, विजेताओं के धर्म के रूप में, भारत पहुँचा × × × और चौथी क्रान्ति हमारे अपने समय में हुई जब भारत में यूरोप का आगमन हुआ।"[१] भारतीय संस्कृति के ये ही प्रमुख सोपान हैं। अब संक्षेप में क्रमशः इन चारों पर ही विचार करेंगे :

## प्रथम सोपान

इसके अन्तर्गत हम आर्य और आर्य-भिन्न लोगों के मिलन से लेकर महावीर और बुद्ध तक के समय का पर्यवेक्षण करेंगे। प्रायः विद्वानों ने इसे वैदिक, उत्तरवैदिक, सूत्र-धर्म-शास्त्र काल तथा रामायण-महाभारत काल आदि में विभक्त किया है। यहाँ वैदिक से अभिप्राय उनका प्रायः ऋग्वैदिक संस्कृति से है—क्योंकि वह सबसे पुराना वेद है। किन्तु ऋग्वेद तथा अन्य वेद भी भारतीय संस्कृति के परिचायक नहीं हैं। वे तो आर्य संस्कृति के ही आकर ग्रंथ हो सकते हैं। रही बात शेष विभागों की वे भी अधिक संगत नहीं हैं। डा० सत्यकेतु का कथन है—"ब्राह्मणों व उपनिषदों के काल को उत्तरवैदिक युग (कहते हैं)। उत्तरवैदिक युग के अन्तर्गत वह समय भी आ जाता है, जबकि सूत्र ग्रंथों व अन्य वेदांगों का विकास हुआ। रामायण, महाभारत और पुराण इस युग के बाद के नहीं हैं × × × उनमें जो अनुश्रुति संगृहीत है, उसका सम्बन्ध वैदिक और उत्तर-वैदिक काल के साथ ही है।"[२] अतः पूर्वोल्लिखित काल-विभाजन व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। उस सारे काल को उत्तर-वैदिक काल ही कहना चाहिए—उसी को हमने प्रथम सोपान कहा है।

इस युग से पूर्व ही पारिवारिक जीवन की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। परिवार को समाज का एक घटक माना जाता था। जाति-प्रथा का भी प्रचलन हो गया था। आर्य उसे अपने साथ लाए अथवा यहीं आकर उसका उद्भव हुआ यह बड़ा विवादास्पद विषय है। चैम्बर्स ऐन्साइक्लोपीडिया के अनुसार आर्य बिना किसी वर्ण-विभाजन के भारत में आए थे।[3] इसके विपरीत डा० भगवतशरण उपाध्याय की सम्मति में आर्यों में जाति-भेद भारत में आने से पहले ही प्रचलित हो गया था।[४] चाहे जो हो, पर एक बात निश्चित है कि यह जाति-भेद मूलतः गुण-कर्म-विभाग ही था। आज की जाति-प्रथा को देखते हुए यह अनुमान भी सहज ही किया जा सकता है कि जाति के निर्णय में दो-चार प्रतिशत जन्म का प्रभाव भी निश्चय ही रहा होगा। किन्तु यह और भी अधिक निश्चित है कि वर्ण-परिवर्तन की पूरी सुविधा थी—

---

१ संस्कृति के चार अध्याय, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२

२. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०५

3. They (Aryans) came originally without any divisions of Caste, but afterwards their society became broken up into castes, rigidly separated from each other.

Vol VI, Edition 1901, page 116.

४ डे० भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण

से अध्ययन-अध्यापन द्वारा, पितृ-ऋण से सतानोत्पत्ति (विशेषत पुत्रोत्पत्ति) द्वारा तथा अन्यान्य लोगो के ऋण से लोकोपकार द्वारा मुक्ति मिलती है। यही इन आश्रमो का साध्य था। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो आश्रमो की सबसे अधिक महत्ता है। द्विज होकर भी जो ब्रह्मचर्य का पालन नही करता उससे कोई सम्बन्ध न रखने का आदेश दिया गया है।[1] नि सन्तान का जीवन भी निरर्थक माना जाता था। इसीलिए सन्तानोत्पत्ति मे असमर्थ अथवा मृतपतिका स्त्रियो को नियोग की अनुमति थी। धृतराष्ट्र और पाण्डु नियोग से ही जन्मे थे। वश को चलाए रखने के लिए ही ऐसा किया जाता था। वश-परम्परा की रक्षा के लिए ही प्रत्येक भारतवासी पुत्र की कामना करता था।—और आज भी करता है, क्योकि वश को पुत्र ही चला सकता है। इसीलिए मनु महाराज अपुत्रिणी पत्नी को छोड दूसरे विवाह का परामर्श देते है।[2]

शासन-प्रणाली मे राजा की स्थापना तो इससे पूर्व हो चुकी थी। अब वे राजा अपने-अपने राज्यो का विस्तार कर रहे थे—कई तो सम्राट् बन बैठे थे। राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रचलन था और राजा कुलक्रमागत होते थे। फिर भी वे निरकुश और स्वेच्छाचारी नही हो सकते थे। उन पर परामर्शदात्री परिषदो का नियत्रण था।

वैदिक-युग मे प्राकृतिक शक्तियो को ही देवता रूप मे स्वीकार कर लिया गया था।—और उनकी पूजा के लिए सरल रीति से यज्ञ किए जाते थे। किन्तु इस युग मे आकर कर्म-काण्ड अत्यन्त जटिल हो गया। अत कुछ लोगो का तो व्यवसाय ही यज्ञ कराना बन गया। यज्ञ की जटिलताओ के इस युग मे ही, भारत मे आर्यो के आगमन से पूर्वस्थित भक्ति की लहर उमडी। इसीलिए भक्ति को 'द्राविड ऊजी' माना जाता है। दूसरी बात यह हुई कि अब इन्द्र, वरुण, ऊषा आदि देवता गौण हो गए। उनके स्थान पर एक नए देवता शिव प्रतिष्ठित हुए। इसीलिए शैव धर्म द्रविड सस्कृति की देन माना जाता है (?)। यद्यपि वेदो मे रुद्र का उल्लेख मिलता है—किन्तु वह हमारी आज की शैवभावना से मेल नही खाता। दरअसल, शिव की प्रतिष्ठा और उपासना बडे सघर्ष के बाद होने लगी थी। वामन पुराण की एक कहानी से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी—"महादेव नग्नवेश में नवीन तापस का रूप धारण करके मुनियो के तपोवन मे आये। मुनिपत्नीगण ने देख करके उन्हे घेर लिया। मुनिगण अपने ही आश्रम मे मुनिपत्नियो की ऐसी अभव्य कामातुरता देखकर 'मारो-मारो' कहकर काष्ठ-पाषाण आदि लेकर दौड पडे × × × उन्होंने शिव के भीषण ऊर्ध्वलिंग को निपतित किया। बाद मे मुनियो के मन मे भी भय का सचार हुआ। ब्रह्मा आदि ने भी उन्हे समझाया बुझाया। और अन्त मे मुनि-पत्नियो की एकान्त अभिलषित शिव-पूजा प्रवर्त्तित हुई।"[3] इस उद्धरण से हमे पता चलता है कि ऋषि शिव के विरोधी और उनकी पत्नियाँ उपासक थी।

---

१ दे० पारस्कर गृह्य सूत्र २।५।४० आदि

२ दे० मनुस्मृति ६।८१

३ सस्कृति सगम—आचार्य क्षितिमोहन सेन, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४७

—और यह बात निश्चित है कि मुनियों की अधिकांश पत्नियाँ आर्येतर थीं। वे अपने पितृ-कुलों के देवता को पूजती होंगी। निष्कर्ष यह कि शिव आर्येतर देवता हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की खुदाई मे उपलब्ध अनेक शिवलिंग भी इस बात की पुष्टि करते हैं।

दर्शन के क्षेत्र मे इस काल मे पर्याप्त उन्नति हुई। वेदो का दर्शन तो कर्मकाण्ड की कुज्झटिका मे आच्छन्न है। पर इस युग मे जो तत्वचिंतन हुआ वह काफी स्वच्छ और उच्च स्तर का है। डा० सत्यकेतु लिखते है—"इस युग (उत्तरवैदिक युग और ऐतिहासिक महाकाव्यों का काल) के आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठानो मे ही व्यापृत नही थे, उनका ध्यान ब्रह्मविद्या तथा तत्वचिंतन की ओर भी गया था। × × × मनुष्य क्या है? जिसे हम आत्मा कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? शरीर और आत्मा भिन्न है या एक ही है? मरने के बाद मनुष्य कहाँ जाता है? इस सृष्टि का कर्त्ता कौन है? इसका नियमन किस शक्ति द्वारा होता है? इसी प्रकार के प्रश्नो की जिज्ञासा थी, जो अनेक मनुष्यो को इस बात के लिए प्रेरित करती थी, कि वे गृहस्थ-जीवन से विरत होकर × × × × एकनिष्ठ हो तत्वज्ञान को प्राप्त करें।"[1] फलत वन मे अनेक आश्रमो की स्थापना हुई।—और उक्त प्रश्नो पर गम्भीरता से विचार होने लगा। जनक, अश्वपति (कैकय), अजातशत्रु (काशी) आदि की सभाओ मे भी ऐसा ही विवेचन-विश्लेषण हुआ। परिणामस्वरूप अनेक मुनियो और योगियो का अवतरण हुआ जिन्होंने कि चिरप्रशंसित उपनिषदो का प्रणयन किया। भारत का अधिकांश दार्शनिक साहित्य इसी युग की देन है।

साहित्य की दृष्टि से भी आलोच्य काल काफी समृद्ध है यद्यपि वेदो का सम्पादन भी इसी काल मे (वेदव्यास द्वारा) हुआ है तथापि उनकी रचना प्राय पहले ही हो चुकी थी। इस युग का साहित्य है—ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, स्मृतियाँ, रामायण, महाभारत तथा पुराण। शायद आज हम इन्हें धर्म-ग्रन्थ कहना अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु जैसा कि बाबू गुलाबराय कहते हैं, भारतवर्ष के उस प्राचीन कालीन 'धार्मिक और लौकिक साहित्य मे कोई अन्तर नहीं है'।[2] उपर्युक्त सारे साहित्य का यहाँ परिचय देना और विशेषताएँ बताना न सम्भव है और न आवश्यक ही। हम इस विषय मे केवल इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि पूर्वोक्त सभी ग्रन्थ अपने-अपने विषय के अन्यतम निदर्शन हैं। ब्राह्मण कर्मकाण्ड के सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। उपनिषदो मे भारतीय दर्शन का सार निहित है। वेदांग के अन्तर्गत परिगणित शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष तथा निरुक्त मे से ज्योतिष का परिगणन तो विज्ञान मे होना चाहिए। शेष सभी वेदांगों के प्रामाणिक ग्रन्थ—पाणिनीय शिक्षा, नारद शिक्षा आदि शिक्षा-शास्त्र (ध्वनि-शास्त्र), कल्प के अन्तर्गत परिगणित होने वाले श्रौत सूत्र तथा गृह्य सूत्र आदि, पिंगल का छन्द-शास्त्र एवं यास्क का विश्वप्रशंसित निरुक्त तथा विस्मयाभिभूत कर देने वाला अद्वितीय व्याकरण-ग्रन्थ पाणिनीय अष्टाध्यायी—सब इसी काल मे लिखे गए। इस प्राचीन काल मे भाषा-विज्ञान और व्याकरण की पर्याप्त प्रगति

१. भारतीय संस्कृति और उसका विकास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०६–१०७
२. भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, द्वितीय संस्करण (१९५६), पृष्ठ २६

देखकर तो विदेशी आश्चर्यचकित हैं।[1] स्मृतियाँ अनेक हैं—अत्रि, याज्ञवल्क्य, व्यास, वसिष्ठ, मनु आदि। इनमे से दो—मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ ही सर्वाधिक प्रामाणिक हैं। आज का हिन्दू जीवन भी जाने-अनजाने इन्ही से शासित है। ये दोनो स्मृतियाँ इसी युग की हैं। रामायण और महाभारत भारत के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य हैं। महाभारत तो पचम वेद या फिर भारत की रीति-नीति का विश्वकोश माना जाता है। पुराणो की रूपक-कल्पना अनुपम है। उन्हे भारतीय जीवन, दर्शन और गाथाओ का आकर ग्रथ ही कहना चाहिए। यह सम्पूर्ण साहित्य जिसमे धर्म का अन्त सूत्र प्राय सर्वत्र अनुस्यूत है भारतीय सस्कृति के इस प्रथम सोपान की उन्नत अवस्था का परिचायक है। किन्तु इस युग की कला के विपय मे कुछ विशेष ज्ञात नही है। फिर भी डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने पाणिनि की अष्टाध्यायी के आधार पर लिखा है कि इस काल मे सगीत का प्रचार था, नृत्य का भी प्रचलन था। ऊनी तथा सूती कपडे बुने जाते थे। कपडो की रगाई भी होती थी। मिट्टी के वरतन वनते थे तथा चमडे का काम भी होता था।[2] ज्योतिष, गणित और आयुर्वेद आदि विज्ञानों का भी प्रचलन था—किन्तु इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें और आचार्य वाद के ही हैं।

सव मिलाकर भारतीय सस्कृति के इस प्रथम सोपान मे जातिप्रथा और समाज के बन्धन दृढ होते जा रहे थे। फिर भी हिन्दू जाति की पाचन-शक्ति अन्त तक अमन्द थी। शूद्रो और स्त्रियो का महत्व कम होता जा रहा था—किन्तु वे अभी हीन नही थे। धर्म के क्षेत्र मे सभी के उपास्य देवो को मान्यता मिल गई थी। शिक्षा और कलाओ का भी प्रसार हो रहा था। उच्चकोटि के साहित्य का भी प्रणयन जारी था। यद्यपि विज्ञान की अभी उल्लेखनीय प्रगति नही हो सकी थी, फिर भी अन्याय देशो एव जातियो को देखते हुए उस समय भारतवर्ष की सभ्यता और सस्कृति का स्तर काफी ऊँचा था।

---

1 (1) This high development of so abtruse and self conscious an activity as philology at so early a time remains perpetually astonishing It suggests the existence of a vast historic lacuma in our knowledge of more ancient India—a great realm which we can hope to see in part explored by archaeology alone

—Configurations of Cultural Growth
by Dr Kroeber
Edition 1944, page 219

(ii) Panini's grammar is distinguished above all similar works of other countries partly by its thoroughly exhaustive investigation of the roots of the language, and the formation of words , partly by its sharp precision of expression, which indicates with an enigmatical succinctness whether forms come under the same or different rules

—The History of Indian Literature
by A. Weber, Ed 1914, page 216

२. दे० हिन्दू-सभ्यता, अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, संस्करण सन् १९५५, पृष्ठ १२४

## द्वितीय सोपान

वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के अभ्युदय के साथ ही भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक नए अध्याय का प्रारम्भ होता है। धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टियों से जो उथल-पुथल इस समय शुरू हुई वह लगभग डेढ़ हजार वर्ष तक—भारत में यवनों के आगमन तक चलती रहती है। यही हमारी संस्कृति का द्वितीय सोपान है।

पहले ही कहा जा चुका है कि याज्ञिक कर्म-जटिलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने औपनिषदिक चिंतन को जन्म दिया। किन्तु वह आध्यात्मिक चिन्ता अधिकांश लोगों को सहज-ग्राह्य नहीं थी। अतः अध्यात्म-चिन्तन को शायद जनसाधारण के लिए अगोचर अथवा अनावश्यक मानकर केवल कुछ आचारों की शिक्षा और प्रचार करने वाले जैन और बौद्ध मत प्रोद्भासित हुए।[1] उनके द्वारा वेदोक्त हिंसापूर्ण बलि का प्रबल विरोध हुआ। यद्यपि, जैसा कि भारतरत्न डा० भगवानदास कहते हैं, वैदिक क्रूरता के विरुद्ध ब्राह्मण-विचारकों और उपनिषत्कारों ने भी बौद्ध और जैन मतों को सहयोग प्रदान किया है।[2] फिर भी 'वैदिकी हिंसा' के प्रतिद्वन्द्वी रूप में खड़े होने का श्रेय तो इन दो मतों को ही दिया जा सकता है। अस्तु !

मौर्य और मौर्योत्तर काल में ये दोनों धर्म काफी लोकप्रिय थे। इनकी लोकप्रियता का कारण उपर्युक्त अहिंसा-प्रवृत्ति के साथ-साथ ब्राह्मण की अनन्य श्रेष्ठता की अस्वीकृति तथा चारों वर्णों की अभेद मोक्षार्हता की स्वीकृति थी। जैन और बौद्ध धर्मों में से प्रथम का प्रचार और प्रसार अपेक्षाकृत कम हुआ है, भारत से बाहर तो वह कभी फैला ही नहीं। प्रत्यक्ष कारण है राजाश्रय की न्यूनता। लेकिन असली कारण जैनियों की शान्त प्रकृति और समन्वयपूर्ण नीति है। अपनी इस शान्तिप्रियता के कारण वे आज तक बने हुए भी हैं—"मुसलमानों से (राज्य के) ग़दर भी उन पर अधिक जुल्म नहीं हुए।"[3] आज भी जब अद्भुत शक्तिशाली बौद्ध मत जो उनकी जन्मभूमि से बहिष्कार हो गया है, जैनमत अवशिष्ट

---

1. They (Buddhism and Jainism) preach ethics × × × × ignoring all metaphysical teaching—as if it were something too deep or too unimportant for the laity

—Encyclopaedia Britannica Vol 12, Edition 1947, page 162

2. In the protest against the Vedic Cult of sacrifice, which involved ceremonial cruelty they (Buddhism and Jainism) were joined not only by Brahmanical thinker's who put allegorical interpretations on Vedic rituals, but also by those of a more metaphysical bent of mind to whom the world owes the magnificent mystic monism of the Upanisads

—The Cultural Heritage of India, Volume IV, Edition 1956, Introduction, page 3.

३. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११८

है। पर उसमे और हिन्दू धर्म मे नाममात्र का भेद रह गया है, वल्कि—'अब वह हिन्दुत्व भी है और जैनमत भी।'

वस्तुत सघर्ष हुआ बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों मे। एक ज़माना ऐसा भी आया था जव हिन्दू अथवा ब्राह्मण धर्म का दीप-निर्वाण होता दिखाई देने लगा था। भारत मे वौद्धो का वोलबाला था। भारत ही क्यो, वह उसकी सीमाओ का अतिक्रमण कर लगभग विश्वधर्म वन गया। परन्तु फिर भी वह हिन्दू धर्म को भारतवर्ष के किसी वृहत् खण्ड से वहिष्कृत नही कर सका। लगभग १००० वर्ष तक (२५० ई० पू० से ८०० ई०) दोनो ही चलते रहे। अशोक और कनिष्क के राज्यकाल मे बौद्ध धर्म का भाग्योदय हुआ तो गुप्त राजाओ के समय ब्राह्मण धर्म का सितारा चमका।—और प्रोफेसर आर० सी० मजूमदार के अनुसार गुप्तो के वाद भी उत्तर भारत मे हर्षवर्द्धन और पाल राजाओ को छोडकर प्राय सभी राजा ब्राह्मण धर्म के ही अनुयायी रहे हैं।[1] राजाश्रय का यह अभाव वौद्ध धर्म के लिए हानिकर सिद्ध हुआ। किन्तु उसके ह्रास का इससे भी बडा कारण था उसके प्रति जनसाधारण की निरन्तर वर्द्धमान अरुचि। सातवी शताब्दी मे वौद्धो के ही एक सम्प्रदाय—"वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नो मे मदन-देवता ने आसन पाया × × × × 'श्रीसुन्दरीसाधन-तत्पराणा योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई।"[2] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी योग और भोग की इस अद्भुत मिलन-लीला को 'बडे अचरज से' देख रहे हैं।[3] उस युग की जनता ने घृणा से देखा होगा। वौद्ध धर्म के ह्रास का तीसरा कारण यह है कि उस की महायान शाखा ने बुद्ध की पूजा शुरू कर दी और उनके अवतारो की कल्पना की। इससे वह अपने प्रतिपक्षी धर्म के निकटतर आ गया। इन्ही कारणो से वह दिन-प्रतिदिन क्षीणतर होता चला गया। और जव बारहवी शताब्दी मे पाल राजा पराभूत हुए तथा मुस्लिम आक्रान्ताओ द्वारा बौद्धो के शक्तिस्थल सघो का विध्वस हुआ तव तो उसकी रही-सही शक्ति भी जाती रही। फिर भी उसका प्रभाव अक्षुण्ण है—"अहिंसा × × × और सदाचारमय जीवन के जो आदर्श बौद्ध धर्म ने उपस्थित किये थे, वे आज तक भी भारतीयो के जीवन को अनुप्राणित करते हैं।"[4]

प्रथम सोपान मे ही जातिप्रथा अकुरित हो गई थी। किन्तु द्वितीय सोपान के पूर्वार्द्ध मे वौद्ध मत के प्रवल विरोध के कारण वह पल्लवित नही हो सकी। तभी तो शक, पहलव

---

1 In northern India, the patronage of Harsavardhana and the Pala emperors gave a long lease of life to Buddhism, but with those notable exceptions the other royal families were staunch adherents of the Brahanical sects

—The Cultural Heritage of India, Vol IV, Edition 1956, pages 47-48

२ अशोक के फूल (निवन्ध-सग्रह), डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ६

३ दे० „ „ „ „ „ ६

४ भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, डा० सत्यकेतु, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ३५७

और कुषाण आदि सभी हिन्दू जाति मे विलीन हो चुके थे। श्री हरिदत्त वेदालंकार का कथन है—"गुप्त युग में भी हिन्दू समाज की पाचन शक्ति बड़ी जबरदस्त थी, ये एक पीढी में ही विदेशियों को भारतीय बना लेते थे।"[1] लेकिन "जब ब्राह्मण धर्म फिर ऊपर आया, तब सबसे अधिक इसने स्मृतियो के निर्माण पर जोर देना शुरू किया।"[2]—और परिणामतः वर्ण-प्राकार निरन्तर ऊँचे उठते चले गए। कहते हैं १००० ई० के आस-पास जाति-प्रथा मे वर्तमान जटिलता आ गई थी। विवाह साधारणतः अपनी ही जाति मे होते थे पर अन्तर्जातीय भी विहित थे—"कोशल राज्य के प्रसिद्ध राजा पसेनदी (अग्निदत्त प्रसेनजित्) ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या मल्लिका के साथ विवाह किया था। × × × दिव्यावदान मे एक ब्राह्मण कुमारी का उल्लेख आता है, जिसने शार्दूलकर्ण नाम के शूद्रकुमार के साथ विवाह किया था।"[3] परन्तु इस सोपान के समाप्त होते न होते अन्तर्जातीय परिणय-सम्बन्ध पर प्रतिबंध लग गया। स्त्रियो की अवनतिशील दशा का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। सांस्कृतिक इतिहास के आलोच्य काल मे भी वह अनुदिन गिरती ही चली गई। डा० सत्यकेतु ने मैगस्थनीज के साक्ष्य पर मौर्यकाल मे स्त्रियो के क्रय-विक्रय की बात कही है।[4] यह निश्चय ही निम्न जाति की स्त्रियो की बात रही होगी—किन्तु उच्चकुल की स्त्रियो का कार्यक्षेत्र भी घर तक ही सीमित हो गया था। गुप्त युग मे नारी के चिर प्रतिष्ठित अर्द्धांगी-पद का लोप होने लगा था। और उसके पश्चात् तो पति-पत्नी मे अधिकारी-अधिकृत-सम्बन्ध का ही विकास होता चला गया। पर्दे के प्रचलन और शिक्षा के स्थगन ने उनकी और भी दुर्गति की। हर्ष की बहन राज्यश्री, भास्कराचार्य की पुत्री लीलावती और कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी जैसी विदुषियाँ तो अपवाद थीं। साधारण स्त्रियाँ अशिक्षित अथवा अल्पशिक्षित ही हुआ करती थीं। अतः उन्हें ढोल, गंवार, शूद्र और पशु की श्रेणी मे रखने की भावना इस काल मे ही पनपना आरम्भ हो गई थी। प्रथम सोपान के राजतंत्र का इस युग में काफ़ी विकास और उन्नति हुई। राजा की शक्ति मे वृद्धि हुई—वह सभी विभागो का अधीश्वर बन गया। वह विधि का विधान भी करने लगा। परामर्शदात्री समिति ने अब मंत्रिमण्डल का रूप धारण कर लिया था।—और राजा मन्त्रिमण्डल के ऊपर था। परन्तु फिर भी मन्त्रिमण्डल पर्याप्त प्रभावशाली था, राजा को उसकी बात माननी ही पड़ती थी। चन्द्रगुप्त कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर ही चलते थे, सम्राट् अशोक एक बार बौद्ध संघ को आधा आँवला ही दानस्वरूप दे सके थे, महाराज विक्रमादित्य मन्त्रियो के विरोध के कारण पाँच लाख मुद्राएँ प्रतिदिन दान देने की अपनी अभिलाषा को पूर्ण नहीं कर सके।[5]

---

१. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १४२
२. संस्कृति के चार अध्याय, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६८
३. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, डा० सत्यकेतु, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १८८-१८९
४. दे० " " " " " २४६
५. दे० भारत का सांस्कृतिक इतिहास, हरिदत्त वेदालंकार, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १९९, २०१

आलोच्य काल भारतीय सस्कृति के सर्वांगीन विकास का काल था। धर्म के क्षेत्र मे निरन्तर सघर्ष चलते रहने पर भी कुछ राज्यो—विशेपत मौर्य और गुप्त राज्यो—के अपेक्षाकृत स्थायित्व ने भारत की सर्वतोमुखी उन्नति में सहयोग दिया। हमारे गर्व के विषय—विभिन्न क्षेत्रो मे भारत की उन्नति से सबद्ध अनेक गौरव-गाथाओ के अधिकाश नायक इस युग मे ही हुए हैं। जैमिनि, बादरायण, गौतम, कणाद, पतजलि और कपिल प्रभृति षड्दर्शन के व्यवस्थापक तथा शकराचार्य, नागार्जुन, वसुबन्धु एव असग जैसे दर्शनशास्त्र के निष्णात पडित, अश्वघोष, भास, कालिदास, राजशेखर, भवभूति और दण्डी जैसे अग्रणी साहित्यकार इसी युग की देन हैं। सस्कृत (लौकिक) का तो स्वर्णकाल ही इस सोपान को माना जाता है। किन्तु पालि और प्राकृत की भी इस समय काफी उन्नति हुई—वे साहित्य और धर्म की भाषाए बनी। दर्शन और साहित्य ही नही इस काल मे कलाओ का भी उत्कर्ष हुआ। यद्यपि उस समय की उत्कृष्ट कला के अधिकाश निदर्शन ध्वस्त हो चुके हैं, पर जो कुछ अवशिष्ट है वही आश्चर्यचकित कर देने वाला है। वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला आदि के उस समय के नमूने देखकर सचमुच विस्मय होता है। अशोककालीन एकाष्मीय (एक ही पत्थर के) स्तम्भ और उनकी अद्भुत पॉलिश को देखकर आज भी 'दातो तले उगली दबानी पडती है'।[1] साची का स्तूप, भरहुत का स्तम्भ, बुद्ध गया और भुवनेश्वर के मन्दिर, अजन्ता, इलोरा और एलीफेण्टा की गुफाए तथा इन स्थानो पर प्राप्त मूर्तियाँ एव चित्र आदि बहु-प्रशसित कलाकृतिया सब इसी समय की है।

विज्ञान के क्षेत्र मे भी अद्भुत प्रगति हुई। वस्तुत उपयोगी विज्ञान की जो उन्नति भारतीय सस्कृति के द्वितीय सोपान मे हुई वह आधुनिक काल से पहले कभी नही हुई थी। यदि प्रगति की वह परम्परा चलती रहती तो आज भारत का इतिहास कुछ और ही होता पर ऐसा नही हुआ। अस्तु! भारतवर्ष के लोग इस समय गणित और ज्योतिप मे खूब बढे-चढे थे। ब्रह्मगुप्त, आर्यभट और भास्कराचार्य प्रभृति गणितज्ञ एव ज्योतिषशास्त्री इसी समय के हैं। महामहोपाध्याय डा० पी० के० आचार्य के अनुसार सस्कृत साहित्य मे तप, किरण, शब्द, विद्युत् आदि के बहुश निर्देशो से पदार्थ विद्या (Physics) के ज्ञान का भी सकेत मिलता है।[2] रसायन और धातुशास्त्र का भी अस्तित्व था। प्रसिद्ध दार्शनिक नागार्जुन 'लोह शास्त्र' के प्रणेता माने जाते हैं।[3] भारत के प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य चरक, सुश्रुत, वाग्भट इसी समय मे हुए। शार्ङ्गधर सहिता के रचयिता शार्ङ्गधर भी इसी युग के अन्त में थे। आयुर्वेदशास्त्र आलोच्य काल मे काफी उन्नत अवस्था मे था। शल्य क्रिया का भी प्रचार था, यहाँ के आयुर्वेद-शास्त्री कृत्रिम दाँत लगाना, कृत्रिम नाक बनाना और लगाना, आँखो का ऑपरेशन करना आदि भी जानते थे। मनुष्य ही नही पशुओ की भी चिकित्सा होती थी। पशु-चिकित्सा पर पुस्तकें भी लिखी गई थी—'गज-चिकित्सा,, 'गजायुर्वेद',

---

१ दे० भारतीय सस्कृति की रूप-रेखा, बाबू गुलाबराय, सस्करण १९५६, पृष्ठ १३३

२. दे० Glories of India, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २५८

३. दे० भारत का सास्कृतिक इतिहास, हरिदत्त वेदालकार, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १५०

'गज-दर्पण' ( पालकाप्य ), 'अश्व चिकित्सा' ( जयदत्त ) आदि। किन्तु इनमे से अधिकाश पुस्तकें अनुपलब्ध हैं। आयुर्वेद के ही अन्तर्गत वनस्पति-शास्त्र का भी अध्ययन हुआ। 'शब्द-प्रदीप' और निघण्टु वनस्पति-शास्त्र के ही कोश हैं।

इस काल मे शिक्षा का भी सुप्रवन्ध था। यद्यपि स्त्रियो और शूद्रो को शिक्षा से वचित करने की वात वढ रही थी फिर भी उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था थी। नालन्दा और तक्षशिला के विश्वविद्यालयो की स्थापना इसी उद्देश्य से हुई थी। इन विश्वविद्यालयो मे योग्य अध्यापको एव अधिकारी विद्वानो द्वारा प्राय सभी विषय पढाए जाते थे।

साराश यह कि इस काल मे भारतवर्ष की काफी उन्नत अवस्था थी। इसीलिए वह सम्पूर्ण विश्व मे आहत था, विश्व का गुरु था। जो गौरव भारत को इस युग मे मिला, वह फिर कभी नही मिल सका।

## तृतीय सोपान

वारहवी शताब्दी के समाप्त होते-होते भारत की स्वाधीनता भी नि शेष हो गई। पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु तथा मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई। यही से भारतीय सस्कृति का तीसरा सोपान शुरू होता है—हिन्दू और मुस्लिम दो भिन्न सस्कृतियो का सघर्ष आरम्भ होता है, जो शताब्दियो तक चलता रहा। तव से गुलाम वना भारत १९४७ ई० मे ही मुक्त हो सका है। भारत की मौलिक सस्कृति अथवा हिन्दू सस्कृति ( जिसका निर्माण इस्लाम के प्रवेश से पहले यहाँ हो चुका था ) की दृष्टि से यह समय, जैसा कि प्रोफेसर वाल्टर क्लार्क कहते हैं, ध्वसकारी था।[1]—तथा विश्व के इतिहास मे यह अद्‌भुत घटना है। सव कुछ को हजम कर जाने वाला हिन्दुत्व मुसलमानो को नही पचा सका—और न ही ईरान, मिस्र आदि देशो के समान यहाँ इस्लाम का ही निर्वाध प्रसार हो सका।[2] मुख्य

---

1 The positive achievements of Islam in India must be left to Moslem historians From the Hindu point of View the occupation was disastrous

—The Encyclopaedia Americana (1956), Vol 15, page 281.

२. इस विषय मे प्रो० हुमायूँ कवीर लिखते हैं—

India has assimilated almost all foreign races and cultures that entered the land at different times by broadening her faith and her social structure. In most other countries, Muslim have also assimilated the land into the main stream of Islamic culture India is the one exception where neither has Islam been overpowered by India, nor has India been absorbed into the Islamic world

—The Cultural Heritage of India (1956), Vol IV, page 579.

कारण यह है कि जब इन दो सस्कृतियो का सम्पर्क हुआ उस समय हिन्दू सस्कृति की तो बहुप्रशसित पाचन शक्ति अपेक्षया क्षीण हो चुकी थी और मुस्लिम सस्कृति देशीय सस्कृति की तुलना मे अवनत अवस्था मे थी । परिणामत दोनो मे से कोई भी एक-दूसरी को अन्तर्भूत नहीं कर सकी ।

फिर भी इस्लाम का काफी प्रचार इस देश मे हुआ ( १६४१ ई० की जनगणना के अनुसार मुसलमानो की सख्या लगभग ६ करोड ४४ लाख थी ) । बाहर से आए हुए मुसलमान तो थोडे ही है । अधिकाश यही के मूल निवासी हैं जो इच्छापूर्वक या फिर तलवार के जोर से मुसलमान बने हैं । काश्मीर के शासक सिकन्दर ( १३६०-१४१४ ), सिकदर लोदी, फीरोजशाह तुगलक और औरगजेब आदि ने बलात् हिंदुओ को मुसलमान बनाया है । लेकिन उससे भी अधिक मुसलमान बने है अन्यान्य कारणो से । जहाँ गाँव के गाँव बिना किसी विरोध के इस्लाम के अनुयायी हो गए है उसका कारण बल-प्रयोग नही माना जा सकता । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"सन् ईसवी की दसवी शताब्दी मे ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से प्राधान्य स्थापित कर चुका था; फिर भी बौद्धो, शाक्तो और शैवो का एक बडा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद की प्रधानता को नही मानता था ।"[१]—और अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक मे वे एक स्थान पर लिखते है—"एक प्रकार के तान्त्रिक बौद्ध तो उन दिनो मुसलमानो को धर्म-ठाकुर का अवतार समझने लगे थे ।"[२] ऐसे वेद-बाह्य और ब्राह्मण-विरोधी सम्प्रदाय ही समूह-रूप मे इच्छापूर्वक मुसलमान हुए थे ( इन लोगो ने तो शायद मुसलमानो को अपना त्राणकर्ता ही मान लिया था ) या फिर वर्ण-व्यवस्था-पीडित निम्न वर्गों ने स्वेच्छा से इस्लाम को अगीकार किया था ।[3] कुछ लोग निर्दोष होने पर भी हिन्दू समाज द्वारा बहिष्कृत होने के कारण मुसलमान बन गए । आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'सस्कृति सगम' के 'जातिभेद का परिणाम' शीर्षक अध्याय मे माहीमाल मुसलमानो, मलकाने राजपूतो आदि के ऐसे अनेक वृत्त दिए है । इस दृष्टि से श्री दिनकर की यह स्थापना काफी हद तक ठीक है "इस्लाम भारत मे खड्ग-बल से नही फैला । वास्तव मे हिन्दुत्व के जुल्म से घबराये हुए गरीब लोग ही अपना त्राण पाने को इस्लाम के झडे के नीचे चले गए ।"[४]

वस्तुत भारत के राजनैतिक पतन का मुख्य कारण भी यह अभिशसनीय समाज-

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ६०

२. द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ६

३ दे० A Short History of India—Moreland and Chatterjee, Ed 3rd, Page 191

४ सस्कृति के चार अध्याय, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २६४

सघटना ही रही है[१]—यहाँ के लोगो का बहुवा उल्लिखित निरामिषाहार, उष्ण वातावरण और युद्ध-कौशल का अभाव नही। हर्ष के वाद भारत छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त हो गया था जो आपस मे ही लडते रहते थे। वौद्ध और ब्राह्मण भी मुसलमानो को एक-दूसरे के विरुद्ध उकसाते रहते थे।—तथा निम्न जातियो के पीडित और अपमानित लोग भी प्रायः राजाओ के विरुद्ध रहते थे। जव मुहम्मद-विन-क़ासिम ने सिन्ध के राजा दाहिर पर आक्रमण किया तव वौद्ध श्रमणो और कतिपय विश्वासघाती सामन्तो ने उसकी सहायता की।[२]—और निम्न वर्ग के लोगो ने तो गा-वजाकर विजयी मुहम्मद-विन-कासिम का स्वागत किया था।[3] वौद्ध लोग वस्तुत इस आक्रमण के पूर्व ही देश-द्रोही हो गए थे। गुप्त राजाओं के समय भी उन्होंने हूणो की मदद की थी।[४] सभी इतिहासकार इस वात से प्राय सहमत हैं कि महमूद गजनवी के समय के सभी भारतीय राजा मिलकर लडते तो निश्चय ही उसे पराजित कर सकते थे। किन्तु उनमे शायद राष्ट्रीयता का अभाव था और 'राष्ट्रीयता की अनुभूति मे जो अनेक वाधाएँ थी उनमे सर्वप्रमुख वाघा यही जातिवाद था।'[५] इस जातिवाद के कारण ही, जैसा कि पण्डित नेहरू कहते हैं, युद्ध और देश-रक्षा केवल क्षत्रियो का काम रह गया था; और लोग इसे अपना काम नही समझते थे, शायद उन्हे ऐसा करने भी नही दिया जाता था।[६]

कतिपय ऐसे ही कारणो से—जिन सवका मूल प्राय जाति-प्रथा की कट्टरता अथवा कठोरता ही है—भारतवर्ष दासता की लौह-शृखला मे आवद्ध हुआ तथा उसमे इस्लाम का प्रचार हुआ। इधर मुसलमानो के आक्रमण पर विस्थापित परिवारो ने अपने नाम के साथ अपने मूल निवासस्थान का नाम जोडना भी शुरू कर दिया। इस प्रकार और अनेक

१. श्री एच० जी० राविल्सन लिखते हैं—

The overthrow of the rich and material kingdoms of Hindustan with such surprising ease is at first sight an astonishing fact. It was certainly not due to lack of valour on the part of Rajput race Its causes are to be found in the defects of the social organization of the Hindus

—India (1948), page 211.

2. His (Kasim's) work was greatly facilitated by the treachery of certain Buddhist priests and renegade chiefs who deserted their sovereign and joined the invader

—An Advanced History of India by Majumdar, Raychaudhury and Datta pt II (1951), Intro.

3 The tribes came in ringing bells and beating drums and dancing in token of welcome

—Mediaeval India by Stanley Lane-Poole (1926), page 9-10

४. दे० स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (नाटक)—जयशंकर प्रसाद

५. सस्कृति के चार अध्याय, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २६७

६. दे० Discovery of India (1946), page 184

जाति-उपजातियो का जन्म हुआ ।[१] कैसी विडम्बना है, वर्ण-व्यवस्था के अविश्वासी मुसलमानो के आगमन से जात-पांत मे और भी जटिलता आ गई । अस्तु !

पठान और मुगल भारत मे अपने पूर्ववर्ती सहधर्मियो के समान लूट-पाट के लिए नही अपितु बसने के लिए आए थे । उन्होंने लगभग ५०० वर्ष भारत के बृहत् खण्ड पर हकूमत की । किन्तु सास्कृतिक दृष्टि से वे यहाँ के लोगो से प्राय अलग-थलग ही रहे, जैसे किसी नगर मे कोई सैनिक गुल्म रहता है ।[२] यह बात पठानो पर विशेषत लागू होती है । फिर भी दोनो पर—दोनो की सस्कृतियो पर—एक-दूसरे का प्रभाव अनिवार्य था । जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया वैसे-वैसे उनका सम्पर्क बढता ही चला गया । नए मुसलमान तो अपने स्वभाव मे अवसित हिन्दू सस्कृति को अपने साथ लेकर गए ही थे । यह सम्पर्क अनेक दिशाओ मे प्रस्फुटित हुआ—दोनो ने एक-दूसरे से कई बातें ग्रहण की । मुसलमानो मे हिन्दुओ की देखा-देखी जात-पाँत का प्रचलन हुआ, उनमे भी शरीफ और रज़ील का भेद होने लगा ।[3] हिन्दुओ के अनेक देवताओ के समान मुसलमानो के यहाँ भी ख्वाजा खिज़िर, गज़नी मियाँ, पीर बदर आदि की पूजा होने लगी । सौभाग्यवती मुसलमान स्त्रियाँ माँग मे सिन्दूर तथा नाक मे नथ पहनने लगी । इसी प्रकार हिन्दुओ ने मुसलमानो का खाना तथा पोशाक अपना ली । पर्दे की प्रथा थोडी बहुत भारत मे पहले भी थी पर मुसलमानो के सम्पर्क से वह बहुत ज्यादा बढ गई । ऐसी और भी बहुत-सी बातो का उल्लेख किया जा सकता है ।[४] डा० ताराचन्द तो प्रसिद्ध दार्शनिक शकराचार्य और भक्ति पर भी इस्लाम का प्रभाव मानते हैं ।[५] श्री हुमायूँ कबीर का भी ऐसा ही विचार है ।[६] परन्तु यह ठीक नही है । कवि-विचारक दिनकर ने बडे सबल शब्दो मे इसका प्रत्याख्यान किया है ।[७] निश्चय ही एकेश्वरवाद और भक्ति के लिए भारतवर्ष इस्लाम का ऋणी नही है । ये दोनो चीज़ें उससे पहले भी यहाँ विद्यमान थी ।

फिर भी, अन्यान्य क्षेत्रो मे पारस्परिक आदान-प्रदान से इन्कार नही किया जा

---

१. दे० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीकृत 'मध्यकालीन धर्म-साधना' मे 'दसवीं शताब्दी से समाज मे विभेद सृष्टि का आरम्भ' शीर्षक लेख ।

2 They (Muslims) lived as a garrison in a hostile country, holding little or no intercourse with their subjects
—India by H G Rawlson (1948), page 243

3 " Islam from being a single brotherhood has become in India an association of brotherhoods, held together by creed, but separate in some important departments and their social life "
—A Short History of India—Moreland and Chatterjee (1953), page 192.

४. विस्तृत विवरण के लिए देखिए डा० राजेन्द्रप्रसाद लिखित 'खडित भारत'

५. दे० Influence of Islam on Indian Culture (1946), pp. 109-129

६ दे० Cultural Heritage of India (1956), Vol IV मे उनका लेख Islam in India

७ दे० संस्कृति के चार अध्याय, प्रथम सस्करण, पृष्ठ, ६८-३००

सकता। लेकिन एक बात निश्चित है कि इस युग मे भारतवर्ष में दो सस्कृतियाँ समानान्तर चलती रही। एक-दूसरी के निकट आ-आकर भी वे कभी मिल नही पाई। उनमे से एक तो हिन्दू सस्कृति है जो वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, षड्दर्शन, सूत्रो और स्मृतियो की विश्वासी और अनुवर्तिनी है। दूसरी मुस्लिम सस्कृति है। पहली के पोषक, रक्षक और नेता तुलसीदास थे, सूरदास, चडीदास और विद्यापति भी इसी वर्ग मे आते हैं। दूसरी के व्याख्याता उस समय के मुल्ला और काजी थे। उधर इन दोनो का भेदभाव दूर कर इन्हें मिला देनेवाली एक सामासिक सस्कृति का भी उद्भव हो रहा था जो कबीर, दादू, नानक आदि की वाणी में उद्गीर्ण थी। सूफी कवियों को भी साधारणत हिन्दु-मुस्लिम ऐक्य का प्रतिष्ठापक माना जाता है—"प्राय सभी का कहना है कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की चेष्टा के प्रयत्न मे ये हिन्दी मसनवी लिखी गईं।"[1] परन्तु बाबू गुलाबराय ने इस्लाम की ओर उनके अधिक झुकाव का निर्देश किया है।[2]

कबीर और उनके सहयोगियो ने जिस सामासिक सस्कृति का प्रवर्तन किया, अकबर ने भी 'दीन इलाही' की प्रस्तावना द्वारा उसमे योग दिया। श्रीयुत दिनकर तो अकबर को हिन्दू और मुसलमानो के भेदभाव को मिटानेवाली सामासिक सस्कृति का पहला और सबसे बडा नेता मानते हैं।[3] उर्दू का जन्म भी सामासिकता के आग्रह से ही हुआ था। लेकिन औरगजेब ने इस दिशा मे किए गए सम्पूर्ण प्रयत्नो पर पानी फेर दिया, उपर्युक्त सामासिक सस्कृति को खडित कर दिया। उसके हिन्दू-विरोधी फ़रमानो के फलस्वरूप दो निकट आती-आती संस्कृतियाँ फिर अलग हो गईं। औरगजेबकृत उत्पीडन और अत्याचारो के कारण ही मुगल साम्राज्य पर बुन्देलो, मराठो और राजपूतो के आक्रमण होने लगे।—और कुछ दिन बाद ही वे विस्तृत क्षेत्रो के अधिपति बन बैठे। चतुरसेन शास्त्री इसे तुलसीकृत 'हिन्दू सगठन का महान् परिणाम' मानते हैं।[4] इसी समय सिक्ख भी प्रबल हो उठे। मुसलमानो के अत्याचारो के कारण ही वे धार्मिक से राजनैतिक शक्ति बन गए। साराश यह कि अठारहवीं शताब्दी का आरम्भ होते ही मुग़लो का सुदृढ राज्य भी हिल गया। भारतवर्ष फिर माडलिक राज्यो मे बट गया। यही तृतीय सोपान की सीमा है।

आलोच्य काल के राजा प्राय विलासी और स्वेच्छाचारी थे। अकबर और औरंगज़ेब जैसे दो-एक बादशाहों को छोडकर प्राय सभी शासक राज्य को भोग्य समझते थे। स्त्रियो की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। अशिक्षा, बहुविवाह और पर्दे के कारण उनका जीवन दु:खमय था। अब वे जीवन्त प्राणी न होकर विलास का उपकरण मात्र थी। देश मे रस-राशि उमड रही थी।

---

१. मिश्रबन्धु, चतुरसेन शास्त्री के 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' (प्रथमावृत्ति) की भूमिका, पृष्ठ १४

२ दे० हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ५५

३. सस्कृति के चार अध्याय, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३०७

४. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २६७

साहित्यिक उन्नति भी इस युग मे काफी हुई। फारसी के अनेक कवियो ने दरबारो की शोभा बढाई—और हिन्दी का तो यह स्वर्ण काल ही है। अमीर खुसरो, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, जायसी, रहीम और रसखान तथा अन्य अनेक कवि इस युग की देन हैं। बगला को साहित्यिक भाषा का पद इसी युग मे मिला तथा मराठी मे भी साहित्य रचना हुई। वस्तुत मुगल राज्य के शान्तिमय वातावरण ने साहित्यसर्जन मे पर्याप्त योग दिया। कलाओ की प्रशसनीय प्रगति हुई। तानसेन जैसा अद्भुत गायक तथा कव्वाली और ख्याल का आविष्कार भी इसी युग मे हुआ। बाबर, हुमायूँ और अकबर चित्रकला के प्रेमी थे। अत इनके दरबार मे अनेक कुशल चित्रकार रहा करते थे। मुगल शैली और पहाडी शैली इसी समय की उपज हैं। परन्तु सर्वाधिक उन्नति हुई वास्तुकला की। वास्तुकला की दृष्टि से यह युग अद्वितीय है। ताजमहल, मोती मस्जिद, जहाँगीरी महल, हुमायूँ का मकबरा, जामामस्जिद आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। उद्यान-कला की भी उन्नत अवस्था थी। लाहौर के शालामार और काश्मीर के निशात तथा शालामार आदि उद्यान मुगलो ने ही बनवाए थे। राष्ट्रपति भवन के रम्य-विस्तृत उद्यानो का नाम 'मुगल गार्डन्स' भी मुगलो की विकसित उद्यान-कला की ओर सकेत करता है।

वैज्ञानिक उन्नति इस युग मे नही हुई, द्वितीय सोपान मे उल्लिखित प्रगति भी अवरुद्ध हो गई। फिर भी बारूद, बन्दूक और तोप का निर्माण तथा प्रयोग एव कागज बनना इसी युग मे शुरू हुआ। शिक्षा की दृष्टि से यह ह्रास का काल है। उच्च शिक्षा का तो कोई प्रबन्ध ही नही था। साधारण शिक्षा भी सबको सुलभ नही थी। मन्दिरो और मस्जिदो मे चलने वाली पाठशालाएँ और मकतब अपर्याप्त थे। शासको तथा अन्य अधिकारियो और धनिको के बच्चे तो घर पर पढ ही लेते थे—किन्तु जनसाधारण प्राय अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित रहते थे।

सर्वाशेन दृष्टिपात करने पर यह सोपान भारतीय सस्कृति के इतिहास का असाधारण युग है। एक ओर तो मुसलमानी शासन के कारण इसे भारत का अवनति काल कहा जाएगा जिसके कुपरिणाम आधुनिक काल तक वर्तमान रहे।[1] दूसरी ओर साहित्य एव कलाओ की अद्भुत उन्नति एव समृद्धि के लिए यह युग चिरस्मरणीय है। अपने समस्त दोषो की अवस्थिति मे भी राजपूत-वीरता इस समय चरम विकास पर थी। इसके अतिरिक्त हर्ष के बाद की अव्यवस्था को समाप्त कर अपेक्षाकृत शान्तिमय वातावरण तथा जाति-प्रथा से

1 A new vernacular, compounded of the languages of the Shah Nama and the Ramayna, a multitude of exquisite monuments of the Muslim faith × × × a few provinces still (before 1947 owing Mohammedan rulers, a large Muslim minority content to dwell among 'infidels' and to obey the behests of the Christians from the distant islands of the West,—such are the chief legacies of Islam to India

—Mediaeval India,
by Stanley Lane-Poole
Edition 1926, pp. 422-423.

जडीभूत भारत के सामने जात-पाँत-विहीन सामाजिक आदर्श प्रस्तुत करने का श्रेय भी इस सोपान को, भारत मे मुसलमानो के पदार्पण और शासन को देना ही पडेगा।

## चतुर्थ सोपान

औरगजेब की मृत्यु पर सिहासन के लिए उसके पुत्रो मे परस्पर युद्ध चले। उधर राजपूत और मराठे प्रवल हो उठे। भारतवर्ष फिर छोटे-छोटे राज्यो मे विखर गया जो अपने-अपने सीमा-विस्तार के लिए निरन्तर सघर्षरत थे। माण्डलिक राजाओ और नवावो के पारस्परिक कलह तथा अग्रेजो की कूटनीति ने उन्हे (अग्रेजो को) व्यापारी से शासक वना दिया। यही चतुर्थ सोपान का आरम्भ है, और भारत की स्वातन्त्र्य-प्राप्ति को इसका अन्त समझना चाहिए। औरगजेब की मृत्यु १७०७ ई० मे हुई थी, और १६४७ मे भारत स्वतन्त्र हुआ। इस प्रकार समय की दृष्टि से यह सोपान सवसे छोटा है—किन्तु इसका महत्व अन्य किसी से भी कम नही है। वस्तुत. इतने अल्प समय मे ऐसे परिमाण और महत्व के आन्दोलन पहले कभी नही हुए।

राजनैतिक दृष्टि से अग्रेज का प्रभुत्व दिन प्रतिदिन वढता चला गया। वित्ते भर के—भारत के एक प्रान्त जितने—इगलैड ने इस महत्प्रदेश को कैसे अधिकृत कर लिया—प्रवचना, प्रतारना और दुर्भाग्य की उस चिरपरिचित कथा का वखान यहाँ सगत होने पर भी, अनावश्यक है। अस्तु। तोप और तीव्र-तीक्ष्ण वुद्धि के साथ गौराग शासक अपना विशिष्ट धर्म—ईसाइयत भी लेकर आया था। यद्यपि ईसाई धर्म के प्रचार मे प्रत्यक्षत शासन का कोई हाथ नहीं रहा, फिर भी प्रचारक विजयी जाति के तो थे ही। अत भारतीयो पर उनका काफी प्रभाव था। वे हिन्दुओ और मुसलमानो के धर्मों का,उनकी कतिपय अतर्क्य जल्पनाओ को लेकर, उपहास करते थे। उधर ये ईसाई मिशनरी यहाँ के लोगो को अग्रेजी भी पढाते थे—और अग्रेजी पढने वाले युवक प्राय ईसाई हो जाया करते थे। कतिपय अवर्ण हिन्दुओ को ईसाई वनाने मे भी ये लोग सफल हो रहे थे। और, ईसाई वनने के वाद ये लोग अपने धर्म की निंदा करते थे।

ऐसे दुर्दिन मे राजा राममोहन राय का जन्म हुआ। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह अनुभव किया कि अग्रेजी पढने मे ही भारतीयो का भला है, इसके लिए उन्होंने कम्पनी (ईस्ट इण्डिया कम्पनी) सरकार पर काफी जोर भी डाला। लेकिन इसके साथ ही ईसाइयत से हिन्दुत्व की रक्षा करने मे भी वे पूर्णत तत्पर थे। ईसाइयो से उनका पर्याप्त वाद-विवाद हुआ। यद्यपि उन्होंने परम्परागत हिन्दू धर्म को ज्यो का त्यो स्वीकार नही किया—मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि का घोर विरोध किया, फिर भी प्रचार निश्चित रूप से उन्होंने हिन्दुत्व का ही किया। उनके अग्रेजी शिक्षा के पोषण और मूर्तिपूजा आदि के खण्डन से कुछ लोग ईसायत की ओर झुकाव का अनुमान भी लगाते है। किन्तु यह उचित नही है। वास्तव मे राममोहन राय वेदान्त के पक्के विश्वासी थे। उनकी "विशेषता यह थी कि एक ओर तो वे वेदान्त के स्थान से हिलने को तैयार नही थे, दूसरी ओर, वे अपने देशवासियो को अग्रेजी

द्वारा पाश्चात्य विद्याओं में निष्णात बनाना चाहते थे।"[१] इसी उद्देश्य से उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। हाँ, यह बात जरूर है कि केशवचन्द्र सेन के समय में आकर उक्त 'समाज' का झुकाव ईसायत की ओर हो गया था।[२] परन्तु फिर भी यह समय हिन्दुत्व के नवोत्थान का था, इस समय तक उसे काफी सबल रक्षक मिल गए थे। उनमें से कुछ ने तो हिन्दुत्व के परम्परागत रूप को अपनाया और उसकी व्याख्या तथा रक्षा की। —और कुछ ने अपनी धारणा के अनुसार परम्परा-प्राप्त हिन्दू धर्म के असत्य और व्यर्थ पक्षों को छोड़ उसके संशोधित रूप का व्याख्यान एवं प्रचार किया। इनमें से पहले वर्ग में बालगंगाधर तिलक, रामकृष्ण परमहंस और उनके प्रसिद्ध शिष्य विवेकानन्द आते हैं। दूसरे के अन्तर्गत स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायी आते हैं।

श्री रामकृष्ण परमहंस परम सन्त थे। वे सबको अपने-अपने धर्म के अनुसरण का उपदेश दिया करते थे, उनके अनुसार सभी धर्म श्रेष्ठ और मूलतः एक ही है।[3] धर्म-परिवर्तन के विरुद्ध यही उनका सबसे बड़ा तर्क था। उनके शिष्य विवेकानन्द ने तो विदेश में हिन्दुत्व की श्रेष्ठता की धूम ही मचा दी थी। इधर लोकमान्य तिलक ने हिन्दुओं की सारी हीन भावना को झाड़ दिया। उन्होंने अपने धर्म और परम्पराओं के प्रति अभिमान का भाव जगाया। वास्तव में भारत के सांस्कृतिक इतिहास में तिलक का अन्यतम स्थान है। अपने समय में वे धर्म, दर्शन, समाज और राजनीति सभी क्षेत्रों के नेता थे। उनके गीता के प्रवृत्तिपरक प्रसिद्ध भाष्य ने धर्म और दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं, राजनैतिक दृष्टि से भी हिन्दुओं को प्रबुद्ध किया, और जैसा कि पंडित नेहरू कहते हैं, उन्होंने गान्धी जी के लिए मार्ग प्रशस्त किया।[४] आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने हिन्दुत्व के परिशोधित रूप—वैदिक धर्म—का प्रचार और प्रसार किया। उनके अनुसार वेद ही प्रामाणिक अर्थात् हिन्दुओं के असली धर्म-ग्रन्थ हैं। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में उन्होंने वेदेतर कतिपय अन्य पठनीय पुस्तकों की सूची भी दी है—किन्तु उसके अन्त में भी स्पष्टतः लिखा है—"इनमें भी जो-जो वेद-विरुद्ध प्रतीत

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४४९-४५०

2 " The Brahmo Samaj found a new and vigorous leader in Keshab Chandra Sen, who led the way in social reform, as well as, in the development of personal religion on lines which showed the influences of the teaching of Chaitanya, but still more of Christianity "

A Short History of India—Moreland and Chatterjee, Third Edition, page 397

३ यह उनकी स्वानुभूति है, वे कुछ दिन मुसलमान और ईसाई बन कर भी रहे थे।

4 If there had not been that moulding of Indian people, of India's imagination and India's youth by Lokmanya, it would not have been easy for the next major step to be taken

Bal Gangadhar Tilak A Study,
D P Karmakar, First Edition,
An Appreciation.

हो उस उस को छोड देना ।"[१] अभिप्राय यह कि स्वामी जी ने हिन्दुत्व के वेद-बाह्य व्यवहारो और विश्वासो का तिरस्कार किया । हिन्दुत्व के सस्कार के साथ-साथ उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत पर प्रहार भी किया । धार्मिक वाद-विवादो के उस युग मे सचमुच स्वामी जी ने हिन्दुत्व का सफल सरक्षण किया । तिलक, विवेकानन्द और दयानन्द के व्याख्यानो से प्राहृत हिन्दू का मस्तक गर्व और गौरव से उन्नत हो उठा । तथा कोरे बुद्धिवादियो ने भी ईसाई बनना और अपने अतीत का अभिशसन करना छोड दिया ।[२] इस युग को 'भारतीय सस्कृति का नवोत्थान युग' के नाम से अभिहित करना समीचीन ही है ।

इसी समय मुस्लिम जागरण भी हुआ । ईसाई मिशनरी हिंदुत्व के साथ-साथ इस्लाम पर भी व्यग्य करते थे । यद्यपि अनेक कारणो से भारत मे अधिक मुसलमान ईसाई नही बने फिर भी इस्लाम को ईसाइयो के आक्षेपो से बचाने के प्रयत्न हुए । इस दिशा मे कार्य करने वाले सबसे पहले व्यक्ति सर सैयद अहमद हैं । उन्होंने इस्लाम का सशोधित रूप प्रस्तुत किया, ऐसा रूप जिसमे अलौकिक बातें छोड दी गई । इसी उद्देश्य से उन्होंने कुरान की बुद्धिवादी टीका लिखी तथा आधुनिकता को अपनाने के लिए मुसलमानो को अग्रेज़ी पढने का भी परामर्श दिया । सैयद मेहदी अली, चिराग अली, प्रोफेसर सलाहअलदीन खुदाबख्श आदि ने सैयद अहमद खा के कार्य मे पर्याप्त सहयोग दिया । पर इस्लाम का अभिमान पक्ष मौलाना हाली, मौलाना शिबली नौमानी और डा० अमीर अली मे प्रकट हुआ । हाली ने अपने मुसद्दस मे इस्लाम के विगत गौरव का व्याख्यान कर मुसलमानो को वर्तमान अधोगति से ऊपर उठने की प्रेरणा दी । शिबली ने बाहर से कुछ न लेकर इस्लाम के गरिमा-मण्डित अतीत के पुनरुद्धार को ही अपनी उन्नति का मार्ग बताया । और डा० अमीर अली ने तो १८९१ ई० मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि स्पिरिट आफ़ इस्लाम' मे स्पष्ट शब्दो मे यह घोषणा की कि मध्यकाल मे—अपनी उन्नति के युग में—इस्लाम ने साहित्यिक दृष्टि से ही नही विज्ञान के क्षेत्र मे भी आधुनिक युरोप जितनी प्रगति की थी ।[3] ऐसी प्रवृत्ति का कुपरिणाम यह भी हो सकता है कि लोग आधुनिक सिद्धान्तो एव आविष्कारो से अनभिज्ञ बने

---

१. सत्यार्थप्रकाश, सस्करण संवत् १९८४, पृष्ठ ४३

२ इसी बात को लक्ष्य कर श्री अरविन्द ने लिखा था—

> It is now a very small and always dwindling number of our present day intellectuals who still remain obstinately Westernised in their outlook, and even these have given up the attitude of blatant and uncompromising depreciation of the past which was at one time a common poise
>
> —The Renaissance in India,
> Second impression, page 44

3 From the time of its birth in the seventh century up to the end of the seventeenth, not to descend later, Islam was animated by a scientific and literary spirit equal in force and energy to that which animates Europe of our own day

—The Spirit of Islam by Ameer Ali Syed,
Edition 1946, page 401.

रहें। किन्तु इसके विना स्वाभिमान की अनुभूति ही असम्भव है। हिन्दू नवोत्थान मे भी स्वामी दयानन्द के ऐसे वक्तव्य[१] सहायक हुए थे। तात्पर्य कहने का यह कि उपर्युक्त महानुभावो के अथक प्रयास से मुस्लिम नवोत्थान हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनो ने ईसाइयो के व्यग्य का मुँहतोड जवाब दिया। हिन्दुत्व और इस्लाम के सशोधन एव गौरव-आख्यान के परिणामस्वरूप ईसाइयत का प्रसार और प्रभाव मन्द पड गया, मिशनरी हतोत्साह हो गए।

नवोत्थान के प्रारम्भ मे ही देश के सजग नेताओ (राममोहन राय और सर सैयद अहमद) ने भारतवासियो के लिए अग्रेजी शिक्षा को आवश्यक बताया था। पर्याप्त विचिकित्सा के पश्चात् मैकाले के प्रभाव से सरकार ने भी अग्रेजी शिक्षा के प्रचार का निश्चय किया। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन और विचारो के सम्पर्क से यहाँ उग्र राष्ट्रीय चेतना जागृत हुई। अग्रेजी की शिक्षा के पीछे विदेशी शासक का उद्देश्य चाहे ईसाइयत का प्रचार रहा हो, और चाहे क्लर्कों की सेना खडा करना रहा हो—लेकिन यह बात निश्चित है कि "अग्रेजी पढने के कारण ही भारतीयो मे राष्ट्रीयता की उमग उठी जिससे वे अपने अधिकारो की माँग करने लगे।"[२] राष्ट्रीयता के विषय मे डा० राधाकुमुद मुकर्जी का विचार है कि हमारी सस्कृति मे आरम्भ से ही उसका सूत्र अनुस्यूत रहा है।[3] इसके विपरीत डा० राधाकृष्णन् का निश्चित मत है—"राष्ट्रवाद की प्रबल भावना पाश्चात्य प्रभाव का ही सीधा परिणाम है।"[४] वास्तव मे ये दोनो विद्वान् अपने-अपने ढग से ठीक हैं। भारत मे सास्कृतिक और राजनैतिक ऐक्य-स्थापन की भावना तो सदैव रही है पर देश के विस्तार और यात्रा के साधनो के अभाव ने उसे पनपने नही दिया। आधुनिक युग मे जब वे साधन सुलभ हुए तो राष्ट्रीयता का प्रोद्भास हुआ। किन्तु अग्रेजो की विश्रुत राष्ट्रीयता ने भारतीयो के समक्ष एक उज्ज्वल आदर्श अवश्य प्रस्तुत किया—इसमे भी सन्देह नही।

लेकिन भारतीयो की राष्ट्रीयता विदेशी शासको को अनुकूल नही पडती थी और इसका निश्चित परिणाम एक न एक दिन उनके साम्राज्य का उन्मूलन था। अत अग्रेज कूटनीतिज्ञो ने यही के किसी वर्ग-विशेष को अपने साथ मिलाने का विचार किया। बहुसख्यक होने के कारण स्पष्टत हिन्दू उनके प्रतिद्वन्द्वी थे। उस प्रतिद्वन्द्विता अथवा प्रतियोगिता का अवरोध

---

१ दे० सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास

२. सस्कृति के चार अध्याय, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४१८

३. दे० उनकी पुस्तक 'हिन्दू सस्कृति मे राष्ट्रवाद'

४. स्वतत्रता और सस्कृति (Freedom and culture का अनुवाद), अनु० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ४०

करने के लिए या फिर उसे निष्फल बनाने के लिए उन्होंने मुसलमानों को उकसाया ।[१] फिर कुछ दिन बाद मुसलमानो के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र बनाए गए । डा० ब्रेल्सफोर्ड के अनुसार धर्म-सापेक्ष पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र ही का परिणाम पाकिस्तान है ।[२] यही से हिन्दुओ और मुसलमानो के अशोभन और अस्वस्थ पार्थक्य का उदय होता है । यद्यपि, जैसा कि श्री एम० एन० दलाल कहते हैं, मुसलमानो की पार्थक्य-चेतना सदैव जागृत रही है,[3] फिर भी आलोच्य काल मे बीसवी शताब्दी से पूर्व उसने ऐसा भयावह रूप कभी धारण नही किया था । 'ज़िक्रे मीर' (कविवर मीर की आत्मकथा) से पता चलता है कि स्वार्थों और विश्वास-घातों से कलुषित अठारहवी शताब्दी मे हिन्दू और मुसलमान परस्पर लडते अवश्य थे—किन्तु धार्मिक असहिष्णुता से मुक्त थे ।[४] टी० डी० ब्रॉपटन के साक्ष्य पर श्री ए० यूसुफ अली ने लिखा है कि उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे भी हिन्दू और मुसलमानो मे एक दूसरे के प्रति आदर भाव था ।[५]—और १८५७ मे तो उन्होंने मिलकर क्रान्ति की ही थी। यहाँ तक निश्चय ही कोई हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न नही था । किन्तु इसके बाद जो नवोत्थान हुआ उसने दोनो का विलगाव स्पष्ट कर दिया—बीच की खाई को और गहरा बना दिया । क्योकि इस समय के आन्दोलन 'हिन्दू नवोत्थान' और 'मुस्लिम नवोत्थान' थे जिनके कारण दोनो का वैभिन्न्य मुखर हो उठा । इस समय के नेता भी कबीर, दादू और नानक जैसे परम्परा-मुक्त संत न होकर सम्प्रदाय-विशेष मे दृढ आस्था रखने वाले महानुभाव थे । परन्तु थे वे सब उदारचेता अतएव मत-वैपरीत्य की अवस्थिति मे भी उनमे पारस्परिक कटुता का अभाव था ।

सन् १८८५ मे इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई । किन्तु हिन्दुओ से सशक सर सैयद अहमद के उपदेशानुसार अधिकाश मुसलमानो ने उसमे सहयोग नही दिया । वरन् वे तो कांग्रेस के प्रचार को अपने लिए हानिप्रद समझने लगे ।[६] ऐसे समय मे ही अंग्रेज ने उसे सहलाया । कांग्रेस को हिन्दुओ की संस्था मान लिया गया—और तब १९०६ ई० मे उसके

1. The numerical majority of the Hindus made that community the obvious rival of, till then, the unchallenged British domination in India. To counter-act this challenge to the absolute supremacy, British statesmen in India began to cultivate the strongest single minority. viz, the Muslims
—Wither Minorities ? by M N Dalal (1940), page 65

2 Pakistan is the logical consequence of the communal electorates
—Subject India by Dr H N Brailsford (1946), Preface to the Indian Edition

3 दे० Whither Minorities ? (1940), page 66

४. दे० ज़िक्रे मीर, सम्पादक मौलवी अब्दुलहक़, भूमिका

5 दे० A Cultural History of India during the British period, Edition 1940, page 57

6 दे० A Cultural History of India by A. Yusuf Ali (1940), Page 247.

प्रतियोगी के रूप मे मुस्लिम लीग स्थापित हुई। दिन प्रतिदिन हिन्दुओ और मुसलमानो का अन्तर बढता चला गया। जव मुसलमानो के लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र की व्यवस्था हो गई तव तो मुस्लिम लीग और भी मजबूत हो गई—वहुत से मुसलमान कांग्रेस को छोडकर मुस्लिम लीग के सदस्य वनने लगे। कुछ ऐसी हवा चली कि 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ता हमारा' का तराना अलापने वाला भारत माता का पुजारी भी मुस्लिम राष्ट्रीयता का समर्थक वन वैठा। इकवाल मे यह परिवर्तन यूरोप जाने के वाद हुआ था। शायद इसीलिए डा० एम०डी० तासीर इसे दृष्टि-विस्तार मान वैठे हैं।[1]—किमाश्चर्यमत परम! दृष्टिकोण का यह परिवर्तन अनुदिन भीषण होता चला गया। और एक राष्ट्र (भारतवर्ष) मे ही ये दो जातिया (Nations) एक म्यान मे दो तलवारो के समान रहने लगी। गान्धी ने इस असभव कल्पना का निराकरण करना चाहा—किन्तु जिन्ना नही माने। गान्धी भारत मे दो जातियो की परिकल्पना मे विश्वास नही कर सके और जिन्ना एक मानने को तैयार नही हुए—दोनो मे यही मौलिक भेद था जो अन्त तक वना रहा।[2] अन्तत भारत स्वतन्त्र तो हुआ पर विभाजित होकर। देशभक्तो के वलिदान सफल हुए—किन्तु एक वहुत वडे वलिदान के साथ।

अव सस्कृति के अन्य पक्षो पर भी विचार कर लिया जाए। इस युग मे अनेक सामाजिक सुधार हुए। वाल-विवाह, सती-प्रथा, शिशु और कन्या-हनन आदि कुरीतियो का काफी विरोध हुआ और उन्हे अवैध घोषित कर दिया गया। विधवा-विवाह का भी अनुमोदन हुआ। पर्दे और अस्पृश्यता के विरुद्ध आदोलन हुए। स्त्री के गौरव मे वृद्धि हुई—उसे उच्चतम शिक्षा की अधिकारिणी मान लिया गया। साहित्य के क्षेत्र मे अपरिमित प्रगति हुई, पाश्चात्य देशो के साहित्य के परिचय से नई स्फूर्ति मिली। विविध साहित्य-रूपो का विकास हुआ, और गद्य—उसके क्षेत्र मे भी आधुनिक समालोचना का तो वास्तविक विकास ही इस काल मे हुआ। प्राय सभी प्रान्तीय भाषाओ मे उच्च कोटि की रचनाएँ हुई।

इस सोपान के आरम्भ मे ललित कलाओ मे कुछ प्रगति नही हुई। मुग़लो के पतन के पश्चात् उनके कदरदान ही नही रह गए थे। किन्तु व्यापक नवोत्थान के कारण १९वीं शताब्दी के समाप्त होते-होते कलाओ की ओर भी भारतीयो का ध्यान जाने लगा। कलकत्ता, वम्बई, शान्तिनिकेतन आदि स्थानो पर कला-विद्यालय खुले। प्रिंसिपल हेवल के प्रयत्नो से भारतीय चित्रकला का उद्धार हुआ। श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नई चित्रण शैली का विकास किया जो विदेशी तत्वो को अन्तर्भूत करने पर भी पूर्णत भारतीय है। अवनीन्द्र के

---

1 "In the first fervour of imagination he adopted the creed of nationalism In Europe his outlook widened and he realized the harmfulness of narrow nationalism But internationalism as a mere abstract idea is not much use Its seed should be grown in a fertile ground "Islamic Society", he writes, "is the only Society which has so far proved itself a most successful opponent of the race-idea" This is the secret of his "communalism"
—Aspects of Iqbal (1938), Introduction, page XVII

2 दे० Gandhi-Jinnah Talks (July-October, 1944) Published by the Hindustan Times, New Delhi.

ही सम्पर्क से नन्दलाल वसु, सुरेन्द्र गागुली, असितकुमार हालदार आदि प्रसिद्ध चित्रकारो की कला का विकास हुआ। उधर डा० आनन्दकुमार स्वामी ने अपने व्याख्यानो एव पुस्तको द्वारा भारतीय चित्रकला की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। अवनीन्द्रनाथ ने मूर्तिकला को भी पुनरुज्जीवित किया। इस क्षेत्र मे उनके प्रधान शिष्य देवीप्रसाद राय चौधरी भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। भातखण्डे और विष्णु दिगम्बर ने सगीत का पुनरुद्धार किया। भातखण्डे ने सगीत कला के विकास के लिए बडौदा मे एक सस्था की स्थापना की। विष्णु दिगम्बर ने गाधर्व महाविद्यालय की स्थापना कर सगीत के प्रति जनता का ध्यान आकृष्ट किया। बगाल मे रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा सगीत की नई प्रणाली का प्रवर्त्तन हुआ। नवजागरण के इस युग मे नृत्यकला का भी विकास हुआ। शान्तिनिकेतन तथा केरल कला-मन्दिर आदि सस्थाओ ने इस दिशा मे प्रशंसनीय कार्य किया।

शिक्षा के क्षेत्र मे अद्‌भुत प्रगति हुई। प्राय प्रत्येक विषय की उच्चतम शिक्षा के निमित्त महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। अभिनव विषयो का ही नही प्राचीन भाषा और साहित्य, धर्म और दर्शन आदि का भी नूतन पद्धति से अध्ययन और अनुसन्धान हुआ। विज्ञान का तो अभूतपूर्व विकास हुआ। रेल, मोटर, हवाई जहाज, तार, टेलीफोन और विजली का प्रचार हुआ। चिकित्साशास्त्र, अभियान्त्रिकी (इजीनियरिंग), रसायन-शास्त्र, भौतिकशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र आदि के अध्ययन-अध्यापन और अनुसन्धान का प्रबन्ध किया गया। सर जगदीशचन्द्र बोस, सर प्रफुल्लचन्द्र रे, प्रोफ़ेसर सी० वी० रमन, श्री श्रीनिवास रामानुजन्, श्री चन्द्रशेखर वेंकटरमण आदि ने अपने मौलिक अनुसन्धानो और आविष्कारो से वैज्ञानिक क्षेत्र मे पर्याप्त ख्याति प्राप्त की।

भारतीय सस्कृति के इतिहास मे इस सोपान का अन्यतम स्थान है। यह जागरण और सर्वतोमुखी प्रगति का काल है। यद्यपि इस युग मे भारतवर्ष पराधीन रहा, और अग्रेज शासक ने अपनी भाषा तथा साहित्य, सभ्यता एव सस्कृति के प्रसारण का प्रयत्न किया, बडी निर्दयता से यहाँ की सम्पत्ति का निर्याण किया और अन्तत देश को विभाजित किया, फिर भी वह भारत की बहुमुखी उन्नति के श्रेय का अधिकारी है। वैसे तो यह युग ही भौतिक उन्नति का है, और, जैसा कि डा० सत्यकेतु कहते हैं, यदि अग्रेज भारतवर्ष मे न भी आते तो भी वैज्ञानिक प्रगति, विज्ञान की अनेक शक्तियो का उपयोग निश्चित ही था।[1] लेकिन इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि तब वह समय कुछ विलम्ब से आता। बस, भारतीय सस्कृति मे अग्रेजो का यही सबसे बडा योगदान है, और यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है—

ग्रहणकाल भी दे जाता है मन्त्र-सिद्धि का योग अभंग

—गुप्त जी

स्वतन्त्रता के पश्चात्

१९४७ मे भारत स्वतन्त्र हुआ। स्वातन्त्र्य के साथ-साथ विभाजन का अभिशाप भी आया फिर भी विदेश का अवाछनीय आधिपत्य—चिर अभिशसित पारतन्त्र्य नि शेष हुआ।

१. दे० भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ५६५

आज भारत और पाकिस्तान दोनो सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य हैं। वे दोनो वृहत् भारत के ही अग थे। किन्तु भारतीय सस्कृति की दृष्टि से पाकिस्तान अव अवान्तर विपय हो गया है—क्योकि उसकी तो स्थापना ही भारतीयता के निषेध पर हुई है। लेकिन दूसरे खण्ड—भारत मे भारतीय सस्कृति पूर्णत सुरक्षित है। नए सविधान मे उसे धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया है और आज भी यहाँ लगभग चार करोड मुसलमान विद्यमान हैं। अन्यान्य सम्प्रदाय भी भली भाति प्रचलित हैं। निश्चय ही ये सव पारम्परिक आदान-प्रदान के विना फूल फल नही सकते। शायद अव चिर अभिलषित सामासिक सस्कृति का विकास अधिक सरलता से हो सकेगा। भारत की विदेश-नीति भी सव के प्रति स्नेह और सद्भावपूर्ण है। विश्व के किसी भी राजनैतिक दल मे शामिल न होकर वह सभी के मगल की कामना करता है, कदाचित् यही विश्वशाति का अमोघ उपाय है।

भारतीय सविधान मे धर्म, सम्प्रदाय और वर्णगत भेदो को अस्वीकार कर दिया गया है, तथा अस्पृश्यता को अवैध माना गया है। अन्तर्जातीय विवाह भी अनुमोदित हैं। स्त्री और पुरुष के अधिकार समान हैं। स्त्रियो को उच्चतम पदो की अर्हता प्राप्त है, और उनके लिए उच्च शिक्षा का भी प्रवन्ध है। वालक-वालिकाओ के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य है और वयस्क शिक्षा के भी आन्दोलन चल रहे हैं। भारत सरकार की सहायता से सभी शिक्षाकेन्द्र समृद्धतर होते जा रहे हैं तथा नए शिक्षणालय खुलते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त देश मे प्रत्येक विषय की उच्चतम शिक्षा और अनुसधान की सुविधा प्रदान करने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। साहित्यिक क्षेत्र मे भी वेग से प्रगति हो रही है। प्रत्येक प्रातीय भापा मे श्रेष्ठ साहित्य का प्रकाशन हो रहा है और हिन्दी का तो मानो स्वर्ण युग ही प्रारम्भ हुआ है। राजभापा वन जाने से उसका विकास-विवर्द्धन अवश्यम्भावी है। रस के ही नही उसमे ज्ञान के साहित्य का निर्माण भी पुष्कल परिमाण मे हो रहा है। आशा कर सकते हैं कि निकट भविष्य मे वह उच्च शिक्षा का उपयुक्त माध्यम बन सकेगी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् ललित कलाओ का तो कायाकल्प ही हो गया है। भारतीय नृत्य, नाट्य, सगीत और चित्रकला के अध्ययन, अनुसधान एव पुनरुद्धार के लिए अकादमियो एव कला-केन्द्रो की स्थापना हो रही है। उन्ही के प्रभाव से पाश्चात्य कला के भद्दे अनुकरण के अभ्यासी सिनेमा क्षेत्र मे भी कभी-कभी भरत नाट्यम्, कथ्थाकली और शास्त्रीय सगीत आदि देखने-सुनने मे आ जाया करते हैं। वास्तु-कला की शिक्षा का भी अधिकाधिक प्रसार और प्रवध हो रहा है। साहित्य और कलाओ के साथ-साथ वैज्ञानिक उन्नति की ओर भी काफी ध्यान दिया जा रहा है। वैज्ञानिक अनुसधानो की व्यवस्था और प्रगति के लिए पडित नेहरू की अध्यक्षता मे एक पृथक् विभाग स्थापित कर दिया गया है। उक्त विभाग ने प्रयोगशालाओ और अनुसधान-शालाओ के निर्माण की एक वृहत् योजना वनाई है। उनमे से कुछ का तो कार्यारम्भ हो चुका है—और कुछ निकट भविष्य मे तैयार हो जाएगी। अणुशक्ति की खोज के लिए भारत सरकार ने एक विशेप आयोग का आयोजन किया है।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि भारत प्रगति के पथ पर अग्रसर है। भारतीय सस्कृति पतनोन्मुख मध्य युग के अभिशापो से मुक्त हो फिर विश्व

की उन्नततम सस्कृति बनने जा रही है। समाज की अभिशसनीय, मिथ्या, और घातक मर्यादाओ के तिरस्कार तथा शिक्षा, साहित्य, कला और विज्ञान सभी के प्रसार का स्तुत्य प्रयास किया जा रहा है। यद्यपि आज भी अन्तर्जातीय विवाह भारत मे प्रचलित नही हैं, अवैध घोषित हो जाने पर भी जात-पांत का भेद-भाव एव अस्पृश्यता नि शेष नही हुई, निरक्षरता भी विद्यमान है—और साहित्य, कला एव विज्ञान के क्षेत्र मे हम विदेशो की तुलना मे पीछे हैं, फिर भी प्रगति से इन्कार नही किया जा सकता। अभी स्वतन्त्र हुए दिन ही कितने हुए हैं ? दस-बीस वर्षों मे सस्कृति मे कोई सुलक्षित परिवर्तन नही हुआ करता। हाँ, उसके लक्षण अभी से दीखने लगे हैं।

## भारतीय सस्कृति का स्वालक्षण्य

भारतीय सस्कृति के उद्भव और विकास पर विहगम दृष्टिपात करने के पश्चात् उसके अकल्पनीय पुरातनत्व मे कोई सदेह नही रह जाता। वस्तुत विश्व की ज्ञात सस्कृतियो मे वह प्राचीनतम है—यूनान, रोम, असीरिया, ईरान, वेबीलोन आदि सभी की प्राक्कालीन सस्कृतियो का उद्भव और पराभव उसके सामने हुआ है। वे सब आज नामशेष हैं—किन्तु भारतीय सस्कृति अब भी जीवित-जागृत है, और उसकी जीवनी शक्ति अमन्द है। उसे यदि मृत्युंजय भी कहा जाए तो अत्युक्ति नही होगी। तभी तो वह शक, हूण, तुर्क, मगोल, यूरोपीय आदि सस्कृतियो के प्रहारो को सफलतापूर्वक झेल सकी। प्रत्येक नवागत सस्कृति के आघात से भारतीय सस्कृति की शान्त-कान्त धारा भी कुछ क्षण के लिए क्षुब्ध तो अवश्य हुई पर अविलम्ब ही वह फिर अपनी स्थिर गति से प्रवाहित होने लगी। निस्सदेह भारतीय सस्कृति का इतिहास उसके अविकल प्रवाह और अमरत्व का प्रमाण है। अँग्रेजो के अभिशसित शासनकाल मे कभी-कभी नेताओ के भाषणो अथवा राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओ के अग्र-लेखो मे यूरोपीय सस्कृति के सघन प्रभाव से भारतीय सस्कृति के लोप अथवा ध्वस की आशका भी सुनने-पढने मे आ जाया करती थी। किन्तु इस देश की अविनश्वर सस्कृति के विनाश की शका निर्मूल है। एक बार महात्मा गाधी ने भी अपने पत्र 'हरिजन' मे परतत्र भारत की सास्कृतिक पराजय अथवा अँग्रेजी राज्य मे भारतीय सस्कृति के पराभव का उल्लेख किया था। इस पर भारतीय सस्कृति के प्रकाण्ड पण्डित श्री हिरेन्द्रनाथ दत्त खीझ उठे थे।[1]—और मैं समझता हूँ उनका यह क्षोभ उचित ही था।

---

1 I, , venture to think that when Gandhiji spoke of the Cultural and spiritual ruination of India under British rule, he had, for the time being, lost his usual clarity of vision and was indulging in exaggeration and mystification Were a lesser person concerned than an inspired Mahatma, I would in the words of Christ, have rebuked him—"O ye of little faith" and reminded him that Indian Culture, being Mrtyunjaya, being endowed with immortality, cannot and shall not die—it may suffer temporary obscuration, but ruination ?—never !

—Indian Culture Its Strands and Trends, Edition 1941, page 17-18

महात्मा जी के वक्तव्य में भारतीय संस्कृति की प्रसिद्ध मृत्युंजयता की विस्मृति प्रत्यक्ष थी।

अभी-अभी भारतीय संस्कृति की प्रत्नता और मृत्युंजयता का उल्लेख किया गया है। प्रश्न उठता है कि इस अमर पुरातनत्व का रहस्य क्या है ? वे कौनसे गुण हैं जो भारतीय संस्कृति को अन्यान्य संस्कृतियो की सापेक्षता मे अमृतत्व प्रदान करते हैं ? और स्पष्ट शब्दो मे उसके व्यावर्तक धर्म—अपर संस्कृतियो से उसे पृथक् करने वाले तत्व—कौनसे हैं ? प्रश्न जितना स्वाभाविक है उत्तर उतना सहज नही। परन्तु फिर भी भारतीय संस्कृति की कतिपय सर्वमान्य विलक्षणताओं की ओर निस्संकोच संकेत किया जा सकता है—

१ समंजन-क्षमता

२ सहिष्णुता

३ ग्रहणशीलता

४ संतुलित जीवन-दृष्टि त्याग और भोग का समन्वय

आगे क्रमश इन सब पर संक्षेप मे विचार करेंगे·

समंजसता

भारतीय संस्कृति की सबसे पहली विशेषता है परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता। 'योग्यतमावशेष' जीवशास्त्र का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। यहाँ योग्यता का अभिप्राय परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन-क्षमता है।[1] निश्चित रूप से विश्व मे उन्ही की परम्परा अखण्ड रह सकती है जो समयानुरूप रूप-धारण करने मे समर्थ हैं। शेष सब कालान्तर मे लुप्त हो जाते हैं। "भूतल पर पहले हाथियो से भी कई गुने बडे भीमकाय जानवर रहते थे, वे जीवन-संघर्ष की प्रतियोगिता मे समाप्त हो गए। क्योकि नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर वे अपने को उनके अनुकूल नहीं ढाल सके।"[2] संस्कृतियों के विषय मे भी यही सत्य है। जो संस्कृति परिस्थिति-अपेक्षित रूप-परिवर्तन मे असमर्थ होती है वह संघर्ष का अवसर आने पर अविलम्ब ही विलीन हो जाती है। किन्तु हमारी संस्कृति ऐसी नही है। उसमे गज़ब की स्थितिस्थापकता है—अनुकूलन की अद्भुत क्षमता है। भारतीय संस्कृति का सुदीर्घ जीवन परिवर्तनक्षमता के निदर्शनों से परिपूर्ण है। किन्तु इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि समय-समय पर होने वाले सब विवर्तन संस्कृति के बहिरंग मे ही हुए हैं, अंतरंग तो प्राय अपरिवृत्त है। इसीलिए अंग्रेज़ी वेश-भूषा और मुसलमानी खान-पान ग्रहण कर लेने पर भी हम वैदिक मन्त्रों से हवन करते हैं, विवाह आदि संस्कार गृह्य-सूत्रो के अनुसार सम्पन्न होते हैं, रामायण और महाभारत हमारे आदर्श हैं, बुद्ध और महावीर की अहिंसा अक्षुण्ण है। अंतरंग नैरन्तर्य का और भी पुष्ट प्रमाण देखना हो तो, जैसा कि

---

1 " the non persistence of the non-adapted, of what are called the misfits —and the survival of the well adapted or fit "
Indian Culture by Hirendra Nath Datta, Edition 1941, page 18

२. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, हरिदत्त वेदालङ्कार, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २९२

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने निर्देश किया है, भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात कीजए, आप देखेंगे—कालिदास और भवभूति के स्रोत और प्रेरणा का सधान रामायण, महाभारत तथा उनके पूर्ववर्ती साहित्य मे किया जा सकता है। रवीन्द्रनाथ, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर अथवा महादेवी के गीत और सगीत, वस्तु और पृष्ठभूमि, प्रेरणा और चित्रण-कल्पना भी उसी अक्षय स्रोत से उद्भूत हैं।"[1] भारतीय सस्कृति का यह गुण—वहिरंग के परिवर्तन और अन्तरग के सरक्षण की सामर्थ्य—उसकी मृत्यु जयता का एक महत्वपूर्ण कारण है।

## सहिष्णुता

समंजन-क्षमता से ही सवद्ध है सहिष्णुता। यह भी हमारी सस्कृति की अन्यतम विशेषता है। इसीलिए यहाँ अनेक धर्म-दर्शन, रीति-नीति, आचार-विश्वास, वसन-भोजन आदि एक साथ प्रचलित रह सके हैं। भारतीय सस्कृति की यह उदार तितिक्षा अनुकरणीय है, इससे विश्व की अनेक ज्वलन्त समस्याओं का समाधान हो सकता है। यद्यपि यहाँ भी वौद्धो-ब्राह्मणों, शाक्तो, शैवो और वैष्णवो के कलह से इन्कार नही किया जा सकता, फिर भी यह निश्चित है कि विदेशों के क्रूर काण्डो की तुलना मे ये नगण्य हैं। चार्ल्स पचम (१६वी शताव्दी) के राज्यकाल मे केवल हॉलैण्ड मे पोप की श्रेष्ठता को स्वीकार न करने वाले पचास हज़ार प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयो को अमानुषिक ढग से मौत के घाट उतार दिया गया।—और फ्रास मे इसी वजह से सत्तर हज़ार निरीह स्त्री-पुरुषो और वालकों का वध किया गया। इतिहास साक्षी है भारत मे ऐसे क्रूर अत्याचार कभी नही हुए, जो दो-चार साम्प्रदायिक सघर्ष हुए भी हैं, वे अपवाद ही हैं—"वे भारतीय सस्कृति की मुख्य धारा को सूचित नहीं करते।"[2] वास्तव मे भारतीय सस्कृति की प्रवृत्ति विग्रह, विवाद और वैमनस्य की ओर न होकर सन्धि, सवाद और सौमनस्य की ओर है। इसीलिए यहाँ अनेक धर्मों, सम्प्रदायों और विश्वासो का सह-अस्तित्व सम्भव हो सका है। सह-अस्तित्व ही नहीं वरन् भारतीय प्रतिभा अनेकत्व मे एकत्व का सधान करती है। डा० लक्ष्मीधर शास्त्री के शब्दों में—"भारतवर्ष सभी युगो मे अनेक के सश्लेषण से एक वन कर रहा है।"[3] निस्सदेह इस देश मे विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायो और विचारधाराओं के अनुयायी सश्लिष्ट इकाई वनकर रहे

---

1. The source and inspiration of Kalidasa and Bhavabhuti can be traced to the Ramayana and the Mahabharata, and all that preceded than, no less do the songs and music, the story and background, the inspiration and even the discriptive imagery of a Rabindra Nath, Maithili Sharan Gupta, Dinkar or Mahadevi, . derive from the same inexhaustible source.
   —The Indian Heritage (An Anthology of Sanskrit Literature) Selected and Translated by Dr Raghavan (1956), Foreword
2. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २२.
3. In all ages, India has been 'one' composed of the 'many'.
   Pem-Prakash (1943), page 13

हैं। शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि होते हुए भी यहाँ के निवासी एक हैं, उनकी सस्कृति एक है। सांस्कृतिक स्तर पर उनमे किसी भेदक तत्व का सधान दुष्कर है। कहते हैं कि भारतीय मुसलमान भी अन्य मुस्लिम राष्ट्रो के निवासियो से बहुत भिन्न हैं, कारण है भारतीयता का प्रभाव। इस प्रकार भारतीय सस्कृति सभी को अपने रग में रग लेती है—भिन्नता मे अभिन्नता स्थापित करती है। और इस सबके मूल मे है उसकी अक्षय सहिष्णुता। रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान आदि ही नही भारतीयो की व्यापक सहिष्णुता और अनेकत्व मे एकत्व का सधान करने वाली उदार दृष्टि ने ब्रह्म मे भी अनेक सम्मुख विरोधी गुणो का एकीकरण कर दिया है। हमारे यहाँ उसे निर्गुण, सगुण, तत्, स, सविशेष, निर्विशेष, 'अणु से भी अणुतर तथा महान् ये भी महत्तर'[1] आदि माना गया है। इसी प्रकार अनेक देवताओ की पूजा भी स्वीकार्य है—

> येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता।
> तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥[2]

सभी के माध्यम से अतत एक ही की पूजा मानी गई है। उपर्युद्धृत श्लोक में 'अविधिपूर्वकम्' का अर्थ कुछ लोग 'अनुपयुक्त विधि से' करते हैं—किन्तु हमारी सम्मति में इसका अर्थ 'अप्रत्यक्ष रूप से' है। और कही, किसी भी सस्कृति मे आप को इतनी उदारता नही मिलेगी। सचमुच भारतीय सस्कृति की सहिष्णुता अद्वितीय है, अन्यत्र अलभ्य है।

ग्रहणशीलता

सहिष्णुता का ही स्वाभाविक परिणाम ग्रहणशीलता है। भारतीय सस्कृति को अपार वैभिन्न्य सह्य है। कालान्तर मे वह उन विभिन्न तत्त्वो को निगीर्ण भी कर जाती है, उन्हें पचाकर पुष्टतर हो जाती है। उसकी 'इस ग्रहणशीलता के कारण भारत मे जितना वैविध्य, विशालता और व्यापकता दिखाई पडती है, उतनी शायद ही किसी दूसरे देश में हो।'[3] भारतीय सस्कृति का इतिहास बताता है कि वह विश्व की जितनी भी सस्कृतियो के सम्पर्क मे आई उनकी अनेक विशेषताओ को आत्मसात् कर समृद्धतर और व्यापकतर बनती चली गई।

भारतीय स्थापत्य कला पर ग्रीक का निश्चित प्रभाव है। श्री हिरेन्द्रनाथदत्त के अनुसार कालिदास के काव्य का मूर्त सौंदर्य और बाणभट्ट के गद्य की भव्य गति ग्रीक साहित्य से प्रभावित है।[4] चित्रकला की राजपूत शैली पर मुस्लिम सस्कृति की स्पष्ट छाप है तथा उसके सम्पर्क से अनेक राग-रागिनियो का जन्म हुआ। श्री दिनकर के शब्दो मे—"साहित्य, चित्र और स्थापत्य, प्राय प्रत्येक क्षेत्र मे हिन्दुओ का उत्तराधिकार बहुत-कुछ

---

१. अणोरणीयान्महतो महीयान् । कठोपनिषद् १।२।२०

२. श्रीमद्भगवद्गीता ९।२३

३. भारत का सांस्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालकार, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २९५

4 "... the statuesque beauty of Kalidasa's poetry and the Stately march of Banabhatta's prose owe something to Greek influence"
—Indian Culture (1941), page 40

महाकाव्य-कल्प था। मुस्लिम-प्रभाव ने उसे लिरिक (प्रगीत) की ओर मोडा।"[1] यह निर्विवाद सत्य है कि मुसलमानो ने हमारी कलाओ के उदात्त पौरुष को कोमल नारी-तत्व प्रदान किया। हम समझते है कि यदि वे भारत मे न आते तो देव, बिहारी और घनानद जैसे शृगार-विभोर कवियो का जन्म सदिग्ध ही था। आधुनिक युग मे भी हमने अग्रेजो की वेश-भूषा, साहित्य और शासन-प्रबध आदि से पर्याप्त प्रभाव-ग्रहण किया है। उपर्युक्त वस्तुओ के अतिरिक्त हमारे आज के बहुत से खाद्य पदार्थ और बरतन आदि भी मुसलमानो और अग्रेजो से गृहीत हैं। श्री हिरेन्द्रनाथदत्त ने आचार्य कृपलानी के एक लेख से लम्बे उद्धरण देकर उनका विवरण प्रस्तुत किया है।[2]

किंतु एक-दूसरी का प्रभाव तो सभी सस्कृतियो पर पडा करता है। भारतीय सस्कृति का वैलक्षण्य यह है कि पुष्कल परिमाण मे विदेशी द्रव्यो को अतर्भूत करने के पश्चात् भी वह 'गगा की अवाधित-अनाहत धारा के समान शुद्ध है'—उसका वैशिष्ट्य सुरक्षित है। मिस्र और ईरान आदि की सस्कृतियों के समान वह स्वय विलीन नही हुई वरन् अपने सम्पर्क मे आने वाली अन्यान्य सस्कृतियो को ही पचा गई। ऐसी अथाह ग्रहणशीलता ही तो अमरत्व की विधायक हो सकती है। प्रस्तुत सस्कृति की यह पाचन-शक्ति मध्यकाल मे मद अवश्य पड गई थी—किंतु सर्वथा कुठित नही हुई थी। अपने सम्पर्क से विश्व की अन्यान्य सस्कृतियो के विध्वसक इस्लाम से भी त्राण पा जाना इसका प्रमाण है।

## भोग और त्याग का समन्वय

भारतीय सस्कृति मूलत आदर्शवादी सस्कृति है—और जैसा कि बाबू गुलाबराय ने लिखा है, उसमें आध्यात्मिक मूल्यो को अधिक महत्व दिया गया है।[3] निस्सदेह हमारे यहाँ भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक मूल्यो को श्रेष्ठतर और श्रेयस्कर माना गया है। लेकिन यह भी सत्य है कि भारतीय सस्कृति के अनुसार भौतिक जीवन हेय अथवा अभिशसनीय नही हैं। इसीलिए उसमे त्याग के साथ भोग भी स्वीकृत है। वस्तुत त्याग और भोग का सामजस्य ही काम्य है। इस विषय मे प्रोफ़ेसर नगेन्द्र कहते हैं—"भारतीयो का आदर्श त्याग और तप अवश्य रहा है परन्तु जीवन के आनद का उपभोग करना वे लोग सभी जानते थे।"[4] लेकिन डा० सम्पूर्णानद इस अभिमत से सहमत नही हैं। उनका विश्वास है—"भारतीय सस्कृति मे त्याग और तपस्या का बड़ा स्थान है। यदि मनुष्य अर्थमूलक प्राणी हो तो उसको त्याग का उपदेश नही दिया जा सकता, परतु आध्यात्मिक प्राणी के लिए त्याग सर्वथा उपयुक्त है।"[5] ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्णानदजी इस देश की सस्कृति को भोग का—भौतिक सुखो का परित्याग कर त्याग, तपस्या, वैराग्य और सन्यास की पुरस्कर्त्री समझते हैं। किंतु यह बात नही है, वह इहलोक से पराङ्मुख हो एकातत.

---

१ सस्कृति के चार अध्याय, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३४३
2 दे० Indian Culture (1941), Second Lecture.
३. दे० भारतीय सस्कृति की रूपरेखा, सस्करण सन् १९५६, पृष्ठ ६
४. साकेत एक अध्ययन, पञ्चम सस्करण, पृष्ठ १२१
५. प्रसारिका (पत्रिका), जुलाई-दिसम्बर, १९५५, पृष्ठ ४

आमुष्मिक जीवन की विधात्री नही है। श्री एस० वी० दाडेकर ने लिखा है कि मनुष्य मे दो सहज प्रवृत्तियाँ हैं—त्याग और भोग, जीवन का साफल्य इन दोनो के समन्वय मे है।[१] हमारी सस्कृति का आरम्भ से यही प्रयास रहा है। भारतरत्न डा० भगवानदास ने लिखा है—"भारतवर्ष पारलौकिकता ही नही ऐहिकता के प्रति भी काफी निष्ठावान् था।"[२]—कदाचित् और कही त्याग और भोग का ऐसा स्पृहणीय सामजस्य मिलना दुष्कर है जैसा कि भारतीय सस्कृति मे उपलब्ध है। हमारे यहाँ एक ओर जहाँ कल्याण के निमित्त सर्वैषणामुक्त सन्यास की आवश्यकता बताई गई है,[3] वहाँ 'ज्येष्ठाश्रमो गृही' कहकर गार्हस्थ्य का महिमा-गान भी हुआ है।[४] वस्तुत ये दोनो ही बातें अपने-अपने स्थान पर उचित हैं।

भारतीयो के अनुसार जीवन का लक्ष्य है अभ्युदय और निःश्रेयस्। पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्मार्थकाममोक्ष—को भी जीवन का साध्य कहा जाता है। इनमे से धर्म, अर्थ और काम अभ्युदय के अतर्गत आ जाते हैं, मोक्ष नि श्रेयस् का ही पर्यायवाची है। मनुष्य को चाहिए कि पहले तो धर्मानुसार अर्थ और काम का सेवन कर[५] अभ्युदय को प्राप्त हो और फिर नि श्रेयस् अथवा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हो। इस प्रकार यहाँ भोग और त्याग, स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति मे सामजस्य स्थापित किया गया है।—और फिर, जीवन मे उसके सुष्ठु सम्पादन के लिए आश्रमो की व्यवस्था की गई है। पहले दो—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमो का साध्य अभ्युदय अथवा धर्म, अर्थ और काम की उपलब्धि है तथा शेष दो—वानप्रस्थ और सन्यास का उद्देश्य नि श्रेयस् अथवा मोक्ष लाभ है। तात्पर्य कहने का यह कि मानव जीवन का पूर्वार्द्ध भोग अथवा प्रवृत्ति के तथा उत्तरार्द्ध त्याग अथवा निवृत्ति के अनुसरण के लिए है। भोग और त्याग का यह समन्वय भी भारतीय सस्कृति की अपूर्व विशेपता है जो जीवन के सर्वांगीण विकास मे समर्थ है। भारतवासियो को भोग और त्याग मे से किसी की भी असतुलित वृद्धि रुचिकर नही है। इसीलिए न तो यहाँ वाममार्ग का प्रसार हो सका—और न ही बौद्ध धर्म स्थायित्व पा सका।

कतिपय ये ही मुख्य विशेपताएँ हैं जो भारतीय सस्कृति को अद्भुत व्यापकत्व और

---

१ दे० कल्याण (पत्रिका), हिंदू सस्कृति अंक, पृष्ठ ३६५

2 India was religious not only in an other-worldly but also very much in this worldly sense

—The Cultural Heritage of India, Vol IV (1956), Introduction, page 15

३ दे० बृहदारण्यक० ३।५।१

४ दे० मनुस्मृति ३।७८

5 " pleasure and profit (Kama and Artha) are motive forces their pursuit should not be divorced from righteousness and should be controlled by Dharma

—Indian Culture—Hirendra Nath Datta (1941), page 38

स्थायित्व प्रदान करती है। उपर्युक्त विलक्षणताएँ ही उसे अन्यान्य सस्कृतियो से पृथक् करती हैं और वे ही उसका स्वालक्षण्य हैं।

## भारतीय सस्कृति का भविष्य

हम देख चुके हैं कि अनेक अमोघ प्रहारो के आघातो के पश्चात् भी यह चिर-विजयिनी सस्कृति अपने अपूर्व वैलक्षण्य के कारण पूर्ववत् गतिशील है। इसका अमर भविष्य भी असदिग्ध है। और अब तो भारत स्वतत्र हो गया है अत इसकी भावी प्रोज्ज्वलता की सहज कल्पना की जा सकती है।—कदाचित् अपने सहिष्णुता (अभावात्मक शब्दावली मे अहिंसा) और प्रेम (घृणा का अभाव—सामजस्य, ग्रहणशीलता आदि) के सदेश से यह अशात और उत्पीडित मानवता को भी, विज्ञान-दग्ध विश्व को भी शाति की राह दिखा सके।—'पचशील' इसी देश और सस्कृति की परिकल्पना है। इस विषय मे भारत की 'सामासिक सस्कृति की साकार प्रतिमा राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी'[1] की सम्मति उद्धृत कर यह प्रसग समाप्त करते है—"यदि कोई (रहस्यमय) भविष्य मे झाँकने का साहस करे तो कह सकता है कि इस अत्यत उत्कृष्ट और सामासिक सस्कृति का भाग्य अभी अमद है।—और शायद यह अतीत के समान ही भविष्य मे भी अपने विनम्र प्रयत्नो से जातियो और देशो को, जो पर्वतो और समुद्रो के द्वारा ही नही—उत्कट भावनाओ और पूर्वग्रहों के कारण भी एक-दूसरे से भिन्न और पृथक् हैं, सहिष्णुता (अहिंसा) एव क्रियात्मक प्रेम के अटूट किंतु मसृण-कोमल ततुओ से आवद्ध करने का उपाय और व्यावहारिक अनुभव प्रदान कर सके। इस कार्य को यह सस्कृति भली भाँति सम्पन्न कर सकती है। क्योकि इसके आदर्श और धारणाएँ अपनी प्रक्रिया मे सार्वभौमिक हैं—देश, काल अथवा अन्य किसी सीमा-निर्धारक तत्व से परिसीमित नही।"[2]

## एक निवेदन

अन्ततः यह निवेदन करना भी हम अपना कर्तव्य समझते हैं कि सस्कृति (सामान्य) और भारतीय संस्कृति तथा उसके इतिहास का उपर्युक्त विवेचन और विवरण सर्वथा निर्विवाद और निर्विरोध नहीं है। सच तो यह है कि विस्मयकारी विरोधो, असमाधेय विसवादो और आधारभूत सामग्री की दुःशोध अपर्याप्तता के कारण उनका असदिग्ध प्रतिपादन असभव ही है। इस कुज्झटिकाच्छन्न लोक मे हमने अधिकारी विद्वानो और प्रामाणिक ग्रथो के आलोक मे अपना मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया है। पर इस अनन्त कार्य के पर्याप्त श्रमसिद्ध होने पर भी लेखक मौलिकता का दावा नही करता। निश्चय ही इसमे हमारा कोई मौलिक अनुसन्धान अथवा नवीन स्थापना नही है। वास्तव मे यह हमारा प्रकृत विषय भी नही है—सस्कृति का सैद्धान्तिक व्याख्यान और भारतीय सस्कृति का स्वरूप-निरूपण अथवा ऐतिहासिक आख्यान

---

१. दे० दिनकर लिखित सस्कृति के चार अध्याय का 'समर्पण'

2 The Indian Heritage (An Anthology of Sanskrit Literature), Selected and Translated by Dr V Raghvan, Foreward, page vii.

हमारा विवेच्य नही है। वह सब तो मैथिलीशरण जी के काव्य के सास्कृतिक आधार के परिदर्शनार्थ, उसमे अनुस्यूत सस्कृति-सूत्रो के सम्यक् अध्ययन के निमित्त पृष्ठभूमि के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। यही पर यह भी उल्लेख्य है कि विवादास्पद तिथियो एव तथ्यो के विषय मे हमने प्राय बहुमान्य मत का अनुसरण किया है। उदाहरणत पुराणो, गृह्यसूत्रो, धर्म सूत्रो (मनुस्मृति भी इन्ही के अन्तर्गत है) और उपनिषदो को हमने प्रथम सोपान मे रखा है—क्योकि अधिकाश पण्डित यही मानते हैं कि इनका मूलरूप उसी युग की रचना है। इसी तरह बहुस्वीकृत मत के आधार पर ही हम आर्यों को बहिरागत मानकर चले हैं, यद्यपि कतिपय मनीषियो ने बडे सबल शब्दो मे इसका खण्डन किया है।

# गुप्त जी द्वारा गृहीत संस्कृति

मैथिलीशरण जी भारतीय सस्कृति के सबल व्याख्याताओ एव प्रबल पोषको मे से है। किन्तु वे अधुनातन अथवा पूर्वोल्लिखित चतुर्थ सोपान की सास्कृतिक चेतना का प्रतिनिधित्व नही करते। मूलत वे उस भारतीय सस्कृति के प्रवक्ता हैं जिसे हम हिन्दू सस्कृति कहेगे या यो कहिए कि जिसका मूलाधार हिन्दुत्व है।

प्रागैतिहासिक काल मे जब आर्य और आर्य-भिन्न जातियो का सगम हुआ था तब हिन्दुत्व की नीव रखी गई थी। तब से निरन्तर वृद्धि पाता हुआ वह ईसा की चौथी शताब्दी तक पूर्णत विकसित हो गया था, उसके आधारभूत निबन्ध-ग्रन्थो—रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति और शास्त्र का निर्माण हो चुका था। यही पर यह उल्लेख्य है कि यद्यपि वेदो मे भी हिन्दुओ की महती आस्था है, फिर भी उनके आकर ग्रथ—उनकी सहज श्रद्धा के अधिकारी तो उपर्युक्त ग्रन्थ ही है। किन्तु उन ग्रथो ने भी वेदो को प्रमाण माना है, अत इस दृष्टि से उन्हे भी पूर्वोक्त सूची मे रखा जा सकता है। वेद-पुराण, रामायण-महाभारत, स्मृति-शास्त्र आदि पर आवृत सस्कृति ही हिन्दू सस्कृति है। गुप्तो के राज्यकाल मे वह चरम विकास पर थी। इसके पश्चात् उसमे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं हुआ। श्रीरामधारीसिंह दिनकर के शब्दो मे "गुप्त-काल तक (चौथी सदी) आते-आते, हिन्दुत्व का पूरा विकास हो गया और उसके वे सारे अग पुष्ट हो गए, जिन्हे हम आज देखते है। × × × × × हिन्दुत्व के जो भी मुख्य अग हैं, उसके जो भी प्रधान लक्षण और विशेषताएँ हैं, वे गुप्त-काल तक बढकर तैयार हो गईं। इसके बाद हिन्दुत्व के निर्माण मे कोई नई ईंट नही लगी × × × × कही से भी उसने कोई बडा उपकरण नही लिया है।"[1] वस्तुत वह युग हिंदू सस्कृति का स्वर्णयुग था। कालिदास के काव्य मे उसकी समृद्धि प्रोद्भासित है।

---

१ सस्कृति के चार अध्याय, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १६४

पर इस विषय मे यह भी स्मरणीय है कि उस समय हिन्दुत्व का ही एकात प्रसार नही था। जैन और बौद्ध मत दबे रहने पर भी नि शेष नही हुए थे। परतु फिर भी यह निश्चित है कि "जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल निस्सदिग्ध रूप मे प्रामाणिक मानी जाती हैं, उनका सपादन, अन्तिम रूप मे, इस काल मे हुआ था, जो काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिकाएँ गुप्तकाल मे रची गईं, वे आज भी भारतवर्ष का चित्त मुग्ध कर रही है। जो शास्त्र उन दिनो प्रतिष्ठित हुए वे सैकडो वर्ष बाद आज भी भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं।"[1] तात्पर्य कहने का यह कि बौद्ध और जैन मतो की अवस्थिति मे भी गुप्तो का राज्यकाल निश्चित रूप से हिन्दू धर्म और हिन्दू सस्कृति की समृद्धि का काल था। किंतु गुप्त-साम्राज्य के बिखरते ही—छठी शताब्दी से ही—हिंदुओ के दो दल बनने लगे। एक तो श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण का अनुयायी था अर्थात् वर्णाश्रम, तीर्थ-व्रत, मूर्ति और अवतार आदि मे आस्था रखता था—और दूसरा योगियो एव वैरागियो का समुदाय था जो उनका विश्वासी नही था। आगे चलकर इनमे से पहले वर्ग के समर्थक एव व्याख्याता सूर, तुलसी, और फिर तिलक एव मालवीय जी हुए तथा दूसरे वर्ग मे कबीर, नानक, दादू आते हैं। हमारा कवि प्रथम समुदाय का—हिंदुत्व के वेद-पुराण, रामायण-महाभारत, स्मृति-शास्त्र द्वारा अनुमोदित रूप का—पोषक है। इस प्रकार वह भारतीय सस्कृति के द्वितीय सोपान—उसमे भी गुप्त-काल मे प्रतिष्ठित हिंदुत्व अथवा हिंदू सस्कृति का आख्याता है।

लेकिन गुप्त जी हिंदू सस्कृति के आख्याता मात्र नही हैं। एकेडेमिक किस्म का निरपेक्ष व्याख्यान मात्र वे नही करते वरन् उन्हे उस पर अपार गर्व और गौरव है। राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र मे जिस प्रकार हिंदुत्व का अभिमान पक्ष तिलक के व्यक्तित्व मे साकार हुआ था उसी तरह साहित्य के क्षेत्र मे वह मैथिलीशरण मे उद्भासित हुआ। इसीलिए वे भारतीय सस्कृति के द्वितीय सोपान की ओर आकृष्ट हुए। क्योकि भारतीय सस्कृति के उक्त सोपान मे—विशेषत गुप्त-काल मे—हिन्दू सस्कृति उन्नति के शिखर पर थी। स्वभावत उसके अभिमानी का मन घूम-फिर कर उसी रम्य-आकर्षक स्थल मे रमण करेगा। पर हमारे कवि का उस ओर आकृष्ट होने का इससे भी सबल कारण है उसके सस्कार। गुप्त जी का जन्म आधुनिक काल मे अवश्य हुआ—किंतु उनके सस्कार परम्परानिष्ठ हिन्दू के ही सस्कार हैं। यद्यपि वे हिंदुत्व के सशोधन के युग मे पैदा हुए पर उनका पालन-पोषण ऐसे वातावरण मे हुआ जहाँ हिंदुत्व राममोहन राय और दयानन्द सरस्वती के समान खण्ड-रूप मे नही, अपितु अपनी समग्रता मे गृहीत था। और स्पष्ट शब्दो मे गुप्त जी का व्यक्तित्व निर्माण गुप्त-युग मे प्रतिष्ठित हिंदुत्व के वातावरण मे हुआ है। फिर, यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि वातावरण-विशेष मे लालित-पालित व्यक्ति सास्कृतिक इतिहास के उस काल को ही आदर्श माना करते हैं जिसमे कि वह विशेष वातावरण चरमोन्नति पर होता है। आलोच्य कवि के विषय मे भी यही सत्य है।

मैथिलीशरण जी के पिता सेठ रामचरण परम वैष्णव थे, वे राम के अनन्य भक्त

---

१. मध्यकालीन धर्मसाधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ८-९

थे। उनका "अधिकाश समय भजन-पूजन और पाठ मे ही व्यतीत होता था। गाँव के पडित उनके यहाँ नित्य आया करते थे और भगवत्चर्या का दीर्घ क्रम चलता रहता। जनकपुर, चित्रकूट और अयोध्या के साधु-महात्माओ का आगमन क्रम भी बना रहता।"[1] गुप्त जी की माता भी श्रद्धालु भक्त महिला थी। वे रामायण और राम स्तवराज पढा करती थी। घर के ऐसे निष्ठापूर्ण और धार्मिक वातावरण मे इस कवि का जन्म और विकास हुआ। तब उस पर इसका प्रभाव क्यो न पडता ? यह एक स्वीकृत सत्य है कि "शिशु माता-पिता की रुचि-अरुचि, जाति और समाजगत चेतना तथा धार्मिक आचरणो को सहज ही ग्रहण कर लेता है।"[2] बडा होकर जब वह स्वतत्र विचारक बनता है तब भी आरम्भिक विचारधारा बनी रहती है वरन् वह सम्पूर्ण चिंतना का मूलाधार होती है। वस्तुत कुलक्रमागत विश्वास और मान्यताएँ पर्याप्त प्रभावक्षम होती हैं, उनका प्रभाव अमिट होता है। इस प्रकार देखा जाए तो किसी व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतीत होने वाली अधिकाश धारणाएँ परम्परागत ही होती हैं। मैथिलीशरण जी को भी अतीत का आदर, राम की भक्ति और परम्पराओ मे निष्ठा रिक्थ मे ही मिली हैं। एक उनको ही नही उनके सभी भाइयो को यह पैतृक सम्पत्ति सहज प्राप्त है। गुप्त जी के अनुज श्री सियारामशरण गुप्त की पुस्तको पर विषयारभ से पूर्व 'श्रीराम', 'श्रीहरि', 'श्रीगणेशाय नम' आदि मुद्रित रहता है। 'साहित्य-सदन' (चिरगाँव) से प्रेषित प्रत्येक पत्र के शीर्ष पर भी 'श्रीराम' अकित रहता है। अनास्था और अश्रद्धा से आक्रात बीसवी शताब्दी के इस उत्तरार्द्ध मे भी गुप्त-परिवार का प्रत्येक सदस्य कोई पत्र अथवा लेख आदि लिखने से पूर्व कागज को 'श्रीराम' शब्द से सुशोभित कर लेता है। इसके अतिरिक्त फलित ज्योतिष मे उन सबकी आस्था है। वे लोग बदनवार सजाने, कदली खभ रोपने, मगलकलश-स्थापन एव दक्षिण-वाम अगो के स्फुरण के शुभाशुभ मे विश्वास करते हैं। यह तो आज की बात हुई। अब से साठ-पैंसठ वर्ष पूर्व इस रामभक्त परिवार की निष्ठा कितनी गहन और सघन रही होगी इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। और जब बालक मैथिलीशरण ने यह देखा होगा कि कतिपय विशेष विश्वास और सिद्धात केवल उसी पर नही थोपे जा रहे हैं अपितु अन्य कुटुम्बी भी, कुटुम्बी ही नही

---

१. धर्मयुग (पत्रिका), ७ अप्रैल, १९५७, ऋषि जैमिनी कौशिक का लेख—
"जब मैथिलीशरण गुप्त बीस वर्ष के थे · "

2 The every-day utterances, the likes and dislikes of his (child's) parents, their social and caste feelings, their religion persuations are absorbed by him

—Inquiries into Human Faculty by F Galton, Second Edition, page 149.

अन्यान्य लोग भी उनमे सराबोर हैं तब तो वह और भी तन्मयता से उनमे निमग्न हो गया होगा।[1]

घर के साथ ही स्कूल से भी बच्चे का प्रगाढ सम्बध होता है। गुप्त जी को चिरगाँव के प्राइमरी स्कूल मे शिक्षा मिली। उन दिनो आज के 'मॉडल' और 'माडर्न' स्कूलो की तरह प्राथमिक कक्षाओ मे अग्रेजी का रिवाज नही था—गाँवो मे तो अब भी नही है। मैथिलीशरण जी को साधारण गणित और अक्षर-ज्ञान ही गाँव की पाठशाला से प्राप्त हो सका। अग्रेजी पढने के लिए उन्हे झाँसी के मैकडॉनल स्कूल मे भेजा गया—किंतु वे अग्रेजी नही पढ सके। तब उन्हे चिरगाँव वापस बुला लिया गया और घर पर ही शिक्षा का प्रबध हुआ। यह 'प्रबध' कोई व्यवस्थित प्रबध नही था। यदा-कदा कोई पण्डित जी महीने दो महीने के लिए नियुक्त हो जाया करते थे। यह सब कहने का तात्पर्य यह कि गुप्त जी का किसी पाठशाला अथवा अध्यापक-विशेष से कभी कोई उल्लेखनीय सम्बध नही रहा। वास्तव मे उनकी प्रारम्भिक शिक्षा, जिसका असाधारण महत्त्व सर्वस्वीकृत है, सेठ रामचरण जी (कवि के पिता) द्वारा सगृहीत धार्मिक—विशेषत रामचरित सम्बधी—पुस्तको के स्वाध्याय के रूप मे ही हुई। इस प्रकार गुप्त जी ने आस्तिकता और निष्ठा के घरेलू वातावरण मे राम साहित्य का अध्ययन किया। उन दिनो तक सुधारको के अथक परिश्रम, सशक्त आदोलनो एव धुआँधार व्याख्यानो के बावजूद कोटि-कोटि जनता परम्पराओ की ही विश्वासी थी। आलोच्य कवि ने शैशव मे देखा था कि उसके विश्वास ही सामान्य विश्वास थे, बहु-प्रचलित और सर्वमान्य थे। इस सामान्य स्वीकृति अथवा व्यापकत्व ने उसकी पनपती हुई श्रद्धासमन्वित सौंदर्य भावना और नैतिक चेतना को और भी दृढ़ बना दिया।[2] परिणामस्वरूप मैथिलीशरण जी का व्यक्तित्व राममय बन गया तथा हिंदुत्व अपने समग्र रूप मे उनकी रग-रग मे बस गया।

हमने अभी देखा कि माता-पिता के विचारो, आरम्भिक शिक्षा और चारो ओर के सामाजिक वातावरण ने गुप्त जी को परिनिष्ठित श्रद्धालु बना दिया। मानव-मस्तिष्क के मेधावी अनुसधाता फ्रासिस गाल्टन का निष्कर्ष—"हमारी मूल धारणाओ का स्वरूप अधिकाशत हमारे जीवन के वातावरण पर निर्भर है"[3]—एक सीमा तक उचित ही है।

---

1 He (child) will learn to view a command as intrinsically right in proportion as he discovers that it is not the enactment of a particular governor (the parent) for a particular subject (himself), but that it is imposed on and in general submitted to by, others
—The Human Mind by Dr James Sully, Vol II, Edition 1892, page 165

2 General custom is a mighty force in moulding alike our belief in what is true, and our ideas of what is beautiful, and morally right
—The Human Mind by Dr James Sully, Vol II, Edition 1892, page 165

3 The character of our abstract ideas . . depends, to a considerable degree, on our nurture
—Inquiries into Human Faculty, 2nd edition, page 132.

अभिप्राय यह कि व्यक्ति के अधिकाश विचार और विश्वास, मतव्य और मान्यताएँ अनुभव-निर्मित होती हैं। सचमुच मनुष्य को बनाने मे परिस्थितियो का बहुत बडा हाथ है। शायद इसीलिए उसे 'परिस्थिति का दास' भी कह दिया जाता है। किंतु यह मतव्य सर्वांशेन सत्य नही है। मानवीय धारणाएँ केवल परिस्थितिजन्य—बाह्यारोपित ही नही हुआ करती। इसीलिए तो एक ही वातावरण मे लालित-पालित दो वयस्को की प्रतिभाओ मे भी कभी एकात अभेद नही मिलता। कारण है अत प्रवृत्ति या पूर्वजन्म के सस्कारो का वैभिन्न्य। वास्तव मे परिस्थितिगत बाह्यारोपण का स्थायी प्रभाव भी तभी पडता है जब वह अतरचेतना अथवा जन्मातर-लब्ध सस्कारो के अनुकूल हो। गुप्त जी मे जो धार्मिक आस्था, आस्तिक श्रद्धा और परम्परा के प्रनि पूज्य भावना है उसके मूल मे जहाँ उनकी आरम्भिक शिक्षा, माता-पिता और वातावरण का निश्चित प्रभाव है वहाँ उनके अपने सस्कारी हृदय की सहज अत प्रेरणा का प्रोद्भास भी असदिग्ध है। अन्यथा उनके सभी कुटुम्बी उन्ही परिस्थितियो एव वातावरण मे रहने पर भी 'मैथिलीशरण' क्यो नही है? मैथिलीशरण जी तथा श्री सियारामशरण गुप्त के साम्य की ओर ऊपर सकेत किया गया है। परन्तु फिर भी दोनो मे वैपम्य का अत्यताभाव नही है। साकेत और उन्मुक्त, यशोधरा और आर्द्रा तथा किसान और अनाथ के प्रथम छदो पर दृष्टिपात करते ही दोनो का अतर स्पष्ट हो जाता है।

यह तो हुई श्रद्धा, निष्ठा, धार्मिक भावना आदि की बात जिनका प्रवृत्ति और परिस्थिति से सहज सम्बध प्राय सर्वमान्य है। किंतु वह प्रभाव भावक्षेत्र ही नही विचारक्षेत्र तक व्याप्त है। राजा-प्रजा, हिंसा-अहिंसा, युद्ध-दण्ड, सामाजिक व्यवस्था आदि के विषय मे किसी मनुष्य की धारणाएँ भी जहाँ स्वचिंतन का परिणाम होती हैं वहाँ अपने चारो ओर की पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक आदि परिस्थितियो एव सरुचि अधीत साहित्य से भी प्रभावित होती हैं। गुप्त जी भी इसके अपवाद नही हैं। वे सयुक्त परिवार मे विश्वास रखते हैं, वर्णाश्रम मे भी उनकी आस्था है। प्रजातत्र की अपेक्षा राजतत्र के प्रति उनके मन मे विशेप उत्साह है। अहिंसा को आदर्श मानकर भी वे अनिवार्य हिंसा का निषेध नही करते। दण्ड का सर्वथा वहिष्कार और युद्ध से एकदम इन्कार भी वे नही करते। इस विचारधारा का निर्माण और पोपण मूलत' उनकी अपनी अत प्रकृति तथा पूर्वोक्त तत्कालीन (अर्थात् ५० वर्प पूर्व की) लोक-व्यवस्था के परिणामस्वरूप हुआ है। पठित साहित्य का भी उस पर निश्चित प्रभाव है।

रामचरितमानस और रघुवश मैथिलीशरण जी को बहुत प्रिय रहे हैं। इन दोनो के अधिकाश भाव-रमणीय एव विचार-गम्भीर स्थल उन्हे स्मरण हैं। अत उनका भक्त तुलसी के स्वर मे स्वर मिलाकर—"नमामि राम रघुवशनाथम्"[1] कहता है तो राजा-प्रजा-सम्बन्ध का प्रसग चलते ही वे अपने विशिष्ट स्वर मे—"प्रजाना 'विनयाधानाद्रक्षणाद्-भरणादपि। स पिता पितरस्तासा केवल जन्महेतव ॥"[2]—का गान करते हुए झूम उठते

---

१ रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, आरम्भिक श्लोक ३

२ रघुवश १।२४

है। समाज-संघटना मे भी कालिदास और तुलसीदास हमारे कवि के आदर्श है। उनके समान ही वह भी पारिवारिक जीवन का कवि है—परिवार-छिन्न ऐकान्तिकता का नही। गुप्त जी के अन्यान्य विपयो से सम्वद्ध विचारो पर भी उपर्युक्त दोनो कवियो का पर्याप्त प्रभाव है। प्रचुर परिमाण मे उनके काव्य का हृदयस्थ होना ही इसका यथेष्ट प्रमाण है। किशोरावस्था में प्रस्तुत कवि को आल्हा पढने का भी वहुत शौक रहा है। उसकी राष्ट्रीयतापूर्ण रचनाओ मे विद्रोह और प्रतिशोध का जो स्वर कभी-कभी श्रवणगत हो जाया करता है वह उस अल्हैती के ही कारण है। किन्तु उनकी विचारधारा, जीवन-दर्शन और आदर्श मूलत कालिदास और तुलसीदास से ही प्रभावित हैं। "फिर भी", जैसा कि पडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है, "गुप्त जी ठीक वही नही हैं जो कालिदास या तुलसीदास थे।"[१] गुप्त सम्राटो द्वारा अनुमोदित ब्राह्मण-धर्म-विहित लोक-व्यवस्था पर वे मुग्ध अवश्य हैं—किन्तु कालिदास के समान पूर्णत सतुष्ट नही हैं। राजा, आश्रम, सम्मिलित परिवार आदि सस्थाओ मे उन्हे कालिदास जैसा ही विश्वास है, पर उसकी कट्टरता उनमे नही है। इसी प्रकार तुलसी की कोटि के होकर भी वे उनके समान वैराग्य का नही कर्म का सदेश देते हैं, और तुलसी जहाँ नारी के प्रति कठोर हैं—उसे पशु और गवार की श्रेणी मे ला विठाते हैं, वहा मैथिलीशरण ठीक इसके विपरीत "नर ही अपराधी होता है निरपराध है नारी"[२]—का प्रतिपादन करते हैं। उधर तुलसी और अपने पिता सेठ श्री रामचरण जी से राम की अनन्य भक्ति ग्रहण करने पर भी वे उनके समान असहिष्णु नही हैं। कृष्णचरित-विपयक रचना—द्वापर—की रस-दीप्ति उसमे कवि की तन्मयता का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। गुरुकुल, कावा और कर्वला काव्य भी उसकी उदारता के सूचक हैं। वास्तव मे मैथिलीशरण जी महात्मा गाधी से वहुत प्रभावित हैं—उनके काव्य मे कतिपय स्थलो पर स्पष्टत गाधी के प्रवचन का अनुवचन मिलता है। परन्तु वह प्रभाव-ग्रहण वौद्धिक स्तर पर ही हुआ है—भावना का अग्श नही वन पाया। घूम-फिरकर गुप्त जी राम-भजन पर ही आ जाते हैं। वुद्धि इधर-उधर की वात जरूर सोचती है—किन्तु हृदय तो राममय ही है। हाँ, कट्टरपथी वे निश्चय ही नही हैं।

कट्टरता के अभाव के कारण ही हमारा कवि प्राचीन और नवीन के समन्वय मे सफल हो सका है। उसकी धारणाएँ तो सुदृढ हैं—किंतु वह विरोध के लिए विरोध करने वाला हठधर्मी नही है। उसके आधारभूत सिद्धात स्थिर हैं पर विशेप अवसर पर सशोधन का भी अवकाश है। गुप्त जी की रूढिवादिता और प्रगतिशीलता का यही स्वरूप है।—और यह वुद्धिमानी का लक्षण है।[3] इस विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ही न तो उन्हें अतिरिक्त

---

१. गुप्त जी की कला, डा० सत्येन्द्र, तृतीय संस्करण, भूमिका, पृष्ठ ४

२ जयभारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २१५

3 The wise man combines firmness in ruling principles with a certain modifiability of particular decisions
—The Human mind by Dr. James Sully,
Edition 1892, Vol. II, page 263

सभ्य मनुष्य के समान केवल परिवर्तन के लिए परिवर्तन से प्रेम है—और न अर्द्धसभ्य की भांति वे परिवर्तन के नाम मात्र मे ही भयभीत हैं। आप देखेंगे कि वे दोनों के अतिरेक से असहमत है। लकीर की फकीरी पर भी व्यग्य करते हैं और उसके विपरीत केवल परिवर्तन को भी वे उन्नति मानने को प्रस्तुत नही हैं। अन्ततोगत्वा प्राचीनता और नवीनता का कल्याणकारी समन्वय ही उनको प्रिय है। और यह समन्वय गुप्त जी के साहित्य मे ही नहीं उनके जीवन मे भी देखा जा सकता है। उनके व्यक्तित्व और दैनिक व्यापार मे यह दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है। जिसने कभी नॉर्थ ऐवेन्यु, नई दिल्ली के आधुनिक ढग के फ्लैट मे धोती, अगरखा और काष्ठपादुका पहनकर काउच पर बैठे हुए उनको बत्ती जलने पर बल्व को लक्ष्य करके हाथ जोडते हुए देखा है, जिसने तिलक और कठी धारण किए हुए उनको टेलीफोन का रिसीवर पकडे देखा है, जिसने कैपस्टन की सिगरेट पीने के पश्चात् उनको कान पर जनेऊ टाँग कर बाथरूम को जाते देखा है—और जिसने मेज़ पर बैठकर चीनी के प्लेट-प्यालो मे चाय पीते समय दाएँ हाथ से केतली छूने पर उनके श्रीमुख से 'अघोरी' की पदवी पाई हो, वह मेरे उपर्युक्त कथन का समर्थन करेगा। नवीनता और प्राचीनता के समन्वय की साक्षात् मूर्ति मैथिलीशरण के सिद्धात और व्यवहार का यह साम्य उनकी समीकृत वृत्तियो का परिचायक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्त जी के काव्य का पृष्ठाधार भारतीय सस्कृति है—और यद्यपि उनकी दृष्टि काफी उदार रही है फिर भी उसके विभिन्न सोपानो मे प्रतिष्ठित स्वरूप को वे एक-सी तन्मयता से आत्मसात् नही कर पाए। वैसे सहानुभूति तो उन्हे सभी सस्थानो से रही है—किंतु वह केवल बौद्धिक ही है। वे सभी उनके हृदय को स्पर्श नही कर पाते। फिर भी भारतीय सस्कृति की प्राय सभी विशेपताएँ उनकी कृतियो के तल मे एक तार अनुस्यूत है। अब देखना यह है कि गुप्त जी के जीवन और साहित्य की उस आधारभूत सस्कृति के आदर्श उनकी रचनाओ मे प्रतिफलित कैसे हुए हैं।

## जीवन-सिद्धान्त

सर्वप्रथम गुप्त जी के आदर्श जीवन-सिद्धात अथवा जीवन-दर्शन को देख लिया जाए—क्योकि किसी व्यक्ति और उसकी रचनाओ का मेरुदण्ड यही होता है। इसके पश्चात् उनके धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि आदर्शों पर विचार करेंगे। अस्तु।

गुप्त-साहित्य के सभी आदर्श पात्र प्राय त्यागी हैं—त्याग उनके चरित्र का अपूर्व गुण है। चद्रहास नाटक मे विपया कहती है—

होता जहां त्याग वहीं सुभुक्ति,
है मुक्ति के सम्मुख तुच्छ भुक्ति।[1]

किंतु मैथिलीशरण द्वारा प्रतिपादित यह त्याग वैराग्यजन्य नही है वरन् अनुराग-पुष्ट है—

---

१ चन्द्रहास, षष्ठ सस्करण, पृष्ठ १२८

त्याग और अनुराग चाहिए बस, यही[1]

चद्रहास से उपर्युद्धृत अवतरण से पूर्व की दो पक्तियो मे भी सच्चे अनुराग को त्याग का पोषक बताया गया है—

सच्चा जहाँ है अनुराग होता—
वहाँ स्वय ही बस त्याग होता।[2]

वास्तव मे हमारे कवि का त्याग ज्ञान का प्रोद्भास न होकर योग का वरदान है। यहाँ 'योग' का प्रयोग पातजल योग के अर्थ मे नही अपितु निष्काम कर्म के लिए किया जा रहा है।[3] स्वदेश-सगीत मे सगृहीत एक कविता मे गुप्त जी जहाँ भारत मे 'योगमय कर्म' के अभाव पर दुख प्रकट करते हैं—

किन्तु योगमय कहाँ कर्म्म है ?[4]

वहाँ उससे उनका अभिप्राय भी निष्काम कर्म ही है। तात्पर्य कहने का यह कि वे निष्काम कर्म को ही जीवन का साध्य मानते है। श्रीमद्भगवद्गीता के सबल व्याख्याता तिलक के अनुसार उसका भी यही प्रतिपाद्य है।—और उक्त सिद्धात की पुष्टि के लिए "कर्मण्येव अधिकारस्ते • " आदि गीता का बहु-उद्धृत श्लोक है। प्रस्तुत कवि के एक आदर्श पात्र मघ की उक्ति मे इसी की प्रतिध्वनि मिलती है—

फल हो किसी के हाथ, मेरे हाथ कर्म्म है।[5]

यहाँ फल की आशा छोडकर कर्मरत रहने का परामर्श दिया जा रहा है। यही निष्काम कर्म है।

किंतु कुछ लोग निष्काम कर्म को कर्म-अभाव अथवा कर्म का निषेध मान बैठते हैं तथा चित्तवृत्ति के निरोध के नाम पर निष्क्रियता का उपदेश देने लगते हैं। यह धारणा नितात अशुद्ध है। इसीलिए अध्यापक पूर्णसिंह ने लिखा था—"निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिये जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है।"[6]—अर्थात् अकर्म पर कर्म का आरोप कर दिया जाता है। वस्तुत निष्काम कर्म सास्य अथवा सन्यास मार्ग के प्रतियोगी कर्म मार्ग का विधायक है। मृत्युपर्यन्त कर्म करते रहना ही कर्म मार्ग अथवा कर्म-योग है। यही मैथिलीशरण जी का मनोनीत मार्ग है। वे निष्क्रिय जीवन की अभिशसा करते हैं।[7] इसके विपरीत आमरण कर्म उन्हे प्रिय है—

---

१. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १०७
२ चन्द्रहास, षष्ठ संस्करण, पृष्ठ १२८
३. विशेष विवेचन के लिए देखिए गीतारहस्य—तृतीय प्रकरण
४ स्वदेश-सगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५८
५. अनघ, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ ५६
६. मजदूरी और प्रेम (निबन्ध)
७. दे० मंगल-घट, प्रथन संस्करण, पृष्ठ २८७

चलना मुझे है बस अन्त तक चलना[1]

—नहुप

पुरुषार्थ को ही वे ऐहिक और आमुष्मिक सुखोपलब्धि का उपाय मानते हैं—

सिद्ध एक पुरुषार्थ हमारी भुक्ति-मुक्ति का मन्त्र[2]

—और प्रारब्ध मे विश्वास करने पर भी वे उद्यम को समधिक महत्व देते हैं—

करके विधि-वाद न खेद करो
निज लक्ष्य निरन्तर भेद करो
बनता बस उद्यम ही विधि है
मिलता जिससे सुख का निधि है।[3]

तथा जीने और जूझने को जीवन का चिह्न मानते है।[4] इसीलिए उनके प्राय सभी चरित्र कर्मण्य हैं—कर्म-प्रधान हैं। उर्मिला दुस्साध्य यम को भी साधने का हौसला रखती है[5] तो राम 'भूतल को ही स्वर्ग' बनाने के लिए अवतरित हुए हैं। महाराज नहुप उन्नयन के लिए कटिबद्ध है—

फिर भी उठूंगा और बढके रहूगा मैं,
नर हू, पुरुष हू मैं, चढ़के रहूगा मैं।[6]

तो वीरवर जगद्देव अकेला ही सबसे लडने को प्रस्तुत है—

हम परतत्र नहीं सर्वथा स्वतन्त्र हैं।
मानूं किस भाति मैं अवन्तीनाथ तुमको ?
वह पद चाहो यदि, जीतो मुझे पहले,
लडने को प्रस्तुत हू सबसे अकेला मैं।[7]

उधर दुर्योधन अन्त तक हार नही मानता तो युधिष्ठिर भी राज्य के न सही, धर्म के अर्थ तो शस्त्र उठाने के लिए तैयार है ही। इस प्रकार यह कवि अकर्म का निषेध करता हुआ कर्म का सदेश देता है। गीताकार ने कर्म और अकर्म मे कर्म को ही श्रेष्ठतर वताया है—

नियत कुरु कर्म त्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मण[8]

पर कर्म की श्रेष्ठता के लिए यह आवश्यक है कि वह निष्काम बुद्धि से किया जाए—

---

१ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३६
२ पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २१
३ मगल-घट, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २८६
४ दे० शक्ति, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ७
५ दे० साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ११७
६ नहुप, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ३६
७ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ४३
८ गीता ३/८

उसकी परिणति त्याग मे हो। अन्यथा कर्म ही दुर्योधन के समान मनुष्य के लिए घातक सिद्ध होगा। गुप्त जी की निम्नलिखित पक्तियो मे इस विषय का सार निहित है—

तन से सब योगों का भोग
मन से महा अलौकिक योग
पहले संग्रह का सयोग,
स्वय त्याग का फिर उद्योग।[1]

## धार्मिक दृष्टि

गुप्त जी उदारहृदय रामभक्त वैष्णव हैं। राम मे उनकी अनन्य भक्ति है। अन्य देवो के प्रति श्रद्धा होने पर भी वे उनके हृदय को उतनी प्रबलता से आकृष्ट नही कर पाते। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ही उनके हृदय को सप्रेरित करते है—

निज मर्यादा-पुरुषोत्तम ही मानव का आदर्श,
नहीं और कोई कर पाता मेरा हृदय-स्पर्श।[2]

'धनुर्बाण वा वेणु' मे असह्य अतर न मानते हुए भी उनका मन निश्चय ही विष्णु के धनुर्धारी रूप मे अधिक तन्मय होता है—

सचित किये रक्खे हुए,
शुक-वृन्द के चक्खे हुए,
कुछ फल कि जो थे दीन शबरी के दिये;
खाकर जिन्होने प्रीति से,
शुभ मुक्ति दी भव-भीति से,
वे राम रक्षक हो धनुर्धारण किये।[3]

तथा राम के ईश्वरत्व मे सदेह होने पर वे निरीश्वर अर्थात् नास्तिक तक बनने को तैयार है[4], फिर भी तुलसी से असहिष्णु वे इस विषय मे नही हैं—

श्री श्रीरामकृष्ण के भक्त
रह सकते हैं कभी अशक्त ?
दुर्बल हो तुम क्यों हे तात !
उठो हिन्दुओ हुआ प्रभात।[5]

इस प्रकार वे राम और कृष्ण दोनो को स्मरण कराकर हिन्दुओ को प्रेरणा-दान करते हैं।

---

१ स्वदेश-संगीत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १५

२ पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ७

३ वक-सहार, संस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ५

४ दे० साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६

५ हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ४५

तुलसी की भक्ति-पद्धति का विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"भक्तो के दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन भारतीय स्वरूप को लेकर चला था; × × × और दूसरा विदेशी परम्परा का अनुयायी (था) × × × प्रथम वर्ग के प्राचीन परम्परावाले भक्त वेद-शास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायो के अनुयायी थे × × ×।"[१] मैथिलीशरण जी भी इस प्रथम वर्ग के अन्तर्गत ही आते हैं। प्रोफेसर नगेन्द्र ने उन्हें रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत का अनुयायी कहा है।[२] पर यह बात सही होने पर भी अधूरी है। वास्तव मे वे रामानन्द द्वारा प्रवर्तित श्री सम्प्रदाय के भक्त हैं। लेखक को एक दिन उन्होंने ऐसा ही बताया था। किन्तु श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक के विषय मे पडितो मे पर्याप्त मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[3] तथा डा० हरवशलाल शर्मा[४] के अनुसार श्री सम्प्रदाय के सस्थापक रामानुज हैं। इसके विपरीत प० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने श्री सम्प्रदाय का प्रवर्तक रामानन्द को तथा रामानुज-प्रवर्तित सम्प्रदाय का नाम श्री वैष्णव सम्प्रदाय लिखा है।[५] उन्होंने उक्त दोनो सम्प्रदायो के मूल मत्र, प्रामाणिक भाष्य एव तिलक-रचना आदि के भेद का भी निर्देश किया है।[६] फिर भी रामानुजाचार्य और रामानन्द के घनिष्ठ सबध (व्यक्तिगत नही, सम्प्रदायगत)—विषयक इतनी शक्तिसम्पन्न जनश्रुतियो को एकदम अशुद्ध नही ठहराया जा सकता। और आचार्य शुक्ल तो रामानन्द को स्वतत्र आचार्य सिद्ध करने के लिए उनके नाम से प्रसिद्ध भाष्यो (ब्रह्मसूत्रो पर आनद भाष्य तथा भगवद्गीता भाष्य) को ही सदिग्ध दृष्टि से देखते हैं तथा ऐसे प्रयत्नो से 'सावधान रहने की आवश्यकता' बताते हैं।[७] वस्तुत इस विषय मे उनका वक्तव्य काफी वजनदार है—"तत्त्वत रामानुजाचार्य के मतावलबी होने पर भी अपनी उपासना पद्धति का इन्होने (रामानद ने) विशेष रूप रखा। इन्होने उपासना के लिए वैकुठ-निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक मे लीला-विस्तार करने वाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूलमत्र हुआ राम नाम।"[८] आगे चलकर आचार्य ने फिर लिखा है—"रामानद जी ने केवल यह किया कि विष्णु के अन्य रूपो मे 'रामरूप' को ही लोक के लिए अधिक कल्याणकारी समझ छाँट लिया और एक सबल सम्प्रदाय का सगठन किया।"[९] अभिप्राय यह कि शुक्ल जी के अनुसार रामानद ने पूर्वप्रचलित सम्प्रदाय मे ही सशोधन और सगठन किया है, नव सम्प्रदाय का

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ १-२
२ दे० साकेत . एक अध्ययन, पंचम सस्करण, पृष्ठ १०४
३ दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवा सस्करण, पृष्ठ ११६
४ दे० सूर और उनका साहित्य, पृष्ठ १३६
५ दे० हिन्दी साहित्य, संस्करण, सन् १९५५, पृष्ठ १०६
६ ,, ,, ,, ,, १०६
७ दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवां सस्करण, पृष्ठ ११९
८. ,, ,, ,, ११८
९. ,, ,, ,, ११८

सस्थापन नहीं। परन्तु फिर भी इस विषय मे कोई अन्तिम निर्णय अभी सम्भव नही है। चाहे जो हो यह निश्चित है कि हमारा कवि रामानद द्वारा स्थापित अथवा सशोधित श्री सम्प्रदाय का अनुयायी है। अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से वह विशिष्टाद्वैतवाद का विश्वासी तथा उपासना-पद्धति मे रामानद का अनुयायी है—विष्णु के लोक-लीलाकारी रामरूप अवतार पर मुग्ध है। उसके रामानदीय श्री सम्प्रदाय के अनुसरण का यही रहस्य है, अन्यथा इस युग मे मध्यकाल की-सी सम्प्रदाय-दीक्षा का प्रचलन नही है।

विशिष्टाद्वैतवाद मे शकर के विपरीत ब्रह्म को उपाधिविशिष्ट माना जाता है। उसके अनुसार जगत् के सभी प्राणी चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के अश हैं। गुप्त जी को तत्त्वत जीव और ब्रह्म के अशाशी भाव का यही सिद्धात मान्य है। जय भारत मे नकुल को समझाते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—

सुनो तात, हम सभी एक हैं भव-सागर के तीर
हो शरीर-यात्रा मे आगे पीछे का व्यवधान,
परमात्मा के अश-रूप हैं आत्मा सभी समान।[1]

इस प्रकार आत्मा को परमात्मा अथवा जीव को ब्रह्म ही न कहकर एक को दूसरे का अश कहलाकर कवि ने अपने विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। वास्तव मे जैसा कि प्रोफेसर नगेन्द्र का कथन है—"वे (गुप्त जी) जीव और ब्रह्म की स्थिति को कुछ अशो मे निश्चय ही पृथक् मानते हैं।"[२] झकार के एक गीत मे आत्मा कहती है—

थे, हो और रहोगे जब तुम
थी, हू और सदैव रहूगी (मैं)[3]

इन पक्तियों में जहाँ जीवात्मा और परमात्मा के सातत्य की ध्वनि है वहाँ दोनो का पार्थक्य भी व्यजित है। जीव और ब्रह्म के पार्थक्य का और भी पुष्ट प्रमाण लीजिए—

हे नारायण, क्या और कहूँ,
तू निज नर मात्र मुझे रखना ;
क्या नहीं एक से दो अच्छे,
लीला-रस जहाँ रहे चखना।[४]

इस 'लीला रस' के लोभ से ही तो भक्तगण सायुज्य की अपेक्षा सामीप्य मोक्ष की कामना किया करते हैं। इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि विशिष्टाद्वैतवाद शाकर मत का विरोधी होने पर भी कर्म-त्याग को उसी की तरह प्रश्रय देता है। डा० हरवशलाल शर्मा ने लिखा है—"अन्ततोगत्वा कर्म-आचरण से चित्त-शुद्धि होने के पश्चात् ज्ञान की प्राप्ति होने पर सन्यास ग्रहण कर ब्रह्म-चिन्तन मे लगा रहना (शकर) या प्रेम-पूर्वक वासुदेव-भक्ति मे तत्पर रहना

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४८

२. साकेत एक अध्ययन, पचम संस्करण, पृष्ठ १०४

३ झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १५५

४ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३५

और ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण करना (रामानुज) दोनो ही बातें कर्म-योग की दृष्टि से एक हैं क्योकि ये दोनो ही मार्ग निवृत्ति-विषयक कहे जा सकते हैं।[1] लोकमान्य तिलक का भी यही मत है।[2] परन्तु मैथिलीशरण गुप्त मूल रूप मे विशिष्टाद्वैतवाद को स्वीकार करने पर भी सन्यास अथवा निवृत्ति मार्ग का मण्डन नही वरन् खण्डन करते हैं। इहलोक के प्रति उदासीनता का वे प्रत्याख्यान करते हैं—

**चेरी की ही बातें मान, हम चेरे हो गए निदान।**
**उदासीनता मे ही लीन, हम औरों के हुए अधीन।[3]**

यहाँ 'चेरी' से अभिप्रेत है मथरा दासी जिसके—'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' आदि—वचन मे व्यजित उदासीनता भाव के सौष्ठव की आचार्य शुक्ल ने मुक्तकठ से प्रशसा की है।[4] किंतु काव्यत्व की दृष्टि से प्रशसित होने पर भी यह 'सौष्ठव' जीवन मे हानिकर होने के कारण उपर्युक्त उद्धरण मे हमारे कवि द्वारा अभिशसित है। वह जीवन के प्रति भारतीयो की इस अनन्त उदासीनता को—लोक-पराङ्मुखता को ही उनके पारतन्त्र्य का कारण मानता है। साकेत मे स्वय राम ससार से विरति की नही ससार के उन्नयन की बात कहते हैं—

**सदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया**
**इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।[5]**

इस प्रकार गुप्त जी तत्वत विशिष्टाद्वैतवाद को स्वीकार करके भी तत्प्रदिष्ट ससार-त्याग अथवा कर्म-न्यास को एकदम अस्वीकार करते हैं।

हम ऊपर कह आए हैं कि इस कवि ने रामानन्द के ही समान 'उपासना के लिए वैकुठ-निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक मे लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया' है। मैथिलीशरण के राम भक्तवत्सल और लीलाधाम हैं तथा दुष्कृतो के विनाश और धर्म के सस्थापन के लिए अवतार लेते हैं—

**हो गया निर्गुण सगुण-साकार है,**
**ले लिया अखिलेश ने अवतार है।**
× × ×
**भक्तवत्सलता इसी का नाम है।**
**और वह लोकेश लीला-धाम है।**
**पथ दिखाने के लिए ससार को,**
**दूर करने के लिए भू-भार को,**
× × ×

---

१ सूर और उनका साहित्य, पृष्ठ १३६-१३७
२ दे० गीतारहस्य, विषय-प्रवेश
३ हिंदू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ २६२
४ दे० गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३ पृष्ठ ६२-६३
५ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६७

पापियों का जान लो अब अन्त है,
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है।[१]

राम के दुष्ट-दलनकारी और भक्तगण-दुख-भजनकारी स्वभाव के कारण ही कवि उनकी विजय-कामना करता है—

आप अवतीर्ण हुए दुख देख जन के,
भ्रातृ-हेतु राज्य छोड वासी बने वन के;
राक्षसों को मार भार मेटा धरा-धाम का,
बढ़े धर्म, दया-दान-युद्ध-वीर राम का।[२]

किन्तु राम केवल शक्ति-सदोह नहीं है उनका शील भी अद्वितीय है। वे दयानिधान हैं—और सभी उनकी दया के अधिकारी हैं। उनके इस शील-सौष्ठव के कारण ही 'किसान' सिद्ध, सुकृती, व्रती अथवा योगी न होने पर भी दयादृष्टि की प्रार्थना करता है—

क्यों हैं हम यों विवश, अकिंचन, दुर्बल रोगी ?
दयाधाम हे राम ! दया क्या इधर न होगी ?[३]

यहाँ प्रश्नचिह्न लगा रहने पर भी राम की अप्रतिवद्ध दयालुता की असदिग्ध ध्वनि है।—और राम का अनुग्रह तो श्रेयस्कर है ही—किन्तु उनके नाम की महिमा भी अपूर्व है। गुप्त जी नहुष से कहलाते हैं—

क्योंकर हो मेरे मन-मानिक की रक्षा ओह !
मार्ग के लुटेरे—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह।
किन्तु मैं बढ़ूंगा राम,—
लेकर तुम्हारा नाम ;
रक्खो बस तात, तुम थोड़ी क्षमा, थोड़ा छोह।[४]

साकेत मे तो स्वय राम कहते हैं—

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे।
वे भी भावसागर विना प्रयास तरेंगे।[५]

परन्तु फिर भी अच्छा तो यह होगा कि केवल नाम-स्मरण की वजाए उनके शील का भी अनुसरण किया जाए—उनके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकरण का प्रयत्न किया जाए। इसीलिए उपर्युक्त पक्तियो के पश्चात् राम का कथन है—

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १२
२ सिद्धराज, मगलाचरण
३. किसान, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ५
४ नहुष, मगलाचरण
५. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६७

पर जो मेरा गुण, कर्म स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे।[1]

वस्तुत शील भक्ति का आलबन है।[2] अत भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचने पर भक्त मे उपास्य के शील का आरोप हो जाता है। अभिप्राय यह कि इष्टदेव का शील अर्थात् गुण, कर्म, स्वभाव आदि धारण किये बिना तीव्र भक्ति भाव का अस्तित्व ही सभव नही है—

राम भगवदवतार हैं तो सीता उनकी शक्ति।—दोनो की समष्टि मे ही सृष्टि का विकास है। राम सीता को सबोधित कर कह रहे हैं—

हमको लेकर ही अखिल सृष्टि की क्रीडा,
आनन्दमयी नित नई प्रसव की पीडा।[3]

सीता को राम की शक्ति मानने के कारण ही गुप्त जी कहा-कही उनका भी माहात्म्य-गान करते हैं—

अद्भुत, अपूर्व, अगर्भजा, प्रत्यक्ष अपनी ही कला—
श्री मैथिली के रूप की ज्योति'शिखा वह निश्चला।
सुरपुर-जयी लकेश रावण शलभ-सा जिसमे जला।
सत्पथ दिखा कर सर्वदा करती रहे सबका भला॥[4]

इतना ही नही वे तो 'इस देही की गति वैदेही'[5] तक की घोषणा करते हैं। परन्तु फिर भी—

राम जहाँ वाम हुए, आशा वहाँ किसकी ?[6]

—आदि वचनो मे राम का सर्वोपरि महत्व अक्षुण्ण है। अस्तु!

यह तो हुआ गुप्त जी के धार्मिक आदर्श का सैद्धातिक पक्ष। क्रियात्मक रूप मे उन्हे हिन्दू धर्म के सभी अगो मे आस्था है। तीर्थ-व्रत, जप-तप, यज्ञ-याग, पूजा-पाठ, वेद आदि सब उनकी सहज श्रद्धा और पूज्य बुद्धि के विषय हैं। वे सब हिन्दू धर्म या फिर भारतीय सस्कृति की अपनी विशेष मान्यताए हैं। हमारे कवि को इन सब मे भरपूर विश्वास है। जय भारत मे उसने लोमस ऋषि को दो वार सब तीर्थ करने वाला लिखा है।[7] युधिष्ठिर तो तीर्थ-स्थानो और तीर्थ-यात्रा का महत्व भी प्रतिपादन करते हैं—

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६७
२ दे० गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ७६-७७
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६५
४. तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ५
५ काबा और कर्बला, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ६
६ अर्जन और विसर्जन, द्वितीयावृत्ति, " ३
७ जय भारत, प्रथम सस्करण, " १५८

पूर्वजों के त्याग-तप की स्मृति वहाँ है,
चारणा है, धारणा है, धृति वहाँ है।
नियम-सयम-साधना-क्षमता-क्षमा है,
और अपनी पुण्यभूमि-परिक्रमा है।[1]

कवि-सम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी अपने 'सतमत और कबीर' शीर्षक लेख मे तीर्थों की इसी उपयोगिता का निर्देश किया है। साकेत मे कवि ने सीता की माता के व्रत करने का उल्लेख किया है—

करतीं व्रत वे नये नये,
कृश होतीं, पर मग्न थीं अये![2]

अपनी माता को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए गुप्त जी ने उनके विविध व्रतो को भी भक्तिपूर्वक स्मरण किया है—

भूले तेरे व्रत विविध अब भी याद प्रसाद[3]

व्रत ही नही वे स्वजननीकृत पूजा और उसके पश्चात् की गई प्रदक्षिणा का भी उल्लेख करते हैं।[4] उर्मिला की माता चारो पुत्रियो को पूजा के लिए भेजती हैं—

सबको सब मा सहेजतीं,
हमको पूजन-हेतु भेजतीं।[5]

—उर्मिला

कौशल्या भी आशीर्वाद-दान के पश्चात् राम को 'पूजा का प्रसाद' पाने के लिए कहती हैं।[6] उधर यशोधरा दीप-दान कर नदी का पूजन करती है—

तुझे नदीश मान दे,
नदी, प्रदीप दान ले।[7]

पूजा के साथ ही मत्रो का उच्चार भी है। वक-सहार का ब्राह्मण—

परितृप्त गृह-सुख-भोग से,
मन्त्र-स्वरों के योग से,
मानो भुवन की भावना था हर रहा।[8]

ब्राह्मण ही नही पक्षी भी (आश्रमो के ही सही) मन्त्र-पाठ करते हैं—

---

१. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १५६
२. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २५६
३. प्रदक्षिणा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३
४. " " " ३
५. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २५८
६. " " " ७३
७. यशोधरा, " २००७, " ११५
८. वक-संहार, " २००२, " ७

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढ़ते हैं
शुक-सारी भी आश्रम के ।[१]

वास्तव मे इन शुभ मन्त्रो के लिए—कल्याणी वेद-वाणी के प्रसार के लिए ही तो राम अवतरित हुए थे । वे कहते हैं—

उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूंजे गिरि-कानन-सिन्धु-पार कल्याणी ।[२]

तप और यज्ञ मे भी गुप्त जी को आस्था है । उनके राम 'तपोधनो के विघ्न' नष्ट करना चाहते हैं[3] तथा कामना करते हैं—

अम्बर मे पावन होम-धूम घहरावे ।[४]

रघुवशीय राजाओ का बखान करती हुई उर्मिला अन्यान्य बातो के साथ यह भी कहती है—

किसने शत यज्ञ हैं किये
× × ×
किसने मख विश्वजित् किया ?[५]

साकेत-नगरी मे तो 'ठौर ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं ।'[६] युधिष्ठिर भी राजसूय यज्ञ करते हैं ।[७]—और 'मख का मूल मेटनेवाले' कस को कवि काल की ओर अग्रसर वताता है ।[८] अत यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि कवि के मन मे यज्ञो के प्रति अपार श्रद्धा है । किन्तु अज्ञानत यज्ञ से सम्बद्ध बलि का मैथिलीशरण एकान्त विरोध करते हैं । महाशक्तिकृत असुर-सहार के वीर-कर्म के अनुकरण पर यज्ञ मे दी जाने वाली बलि को वे क्रूर हिंसा कहते हैं—

इसके आगे ? इसके आगे पापी का संहार—
लीक पीटते हैं हम जिसकी अब जीवों को मार ।
कहाँ दुष्ट-वध और कहाँ यह हत्या, अत्याचार ?
हिंसा और वीरता के हैं भिन्न-भिन्न व्यवहार,

१. पंचवटी, सस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १२
२. साकेत सस्करण सवत् २००५, " १६८
३ " " " १६८
४ " " " १६८
५ " " " २५१
६ " " " १४
७ दे० जयभारत, प्रयम सस्करण, " १२९–१३४
८ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, " ५९

कहाँ स्वर्ग उद्धार, कहाँ यह निपट नरक-विस्तार।
कलुषित करो न पशु-शोणित से माँ के पैर पखार।[1]

साकेत मे लक्ष्मण और मेघनाद के सवाद[2] मे तथा यशोधरा मे गौतम द्वारा[3] वे वलि का प्रत्याख्यान करते हैं। गुप्त जी पशु-वलि को नही स्वार्थ-त्याग-रूप वलिदान को श्रेयस्कर मानते हैं—

क्षुद्र मेष अथवा वे छाग, सिद्ध नहीं कर सकते याग।
करो, करो कुछ आत्म-त्याग; जिस पर है मा का अनुराग।[4]

वस्तुत प्रस्तुत कवि निरीह हत्या का—अनावश्यक सहार का विरोधी है। इस विकृति को छोड़कर हिन्दू धर्म के शेष सभी अग उसको मान्य हैं। खर-दूषण-वध के पश्चात् उन सभी के निर्विघ्न सम्पादन की वात शत्रुघ्न कहते हैं—

होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अव जप-समाधि-तप-पूजा-पाठ,
यश गाती हैं मुनि-कन्याए कर व्रत-पर्वोत्सव के ठाठ।[5]

## धार्मिक उदारता

अभी हमने देखा कि मैथिलीशरण जी को हिन्दू धर्म मे—उसके सभी अगो मे—दृढ आस्था है। राम के वे अनन्य भक्त हैं—रामानन्दी श्री सम्प्रदाय के निष्ठावान् अनुयायी हैं। ऐसे परिनैष्ठिक भक्त मे साम्प्रदायिक संकीर्णता की आशका हो सकती है। किन्तु प्रस्तुत कवि में यह वात नही मिलेगी। वह राम के साथ-साथ कवीर, नानक, दादू और वापू का भी जयकार करता है—

जय कवीर-नानक-दादू का,
वापू का वाणी-विश्राम,
नवनवरूप-पुराणपुरुष उन
लीलाधाम राम का नाम।[6]

इतना ही नही उन्हे इस्लाम का सह-अस्तित्व भी स्वीकार्य है। सिद्धराज से मुसलमानो के प्रति कहलाया है—

कह दो पुकार कर तुम—वह एक है,
और हम पावें उसे चाहे जिस रूप मे

---

१. शक्ति, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १८
२. साकेत, " " २००५, " ३२३
३. यशोधरा, " " २००७, " २०
४ हिन्दू, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १४२
५. साकेत, सस्करण सवत् २००५, " २७९
६ गुरुकुल, मगलाचरण

ईश्वर के नाम पर कलह भला नहीं
देखता है भाव मात्र वह निज भक्त का।[1]

'मातृ-मन्दिर' अर्थात् भारतवर्ष का स्तुति-गान करता हुआ हमारा कवि उसकी अन्यान्य विशेषताओ के साथ-साथ निम्नोल्लिखित विलक्षणता—

जाति, धर्म या सम्प्रदाय का,
नहीं भेद व्यवधान यहाँ।

* * *

राम-रहीम बुद्ध-ईसा का,
सुलभ एक सा ध्यान यहाँ।[2]

—पर भी मुग्ध है। परन्तु फिर भी डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी उसको परधर्म-असहिष्णु जातीय कवि सिद्ध करने के लिए ही कटिवद्ध हैं।[3] इसे पूर्वग्रह के अतिरिक्त और क्या कहा जाए ? हम समझते हैं कि राम के अनन्य भक्त एक सस्कारी हिन्दू का उपर्युक्त उद्घोष ही उसकी सहिष्णुता अथवा असकीर्णता के लिए यथेष्ट प्रमाण है। वास्तव मे दूसरो के प्रति उदार और सहिष्णु रहते हुए भी गुप्त जी मे हिन्दुत्व का अभिमान जागृत हुआ है। इसलिए वे अपेक्षाकृत हिन्दू समाज की अधिक सेवा कर सके हैं। पर उनकी यह हिन्दू समाज-सेवा, जैसा कि प० गिरीश[4] भी मानते हैं, वर्तमान राष्ट्रीयता अथवा विश्व-प्रेम मे बाधक नही है। और अब तो सवत् २०१३ मे प्रकाशित अपनी नवीनतम पुस्तक 'राजा-प्रजा' मे उन्होंने विश्व-वन्धुत्व अथवा विश्वैकमानवता का भी स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

किन्तु हमारा लक्ष्य, एक अम्वर, भू, सागर,
एक नगर-सा वने विश्व, हम उसके नागर।[5]

पर उनकी जातीयता अथवा हिन्दू गौरव भी विश्ववन्धुत्व का विरोधी नही रहा। लेकिन श्री वासुदेव ने 'विचार और निष्कर्ष' पुस्तक के 'चाँद मे कलक' शीर्षक लेख मे गुप्त जी के उपर्युक्त गौरव को—स्वधर्माभिमान को—कलक कहना चाहा है। हमारी सम्मति मे यह उचित नही हुआ। वावू गुलावराय ने भी 'साहित्य-सदेश' मे पूर्वोक्त पुस्तक का पर्यालोचन करते हुए लिखा है—"उनके (गुप्त जी के) हिन्दू गौरव को कलक के नाम से अभिहित करना उनके साथ अन्याय करना है। उनकी परधर्म-सहिष्णुता प्रसिद्ध है।"[6] जो व्यक्ति—

---

१ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १०९

२ मगल-घट, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २६२-२६३

३ दे० गुप्त जी के काव्य की कारुण्यधारा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ८३–९६

४ दे० गुप्त जी की काव्य-धारा, सस्करण सन् १९४६, पृष्ठ २१

५ राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४६

६ साहित्य-सदेश (पत्रिका), अप्रैल १९५७, पृष्ठ ४१६

धर्म हैं सो धर्म हैं, जो पन्थ हैं सो पन्थ हैं,
एक ने सब के लिए भेजे यहाँ निज ग्रंथ हैं।
बस उसी के मन्त्र से चलते हमारे यन्त्र हैं,
स्वमत के सम्बध मे हम सब समान स्वतंत्र हैं।[1]

—जैसे उदार सिद्धान्त का विश्वासी है उसे साम्प्रदायिक, सकीर्ण, असहिष्णु आदि कहना सचमुच अन्याय है। शायद उसकी स्वधर्म-दृढता को ही सकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता मान लिया जाता है। तब तो निश्चय ही हमारे कवि की दृष्टि सकुचित है—क्योंकि स्व-विलयन की अतिरिक्त सहिष्णुता उसमे नही है। पर ही पर दरसाने वाला आलोक उसके पास नही है। यशोधरा गौतम को लक्ष्य कर कहती है—

भले ही मार्ग दिखलाओ लोक को,
गृह-मार्ग न भूलो हाय!
तजो हो प्रियतम उस आलोक को,
जो पर ही पर दरसाय।[2]

यही कवि का सिद्धान्त है। वह दूसरो के मत का विरोधी नही—किन्तु अपने मत मे प्रगाढ़ आस्था रखता है। हठधर्म उसमे नही है—किन्तु दृढता वर्तमान है। जिन लोगो मे ऐसा नही है मुझे तो उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व मे ही सदेह है।

## राजनीतिक आदर्श

मैथिलीशरण जी राजनीति के पडित नही है—निर्वाचन-क्षेत्रो मे दौडधूप करने वाले राजनैतिक नेता भी नही हैं। फिर भी शासन-विधि आदि के विषय मे प्रत्येक व्यक्ति के कुछ अपने विचार अथवा विश्वास होते ही हैं। गुप्त जी के मन मे राजतत्र के प्रति अविचल आस्था है। यो प्रतिपादन तो उनके काव्य मे प्रजातन्त्र, साम्यवाद आदि अन्य राजनीतिक विचार-धाराओ का भी उपलब्ध है, जैसे—

वे ही हम, जो बुद्धि-निधान,
करते थे गणतत्र-विधान।[3]

यहाँ गणतन्त्र के विधान को कवि बौद्धिक प्रौढि का परिचायक मानता है। पृथिवीपुत्र मे उसने राजा और प्रजा को सहभागी और सहभोगी बताकर दोनो के साम्य की घोषणा की है—

राजवंश भी रहे प्रजा के साथ सदा समभक्त।[4]

—और शत्रुघ्न की निम्न उक्ति मे तो साम्यवाद का ही स्पष्ट व्याख्यान है—

---

१. काबा और कर्बला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४१
२. यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १३३
३. हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ २६२
४. पृथिवीपुत्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २७

विगत हों नरपति, रहें नर मात्र।
और जो जिस कार्य के हो पात्र—
वे रहें उस पर समान नियुक्त,
सब जियें ज्यों एक ही कुलभुक्त।[1]

परन्तु यह सब कुछ कहने-सुनने के बावजूद भी हमारे कवि को राजतन्त्र ही विशेष मान्य है। शत्रुघ्न के उपर्युक्त कथन के प्रत्युत्तर-स्वरूप भरत कहते हैं—

अनुज उस राजत्व का हो अंत,
हन्त! जिस पर कैकेयी के दन्त।
किन्तु राजे राम-राज्य नितांत—
विश्व के विद्रोह करके शात।[2]

इस प्रकार कवि कुराज्य का, उस राज्य का जिस पर कैकेयी के दाँत हैं, तो अन्त चाहता है, किन्तु राजत्व का नही। वह राम-राज्य अर्थात् सुराज्य की तो वृद्धि, विकास और स्थायित्व की ही कामना करता है। वास्तव मे राजतन्त्र ही हमारी सस्कृति के अनुकूल है। भारतीय प्रतिभा चिरकाल से इसमे अनुरक्त होती आई है। मानव-मन के सहज मनोवेगो की अवाध गति को नियन्त्रित करने के लिए किसी न किसी प्रकार की शासन-प्रणाली की आवश्यकता तो स्वदेशी-विदेशी सभी विचारको को स्वीकृत है—किन्तु भारतवर्ष मे राजतन्त्र को विशेप प्रश्रय मिला है। इसीलिए हमारे यहाँ राजा का महत्व अप्रतिम है। राज्य के सप्ताग का विवरण प्रस्तुत करते हुए याज्ञवल्क्य राजा को प्रथम स्थान देते हैं—

स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च।
मित्राण्येता प्रकृतयो राज्यं सप्तागमुच्यते॥[3]

नारदीयमनुस्मृति मे प्रजा को विनाश से वचाने के लिए उसका अस्तित्व अनिवार्य वताया गया है।[4]—और मनु ने तो राजा के अभाव मे हाहाकार मचने तथा ब्रह्मा द्वारा उसके सृजन की वात कही है—

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभु॥[5]

इस प्रकार राजा मे अतिमानवीयता अथवा देवत्व तक का आरोपण कर दिया गया है। आरोपण ही क्यो, मनु तो स्पष्ट शब्दो मे उसे नरदेहधारी देवता मानते हैं—

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।[6]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १४१
२ " " , पृष्ठ १४१
३ याज्ञवल्क्यस्मृति १।१३।३५३
४ नारदीयमनुस्मृति १८।१४
५ मनुस्मृति ७।३
६ मनुस्मृति ७।८

चाणक्य इससे भी आगे बढते हैं तथा राजा को सबसे बडा देवता घोषित करते हैं—

न राज्ञ: परं दैवतम् ।[1]

यह तो हुई भारत के प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक विधि-व्यवस्थापकों की बात। जनता की रुचि-अरुचि के प्रतीक काव्यकार भी राजतन्त्र के ही सस्तोता रहे हैं। वाल्मीकि और व्यास, भवभूति और वाण तथा कालिदास और तुलसीदास आदि सभी के प्रिय नायक राजा हैं। मैथिलीशरण जी का भी वही दृष्टिकोण है। यद्यपि वे कभी-कभी विना राजा के शासन की भी कल्पना करते हैं। प्रजा के स्वशासन की वात सोचते हैं—

पर अपना हित आप नहीं क्या
कर सकता है यह नरलोक ?[2]

किन्तु हम समझते हैं कि यहाँ नरलोक की स्व-हित-साधन-सामर्थ्य मे विश्वास से अधिक अविश्वास प्रकटित है। वस्तुत गुप्त जी नरलोक के उद्धार और उत्थान के लिए एक नायक की अनिवार्य अपेक्षा मानते हैं—

चुनें सब मिलकर निज नेता,
चाहिए हमे चरित-चेता।[3]

यहाँ नेता और चुनने की वात से प्रजातन्त्र के समर्थन का भ्रम हो सकता है। परन्तु हमारे कवि का नेता निश्चित रूप से आधुनिक लीडर नही है, वह राजा का ही पर्याय है। प्रमाण के लिए साकेत की निम्न पंक्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं—

राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय! लोकमत अनसुना।[4]

—अभिप्राय यह कि निर्वाचित ( मत-दान द्वारा नही ) व्यक्ति भी राजा ही है। प्रजातन्त्र का, इस कवि ने, स्पष्ट शब्दो मे विरोध भी किया है—

राजतंत्र में पडें कभी जीवन के लाले
पड़े न कोई प्रजातन्त्र वालो के पाले[5]

राजतन्त्र मे कभी-कभी जीवन के जोखिम में पड जाने पर भी कवि उसको प्रजातन्त्र से श्रेष्ठतर मानता है, क्योकि—

हो सकता है एक कहाँ तक कोई त्रासक ?[6]

इसके विपरीत शासन-सूत्र अनेक व्यक्तियो के हाथ मे रहने के कारण प्रजातन्त्र

---

१. चाणक्यप्रणीत सूत्र ३७२
२. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ८
३. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४६
४. साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ८९
५. अजित, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३६
६. अजित, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६

अधिक भयावह होता है। अपनी इस धारणा की पुष्टि के लिए गुप्त जी प्रजातन्त्र के प्रयोक्ता अग्रेजो द्वारा भारत पर किए गए अत्याचारो का उल्लेख करते हैं।[1] प्रजातन्त्र ही क्या वे तो उसके मूलाधार—सर्वजन मताधिकार और मत-गणना अथवा मत-सग्रह द्वारा निर्णय—से ही असहमत हैं, क्योकि जनसाधारण क्षुद्र स्वार्थों मे रत रहते हैं, दूरदर्शी वे कदापि नही हो सकते। परिणामत उनके द्वारा श्रेष्ठ का निर्वाचन कल्पना मात्र है—

**स्वय श्रेष्ठ को चुन लेने मे लोक आज असमर्थ।**
**आस पास के स्वार्थों तक ही लोगों के व्यापार।[2]**

जनसाधारण की इस असामर्थ्य और स्वार्थपरता का उल्लेख करने वाले कवि को कतिपय 'उदारचरित' प्रतिक्रियावादी कहना चाहेगे। किंतु एक मैथिलीशरण गुप्त ही क्या अपने हृदय मे तो अन्य विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं। राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध पण्डित हैरोल्ड जे० लास्की ने भी इस कटु सत्य को स्वीकार किया है—"आधुनिक समाज की समीक्षा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐसे लोगो की सख्या बहुत बडी है जिनमे राज्य की समझ का अभाव होता है। वे बडी धृष्टता से निजी हित के सकुचित दायरे मे आबद्ध रहते हैं। × × × सामाजिक सघर्ष को वह एक ऐसा नाटक समझते है, जिसमे उनकी अपनी कोई भूमिका नही। उनको न तो उसके नेताओ मे कोई दिलचस्पी होती है, न दृश्यो मे। वे तो सिर्फ यह चाहते है कि राजकीय हस्तक्षेप के कारण उनके निजी मामलो मे किसी तरह के बाधा-बधन पैदा न हो पाएँ।"[3] तात्पर्य कहने का यह कि प्रजातन्त्र मे अरुचि तथा राजतन्त्र का अनुमोदन अनुपयोगी परम्परा का पालन मात्र नही है। उसके पीछे भी तर्क का बल है।

फिर भी आज भारत मे लोकतन्त्र प्रतिष्ठित है। चक्रवर्ती राजा तो पहले ही उठ चुके थे अब मण्डलाधीश भी समाप्त हुए। लोकसभा और राज्यसभा को सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हुआ। फलस्वरूप अधुना भारतवर्ष चिरभुक्त राजतन्त्र का बहिष्कार कर प्रजातन्त्र का जयजयकार कर रहा है। उसके प्रभाव से राजा और राजतन्त्र के सबल पोषक भी मतपरिवर्तन के लिए बाध्य हैं। गुप्त जी की यह विशेषता रही है कि परम्परा मे दृढ निष्ठा रखते हुए भी वे समय के साथ चलते रहे है—परम्परा और प्रगति का यह सामजस्य उनकी चेतना के विकास का मूल आधार है। स्वतन्त्र भारत की राजनीतिक दृष्टि को ग्रहण करते हुए प्रजातन्त्र के गुणो को हृद्गत करने मे भी उन्हे देर नही लगी—

**एक श्रमिक जो आज भूमि ही खन सकता है,**
**कल सुयोग्य हो वही राष्ट्रपति बन सकता है।[4]**

---

१ अजित, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३६
२. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १२६
३. राजनीति के मूल तत्व ( ए ग्रैमर आफ पालिटिक्स का अनुवाद ), पृष्ठ २६
४. राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २७

प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली के सम्पूर्ण दोषो का कारण भी वे प्रजा की त्रुटियो को ही वताते हैं—

प्रजातन्त्र के दोष वस्तुत स्वय हमारे ।[1]

और प्रजा की भी त्रुटियो का मूल राजा है। राजा को सम्बोधित कर प्रजा कहती है—

स्वीकृत है अपनी अयोग्यता हमको सारी,<br>उसका कारण अन्य और क्या, कृपा तुम्हारी ।[2]

अत प्रजा राजा और राजतन्त्र को तिलाजलि देना ही श्रेयस्कर समझती है।—और राजा को समधिक महत्व न देकर अपने में ही घुल-मिल जाने का परामर्श देती है—

.. . .. . समाओ हममे आओ,<br>पावें जो हम कोटि कोटि सो तुम भी पाओ ।[3]

साराश यह कि मैथिलीशरण जी अव प्रजातन्त्र के महत्व को समझने लगे हैं। परंतु मूल सस्कार तो वे ही हैं। अव भी वे आदर्श शासक की ही कल्पना करते हैं, फिर चाहे उसे राजा कहे या प्रधान मन्त्री। क्योकि—

होगा क्या अव भी एक न जन रति-भाजन,<br>फिर कहो भले ही उसे न अव तुम राजन् ।[4]

आदर्श शासक का अभाव तो गुप्त जी के विचार मे अराजकता का प्रवर्तक है। इसीलिए वे वृहत् जनसमुदाय को नियामक वनने की वलवती स्पृहा का त्याग कर सुशासन के अनुपालन का परामर्श देते हैं।[5] यदि सभी शासक वन जायेंगे तो फिर अनुशासन का पालन कौन करेगा ?[6] सभी का अपने को शासक समझने की प्रजातन्त्रीय विचारधारा ही को कवि आज के उत्पातो, उपद्रवो और अनुशासन-भङ्ग का कारण मानता है। राजा-प्रजा मे राजा कहता है—

कह लो, स्वाभाविक है विकास है जितना,<br>पर मैंने भी कव किया नाश है इतना ?<br>क्या मैंने ही ये जन असख्य कटवाये ?<br>वा दुरभिसधिवश विवश देश वँटवाये ।[7]

आदि।

---

१ राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २७<br>२. " " पृष्ठ २६<br>३. राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २६<br>४ " " पृष्ठ २३<br>५. " " पृष्ठ २३<br>६. " " पृष्ठ २२<br>७. " " पृष्ठ २२

अधिक भयावह होता है। अपनी इस धारणा की पुष्टि के लिए गुप्त जी प्रजातन्त्र के प्रयोक्ता अंग्रेजो द्वारा भारत पर किए गए अत्याचारो का उल्लेख करते हैं।[1] प्रजातन्त्र ही क्या वे तो उसके मूलाधार—सर्वजन मताधिकार और मत-गणना अथवा मत-सग्रह द्वारा निर्णय—से ही असहमत हैं, क्योकि जनसाधारण क्षुद्र स्वार्थों मे रत रहते हैं, दूरदर्शी वे कदापि नही हो सकते। परिणामत उनके द्वारा श्रेष्ठ का निर्वाचन कल्पना मात्र है—

**स्वय श्रेष्ठ को चुन लेने में लोक आज असमर्थ।**
**आस पास के स्वार्थों तक ही लोगों के व्यापार।[2]**

जनसाधारण की इस असामर्थ्य और स्वार्थपरता का उल्लेख करने वाले कवि को कतिपय 'उदारचरित' प्रतिक्रियावादी कहना चाहेंगे। किंतु एक मैथिलीशरण गुप्त ही क्या अपने हृदय मे तो अन्य विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं। राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध पण्डित हैरोल्ड जे० लास्की ने भी इस कटु सत्य को स्वीकार किया है—"आधुनिक समाज की समीक्षा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐसे लोगो की सख्या बहुत बडी है जिनमे राज्य की समझ का अभाव होता है। वे बडी धृष्टता से निजी हित के सकुचित दायरे मे आबद्ध रहते हैं। × × × सामाजिक सघर्ष को वह एक ऐसा नाटक समझते है, जिसमे उनकी अपनी कोई भूमिका नही। उनको न तो उसके नेताओ मे कोई दिलचस्पी होती है, न दृश्यो मे। वे तो सिर्फ यह चाहते हैं कि राजकीय हस्तक्षेप के कारण उनके निजी मामलो मे किसी तरह के बाधा-बधन पैदा न हो पाएँ।"[3] तात्पर्य कहने का यह कि प्रजातन्त्र मे अरुचि तथा राजतन्त्र का अनुमोदन अनुपयोगी परम्परा का पालन मात्र नही है। उसके पीछे भी तर्क का बल है।

फिर भी आज भारत मे लोकतन्त्र प्रतिष्ठित है। चक्रवर्ती राजा तो पहले ही उठ चुके थे अब मण्डलाधीश भी समाप्त हुए। लोकसभा और राज्यसभा को सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हुआ। फलस्वरूप अधुना भारतवर्ष चिरभुक्त राजतन्त्र का बहिष्कार कर प्रजातन्त्र का जयजयकार कर रहा है। उसके प्रभाव से राजा और राजतन्त्र के सबल पोषक भी मतपरिवर्तन के लिए बाध्य हैं। गुप्त जी की यह विशेषता रही है कि परम्परा मे दृढ निष्ठा रखते हुए भी वे समय के साथ चलते रहे है—परम्परा और प्रगति का यह सामजस्य उनकी चेतना के विकास का मूल आधार है। स्वतन्त्र भारत की राजनीतिक दृष्टि को ग्रहण करते हुए प्रजातन्त्र के गुणो को हृद्गत करने मे भी उन्हे देर नही लगी—

एक श्रमिक जो आज भूमि ही खन सकता है,
कल सुयोग्य हो वही राष्ट्रपति बन सकता है।[4]

---

१ अजित, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३६
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १२६
३ राजनीति के मूल तत्व ( ए ग्रैमर आफ पालिटिक्स का अनुवाद ), पृष्ठ २६
४ राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २७

कालिदास ने प्रजाओं के रक्षण, पोषण तथा विनयाधान आदि के कारण राजा दिलीप को उनका पिता कहा है।[1] तुलसीदास भी प्रजा की पीडाओं का नाश न करने वाले राजा को नरकगामी मानते हैं—

जासुराज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥[2]

प्रस्तुत कवि भी इस दृष्टि से प्राय इन्ही कवि-विचारको और विचारक-नीतिज्ञो की परम्परा मे आता है। मगल-घट मे सगृहीत 'भीष्म-प्रतिज्ञा' शीर्षक उपाख्यान मे महाराज शान्तनु कहते हैं—

सदा प्रजा-पालन राज-धर्म्म,
कैसे तजूं मैं यह मुख्य कर्म्म ?[3]

फिर जय भारत के योजनगवा प्रकरण मे उन्ही की (महाराज शान्तनु की) उक्ति है—

मेरा जो हो, पाय न मेरी प्रजा हाय ! बाधा-व्याघात।[4]

मैथिलीशरण जी का आदर्श राजा प्रजापीडक न होकर प्रजापालक है—राज्य का भोक्ता न होकर उसका रक्षक और व्यवस्थापक है—

सारी प्रजा का प्रहरी स्वरूप,
है भारवाही वस भृत्य भूप।
उसे नहीं योग विराम का ही
है राज्य भोगी वह नाम का ही ॥[5]

राजा ऐसा भृत्य है जिसे तनिक विश्राम का भी अवकाश नही। इसीलिए तो राम राज्य को भार मानते हैं—

राज्य है प्रिये, भोग या भार ?[6]

—और अवसर आने पर 'बाप को राज बटाऊ की नाई' त्याग कर चल देते हैं। ऐसे निरवकाश भार-वहन से मुक्ति के सुअवसर को भला कौन छोडेगा ?

गुप्त जी का आदर्श राजा अपने लिए प्रजा से कुछ नही चाहता। कर-रूप मे वह जो कुछ प्रजा से लेता है उसे बढा-चढा कर लौटा देता है। पद्य-प्रबन्ध मे ऐसे ही राजाओ के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

---

१ रघुवंश १।२४
२ तुलसी-ग्रंथावली, पृष्ठ १८५
३. मगल-घट, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ६९
४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २५
५ चंद्रहास, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ ५२
६. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ४३

प्रजातंत्र से अनिवार्य सम्बन्ध है मताधिकार और निर्वाचन का। गुप्त जी इसके विरुद्ध हैं—और अपने मत की पुष्टि के लिए वे फ्रांस के प्रतिदिन परिवर्तित मन्त्रिमण्डल का उदाहरण उपस्थित करते हैं—

देखो न फ्रांस को, जन्म जहाँ जन-बल का,
प्रतिदिन परिवर्तन वहाँ मन्त्रिमण्डल का।[1]

सभी को मताधिकार देने का वे स्पष्ट शब्दों में विरोध करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को वे इस अधिकार का उपयुक्त पात्र मानने को प्रस्तुत नहीं हैं।[2] हम समझते हैं कि उनका यह विचार तर्कहीन और अवास्तविक नहीं है। अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित मताधिकारियों द्वारा किए गए अपने मतों के दुरुपयोग के 'नित नूतन आख्यान' सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रचुर परिमाण में देखे जा सकते हैं। राजतन्त्र का वैतालिक उनका मन तो उमड-घुमड कर प्रजातन्त्रवालों पर बरस जाना चाहता है। राजा कहता है—

ठहरो चुनाव के चवर-छत्र-अधिकारी,
क्या यही तुम्हारी प्रगति-समुन्नति सारी!
यदि काल न मेरा राजदण्ड हर लेता,
तो मैं पल में यह प्रलय शांत कर देता।[3]

इस प्रकार यह कवि राजा के प्रति मोह को नहीं छोड सका। प्रजातन्त्र की प्रमुखता के इस युग में भी भारत गणतन्त्र की राज्यसभा का यह मनोनीत सदस्य राजा का स्तुतिगान करता है, उसके महत्व का प्रतिपादन करता है।

किन्तु गुप्त जी ने जहाँ राजा के अद्वितीय गौरव का गान किया है वहाँ उसके असाधारण कर्त्तव्यों का भी निर्देश किया है। गुप्त जी ने ही क्या राजतन्त्र के पोषक सभी मनीषियों ने राजा के महत्व के साथ उसके कर्तव्य कर्मों का व्याख्यान भी किया है। चाणक्य ने राजा के लिए नीतिशास्त्र का अनुगमन आवश्यक बताया है—

नीतिशास्त्रानुगो राजा।[4]

तथा 'लोके वर्तते पितृवन्नृपु'[5] में मनु राजा को प्रजा के साथ पितृकल्प व्यवहार का आदेश देते हैं। इसके विपरीत आचरण अर्थात् प्रजापीडन से राजा के प्राणनाश की बात उन्होंने कही है—

शरीरकर्षणात्प्राणा क्षीयते प्राणिना यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणा. क्षीयते राष्ट्रकर्षणात्॥[6]

१. राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १५
२ ,, ,, ,, १६
३. ,, ,, ,, १५
४. चाणक्यप्रणीत सूत्र ४८
५. मनुस्मृति ७।८०
६ मनुस्मृति ७।११२

कालिदास ने प्रजाओ के रक्षण, पोषण तथा विनयावान आदि के कारण राजा दिलीप को उनका पिता कहा है।[1] तुलसीदास भी प्रजा की पीडाओ का नाश न करने वाले राजा को नरकगामी मानते हैं—

जासुराज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥[2]

प्रस्तुत कवि भी इस दृष्टि से प्राय इन्ही कवि-विचारकों और विचारक-नीतिज्ञो की परम्परा मे आता है। मगल-घट मे सगृहीत 'भीष्म-प्रतिज्ञा' शीर्षक उपाख्यान मे महाराज शान्तनु कहते हैं—

सदा प्रजा-पालन राज-धर्म्म,
कैसे तजूँ मैं यह मुख्य कर्म्म ?[3]

फिर जय भारत के योजनगधा प्रकरण मे उन्ही की (महाराज शान्तनु की) उक्ति है—

मेरा जो हो, पाय न मेरी प्रजा हाय ! बाधा-व्याघात।[4]

मैथिलीशरण जी का आदर्श राजा प्रजापीडक न होकर प्रजापालक है—राज्य का भोक्ता न होकर उसका रक्षक और व्यवस्थापक है—

सारी प्रजा का प्रहरी स्वरूप,
है भारवाही बस भृत्य भूप।
उसे नहीं योग विराम का ही
है राज्य भोगी वह नाम का ही ॥[5]

राजा ऐसा भृत्य है जिसे तनिक विश्राम का भी अवकाश नही। इसीलिए तो राम राज्य को भार मानते हैं—

राज्य है प्रिये, भोग या भार ?[6]

—और अवसर आने पर 'बाप को राज बटाऊ की नाईं' त्याग कर चल देते हैं। ऐसे निरवकाश भार-वहन से मुक्ति के सुअवसर को भला कौन छोडेगा ?

गुप्त जी का आदर्श राजा अपने लिए प्रजा से कुछ नही चाहता। कर-रूप मे वह जो कुछ प्रजा से लेता है उसे बढा-चढा कर लौटा देता है। पद्य-प्रबन्ध मे ऐसे ही राजाओ के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

---

१. रघुवश १।२४
२ तुलसी-ग्रथावली, पृष्ठ १८५
३. मगल-घट, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६९
४ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५
५. चद्रहास, पष्ठावृत्ति, पृष्ठ ५२
६. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ४३

भूपति जो कर रूप प्रजा से धन लेते थे—
वे प्रजार्थ ही उसे बढा कर दे देते थे।
जैसे दिनकर प्रथम महीतल से जल लेता—
फिर सहस्रगुण अधिक उसी पर बरसा देता।[1]

कालिदास ने भी राजा दिलीप के विषय मे यही कहा है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रस रवि ॥[2]

अर्थात् वह (राजा दिलीप) प्रजाओ के उपकार के लिए उनसे कर लेता था जैसे सूर्य सहस्रगुणा दान के लिए ही (पृथ्वी से) जल लेता है। वास्तव मे राज्य राजा का उपभोग्य न होकर प्रजा के लिए है—

राज्य नहीं एकार्थ, प्रजार्थ बना।[3]

वरन् यह कहिए कि वह प्रजा की सम्पत्ति है—

...... प्रजा का ही असल मे राज्य है[4]

इसीलिए तो राम कहते हैं—

प्रजा की थाती रहे अखण्ड।[5]

शत्रुघ्न प्रजा की इस थाती को सुरक्षित रखने के दायित्व की ओर ही सकेत करते हैं—

राज्य मे दायित्व का ही भार।[6]

—और भरत तो राज्य-प्राप्ति को बलि-पुरुष का—बलिदान के लिए उद्यत व्यक्ति का—भोग बताते हैं अर्थात् राज-सुख के विनिमय-स्वरूप राजा को प्राणदान करना पडता है—

राज-सुख है बलि पुरुष का भोग,
मूल्य जिसका प्राण का विनियोग ?[7]

किन्तु यदि कोई राजा प्रजा के दुख-शमनार्थ ऐसा करके अपना कर्त्तव्य पालन न करे तो कुन्ती का कथन है—

---

१. पद्य-प्रबध, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १४४
२ रघुवश १।१८
३. स्वदेश-सगीत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १०३
४. वक-सहार, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ २२
५ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ४३
६ " " " १४०
७ " " " १३८

जूझे कि निज पद त्याग दे।[1]

शायद इसीलिए कौटिल्य ने पराक्रम को राजाओ का मुख्य धन बताया था—

विक्रमधना राजान ।[2]

राजा और प्रजा मे शासक-शासित का सम्बन्ध न होकर पूर्ण स्नेह, सद्भाव और सहयोग है—

पूर्ण हैं राजा-प्रजा की प्रीतियां।[3]

तभी तो युवराजो के निष्क्रमण पर प्रजाजन अपने भाग्य को कोसते हैं—

भाई रे! हम प्रजाजनों का हाय! भाग्य ही खोटा!
रोते रहे सभी पुर-परिजन,
राज्य छोड़कर राम गये वन,
* * *
गये आज सिद्धार्थ हमारे,
जो थे इन प्राणों के प्यारे;
* * *
राज्य धूलि में लोटा![4]

परतु जब अधिकार-मत्त राजा प्रजा की सहज प्रीति की उपेक्षा कर तुलसीदास द्वारा सकेतित (भय विनु होय न प्रीति) भीतिजन्य प्रीति का अवलम्बन लेता है तब वह नाश को प्राप्त होता है। कस ऐसा ही सत्ता-दृप्त राजा है, गुप्त जी उसे उग्रसेन द्वारा चेतावनी दिलाते हैं—

ओ सत्ता-मदमत्त! आज भी आँखें खोल अभागे।
वह साम्राज्य स्वप्न जाने दे, जाग, सत्य यह आगे।
जो आतक दिखाया तूने देख उसी को अब तू
और टूटने को प्रस्तुत रह, लच न सके हां, जब तू।[5]

निश्चय ही न लच सकनेवाला अर्थात् अनम्र व्यक्ति, विशेपत. राजा, शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। मनु ने भी विनयाभाव को राजा के नाश का कारण माना है—

बहवोऽविनयान्नष्टा राजान. सपरिच्छदा ।[6]

वस्तुत अविनीत स्वेच्छाचारिता और नियन्त्रणहीनता राजा के लिए सबसे बडा अभिशाप है। किन्तु गुप्त जी के आदर्श राज्य मे उक्त दोष के मार्जनार्थ राजा भी सर्वथा

---

१ वक-सहार, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ २२
२. चाणक्यप्रणीत सूत्र १८३
३ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६
४ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ३२
५ द्वापर, सस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १०३-१०४
६. मनुस्मृति ७।४०

नियन्त्रणमुक्त नही है। उसके ऊपर भी व्यवस्थापिका सभा है जो नियम-शैथिल्य का परिहार करती है। साकेत मे 'दस्युजा कैकेयी के दास' बने दशरथ जब 'कुल-धर्म' के अननुकूल राम को चौदह वर्ष वनवास और भरत को राज्य देने की बात (यद्यपि अनिच्छापूर्वक) मुँह से निकालते हैं तब लक्ष्मण उक्त सभा मे ही महाराज दशरथकृत नियम-विरुद्धता का परिशोध कराना चाहते हैं। वे राम को कहते हैं—

वही होगा कि है कुलधर्म जैसा।
चलो, सिंहासनस्थित हो सभा मे
वही हो जो कि समुचित हो सभा मे।[१]

आप देख रहे हैं कि राजा सर्वक्रियामाण अधिनायक न होकर व्यवस्थापिका सभा के अधीन है—उसकी आज्ञाएँ अविचारणीया नही हैं। सभा का नाम सुनते ही कतिपय उत्साही यहाँ पर आधुनिक युग के प्रभाव का सन्धान करना चाहेगे। किन्तु वह ठीक नही है। मनु के अनुसार वह सभा, जिसमे तीन वेदविद् ब्राह्मण तथा एक राजा का प्रतिनिधि विद्वान ब्राह्मण बैठता है, ब्रह्मा की सभा के समान है।[२] कौटिल्य तो राजा को मन्त्रिमण्डल मे बहुमत से अनुमोदित कार्य करने तक का आदेश देते हैं—

तत्र यद्भूयिष्ठा कार्यसिद्धिकर वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्।[३]

अर्थात् राजा को चाहिए कि अधिक मन्त्री जिस बात को कहे अथवा शीघ्र सिद्धि दायक बताएँ उसी का अनुसरण करे।—और रामचरितमानस मे दशरथ राग के राजतिलक से पूर्व पचो का अनुमोदन चाहते हैं। वे सेवक-सचिव सुमन्त्र को कहते हैं—

जो पाँचहि मत लागइ नीका।
करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥[४]

तात्पर्य कहने का यह कि गुप्त जी ने जो सभा की बात कही है वह परम्परापुष्ट ही है उसमे युग-प्रभाव-जन्य नवीनता नही खोजनी चाहिए। परम्परामुक्त नूतनता भी उनके राजा और राजतन्त्र-विषयक विचारो मे है अवश्य—किंतु एक और बात मे। वह यह कि यद्यपि मैथिलीशरण जी के अनुसार भी राज्य (ज्येष्ठ को ही सही) रिक्थ-रूप मे मिलता है—

मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा।[५]

फिर भी राजा को परिवर्तित किया जा सकता है। स्मृतियो मे जहाँ गुणहीन राजा की भी पूजा का आदेश दिया गया है—

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ६०
२ दे० मनुस्मृति ८।११
३ अर्थशास्त्र १।१५।६४
४ रामचरितमानस (काशी नागरी प्रचारिणी सभा), पृष्ठ ३५६
५ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ५६

विगुणोऽपि यथा स्त्रीणा पूज्य एव पतिः सदा ।
प्रजाना विगुणोऽप्येव पूज्य एव नराधिप. ॥[1]

वहाँ गुप्त जी अयोग्य को अपदस्थ करने की घोषणा करते हैं—

राजा प्रजा के अर्थ है,
यदि वह अपटु असमर्थ है,
* *
यदि वह प्रजापालक नहीं तो त्याज्य है ।[2]

और फिर सुयोग्य के निर्वाचन का प्रस्ताव प्रस्तुत करते हैं—

हम दूसरा राजा चुने,
जो सब तरह अपनी सुनें ।[3]

प्राय. भारतीय विधि-निर्माता राजा की पद-च्युति से सहमत नही होंगे—और प्रजा द्वारा राजा का निर्वाचन तो किसी भी स्मृतिकार को स्वीकार्य नही था । किन्तु प्रस्तुत कवि उसे लोक-प्रतिनिधि ही मानता है—

राजा प्रजा का पात्र है,
वह लोक-प्रतिनिधि मात्र है ।[4]

इस प्रकार सब मिलाकर गुप्त जी द्वारा परिकल्पित राजतन्त्र प्रजातन्त्र का ही निकटस्थ है—दोनो मे बहुत कम अन्तर है । लोकमत को यथेष्ट महत्व देने पर भी उन्हे राजा और राज्य का सर्वथा बहिष्कार अथवा अनस्तित्व स्वीकार्य नही है । राज्य का ही नही वे तो साम्राज्य का समर्थन करते हैं—

एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ ।[5]

साम्राज्य-समर्थन का उनका यह दृष्टिकोण आज भी परिवर्तित नही हुआ है । राजा-प्रजा मे भी वे वैराज्य की ही कामना करते हैं ।[6] वास्तव मे गुप्त जी राजतन्त्र के विश्वासी हैं । किन्तु युगधर्म के प्रभाव से वे प्रजातन्त्र की ओर भी आकृष्ट हुए—उन्होने उसके गुणो को समझने का प्रयत्न किया, फिर भी बद्धमूल धारणाओ के कारण वे राजतन्त्र मे अपनी आस्था का परित्याग नही कर सके । परिणामत मैथिलीशरण जी राजा और लोक-प्रतिनिधि-

---

१ नारदीय मनुस्मृति १८।२२
२. बक-सहार, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ २२
३. बक-सहार, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ २२
४ " " पृष्ठ २२
५. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७
६ राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २६

रूप शासक का एकीकरण करते हैं—राजतन्त्र और प्रजातत्र मे सामजस्य स्थापित करते हैं। और स्पष्ट शब्दो मे वे राजतन्त्र का ही प्रजातन्त्रीकरण चाहते हैं।

## अहिंसा

राज्य मे शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए—मत्स्यन्याय के अपवारणार्थ युद्ध, दण्ड, शस्त्र आदि की भी अपेक्षा है। साकेत मे कवि ने शस्त्र-बल को शान्ति के लिए आवश्यक बताया है—

हमे शाति का भार जो है मिला
इसी चाप की कोटियो से झिला।[1]

कभी-कभी राज्य ही नही कर्त्तव्य-पालन के लिए भी युद्ध अनिवार्य हो जाता है। युधिष्ठिर कहते हैं—

राज्य के नहीं, धर्म के अर्थ,
उठेंगे तब ये शस्त्र समर्थ।[2]

जय भारत के तीर्थयात्रा प्रकरण मे घटोत्कच के मुख से ही कवि अपनी बात कह रहा है—

माँ, क्षमा है दण्ड मे ही पापियों की,
अन्यथा अभिवृद्धि पर-सतापियो की।[3]

यहाँ पाप के शमनार्थ, अत्याचार के निराकरणार्थ दण्ड की आवश्यकता बताई गई है वरन् दण्ड को ही उनके लिए क्षमा माना गया है। इसीलिए मनु ने दण्ड को धर्म कहा है—'दण्ड धर्मं विदुर्बुधा।'[4] आज भी दण्ड मे इस कवि का अविचल विश्वास है। देखा जाए तो वह ठीक भी है क्योकि—

पर-हानि स्वार्थ के हेतु यहाँ जो करते,
वे नर क्या बर्बर दड बिना हैं डरते ?[5]

वस्तुत. दण्डनीति का आश्रय लेकर ही राजा प्रजा की रक्षा कर सकता है।[6] किन्तु दण्ड अपराधानुरूप होना चाहिए—दण्ड की अननुपात मृदुता अथवा तीक्ष्णता घातक होती है। दूसरे दण्ड-दान मे शत्रु-मित्र का भेद नही रहना चाहिए। कौटिल्य कहते हैं—

दण्डो हि केवलो लोक पर चेम च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोष सम घृत ॥[7]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २०१०, पृष्ठ ३२७
२ वन-वैभव, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १८
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १६५
४ मनुस्मृति ७।१८
५ राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २३
६. दे० चाणक्यप्रणीत सूत्र ७६
७. अर्थशास्त्र ३।१।५४

गुप्त जी भी न्याय-रक्षा के निमित्त बधु तक को दण्डित करना कर्त्तव्य मानते है—

अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है ;
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है ।[1]

युद्ध, शस्त्र और दण्ड के उपर्युक्त विवेचन से इस परिणाम पर पहुँचना भारी भूल है कि प्रस्तुत कवि उनका निरपवाद समर्थक है । निम्न पक्तियो मे सैन्य-वर्द्धन के प्रति कवि का क्षोभ देखिए—

प्रजा की रक्तार्जित वह ऋद्धि,
खा रही है सेना की वृद्धि ।[2]

—और उसके अधोऽवतरण मे युद्ध से विरति का भी स्पष्ट सकेत मिलता है—

एक के अनन्तर अपेक्षा एक युद्ध की,
देखती मैं आ रही हूँ ज्ञात नहीं कब से ।
एक सदुद्देश्य कह के ही सब जूझे हैं,
किन्तु एक इति मे जुडा है अथ दूसरा ।
शासक का नाम रख त्रासक ही होगा तू;
भय से जो वाध्य होंगे साध्य होंगे क्या कभी ?
अनुगत होंगे घात करने को पीछे से,
किन्तु जनता ने उन्हें नेता कहां माना है ?[3]
( माताभूमि की उक्ति पृथिवीपुत्र के प्रति )

अभिप्राय यह कि कोई भी युद्ध अन्तिम नहीं है । एक युद्ध दूसरे युद्ध का जन्मदाता है । अत इस निरन्तर ध्वसरत विभीषिका से विरत हो जाना ही श्रेयस्कर है । इतना ही नहीं मैथिलीशरण जी की तो कामना है—

हमारी असि न रुधिर रत हो,
न कोई कभी हताहत हो ।[4]

वास्तव मे अहिंसा तो परमधर्म है । मैथिलीशरण जी ने ही नही दण्ड का कठोर विधान करनेवाले कौटिल्य ने भी अहिंसा को मुख्य धर्म माना है—'अहिंसालक्षणो धर्म. ।'[5] —तथा मनु ने पाँच नीति-धर्मो मे अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है ।[6] भारत मे ही नहीं अन्यान्य देशो और धर्मो मे भी इसे प्रामुख्य मिला है । अत यह सामान्य अथवा व्यापक नीतिधर्म है । किन्तु "नीति के सामान्य नियमो ही से", जैसा कि तिलक महाराज ने लिखा

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां सस्करण, पृष्ठ ५
२. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७
३. पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ६२
४. स्वदेश-सगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ९४
५ चाणक्यप्रणीत सूत्र ५६१
६ दे० मनुस्मृति १०।६३

है, "सदा काम नही चलता, नीतिशास्त्र के प्रधान नियम—अहिंसा—मे भी कर्तव्य-अकर्तव्य का सूक्ष्म विचार करना ही पडता है।"[१] तात्पर्य तिलक जी के कहने का यह हुआ कि आदर्श रूप मे तो अहिंसा को माना जा सकता है—किन्तु व्यवहार मे कभी-कभी उसके त्याग का अवसर भी आ सकता है। गाधी जी इस विचारधारा से सहमत नही हैं। वे आदर्श और व्यवहार मे अन्तर करना नही चाहते। हमारा कवि इस विषय मे तिलक का समर्थक है। यद्यपि एकाध स्थान पर उसके काव्य मे भी गाधी-नीति का अनुवचन भी उपलब्ध है—

प्रतिपक्षी भी देख स्वत बलिदान हमारा,
होकर अवश अवश्य करेगा कुछ निपटारा।[२]

परन्तु इसे अर्थवाद मात्र समझना चाहिए। गाधी जी के प्रतिकूल वे प्रतिपक्षी के हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा न कर उसे दण्ड देना ही अधिक उपादेय मानते हैं। स्वाधिकारो की रक्षा के निमित्त वे सघर्ष के लिए सदैव तत्पर है—

अधिकार-रक्षा हेतु हम सघर्ष से डरते नहीं।[३]

मैथिलीशरण सघर्षालु नही हैं—किन्तु अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए यदि वैसा करना पडे तो वह उन्हे अस्वीकार्य भी नही है। असली बात तो यह है कि जब तक ससार के सभी लोग अहिंसा धर्म के पालन की नही ठान लेते तब तक हिंसा-काण्ड रुक नही सकता। बालगगाधर तिलक ने गीतारहस्य मे इसका व्याख्यान किया है।[४]—और मैथिलीशरण तिलोत्तमा नाटक मे यही कहते हैं—

विकृत दानवी प्रकृतियाँ जब तक न हों उदार
तब तक कैसे कलह का होगा उपसंहार ?[५]

निष्कर्ष यह कि गुप्त जी का आदर्श अहिंसा है—और जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है धार्मिक हिंसा का तो वे एकदम विरोध करते हैं। परन्तु फिर भी स्वाधिकार-रक्षा-हेतु की गई अनिवार्य हिंसा का वे प्रत्याख्यान नही करते। वस्तुत उन्हे ब्राह्मण-दर्शनानुमोदित आचरणगत अहिंसा तो मान्य है—किन्तु बौद्ध-दर्शन की नीतिगत अहिंसा नही।

### आदर्श समाज

राजनीति से भी अधिक समाज पर मैथिलीशरण जी का ध्यान केन्द्रित रहा है। समाज मानव-जीवन के अस्तित्व और विकास के लिए अनिवार्य सस्था है। "बात यह है कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो समुदाय का निर्माता होता है, उसकी आनुवशिक सहज

---

१ श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ३१
२ अजित, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ८८
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३०१
४ दे० श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, दूसरा प्रकरण (भूमिका)
५ तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४१

प्रवृत्तियाँ उसे अपने साथियो के सग रहने के लिए प्रेरित करती हैं।"[1] किन्तु शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि उसे प्राकृत मनोवेगो की अन्ध प्रेरणा पर न छोडा जाए। अभिप्राय इसका यह हुआ कि मर्यादा सुष्ठु समाज-सघटना का अनिवार्य उपवध है। गुप्त जी के सामाजिक आदर्श का मेरुदण्ड भी मर्यादा ही है। उनके राम मर्यादा-स्थापन के लिए ही अवतरित हुए हैं—

मैं आया, जिसमे वनी रहे मर्यादा।[2]

मर्यादित जीवन ही श्लाघ्य है—और वह तभी सभव है जव प्रत्येक व्यक्ति यह समझ ले कि इस पृथ्वी पर उसी का एकान्त आधिपत्य नही है वरन् वह सर्वभोग्या है—

केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी,<br>
है औरो की भी भार-धारिणी-भरणी।[3]

इस सह-अस्तित्व के सुखद निर्वहण के लिए ही मर्यादा की अपेक्षा है। वास्तव मे सामाजिक मर्यादा एक कृत्रिम वन्धन है जो सामाजिको के सुखपूर्ण अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। यदि यह वधन—तत्सवधी नियम न रहे तो समाज मे अव्यवस्था फैल जाए जो उसके लिए सवसे वडा अभिशाप है—

पर अव्यवस्थित त्राण पा सकते कहाँ ?[4]

यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो सामाजिक वधन तो मुक्ति मे सहायक ही हैं। इसके विपरीत यदि समाज की स्थिति के लिए अनिवार्य विषयो मे व्यक्तिगत निर्णयो की अनुज्ञा मिल जाए तो सर्वनाश हो जाए—

जनपद के वधन मुक्ति-हेतु हैं सवके<br>
यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हो कव के।[5]

पर आज तो नियम-भजन मे ही वीरता समझी जाती है, सामाजिक वधनो की अवहेलना को ही मुक्ति समझा जाने लगा है। परिणाम इसका यह हुआ कि मनुष्य घोर स्वार्थी वन गया। श्वान से भी अधिक मात्सर्य उसमें घर कर वैठा—

अव एक हममे दूसरे को देख सकता है नहीं,<br>
वैरी समझना वन्धु को भी, है समझ ऐसी यहीं।<br>
कुत्ते परस्पर देख कर हैं दूर से ही भूकते,<br>
पर दूसरे को एक हम कव काटने से चूकते ?[6]

---

१. राजनीति के मूल तत्व—लास्की (ए ग्रैमर आफ् पालिटिक्स का अनुवाद), पृष्ठ ३

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६७

३ साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६४

४. वक-संहार, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ २४

५. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६४

६. भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ १४५

यह पद्य भारत-भारती के 'वर्तमान खण्ड' से लिया गया है जहा कवि भारत की—भारतीय समाज की वर्तमान दुर्दशा पर आँसू-आँसू है। गुरुकुल मे भी उसने भारतीय समाज के सदस्यो की इस व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना पर दुख प्रकट किया है—

भूल समष्टि-सिद्धि हम सब हैं
व्यष्टि-वृद्धि में ही अवलीन।[1]

इसके प्रतिकूल गुप्त जी का आदर्श सामाजिक परामर्श देता है—

हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि-बलिदानी।[2]

अनघ मघ भी यही प्रतिज्ञा करते हैं—

जहाँ कुछ भी समाज का हित हो,
वहीं यह मेरा तनु अर्पित हो।[3]

इतना ही नही मैथिलीशरण जी तो दूसरो के सुख मे ही अपने सुख के दर्शन की बात कहते हैं। कुणाल की उक्ति है—

अपना सुख औरों मे देखें
तो हम इस दुख को क्या लेखें?[4]

दृष्टि-हानि और देश-निष्कासन के विषाद को कुणाल दूसरों के उल्लास मे भुलाना चाहते हैं। कितना उदार विकसित व्यक्तित्व है। कामायनी मे श्रद्धा भी मनु को इसी औदार्य का उपदेश देती है—

औरो को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।

सामाजिक बधन व्यक्तित्व के इस विकास के ही साधन हैं। इस सौहार्द की रक्षा के ही निमित्त मर्यादा की व्यवस्था की गई है। साकेत के आदर्श समाज मे ये सभी गुण वर्तमान हैं। इसीलिए—

एक तरु के विविध सुमनों-से खिले,
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।[5]

साकेत के पौरजनो का यह अद्भुत सघटन सचमुच अनुकरणीय है। आज के प्रतिवेश-अनभिज्ञ समाज से उसकी तुलना कीजिए।

अभी मर्यादा और नियम-व्यवस्था की बात की गई है। प्रस्तुत कवि को उनका उल्लघन स्वीकार्य नही। किन्तु मर्यादा और नियम के नाम पर वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अपहरण नही करता, उसकी मर्यादा-व्यवस्था मे आपको रूस का विगर्हणीय अनुकरण नही

---

१. गुरुकुल, संस्करण सवत् २००४, पृष्ठ २२१
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६६
३. अनघ, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ २४
४ कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ५६
५. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५

मिलेगा। गुप्त जी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को ऐसा प्रतिबद्ध नहीं करना चाहते कि वह 'इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके'। किन्तु वे उसे इतना अमर्यादित भी नही होने देना चाहते कि दूसरो के मार्ग मे बाधक बने। इस विषय मे गुप्त जी का सिद्धान्त वाक्य निम्नलिखित है—

जितने प्रवाह हैं, बहें—अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा मे किन्तु सदैव रहें वे।[1]

तात्पर्य यह कि मैथिलीशरण जी को मर्यादा का उल्लघन स्वीकार्य नहीं है—किन्तु वैभिन्न्यहीन निर्जीव मर्यादा-पालन का भी वे समर्थन नहीं करते। भारत-भारती के अधोलिखित पद्य मे उनका यह दृष्टिकोण प्रतिध्वनित है—

अनुदारता-दर्शक हमारे दूर सब अविवेक हों,
जितने अधिक हों तन भले हैं, मन हमारे एक हों।
आचार मे कुछ भेद हो, पर प्रेम हो व्यवहार मे,
देखें, हमे फिर कौन सुख मिलता नहीं संसार मे?[2]

निश्चय ही व्यवहारगत प्रेम का अबाधक आचरणगत भेद सुख का सम्पादक है। हम समझते हैं गुप्त जी की यह मर्यादा-कल्पना सुसगत और व्यावहारिक है।

वास्तव मे इस देश मे मर्यादा का महत्व चिरकाल से अक्षुण्ण है। श्रुति, स्मृति और पुराण मे उसका निरपवाद माहात्म्य-गान हुआ है। भारतीय सस्कृति की अनन्य विलक्षणता वर्णाश्रम-धर्म का मूलाधार मर्यादा-रक्षण ही है। दूसरे शब्दों मे वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म "भारतीय समाज-विधान के मुख्य अग हैं।"[3] अत यहाँ पर इन दोनो सस्थाओ के प्रति मैथिलीशरण जी के दृष्टिकोण पर भी विचार कर लिया जाए:

### वर्ण-व्यवस्था

भारत के सभी परम्परानिष्ठ पडितो के समान वर्ण-व्यवस्था मे गुप्त जी की भी आस्था है। वर्ण-विभेद के पक्ष मे कोई वक्तव्य देने के लिए शायद वे प्रस्तुत न हो फिर भी इस सस्था मे उनके विश्वास से इन्कार नही किया जा सकता। आधुनिक विद्वान् जहाँ किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का एकान्त आधार गुण-कर्म को मानने लगे हैं वहा मैथिलीशरण जन्मजात सस्कारो मे विश्वास करते हैं। पृथिवीपुत्र मे दिवोदास प्रश्न करते हैं—

इसका क्या निश्चय, जैसे का हो वैसा ही जन्य?[4]

ब्रह्मा उत्तर देते हैं—

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १६४

२. भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ १५६

३. साकेत : एक अध्ययन, प्रोफेसर नगेन्द्र, पचम संस्करण, पृष्ठ १०६

४. पृथिवीपुत्र, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ११

यह विधि है, विपरीत दशा मे कारण होंगे अन्य ।[1]

अर्थात् साधारणत व्यक्ति अपनी जाति और कुल के अनुकूल ही होता है। यदि कोई व्यक्ति-विशेष वैसा नही है तो उसके पीछे कतिपय विशिष्ट कारण रहे होंगे। आचार्य चाणक्य के अनुसार भी व्यक्ति का आचार कुलानुरूप ही होता है—

यथा कुल तथाऽऽचार ।[2]

निवध-ग्रथो की यही विचारधारा मैथिलीशरण जी मे बद्धमूल है। किन्तु आधुनिक युग उस दृष्टिकोण को प्रश्रय नही देता। मैथिलीशरण जी भी युग से एकदम अप्रभावित नही हैं। जय भारत मे उन्होंने लिखा है—

कुल से नहीं, शील से ही तो होता है कोई जन आर्य ।[3]

स्वदेश-सगीत मे भी उन्होंने यही विचार प्रकट किया है कि जन्म से कोई मनुष्य श्रेष्ठ नही है। श्रेष्ठता के लिए अपेक्षित है आचार, विचार और व्यवहार की सत्य-शुद्धता—

शुद्धाचार, विचार चाहिए और सत्य व्यवहार,
धारण करो साधुता, लेगा पदरज तक ससार ।[4]

अजलि और अर्घ्य मे यह दृष्टिकोण और भी स्पष्ट—

· · जाति प्रकृति-गुण-कर्म-मयी ।[5]

इस प्रकार प्रस्तुत कवि पर युगीन विचारधारा का निश्चित प्रभाव है—किन्तु यह प्रभाव इतना सघन नही है कि उसके मज्जातन्तुगत सस्कारो को ही बदल दे। अतएव जाति को प्रकृति-गुण-कर्म-मयी मानने पर भी वह वशगत विशेषताओ को अस्वीकार नहीं कर पाता—

··· तथापि वश-वंश की
सस्कृति विशेष कुछ होती है सहज ही
आकृति, प्रकृति और कृति मे रमी हुई ।[6]

तात्पर्य कहने का यह कि वर्ण-व्यवस्था मे गुप्त जी के लिए पर्याप्त आकर्षण है—उनको उसमे आस्था है।

आज इस सस्था को अनुपयोगी परम्परा अथवा अवाञ्छनीय क्रूरता कहने का फैशन चल पडा है। पर वास्तव मे यह वैसी विगर्हणा की वस्तु नही है। कर्मयोगी तिलक जी का

---

१ पृथिवीपुत्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११

२ चाणक्यप्रणीत सूत्र ४६०

३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २३

४ स्वदेश-संगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०७

५. अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ८

६ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६१

कथन है—"पुराने जमाने के ऋषियो ने श्रम-विभागरूप चातुर्वर्ण्य सस्था इसलिए चलाई थी कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावें, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पडने पावे और समाज का सभी दिशाओ से सरक्षण और पोषण भली भाँति होता रहे।"[1] यह तो हुआ एक परिनिष्ठित पडित का वक्तव्य—किन्तु उन सभी परम्पराओ से निरपेक्ष सन्तुलित-बुद्धि विद्वान् भी वास्तविक इतिहास की दृष्टि से उक्त सस्था के पक्ष को सर्वथा असमर्थ अथवा विगुण नही देखता।[2] तिलक जी का तो यहाँ तक कहना है कि वर्ण-विभेद से मुक्त रहने का दावा करने वाले यूरोप मे भी "चारो वर्णो के सब धर्म जातिरूप से नही तो गुण-विभागरूप ही से जागृत अवश्य रहते हैं।"[3] अभिप्राय यह कि सुविधा और व्यवहार-सुगमता के लिए समाज मे किसी न किसी प्रकार की वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता और उपयोगिता असदिग्ध है। परन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि उपयोगी होने पर भी भारतीय समाज की यह अपूर्व सस्था मध्यकाल मे विकार-ग्रस्त हो गई थी। तुलसी जैसा समदर्शी पडित और विरक्त महात्मा भी उस विकृत वर्ण-व्यवस्था मे पोषित होने से उन विकारो से नही बच सका।—और हमारे अपने युग मे तुलसी-साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ एव प्रस्तोता आचार्य शुक्ल ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे गहन तार्किक विश्लेषण करने पर भी सामाजिक क्षेत्र मे सस्कार-दृढता के कारण तुलसी के अतर्क्य मन्तव्य—

पूजिय विप्र सील-गुन-हीना।
सूद्र न गुन-गन-ग्यान-प्रबीना॥

—का समर्थन किया है—"यदि उच्च वर्ग का कोई मनुष्य अपने धर्म से च्युत है, तो उसकी विगर्हणा, उसके शासन और सुधार का भार राज्य के या उसके वर्ग के ऊपर है, निम्न वर्ग के लोगो पर नही। अत लोक-मर्यादा की दृष्टि से निम्न वर्ग के लोगो का धर्म यही है कि उस पर श्रद्धा का भाव रखें।"[4] यदि आचार्य का तर्क मान भी लिया जाए तो भी उपर्युक्त अवतरण मे दूसरी पक्ति की सगति कैसे बैठाई जा सकती है? भला 'गुन-गन-ग्यान-प्रवीन' शूद्र का आदर क्यो न किया जाए? गुप्त जी इस माया को काटने का सफल प्रयत्न कर सके हैं। यद्यपि वे दोनो समसामयिक हैं—और उनका पालन प्राय समान—

---

१ श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६५

2 From the stand point of actual history, there are, however, points in favour of a system which at any rate permitted the weaker sections to survive It may thus be said in partial defence of caste that it sought to intergrate many different races into one social whole and find room for different stages of civilization within one cultural unity

—The Indian Heritage by Humayun Kabir, 3rd Edition, page 60

३. श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६५

४ गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ४०

आश्रम-धर्म भूलकर हमने
सीख लिया बस एक विराग,
क्यों न विदेशी दस्यु लूटते
विभव हमारा—भव का भाग।[1]

इस प्रकार गुप्त जी आश्रम-धर्म की उपेक्षा का तिरस्कार करते हैं। उनकी तो इच्छा है—

समय पर सग्रह समय पर त्याग हो।[2]

क्योकि—

जो अच्छा है समयानुसार,
असमय मे बनता है विकार।[3]

इसीलिए मानव-मन के महज विकारो को ध्यान मे रखकर युवावस्था मे जहाँ वे गार्हस्थ्य का अनुमोदन करते हैं—

उठते विचार ही परन्तु नहीं मन मे,
सहज विकार भी तो जागते हैं जन मे।
निभने की उनसे गृहस्थता ही युक्ति है,
मुक्ति की ही ओर पहुँचाती यह भुक्ति है।[4]

—वहाँ अन्त मे शान्तिपूर्वक शरीर-त्याग का परामर्श भी देते हैं—

जब काल आवे सहज गति से शान्ति से विश्राम लें।[5]

यहाँ कालिदास के 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' की स्पष्ट प्रतिध्वनि है।

साराश यह कि आश्रम-धर्म मे मैथिलीशरण जी को अडिग आस्था है। जीवन के साफल्य और समुचित विकास के लिए वे इस सस्था को अत्यन्तावश्यक मानते हैं।

## नारी का आदृत स्थान

समाज मे जब-जब आश्रम-धर्म का स्खलन होता है तब-तब नारी का स्थान भी गिर जाया करता है। सन्यास अथवा वैराग्य को समधिक महत्व मिल जाने पर उसे विकार कहकर अभिशसित किया जाता है। इसके विपरीत विषयैषणा का एकान्त प्रचार नारी को विलास के निर्जीव उपकरण मात्र के रूप मे निरादृत करता है। कबीर और तुलसी तथा रीतिकालीन कवियो का साहित्य प्रमाण है। किन्तु भारतीय सस्कृति इस विकृत परम्परा का अनुमोदन

१. गुरुकुल, सस्करण सवत् २००४, पृष्ठ २२१
२ काबा और कर्बला, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २३
३. अनघ, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ ७४
४. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३७
५ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३०१

नही करती । उसके अनुसार वे पुरुषों के कार्यों मे समभाग लेनेवाली अर्द्धांगिनियां हैं । आर्य स्त्रियो के विषय मे कवि लिखता है—

निज स्वामियों के कार्य्य मे समभाग जो लेतीं न वे,
अनुरागपूर्वक योग जो उसमे सदा देतीं न वे,
तो फिर कहातीं किस तरह 'अर्द्धांगिनी' सुकुमारियां,
तात्पर्य्य यह—अनुरूप ही थीं नरवरों के नारियां ॥[1]

यहां वक्तव्य कवि का यह है कि आदर्श समाज मे स्त्रियां पुरुषों के अनुरूप ही होती हैं—हीन नही । वरन् मैथिलीशरण जी के विचार मे तो अर्द्धांगिनी के सहयोग और सहभोग बिना पुरुष के सभी कार्य अधूरे हैं । इसीलिए एकाकी वन-गमन के इच्छुक राम को सीता कहती हैं—

मातृ-सिद्धि, पितृ-सत्य सभी, मुझ अर्द्धांगी बिना अभी—
हैं अर्द्धांग अधूरे ही, सिद्ध करो तो पूरे ही ।[2]

अर्द्धांगीत्व के बल पर सीता वन-गमन की अनुमति चाहती हैं तो यशोधरा इसी आधार पर गौतम की उपलब्धि मे अपना अधिकार समझती है—

उसमे मेरा भी कुछ होगा, जो कुछ तुम पाओगे ।[3]

सीता और यशोधरा के अतिरिक्त कौशल्या, सुमित्रा, उर्मिला, माण्डवी, कुन्ती, द्रौपदी, गान्धारी, यशोदा, मीलनदे आदि के व्यक्तित्व मे गुप्त जी ने नारी के परमोज्ज्वल रूप को ही प्रस्तुत किया है ।

कही-कही स्त्री को दासी भी कह दिया गया है—

मेरे नाथ, जहां तुम होते दासी वहीं सुखी होती ।[4] (माण्डवी)

परन्तु यह दासत्व शिष्टाचार मात्र है । वह केवल कहने के लिए ही दासी है, व्यवहार मे नही, लक्ष्मण भी तो अपने को उर्मिला का दास बताते हैं—

किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूं ।[5]

हां, जहां स्त्री को वास्तव मे दासी मान लिया जाता है वहां गुप्त जी की करुणा चीत्कार कर उठती है—

मुट्ठी भर भी जो न दे सके,
दासी थी, मैं आहा ![6]

---

१. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ११
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ८२
३ यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २६
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २७२
५ „ „ पृष्ठ २२
६ द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ २६

पाठक के हृदय पर करुण-कोमल लीक छोड जानेवाले विघृता के इस शोकपूर्ण उद्‌गार मे कवि स्त्री को सर्वाधिकारक्षीणा दासी समझने के कुविचार का प्रत्याख्यान करता है। 'राजा-प्रजा' नामक पुस्तक मे तो उन्होंने अपनी इस मान्यता का व्याख्यान और भी स्पष्ट शब्दो मे किया है—

आधे का अधिकार उचित ही उन्हें मिला है,
. ..... ... ।
छोटों की माँ, और बडों की वे बेटी हैं,
समवयस्को की बहन, कहाँ किसकी चेटी हैं ?[१]

अर्थात् पुरुष और स्त्री मे अधिकारी-अधिकृत का सम्बन्ध गुप्त जी को स्वीकार नही वरन् वे दोनो के तुल्याधिकारो को मान्यता प्रदान करते हैं।

परन्तु स्त्री-पुरुष की तुल्याधिकार-स्वीकृति का यह अभिप्राय नही कि वे एक-दूसरे के प्रतियोगी हैं वरन् वे परस्पर सहयोगी है—एक-दूसरे के पूरक हैं। स्त्री के ससर्ग से पुरुष का जीवन आनन्दमय बनता है—

भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त्त भी,
प्रेयसी, किसके सहज-ससर्ग से,
दीखते हैं प्राणियो को स्वर्ग से ?[२]

—तो स्त्री को भी अपना सुख-दु ख उँडेलने के लिए पुरुष की अपेक्षा है—

खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम,
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम;
आन्तरिक सुख-दु ख हम जिसमे धरें,
और निज भव-भार यों हलका करें।[3]

स्त्री-पुरुष की परस्पर-सापेक्षता पर विचार करते समय यह भी उल्लेख्य है कि उन दोनो मे कुछ प्राकृतिक भेद भी है। नारी अपने 'अवयव की सुन्दर कोमलता' के कारण सदैव हारी है अर्थात् शरीर-रचनागत भेद के कारण सभी देशो और कालो मे उसका क्षेत्र सीमित रहा है। भारतीय सस्कृति मे भी यह तथ्य अविस्मृत है। इसीलिए यहाँ स्त्रियो को गृहलक्ष्मी माना गया है। उनसे बाहर वे प्राय नही जाती। यद्यपि वे अबलाए परिस्थितिवश कभी-कभी प्रबलाएं भी बन जाती हैं—

१ राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३४
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २३
३ " " पृष्ठ २३

मैं निज पति के संग गई थी असुर-समर मे,
जाऊँगी अब पुत्र-संग भी अरि-संगर मे।[1]
(कैकेयी)

ठहरो यह मैं चलूं कीर्ति-सी आगे-आगे!
भोगें अपने विषम कर्म-फल अधम अभागे![2]
(उर्मिला)

किन्तु प्रस्तुत कवि उन्हे घर बैठने का ही परामर्श दिलाता है।[3] साकेत के वीरो का कथन है—

क्या हम सब मर गये हाय! जो तुम जाती हो,
या हमको तुम आज दीन-दुर्बल पाती हो?[4]

तात्पर्य यह कि गुप्त जी नारी को गृहलक्ष्मी ही मानना चाहते हैं। उसके लिए उससे विस्तृत कार्य-क्षेत्र का वे समर्थन नहीं करते। इसीलिए राजरानी माण्डवी को भी राजनीति सम्बधी बातो के सुनने से पहले भरत से पूछना पडता है—

राजनीति बाधक न बने तो तनिक और ठहरूँ इस ठौर?[5]

—और—

सिहिनी-सी काननों मे, योगिनी-सी शैलो मे,
शफरी-सी जल मे, विहगिनी-सी व्योम मे[6]

—विचरण कर सकने वाली यशोधरा भी जो वैसा नही करती उसका एक कारण गौतमकृत परित्याग का क्षोभ है तो दूसरा कवि का यह दृष्टिकोण भी है कि स्त्री का उपयुक्त स्थान घर है—बाहर नही। अर्थात् उसे घर पर रहते हुए ही सुख-दुख का भोग करना चाहिए, बाहर जाकर नही। यद्यपि सीता साकेत से बाहर गई थी—किन्तु राम के साथ। अत. वह सीता का गृह-त्याग नही था वरन् उनकी गृहस्थी का स्थानान्तरण मात्र था। यह सब कहने का तात्पर्य यह कि मैथिलीशरण नारी की अनिवार्य सीमाओ से इन्कार नही करते—किन्तु प्रकृति-आरोपित उन सीमाओं के कारण वे उसे हीन मानने को तैयार नहीं हैं। संसार-त्यागकर घोर तपस्या के पश्चात् सिद्धि-लाभ करने वाले गौतम की गृह-अवरुद्ध यशोधरा के प्रति निम्न उक्ति—

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०१
२. ,, ,, पृष्ठ ३१५
३. ,, ,, पृष्ठ ३०१
४. ,, ,, पृष्ठ ३१५
५. ,, ,, पृष्ठ २७३
६. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२६

**दीन न हो गो`, सुनो, हीन नहीं नारी कभी ।[१]**

—मे कवि का यही दृष्टिकोण प्रकटित है ।

### परिवार-कल्पना

समाज का लघु सस्करण है परिवार । वास्तव मे परिवारो का सघट्ट ही समाज है ।—और किसी समाज की समुन्नति पारिवारिक जीवन की सुख-शाति पर आधारित है । मैथिलीशरण पारिवारिक जीवन के ही कवि हैं । वास्तव मे जैसा कि डा० हजारीप्रसाद ने लिखा है—"भारतवर्ष के सभी मर्यादा-प्रेमी कवि परिवार के कवि रहे हैं ।"[२] परिवार मे भी गुप्त जी सयुक्त परिवार का समर्थन करते हैं । उनके सभी सुपात्र सम्मिलित परिवार के ही सदस्य हैं । मनोविज्ञान के पडित भी चारित्र्य-उन्नयन के लिए सम्मिलित परिवार की आवश्यकता अनुभव करते हैं ।[3] परन्तु भारतवर्ष से सयुक्त परिवार की सस्था का लोप होता जा रहा है । गुप्त जी ने भारत-भारती मे अविचार और अनुदारता-जन्य इस प्रवृत्ति पर क्षोभ प्रकट किया है—

**इस गृह-कलह से ही कि जिसकी नींव है अविचार की—**
**निन्दित कदाचित् है प्रथा अब सम्मिलित परिवार की ।**
**पारस्परिक सौहार्द्र अपना अन्यथा अश्रान्त था,**
**हाँ, सु—'वसुधैव कुटुम्वकम्' सिद्धान्त यह एकान्त था ।।[४]**

साकेत का रघु-परिवार जिसका आदर्श हो वह इस अकाड पर क्षुब्ध क्यो न होगा ? अब तो यहा दो सहोदर भाइयो मे भी नही बनती—

**दो भाइयों मे भी परस्पर अब यहाँ पटती नहीं ।[५]**

परन्तु कवि के आदर्श परिवार के सदस्य राम वैमात्रको के प्रति भी कितने उदार हैं—

**रहेगा साधु भरत का मन्त्र**
**मनस्वी लक्ष्मण का बल तन्त्र**
**तुम्हारे लघु देवर का धाम[६]**

इस आदर्श के समक्ष रहने के कारण ही तो प्रजा मे भी कभी गृह-कलह नही होता—

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ १४५

२ हिन्दी साहित्य, सस्करण सन् १९५५, पृष्ठ ४४३

३ दे० Inquiries into Human Faculty and its Development, Francis Galton, 2nd Edition, page 213

४. भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ १४६

५. " " पृष्ठ १४६

६ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ४३

नहीं कहीं गृह-कलह प्रजा में, हैं संतुष्ट तथा सब शान्त,
उनके आगे सदा उपस्थित दिव्य राज-कुल का दृष्टान्त।[1]

औदार्य-उज्ज्वल इस रघुकुल के ही समकक्ष है कुरुवंश का ईर्ष्या-मलिन उदाहरण। पारिवारिक शान्ति को भंग करने वाले दुर्योधन के उस अस्वस्थ द्वेषानल ने समस्त देश को ही भस्म कर डाला—

भारत न दुर्दिन देखता मचता महाभारत न जो।[2]

यदि गुप्त जी से पूछा जाता तो वे तो दुर्योधन को 'राहित्य' के स्थान पर 'साहित्य' (यहाँ राहित्य नहीं साहित्य[3]) का ही परामर्श देते। कौरव और पाण्डवों को सम्मिलित परिवार के सदस्य बनकर रहने की बात कहते। क्योंकि वे निश्चित रूप से बहुजनगृहता को कल्याणकारिणी मानते हैं—

होता है कृतकृत्य सहज बहुजन गृही।[4]

चिरगाँव का संतुष्ट गुप्त-परिवार उनके उपर्युक्त अभिमत का जीवन्त प्रमाण है। कवि के आदर्श रघु-परिवार में भी असांस्कृतिक व्यवहार के कतिपय उदाहरण मिल जाएंगे—किन्तु वे मानव की सहज विकृतियाँ मात्र हैं जिन्हें स्वाभाविकता की रक्षा के कारण काव्य में स्थान मिला है।—और पारस्परिक व्यवहार-सौष्ठव के अनन्त निदर्शनों की तुलना में वे नगण्य ही हैं।

सब मिलाकर मैथिलीशरण जी का आदर्श समाज सम्मिलित परिवारों का संघात है जहाँ समाज के सदस्यों में परिवार के समान सौहार्द और सौमनस्य है तथा परिवार के अंगभूत विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे को सामाजिकों के समान पारस्परिक सापेक्षता में देखते हैं। परिवार में और समाज में कहीं भी नारी का स्थान हीन नहीं है तथा वर्णाश्रम-धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा है—किन्तु अपने शुद्ध मूल रूप में। मध्यकालीन विकार गुप्त जी को एकदम अमान्य हैं।

## भौतिक समृद्धि

गुप्त जी के सामाजिक आदर्श का विवेचन करते समय इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि आश्रम-व्यवस्था में उनकी दृढ आस्था है। यह संस्था लौकिक और अलौकिक दोनों जीवनों को सुखी बनाने के लिए भारतीय प्रतिभा की अनन्य कल्पना है। अतः इसका विश्वासी भौतिक जीवन का भी तिरस्कार नहीं करता। वह उसको उपेक्षणीय न मानकर मानव के सम्यक् विकास के लिए आवश्यक समझता है। प्रस्तुत कवि के विचार में भी इहलोक के बनने पर ही पारलौकिक सफलता संभव है—

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २७५

२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ५

३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ४३

४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६८

उनको मुक्ति कहाँ, जिनका है
ऐहिक जीवन ही मृत मन्द।[१]

या फिर—

खोके यहाँ सब, वहीं हम पायेंगे क्या ?[२]

फलत: मैथिलीशरण जी के काव्यो की पृष्ठभूमि स्वरूप जो भौतिक जीवन उपस्थित हुआ है वह काफी समृद्ध और ऐश्वर्यपूर्ण है। साकेत के मनोहारी राजमहल का अवलोकन कीजिए—

कामरूपी वारिदो के चित्र-से,
इन्द्र की अमरावती के मित्र-से,
कर रहे नृप-सौध गगन-स्पर्श हैं,
शिल्प-कौशल के परम आदर्श हैं।
कोट-कलशो पर प्रणीत विहग हैं,
ठीक जैसे रूप वैसे रग हैं।[3]

पाण्डवो के लिए मय दानव द्वारा वनाया हुआ महल भी अपूर्व है। जिसमे दुर्योधन तक को जल मे थल का तथा थल मे जल का आभास होता है। शिल्प-कौशल ही नही रत्न-मणि-सम्पदा भी अपार है। पाण्डवकृत राजसूय यज्ञ के अवसर पर आगत उपहारो की वहार भी देखिए—

एक स्वर्ण के अगणित भूषण आकर्षक अभिराम,
मणि-रत्नों की आभाओ से उद्भासित था धाम।
शस्त्र-वस्त्र नव गन्ध-द्रव्य वहु, चित्र-मूर्तियाँ लेख,
हुए चमत्कृत लोग अकल्पित पशु-पक्षी ही देख।[४]

यह द्रव्यमय दृश्य देखकर ही तो ईर्प्यालु, सुयोधन लुब्ध हो गया था।[५]—और अव लीजिए मदन वर्मा की सभा का एक ऐश्वर्य-समृद्ध दृश्य जहाँ रूप, नृत्य और वागेश्वरी की एक कोमल-मधुर तान, जिसके विना सव रग फीका है,[६] का मणि-काचन सयोग अद्भुत प्रभावक्षम है—

मोडती हुई भी मुख, ग्रीवा-भग करके,
छोडती अपाग शर अगनाए नर्त्तकी।

---

१. अंजलि और अर्घ्य, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २३
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ २७६
३ साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १४
४ जयभारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३२
५ ,, ,, पृष्ठ १३२
६ दे० स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (नाटक)—प्रसाद, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ५३

सच्चा रग किन्तु उनका था कठ-राग मे,
कुंठित-से, स्तम्भित-से श्रोता सब हो गये ।[1]

यह तो हुई नृप-सौधो और राजसभाओ की बात। नगर के अपार वैभव के भी दर्शन कीजिए—

देख लो, साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन मे जा रही।
केतु-पट अंचल-सदृश हैं उड रहे,
कनक-कलशों पर अमर-दृग जुड रहे,
सोहती हैं विविध-शालाएँ बड़ी,
छत उठाये भित्तियां चित्रित खड़ी।
* * *
स्वच्छ सुन्दर और विस्तृत घर बनें,
इन्द्रधनुषाकार तोरण हैं तनें।
फूल-फलकर, फैलकर जो हैं बढ़ी,
दीर्घ छज्जों पर विविध बेलें चढ़ी।
फल-पत्ते हैं गवाक्षो मे कढे,
प्रकृति से ही वे गये मानो गढे।[2]

दृष्टि ही नही कर्ण, नासिका और जिह्वा भी तृप्ति-लाभ करती है—

दृष्टि मे वैभव भरा रहता सदा;
घ्राण मे आमोद है बहता सदा।
ढालते हैं शब्द श्रुतियो मे सुधा;
स्वाद गिन पाती नहीं रसना-क्षुधा।[3]

मैथिलीशरण जी द्वारा परिकल्पित समाज मे ललित कलाओ का अबाध प्रसार है। राजागण उनके प्रसार मे सहायक हैं। सिद्धराज जयसिंह के प्रश्रय से ललित कलाए फलती-फूलती हैं[4] तो महाराज मदन वर्मा के अधीनस्थ महोबा-प्रदेश मे सर्वत्र कला की प्रतिष्ठा है—

मन्दिरों मे दर्शन हों चाहे जिस मूर्ति के,
प्रथम प्रतिष्ठा वहां होती है कला की ही।
खोदकर शिल्पियों ने हृदय निकाले हैं
कौशलो के; विस्फुरण, दृष्टि हो तो देख लो।[5]

---

१. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १२५
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १३
३. ,, ,, पृष्ठ १४
४. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १०७
५. ,, ,, पृष्ठ ११२-११३

चित्र-कला भी काफी उन्नत है। उर्मिला-रचित अभिषेक-मण्डप का मनोमोहक चित्र कवि के शब्द-चित्र के माध्यम से देखते ही बनता है—

दुर्ग-सम्मुख दृष्टि-रोध न हो जहाँ,
है सभा-मण्डप बना विस्तृत वहाँ।
झालरों मे मजु मुक्ता हैं गुहे,
माग में जिस भाँति जाते हैं गुहे।
दीर्घ खम्भे हैं बने वैदूर्य के।
... . .....
बज रही है द्वार पर जय दुन्दुभी,
और प्रहरी हैं खडे प्रमुदित सभी।
क्षौम के छत मे लटकते गुच्छ हैं।
सामने जिनके चमर भी तुच्छ हैं।[१]
आदि।

कैसा रगीन कलामय चित्र है। कल्पना-प्रचुर पाठक ही इसका आस्वादन कर सकते हैं। कविता और नाटक मे भी लोगो को पर्याप्त रुचि है—

कविता, कलनाट्य सुशिल्पकला,
इस भाँति बढी किस ठौर भला ?
किस पै न रहा इसका कर है,
किस सद्गुण का न यहाँ घर है ?[२]

—और सगीत की तो राग-रागिनियो का उद्गम-स्थल ही यह देश है—

आती सुचेतनता जिन्हें सुनकर जडों मे भी अहो!
आई कहा से गान मे वे राग-रागनियां कहो ?[३]

मनोरजन के प्रचुर उपकरण उपलब्ध हैं। तोता मैना प्राय प्रत्येक घर मे पाले जाते है। गृहस्थ ही नही आश्रम-वासी भी उन्हें पालते हैं—

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढते हैं
शुक-सारी भी आश्रम के।[४]

उपयोगी विद्याओ का प्रसार और परिशीलन भी कम नही—

हम वेद, वाकोवाक्य-विद्या, ब्रह्मविद्या-विज्ञ थे,
नक्षत्र-विद्या, क्षत्र-विद्या, भूत-विद्याऽभिज्ञ थे।

---

१. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २६
२ मगल-घट, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २४
३ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ४८
४. पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ १२

निधि, नीति-विद्या, राशि-विद्या, पित्र्य-विद्या मे बढे,
सर्पादि-विद्या, देव-विद्या, दैव-विद्या थे पढे ।[1]

साकेत के एकादश सर्ग मे शत्रुघ्न द्वारा प्रस्तुत प्रजा की समृद्धि और विद्या-विलास के विवरण मे उपयोगी कलाओ और विद्याओ का वैभव देखा जा सकता है । लेखकगण जहाँ-तहाँ जाकर लोगो के अनुभव लिखते है, ज्ञानी और वैज्ञानिक नूतन सत्यो एव तथ्यो का शोध करते हैं, सौगन्धिक नई-नई सुगन्धियाँ निकालते हैं तथा उद्यान-कला-विशारद माली नए पौधे लगाते हैं ।[2] तन्तुवाय बडा महीन वस्त्र बनाने मे लगे हुए है—

तन्तुवाय बुन बना रहे हैं नये-नये बहु पट-परिधान,—
रखने मे फूलो के दल-से, फैलाने मे गन्ध-समान ।[3]

स्वर्णकार चमत्कारो के प्रसार मे रत हैं । कृषक बडे श्रम और कौशल से बीजो का इतिहास जीवित रखते हैं । गोवश का अभिनव विकास हो रहा है । वसुधा-विज्ञ सफलतापूर्वक नई खानो का पता लगाते हैं—और वैद्य अज्ञातपूर्व वनस्पतियो से नई औपधियाँ बनाते हैं जिनकी गध अथवा स्पर्श ही रोग-नाश के लिए पर्याप्त है—

वैद्य नवीन वनस्पतियो से प्रस्तुत करते हैं नव योग,
जिनके गन्धस्पर्श मात्र से मिटें गात्र के बहुविध रोग ।[4]

इसीलिए तो कवि ने भारत-भारती मे इस देश की वैद्यक का महत्व-गान किया था—

है आजकल की डाक्टरी जिससे महामहिमामयी,
वह 'आसुरी' नामक चिकित्सा है यहीं से ली गई ।
नाड़ी-नियम-युत रोग के निश्चित निदान हुए यहा,
सब औषधो के गुण समझ कर रस-विधान हुए यहा ॥[5]

सब मिलाकर मैथिलीशरण जी ने सम्पन्न भारत का भव्य चित्र उपस्थित किया है । आज चाहे इस देश की जो दशा हो गई है—किन्तु गुप्त जी भारत के सास्कृतिक इतिहास के जिस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं उस समय उसकी भौतिक समृद्धि निश्चय ही अपूर्व थी । वही उनके काव्य मे प्रोद्भासित है ।

## रीति-नीति

भौतिक समृद्धि एव वैभव-विलास को अपेक्षित मानते हुए भी हमारे यहाँ उनके अनियन्त्रित भोग को प्रश्रय नही दिया गया है । आत्म-निग्रह सभी अवस्थाओ मे अनिवार्य है । यो तो कोई भी वृत्ति अप्रतिवद्ध नही होनी चाहिए—किन्तु मुख्यत. दो वृत्तियो—सदैव अतृप्त

---

१. भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ २८
२. दे० साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २७३-२७४
३. साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २७४
४ ,, ,, पृष्ठ २७४
५ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ४१

मैं एकात्मा से भजूं तुम्हें,
रख तुल्य रूप न्यारे न्यारे ।[1]

—मे पातिव्रत-धर्म के पालन की कामना ही प्रकट हुई है । न्यारे-न्यारे रूप रखने का यही रहस्य है ।

जहाँ लोभ और काम के शासन की उपर्युक्त नीति का अनुसरण नही है वही विनाश और विध्वस है । ईर्ष्यालु लोभ दुर्योधन के सर्वनाश का कारण है तो बहुपत्नीत्व दशरथ के कारुणिक अत का । कीचक की 'अनरीति'—पर-स्त्री मे आसक्ति—से उसका निधन होता है तो शूर्पणखा का पर-पुरुष भाव उसे विकलाग कर देता है । इस प्रकार प्रस्तुत कवि ने भारतीय संस्कृति द्वारा अनुमोदित लोभ और काम के नियन्त्रण मे विश्वास प्रकट किया है ।

## शिष्टाचार

यह भी रीति-नीति के ही अन्तर्गत आता है । काफी बाहरी चीज होने पर भी व्यवहार-सौष्ठव के लिए जीवन मे इसकी आवश्यकता से इन्कार नही किया जा सकता । गुप्त जी का तो काव्य ही मानवीय सबधो का काव्य है । अत उसमे सुष्ठु शिष्टाचार के राशि-राशि निदर्शन सहज उपलब्ध हैं ।

गुरु सर्वत्र पूजनीय हैं । साकेत मे दशरथ, रानियाँ तथा राजपुत्र सभी वसिष्ठ का आदर करते हैं । राक्षस भी अपने गुरु का सम्मान करने मे चूक नही करते । तिलोत्तमा नाटक से निम्न अवतरण का अवलोकन कीजिए—

दैत्य
स्वामियो की जय हो । गुरु महाराज आ रहे हैं ।
सुन्द
क्या गुरु महाराज आ रहे हैं ? अच्छा,
(सब खड़े होते है)
(शुक्राचार्य्य का प्रवेश)
(सब प्रणाम करते हैं)[2]

पिता का समवयस्क एव परिवारभुक्त होने के कारण राम सेवक सुमन्त्र को भी 'काका' कहते हैं—

सुमन्त्रागम समझकर रुक गये वे !
"अहा ! काका", विनय से झुक गये वे ।[3]

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४३०
२ तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ७०
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ ६६

इसी प्रकार कांचनदे अपने पिता के अधीनस्थ अधिकारी काकभट को 'भटकाका' कहकर अभिवादन करती है।[1] गुरुजन आशीर्वाद देते हैं—

"स्वस्ति", द्रोण ने कहा......... ।[2]

तथा सिर पर हाथ फेरकर प्यार करते हैं—

बढ कर "जीती रह" कह कर विप्र ने,
सिर पर हाथ फेर प्यार किया उसको।[3]

स्त्री, विशेषत परस्त्री, से बात-चीत करने मे शिष्टाचार-पालन की ओर भी अधिक आवश्यकता है। गुप्त जी के सारे सुपात्र इस बात का ध्यान रखते हैं। रामचन्द्र शूर्पणखा को 'शुभे' से सबोधित करते हैं—

शुभे, बताओ कि तुम कौन हो
और चाहती हो तुम क्या ?[4]

भीम भी हिडिम्बा को 'देवी' कहते हैं—

"देवि, कौन है तू यहाँ ?" बोले हँस हीरे-से ![5]

इस सौजन्य से आश्वस्त होकर ही तो सुग्रीव तारा को आगे करके क्रुद्ध लक्ष्मण के समीप आता है—

तारा को आगे करके तब
नत वानरपति शरण गया।[6]

पुरुष और स्त्री के बीच शिष्टाचार का सौष्ठव देखना हो तो साकेत के गुहराज-प्रसग मे गुहराज और सीता का वार्तालाप पढिए।[7]

गुप्त जी द्वारा परिकल्पित समाज मे पुत्र-पुत्रियाँ पिता को 'तात' कहती हैं—

कहा तब राम ने—"हे तात ! क्या है ?"[8]

राक्षसी हिडिम्बा के गर्भ से उत्पन्न घटोत्कच भी अपने पिता भीम को तात ही कहता है—

---

१. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ९५
२. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ४४
३. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ९५
४. पंचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ ३३
५. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १३
६. प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृष्ठ ५२
७ विवेचन के लिए देखिए साकेत : एक अध्ययन—प्रोफेसर नगेन्द्र, पंचम संस्करण, पृष्ठ ११२
८. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ५४

क्योकि सेवक को राज-रहस्य के जानने का अधिकार नही। ऐसे अवसर पर छन्दक का मौनाचार ही विनयाचार है। हाँ, यह स्वामी का कर्त्तव्य है कि विश्वस्त सेवक के कुतूहल को शान्त करे। अत गौतम उसे बता देते है—'मृत्यु-विजय-अभियान आज।' अस्तु!

अतिथि-सत्कार भारतीय सस्कृति के अनुसार मानव का धर्म है। भारतीयो का यह गुण चिर प्रशसित है। प्रस्तुत कवि के गर्व के विषय प्राचीन भारत मे गृहस्थ अतिथि-सत्कार से गौरवान्वित होते हैं—

अपने अतिथियो से वचन जाकर गृहस्थो ने कहे—
"सम्मान्य! आप यहां निशा मे कुशलपूर्वक तो रहे।
हमसे हुई हो चूक जो कृपया क्षमा कर दीजिए—
अनुचित न हो तो, आज भी यह गेह पावन कीजिए" ॥[१]

तात्पर्य कहने का यह कि इस कवि के विचार मे आतिथ्य से 'गेह पावन' होता है। इसीलिए कुन्ती के ससुत अतिथि-रूप मे आने पर वक-सहार की ब्राह्मणी अपनी गृहस्थी को 'विशेष सनाथ' मानती है—

"गृहनाथ हैं? मैं अतिथि हूँ, सुत साथ हैं।"
झट ब्राह्मणी चौंकी चली,
कहकर मधुर वचनावली,
"आओ, अहा! हम सब विशेष सनाथ हैं।"[२]

ब्राह्मण ही नही राक्षस भी इस सुकर्म मे तत्पर हैं। हिडिम्बा कहती है—

अपने अतिथि का मुझी पर न भार है,
कह दो अपेक्षित तुम्हें क्या उपहार है?[३]

साराश यह कि मैथिलीशरण जी अतिथि-सत्कार के अपूर्व महत्त्व एव माहात्म्य के प्रस्तोता हैं। उनके व्यक्तिगत जीवन में इसका व्यवहार भी देखा जा सकता है।

## परम्पराओ मे विश्वास

प्रदेश-विशेष की प्रथाएँ और सस्कार भी वहाँ की सस्कृति के परिचायक होते हैं। इस विषय मे प्रोफेसर नगेन्द्र लिखते हैं—"सामाजिक जीवन की प्रथाए और सस्कार भी सस्कृति के भव्य निदर्शन है—उनमे सस्कृति का स्वरूप न जाने कब से सरक्षित चला आता है।"[४] इस देश की भी अपनी परम्पराएँ हैं—परम्परा से कतिपय प्रथाएँ, सस्कार और विश्वास प्रचलित हैं। गुप्त जी के काव्य मे प्राय वे सभी प्रस्थापित हैं, उनमे से कुछ को उदाहृत करते हैं

१ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृष्ठ ५८
२ वक-सहार, सस्करण सवत् २००२, पृष्ठ ८
३ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १४
४. साकेत · एक अध्ययन—प्रोफेसर नगेन्द्र, पचम संस्करण, पृष्ठ ११४-११५

विप्रवर पढने लगे तव वेदमन्त्र विधान से

* * *

की गई प्रज्वलित तव जो हवन-वह्नि प्रभा-भरी

* * *

एक साथ परिक्रमा दोनों उसे देने लगे

* * *

गह पसीजा-कर वधू का वर उसी का हो गया

* * *

दान और दहेज मे सम्पत्ति समुचित दी गई[1]

यहाँ भारतीय वैवाहिक विधि का सारा विधान अकित है। जयद्रथ-वध मे ध्रुव-दर्शन की वात का भी उल्लेख है—

परिणय-समय मण्डप-तले सम्वन्ध-दृढता-हित अहा !<br>
ध्रुव देखने को वचन मुझमे नाथ ! तुमने था कहा।[2]

यह तो हुई विवाह सस्कार की वात। यहाँ स्वयवर का भी प्रचलन था। गुप्त जी के काव्य में भी उस प्रथा को स्थान मिला है—

सज गई स्वयवर राज-सभा<br>
नक्षत्रों की-सी जगी प्रभा।<br>
उन सवके वीच विकासयुता,<br>
शशि कला सदृश थी द्रुपदसुता।

* * *

नीचे प्रतिविम्व निरख जल में,<br>
भेदे जो लक्ष्य नभस्थल में,<br>
वर वही द्रौपदी पावेगा,<br>
शर सूक्ष्म छिद्र से जावेगा।[3]

और अव विधिपूर्वक सम्पादित अभिषेक-उत्सव के भी दर्शन कीजिए—

वीच मे है रत्न-सिंहासन वना,<br>
छत्र और वितान जिस पर है तना।<br>
आर्य दम्पति राजते अभिराम हैं,<br>
प्रकट तुलसी और शालग्राम हैं।

---

१. रंग मे भग, संस्करण सवत् २००३, पृष्ठ १०-११

२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ २३

३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०२-१०३

सब सभासद शिष्ट हैं, नय-निष्ठ हैं,
छोडते अभिषेक-वारि वसिष्ठ हैं।
आर्य-आर्या हैं तनिक कैसे झुके,
आज मानों लोक-भार उठा चुके।[1]

परन्तु विवाह और अभिषेक ही नही भारतवर्ष मे मृत्यु का स्वागत भी उसी उत्साह से किया जाता रहा है। अतएव यहाँ अत्येष्टि सस्कार भी एक प्रकार का उत्सव ही है। महाराज दशरथ के 'सुर-धाम-यात्रा-पर्व' का भव्य-उदात्त दृश्य देखिए—

आज नरपति का महा सस्कार,
उमडने दो लोक-पारावार।
है महायात्रा यही, इस हेतु
फहरने दो आज सौ सौ केतु।
घहरने दो सघन दुन्दुभि-घोर,
सूचना हो जाय चारों ओर—
सुकृतियो के जन्म मे भव-भुक्ति,
और उनकी मृत्यु मे शुभ-मुक्ति।
अश्व, गज, रथ, हों सुसज्जित सर्व,
आज है सुर-धाम-यात्रा-पर्व।
सम्मिलित हों स्वजन, सैन्य, समाज,
बस, यही अन्तिम विदा है आज।[2]

इसके पश्चात् अगरु-चन्दन की चिता प्रज्वलित होती है। कुल-आचार्य, कुल-पुरोहित तथा अन्यान्य विप्रगण होम-आहुति-कार्य सम्पन्न करते हैं। ऐसे शुभ मुहूर्त पर झाझ, झालर और शख बज उठते हैं, तथा—

फिर प्रदक्षिण, प्रणति जयजयकार,
सामगान-समेत शुचि-संस्कार।
बरसता था घृत तथा कर्पूर,
सूर्य पर था एक लघु घन दूर।[3]

आज भारत मे मृत्यु के अवसर पर 'राम नाम सत्य है' का उच्चार होता है। गुप्त जी उपर्युक्त सस्कार के समय ही वसिष्ठ द्वारा इस महामन्त्र की प्रतिष्ठा करा देते हैं, और तब—

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ २६-२७
२ " " पृष्ठ १५०-१५१
३ " " पृष्ठ १५२

कण्ठ कण्ठ गा उठा,
शून्य शून्य छा उठा—
सत्य काम सत्य है।
राम नाम सत्य है।[१]

पितरो की तृप्त्यर्थ स्मृतियो मे तर्पण का—तिल-तण्डुल-मिश्रित जल-दान का उल्लेख किया गया है। मैथिलीशरण जी के सुपात्र इसके विश्वासी हैं—

प्रभु ने मुनियों के मध्य श्राद्ध-विधि साधी।[२]

उधर कुन्ती युधिष्ठिर को कर्ण के तर्पण का आदेश देती हैं—

वत्स, कर्ण को भी अजलि दो, निज अग्रज के नाते।[३]

पितृ-तर्पण की इस प्रथा के प्रचलन के कारण ही अपने यहाँ पुत्रोत्पत्ति आवश्यक मानी गई है। चाणक्य पुत्र-प्राप्ति को बहुत बडा लाभ कहते हैं—

अतिलाभ· पुत्रलाभ।[४]

क्योकि पुत्र ही पितरो को पिण्ड-दान कर सकता है। जिस कुल मे पुत्र के अभाव से तर्पण-क्रिया लुप्त हो जाती है उसके पितर अतृप्त ही रह जाते हैं। अतएव अपुत्र को पितृ-ऋण से मुक्ति नही मिल सकती। पुत्र और पिण्ड-दान के ऐसे अद्वितीय महत्व के कारण ही राजमाता मीलनदे के मन मे अन्त तक पौत्र-कामना बनी रहती है—

तुझ-सा सपूत पाया और मुझे पाना क्या ?
किन्तु पुत्र पाकर भी पौत्र यहां चाहिए।[५]

—और शत्रु के भी पिण्ड-लोप की पैशाचिक कामना कोई नही करता। पाण्डवों के समूल नाश के लिए कटिबद्ध अश्वत्थामा को दुर्योधन-सा मत्सरी भी कहता है—

किन्तु गुरु-पुत्र! एक पिण्डदाता छोडना।[६]

प्रत्येक देश मे कतिपय विचित्र प्रथाएँ और विश्वास भी प्रचलित हो जाया करते हैं। उनमे तथ्य अथवा वैज्ञानिकता का मधान व्यर्थ होगा, परन्तु चिरकाल से वे जन-मन मे बसते चले आते हैं। यही उनकी मनोवैज्ञानिक प्रभावशीलता का कारण है। गुप्त जी के यहाँ प्राय: वे सभी प्रथाएँ और विश्वास गृहीत हैं। आनन्द-मगल के अवसर पर दूर्वा बधती है—

मोद मंगलाचार हो उठे बंधी चतुर्दिक दूवा।[७]

---

१. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५५
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७६
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४१६
४. चाणक्यप्रणीत सूत्र ३८५
५. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ८४
६. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६१
७. जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १७४

—तथा अतिथि के स्वागत के लिए चौक पूरे जाते हैं, कदली खम्भ रोपे जाते हैं, तोरण बधते हैं एव पताकाएँ फहरती हैं—

सारी पुरी स्वच्छ और सज्जित विशेष थी,
होकर नई-सी, नये आगत अतिथि के
स्वागत के अर्थ बहु भाँति चौक पूर के,
कदली के खभ रोप, मगल-कलश ले,
बाध नये तोरण, वितान बहु तान के,
सुन्दर पताकाए उडाके अन्तरिक्ष मे,
भूमि पर पांवडे बिछाके राजमार्ग मे,
उत्सुक खड़ी थी लिए बढती उमगों को।[1]

हमारे यहाँ कुल की कुशल-कामना के निमित्त गृहिणियाँ उपवास किया करती हैं। साकेत की सीता इसका अनुमोदन करती हैं—

वधुए लघन से डरतीं—
तो उपवास नहीं करतीं।[2]

कन्या को इस देश में पराई धरोहर समझा जाता है। अत माता-पिता उसके घर की कोई भी वस्तु ग्रहण नही करते। सिद्धराज का कुम्भकार भी अपनी पोषिता कन्या रानकदे के राज्य का पानी तक न पीने मे सौभाग्य समझता है—

और, राज्य का भी इस अपनी हठीली के
पानी जो न पीना पडे तो फिर क्या पूछना ?[3]

निमित्त अर्थात् शकुन-अपशकुन का भी इस देश मे काफी प्रचार और विश्वास है। यहाँ के विधि-व्यवस्थापक तक इसके विश्वासी रहे हैं—

कार्यसपद निमित्तानि विशेषयन्ति।[4]
नक्षत्रादपि निमित्तानि विशेषयन्ति।[5]

भारतीय साहित्य मे भी निमित्त-विचार के निदर्शन प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हैं। गुप्त जी के काव्य से शुभ, शकुन आदि के दो-एक उदाहरण लीजिए—

(१) पर चले शुभ योग मे सब तीन दिन रुक।[6]

---

१. सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १२२
२. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ८३
३ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ६८
४ चाणक्यप्रणीत सूत्र ३२२
५ ,, ,, ३२३
६ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १५६

(२) सखि, वे कहाँ गए हैं ?
मेरा बाया नयन फड़कता है ।[1]

शुभाशुभ एवं शकुनापशकुन के साथ ही टीका करने, सिन्दूर-विन्दु लगाने, चूड़ियाँ पहनने आदि मे भी गुप्त जी के पात्रो को पूर्ण विश्वास है । उर्मिला विजय-प्राप्ति के निमित्त शत्रुघ्न को टीका लगाती है—

जीतो तुम,—श्रुतिकीर्ति ! तनिक रोली तो लाना,
टीका करदू बहन, इन्हें है झटपट जाना ।[2]

और यशोधरा हाथो की चार चूडियो एव मस्तक के सिन्दूर-विन्दु से ही अपने को सौभाग्यवती समझती है—

चार चूडियाँ ही हाथो मे पडी रहें चिरकाल ।
× × ×
वस, सिन्दूर-विन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल ।[3]

यथाप्रसग गुप्त जी ने सौगन्ध, शाप, योग आदि मे भी आस्था प्रकट की है । कौशल्या राम की सौगन्ध खाती हैं—

भरत मे अभिसधि का हो गन्ध,
तो मुझे निज राम की सौगन्ध ।[4]

कैकेयी की निम्न उक्ति भी सौगन्ध ही है—

यदि मै उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वय पुत्र भी खोऊँ ।[5]

जय भारत मे अश्वत्यामा पाण्डवो को शाप देता है—

मर जाय उत्तरा-गर्भजात, घर मे भर जाय अघेरा ।[6]

—और फिर उसका अनुमारी परिणाम—

जना उत्तरा ने भी सुत, पर हुआ परीक्षित मृत-सा ।[7]

दिखाकर कवि ने शाप मे अपना विश्वाम प्रदर्शित किया है ।

योग का प्रभाव भी उनके काव्य मे दो-चार स्थलो पर मिलता है—

यातुधानी हूँ न, योग रखती हूँ माया का ।[8]

---

१. यशोधरा, संस्करण सवत् २००७, पृष्ठ २३
२ साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०२
३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृष्ठ ३४
४ साकेत, संस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १४३
५ " " पृष्ठ १७
६ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०८
७ " " पृष्ठ ४२१
८. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १५

हिडिम्बा को काम-रूप-धारण की अपूर्व यौगिक शक्ति प्राप्त है। हनुमान का आकाश-धावन भी यौगिक चमत्कार है। साकेत मे वसिष्ठ-प्रदत्त योगदृष्टि से ही अयोध्यावासियो को लकायुद्ध दृष्टिगत होता है।

समग्रत मैथिलीशरण जी को भारत के बृहत्तर जन-समुदाय द्वारा गृहीत प्राय सभी परम्पराओ और विश्वासो के प्रति श्रद्धा है। किन्तु उनकी यह सहज श्रद्धा अध श्रद्धा नही है। विकृत एव गतिरोधक परम्पराएँ उन्हे स्वीकार्य नही हैं। टौने के विश्वासियो को वे टटपुजिया कहते हैं—

**टुटपुजिये हैं, जो टौने की माया पर मरते हैं।**[1]

इसी प्रकार सस्कारिक रीतियो का अर्थशून्य वैपुल्य तथा शुभाशुभ अथवा शकुन-अपशकुन का गति-बाधक अतिरिक्त विचार भी उन्हे मान्य नही है—

**कोरा कर्म-काण्ड-जाल जकडे है जन को,**
**शुक्र पकडे है, शनि धकडे है जन को।** [2]

तात्पर्य कहने का यह कि मैथिलीशरण जी का आस्थावान् सस्कारी तो परम्पराओ का विश्वासी है— किन्तु उनका सजग विचारक जन्मजात सस्कार-पोषित विश्वासो के विकारो को अस्वीकार करता है।

## निष्कर्ष

मैथिलीशरण जी के काव्य के सास्कृतिक पृष्ठाधार पर सर्वाशिन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि वे मानव-जीवन का लक्ष्य ससार-न्यास को नही, पुरुषार्थ को मानते हैं। अन्तिम क्षण तक कर्त्तव्य-पालन ही सबसे बडा पुरुषार्थ है। धार्मिक दृष्टि से राम मे उनकी अनन्य भक्ति है, अन्य कोई देवता उनके हृदय को प्ररोचित नही कर पाता। किन्तु साम्प्रदायिकता से वे एकदम मुक्त हैं—वे धार्मिक सकीर्णतामुक्त उदार वैष्णव हैं। हिन्दू धर्म मे उन्हे दृढ आस्था है, किन्तु मतान्तरो के प्रति उनमे घृणा नही है।

राजनैतिक क्षेत्र मे जन्मजात सस्कारो के कारण राजतन्त्र के प्रति गुप्त जी को अनुराग है। परन्तु युगधर्म को वे सचेष्ट अपनाते हैं, अत प्रजातन्त्र से भी वे पराङ्मुख नही हैं। राजतन्त्र के ही प्रजातन्त्रीकरण द्वारा उन्होंने युगधर्म और मज्जातन्तुगत सस्कारो की एक साथ रक्षा की है। हिंसा-अहिंसा के विषय मे भारत के विचारको मे पर्याप्त मतभेद है। अहिंसा के आदर्श को तो कोई अस्वीकार नही करता—किन्तु व्यवहार मे हिंसा के अनिवार्य प्रयोग और अत्यन्ताभाव को लेकर भारतीय नेताओ के दो वर्ग रहे है। इनमे से प्रथम के प्रस्तोता तिलक और द्वितीय के सस्तोता गान्धी हैं। दोनो मे कौन ठीक है यह अभी भविष्य के गर्भ मे है। प्रस्तुत कवि को इस दिशा मे मध्यवर्ती ही समझना चाहिए। वह न तो

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृष्ठ १७९
२. हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ३२

तिलक की शठ के प्रति शाठ्य वाली नीति का एकान्त विश्वासी है, और न उसको गान्धी का शठ के प्रति भी सत्य अथवा प्रेम वाला सिद्धान्त ही सोलह आने मान्य है। हाँ, ब्राह्मण धर्म के प्राय सभी व्यावहारिक अगो मे विश्वास रखने पर भी उसने तत्पोषित हिंसापूर्ण कर्मों का प्रबल विरोध किया है।

समाज की सुव्यवस्था का मेरुदण्ड गुप्त जी मर्यादा को मानते हैं।—और सभी मर्यादा-प्रेमी कवियो के समान उन्होंने भी सम्मिलित परिवार मे आस्था प्रकट की है। साथ ही वर्णाश्रम-धर्म मे उनको दृढ विश्वास है—किन्तु तत्सम्बन्धी मध्यकालीन विकार उन्हें स्वीकार्य नही हैं। वर्णाश्रम-धर्म को शुद्ध मूल रूप मे ग्रहण करने के कारण ही उनके आदर्श समाज मे स्त्री और शूद्र अनादृत नही हैं। आश्रम-सस्था अपने अविकृत रूप मे आध्यात्मिक के साथ-साथ भौतिक उन्नति की भी समर्थक है। फलत मैथिलीशरण जी ने एक ओर जहाँ आमुष्मिकता पर बल दिया है वहाँ दूसरी ओर उनके काव्य की पृष्ठभूमि मे अकित भौतिक जीवन भी पर्याप्त ऐश्वर्यपूर्ण है। तात्पर्य कहने का यह है कि हमारा कवि लौकिक जीवन को विगर्हणीय नही समझता। परन्तु वह उसे मर्यादित अवश्य देखना चाहता है। मानवीय मन की वृत्तियो की उन्मुक्त विवृत्ति उसको सह्य नही। कम से कम लोभ और काम का नियन्त्रण तो होना ही चाहिए तभी पारस्परिक स्नेह और सौहार्द का प्रसार सम्भव है।

पारस्परिक व्यवहार की स्वच्छता के निमित्त ही गुप्त जी के काव्य मे शिष्टाचार का महत्व सर्वत्र स्वीकृत है—उनके सभी सुपात्र शिष्टाचारपरायण हैं।—और शिष्टाचार सोलह आने भारतीय है, उसमे विदेशीयता की गन्ध आपको नही मिलेगी। साथ ही यहाँ की परम्पराएँ और परम्परागत विश्वास भी उनके काव्य मे प्रोद्भासित हैं। वास्तव मे इस देश की रीति-नीति उनके व्यक्तित्व मे ओत-प्रोत है—वे भारत के वृहत् जनसमुदाय द्वारा स्वीकृत सस्कार और सास्कारिक विधि के प्रति निष्ठावान् हैं। परन्तु उनके सतर्क चिन्तक को व्यर्थ की प्रक्रिया एकदम अग्राह्य है। अस्तु।

अन्तत मैथिलीशरण जी परम्परानिष्ठ सस्कारी हृदय भक्त हैं। भारतीय सस्कृति के सम्पूर्ण अंगो मे उनकी प्रगाढ आस्था है। किन्तु युगधर्म की भी वे कभी उपेक्षा नही करते। इसीलिए पारम्परिक मूल्यो एव रूढियो को दृढता से ग्रहण करने पर भी उनका साहित्य आधुनिकता के प्रभाव से मुक्त नही है। उनकी यह मानसिक ग्राहकता और स्थिति-स्थापकता विलक्षण है।

# हिन्दी काव्य में गुप्त जी का स्थान

मैथिलीशरण जी प्रसिद्ध रामभक्त हैं। राम का कीर्तिगान उनकी चिरसचित अभिलाषा रही है, साथ ही उन्होने भारतीय जीवन को समग्रता मे समझने और प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। अत उनका काव्य रामकाव्य है—और प्रबन्ध काव्य है। उनका स्थान भी इसी धरातल पर निश्चित हो सकता है, अर्थात् समूचे हिन्दी काव्य मे गुप्त जी का स्थान निर्धारित करने का उपयुक्त आधार रामकाव्य परम्परा और प्रबन्धकाव्य परम्परा है।

रामचरित चिरकाल से भारतीय जनता को प्रिय रहा है। अत उसमे भारतीय सस्कृति का परमोज्ज्वल उद्भास है। इस विषय मे डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है—"हमारी सस्कृति मे आदि काल से सत्य, अहिंसा, धैर्य, क्षमा, निर्वैरता, अनासक्ति, इन्द्रिय-निग्रह, शुचिता, निष्कपटता, त्याग, उदारता और लोक-सग्रह आदि के जिन सात्विक तत्वो का समादर रहा है, उन सबका जैसा समाहार राम-कथा मे दिखाई पडता है वैसा अन्यत्र नही दिखाई पडता है।"[1]—सस्कृत और हिन्दी मे ही नही भारतवर्ष की सभी प्रान्तीय भाषाओ मे भी रामचरित प्रसरित है, वरन् इस देश मे बाहर भी इस उज्ज्वल गाथा का प्रचार है।

हिन्दी मे तुलसीदास रामकाव्य के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। काल-क्रम की दृष्टि से भी वे सबसे पहले आते हैं। यो तो इतिहासो मे मुनिलाल नामक तुलसी के समकालीन अथवा पूर्ववर्ती रामकाव्यकार का भी जिक्र आता है। रामचरित पर उन्होंने रामप्रकाश नाम की एक पुस्तक लिखी थी जिसके सम्बन्ध मे डा० रामकुमार वर्मा का कथन है—"उस ग्रन्थ ( रामप्रकाश ) की विशेषता यह थी कि राम-कथा का चित्रण रीति-शास्त्र के अनुसार किया गया था।"[2] अभिप्राय यह कि उक्त ग्रथ रामकाव्य से अधिक रीतिकाव्य है—और रीतिकाव्य के रूप मे भी विशेष आदृत नही। इसीलिए मुनिलाल अख्यात हैं—और उनके ग्रथ रामप्रकाश से हिन्दी का साधारण पाठक अपरिचित है। वस्तुत हिन्दी की रामकाव्य परम्परा मे सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम तुलसी का ही है।—और उनके रामचरितमानस को सभी मनीषियो ने सर्वश्रेष्ठ रामकाव्य माना है। 'मानस' के पश्चात् भी रामकाव्य का प्रणयन हुआ है—किन्तु कोई भी उतनी प्रसिद्धि एव लोकप्रियता प्राप्त नही कर सका। वास्तव मे हिन्दी मे रामकाव्य का अभिप्राय तुलसी-काव्य ही है। रामचरितमानस ( तुलसी-काव्य ) के अतिरिक्त चार-पाँच काव्य ऐसे हैं जिनका उल्लेख हिन्दी की रामकाव्य परम्परा पर विचार करते समय आवश्यक है। वे काव्य हैं—रामचन्द्रिका, रामचरित चिन्तामणि, रामचन्द्रोदय, वैदेही वनवास और साकेत-सत। रामकाव्यो मे मैथिलीशरणकृत रामकाव्य

---

१ तुलसीदास, डा० माताप्रसाद गुप्त, सस्करण सन् १९५३, पृष्ठ २८४

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ३३६

( साकेत ) का स्थान निश्चित करने के लिए उपर्युक्त काव्य-ग्रन्थो से ही उसकी तुलना की जानी चाहिए।

सबसे पहले 'मानस' को लीजिए। तुलसीदास राम के अनन्य भक्त हैं —उनकी भक्ति अत्यन्त सघन है। वे वैराग्य के पोषक हैं—और उनका अपना जीवन साधना के लिए है। उनके राम मनुष्य हैं—किन्तु मनुष्य होने पर भी ब्रह्म है। वास्तव मे उन्हे सिद्ध के चित्रण में ही रस मिलता है। इसके विपरीत मैथिलीशरण जी सिद्ध का नही साधक का आलेखन करते हैं—उनके राम परब्रह्म का अवतार होने पर भी नर-लीला करते हैं। देखा जाए तो गुप्त जी जीवन को तुलसी के समान साधना के लिए न मानकर स्वय साधना मानते हैं—क्योकि वे वैराग्य के नही कर्म के सस्तोता हैं। इसीलिए उनके काव्य मे जीवन का अश तुलसी-काव्य से अधिक है। —और उसी मात्रा मे मैथिलीशरण जी का भक्ति-भाव तुलसी से क्षीणतर है। वस्तुत बीसवी शताब्दी के इस बौद्धिक युग मे तुलसी के समान भक्ति सम्भव ही नही है। फिर भी प्रस्तुत कवि की सुदृढ आस्था से इन्कार नही किया जा सकता। उसमे आस्था और बौद्धिकता दोनो का यथावत् सहभाव है। "उनकी (गुप्त जी की) आस्था ने बुद्धि को स्वस्थ रखा है और बुद्धि ने उनकी आस्था को शुद्ध।"[१] आस्था और बुद्धि के इस सहयोग के कारण ही मैथिलीशरण जी मे जहाँ सहिष्णुता तुलसी से अधिक है वहाँ भक्ति की सघनता उनके समान नही है, फिर भी यह निश्चित है कि वे राम के अनन्य उपासक हैं। यह ठीक है कि उर्मिला साकेत की प्रधान पात्र है, पर राम की प्रधानता नष्ट नही हो सकी। रामचरित-आलेखन का लोभ सवरण न कर पाने के कारण ही तो उन्होंने वस्तु-सघटना-सौष्ठव का बलिदान किया था। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि मैथिलीशरण जी मे तुलसी जैसी भक्ति की आर्द्रता तो नही है—किन्तु वह इतनी क्षीण भी नही है कि राम उनके काव्य मे गौण पात्र रह जाएँ। अस्तु !

रामकाव्य के अन्तर्गत केशव की रामचन्द्रिका का भी परिगणन होता है —किन्तु इस विषय मे पडित एकमत नही हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री केशव को न रामभक्त मानते हैं, न रामचरित मे अनुरक्त कवि—"रामकथा के प्रति केशव की धर्म-भावना या कोमल कवि भावना भी नही प्रतीत होती · ·।"[२] इसके विपरीत बाबू गुलाबराय के अनुसार रामचन्द्रिका मे भक्ति का निश्चित समावेश है—"यह बात नही कि केशव मे भक्ति नही थी ··· वास्तव मे रामचन्द्रिका अपने विषय के अनुसार भक्ति-काव्य है और शैली के अनुसार रीति-काव्य है।"[३] रामचन्द्रिका के सम्बन्ध मे उपर्युक्त दोनो ही अभिमतो से भिन्न हैं पडित अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' के विचार। वे रामचन्द्रिका को सफल काव्य मानते हैं, उनका कथन है—"प्रत्येक ग्रन्थकार का कुछ उद्देश्य होता है और उस उद्देश्य के आधार पर ही उसकी रचना आधारित होती है · ···रामचन्द्रिका की रचना पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए हुई है

---

१ साकेत एक अध्ययन, प्रोफेसर नगेन्द्र, पचम सस्करण, पृष्ठ २१८

२. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३११

३. काव्य के रूप, तृतीय सस्करण, पृष्ठ १०२-१०३

और मैं यह दृढता से कहता हूँ कि हिन्दी ससार मे कोई प्रवन्ध-काव्य इतना पाडित्यपूर्ण नही है।"[१] इतना ही नही हरिऔध जी तो साहित्य के लिए ऐसे काव्यो की आवश्यकता भी वताते हैं।[२] चाहे जो हो यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि केशवदास रामभक्ति के किसी उच्चादर्श की स्थापना नही कर सके अतएव रामकाव्य परम्परा में रामचन्द्रिका किसी आहत पद की अधिकारिणी नही है। रामचन्द्रिका के पश्चात् आधुनिक युग की रचनाए—रामचरित चिन्तामणि, रामचन्द्रोदय, वैदेही वनवास और साकेत-सत—आती है। इनमे से रामचरित चिन्तामणि मे रामचन्द्रिका के ही समान रामकाव्य के मार्मिक स्थलो की उपेक्षा हुई है। दूसरे रामकाव्य के मूलाधार राम के चरित्र मे ही पतन हो गया है। रामचरित चिन्तामणि मे वे उदात्त चरित्र के रूप मे नही वरन् जनसाधारण के समान रागद्वेषयुक्त व्यक्ति के रूप मे चित्रित हुए हैं। श्री रामनाथ ज्योतिषी का श्री रामचन्द्रोदय काव्य भी इसी प्रकार का है। राम के भी पूर्ण चरित्र का विकास उसमें नही है। वह रामचन्द्रिका का आधुनिक सस्करण है, और उसमे रस के स्थान पर शुष्क नीति-विवेचन का ही प्रामुख्य है।

अब रह गए हरिऔध जी का वैदेही-वनवास तथा डा० बलदेवप्रसाद मिश्र विरचित साकेत-सन्त। इनमे से प्रथम का कथानक अत्यन्त सक्षिप्त है, उसमे राम का शक्ति, शील और सौंदर्य समन्वित पूर्ण चित्र उभर ही नही पाता। दूसरे लोकानुरजन, लोकाराधन, कर्त्तव्यपरायणता आदि के अतिरिक्त समावेश के कारण सर्वत्र उपदेशात्मकता की गध आती है जिससे यह काव्य स्थान-स्थान पर अरोचक और प्रभावहीन हो गया है। साकेत-सन्त भी विचार-प्रधान काव्य है। विचारो के घटाटोप मे प्रमुख पात्र भरत का चरित्र भी एकागी रह गया, राम तो इसमे आए ही गौण पात्र के रूप मे हैं। साकेत-सन्त पर साकेत का स्पष्ट प्रभाव है, परन्तु फिर भी इसमे राम-चरित्र उतना उभर कर नही आया। वास्तव मे मिश्र जी वुद्धिप्रधान कवि हैं, मैथिलीशरण की-सी आस्था उनमे नही है। इसीलिए साकेत-सन्त मे कवित्व की न्यूनता है।

रामकाव्य की इस परम्परा पर दृष्टिपात करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी घनीभूत भक्तिभावना और महत्तर प्रतिभा के कारण तुलसीदास ही रामकाव्य के सम्राट् हैं। "उनकी (तुलसी की) उत्कट रामभक्ति ने उन्हे इतने ऊँचे उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनन्द-मग्न होकर हम उसके विधि-निषेधो को चुपचाप स्वीकार करते हैं।"[३] मानस के पश्चात् हिन्दी मे राम-काव्य का दूसरा स्तभ साकेत है।

यह तो हुई रामकाव्य की वात, अव प्रवन्धकाव्य परम्परा पर भी थोडा विचार कर लिया जाए। मैथिलीशरण जी के अतिरिक्त चन्दवरदाई, जायसी, तुलसी, केशव, अयोध्यासिंह

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २८४
२. दे० हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८४
३ हिन्दी साहित्य, श्यामसुन्दरदास, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २५८

उपाध्याय 'हरिऔध' तथा प्रसाद हिन्दी के प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित प्रबन्धकार हैं। प्रबन्धकवि के रूप मे इन्ही के मध्य गुप्त जी का स्थान निर्धारित करना होगा

चन्दवरदाई का पृथ्वीराजरासो मान्य अथवा अमान्य रूप से हिन्दी का सर्वप्रथम प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य) है। यह ६९ समयो मे विभाजित ढाई हज़ार पृष्ठ का बृहत् ग्रथ है। किन्तु इसका प्रबन्धत्व अक्षुण्ण नही है—महाकाव्यत्व की दृष्टि से यह उच्चकोटि का नही है। पृथ्वीराजरासो की कथावस्तु मे न तो वाछित सगठन है, और न ही उसकी परिणति किसी महत् परिणाम मे होती है। इसीलिए 'रासो' प्रबन्धकाव्य के रूप मे विशेष आदृत नही है। जायसी की प्रबन्ध-कल्पना चन्दवरदाई से प्रौढतर है। यद्यपि पद्मावत की रचना भारत की सर्गबद्ध प्रणाली पर न होकर फारस की मसनवी शैली पर हुई है, फिर भी वह अच्छा प्रबन्धकाव्य है। उसका प्रबन्धोचित घटना-चक्र और सम्बन्ध-निर्वाह आचार्य शुक्ल द्वारा प्रशसित है।[1] किन्तु पद्मावत का स्वरूप ठीक होने पर भी उसमें विवेचित जीवन एकागी है—जीवन के सर्वांगपूर्ण विवेचन के उपयुक्त विस्तार और व्यापकत्व उसमे नही है।

हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ प्रबन्धकाव्य है रामचरितमानस। इसका प्रबन्ध-कौशल अनन्य है, सभी गण्यमान्य विद्वानो ने मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशसा की है। विद्वानो ने प्रबन्धकाव्य की तीन मुख्य विशेषताओ का निर्देश किया है—१ सम्बन्ध-निर्वाह, २ मर्मस्थलो की पहचान और ३. दृश्यो की स्थानगत विशेषता। रामचरितमानस मे इन सभी का सौष्ठव दर्शनीय है। 'मानस' के घटना-चक्र का व्यापकत्व भी अद्भुत है, इसमे जीवन की प्राय. सभी दशाओ—मानव के अधिकाश सम्बन्धो का समावेश है। व्यापकता के साथ-साथ अभिलषित सूक्ष्मता और गभीरता भी है। "समुद्र की भाँति यह ग्रथ (रामचरितमानस) अपने विस्तार मे जैसा व्यापक है वैसा ही इसका भाव-गाम्भीर्य भी अथाह है। मानव-जीवन का कोई ऐसा कोना नही जिसको इसने आलोकित न किया हो।"[2] अपनी उपर्युक्त विशेषताओ के कारण ही 'मानस' हिन्दी साहित्य की अप्रतिम प्रबन्ध-रचना है। केशव की रामचन्द्रिका भी प्रबन्धकाव्य है। किन्तु—"प्रबन्धकाव्य-रचना के योग्य न तो केशव मे अनुभूति ही थी, न शक्ति"[3]—फिर भी उन्होंने हठात् प्रबन्ध-रचना की है। परिणामतः वे किसी अच्छे चरितकाव्य का प्रणयन नही कर सके। मार्मिक-स्थलो की उपेक्षा, अतिरिक्त छन्द-परिवर्तन तथा कथानकगत शैथिल्य के कारण रामचन्द्रिका उत्तम प्रबन्धकाव्य नही बन पाई। वास्तव मे केशवदास रीतिबद्ध कवि हैं—प्रबन्धत्व मे भी उनकी रीतिकारिता बद्धमूल है। इसीलिए रामचन्द्रिका श्रेष्ठ प्रबन्ध के समान जीवन-काव्य न होकर चमत्कार-प्रधान ग्रन्थ बन गया है।

आधुनिक काल मे मैथिलीशरणकृत प्रबन्धकाव्यो के अतिरिक्त प्रिय-प्रवास और कामायनी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रिय-प्रवास इस युग की श्रेष्ठ रचना है। इसका आदर्श बहुत ऊँचा, काव्य ओजमय तथा शैली मे अद्भुत प्रवाह है। परन्तु हरिऔध जी की

---

१. दे० जायसी-ग्रंथावली की भूमिका, सस्करण सवत् २००६, पृष्ठ ६७-७७

२. प्रबन्ध-प्रभाकर (निबंध-संग्रह), बाबू गुलाबराय, नौवां सस्करण, पृष्ठ २१३

३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २११

प्रवन्ध-कल्पना मे शास्त्रीयता का अत्यधिक आग्रह होने से उनके प्रवन्धकाव्यो मे रोचकता का ह्रास हो गया है ।—और प्रिय-प्रवास को अधिकाश शास्त्रीय लक्षणो का निर्वाह होने पर भी उत्तम प्रवन्धकाव्यो की पक्ति मे प्रश्न-चिह्न के साथ ही रखा जाएगा । उधर प्रसाद की प्रतिभा ही प्रवन्ध-परायण नही है । कामायनी मे प्रवन्ध की आधारभूत वस्तु की सघटना ही समुचित नही है । यद्यपि कामायनी की पृष्ठभूमि का परिधि-विस्तार अद्भुत है, परन्तु उसमे प्रवन्धोचित सयोजना का अभाव है । कल्पना की विराटता के साथ ही कामायनी का काव्यवैभव भी अपार है—किन्तु इस महाप्रवाह मे प्रसाद प्रवन्ध-सूत्र नहीं पकड पाते । अस्तु !

गुप्त जी के प्रबन्ध-सौष्ठव का विवेचन कलापक्ष के अन्तर्गत किया जा चुका है । उपर्युल्लिखित प्रबन्धकाव्यकारो से उनकी तुलना करने पर हम देखेंगे कि मैथिलीशरण जी की प्रवन्ध-रचनाओ मे जातीय चित्तवृत्तियो को पृथ्वीराजरासो से अधिक स्थायित्व मिला है—उनका सास्कृतिक पक्ष अधिक पुष्ट है, उनमे पद्मावत से अधिक जीवन-दशाओ का समावेश है, रामचन्द्रिका से कही अधिक प्रवन्धोचित विन्यास है । अपने समसामयिक कवियो मे गुप्त जी की प्रबन्ध-कल्पना हरिऔध की अपेक्षा स्वच्छ और रूढिमुक्त तथा प्रसाद की तुलना मे अधिक विन्यस्त और जीवन्त है । बस, एक तुलसीदास रह जाते हैं जिनकी प्रवन्ध-पटुता प्रस्तुत कवि के ही समान अव्याहत है । इन दोनो को भी यदि पारस्परिक सापेक्षता मे देखा जाए तो विपय-वस्तु की अपेक्षाकृत कम गभीरता और शैलीगत दुर्बलता के कारण मैथिलीशरण हल्के पडते हैं । पर वाल्मीकि-तुलसी और व्यास के विषय को और कोई तो इतनी सफलता के साथ भी ग्रहण नही कर सका तथा शैली की दुर्बलता के लिए मैथिलीशरण जी द्वारा गृहीत भाषा की अपरिपक्वता एव अविकसित दशा भी उत्तरदायी हो सकती है । यहाँ कुछ तथ्यो का गुप्त जी के पक्ष मे भी उल्लेख किया जा सकता है, उदाहरणार्थ वे दो महाकाव्यो और उन्नीस खण्डकाव्यो के प्रणेता हैं । हिन्दी मे इतनी प्रचुर मात्रा मे प्रवन्ध-रचना करने वाले वे अकेले ही हैं । गुण का महत्व होता है—किन्तु परिमाण भी उपेक्षणीय नही है । युग को देखते हुए मैथिलीशरण जी का और भी अधिक महत्व है । यह युग प्रवन्धकाव्य का नही, प्रगीतकाव्य का है । आधुनिक युग मे उसकी विलोपमान परम्परा के सरक्षक गुप्त जी ही हैं ।

अभी मैथिलीशरण जी की प्रवन्ध-रचना के परिमाण-वैपुल्य का उल्लेख हुआ है । परन्तु इस विपुलता मे पिष्ट-पेपण नही है वरन् आधारभूत पृष्ठभूमि का समयोचित विस्तार है, अर्थात् उनके काव्यो मे जीवन का अनन्त वैविध्य और विस्तार समाहित है । यह वैविध्य-विस्तार देशगत भी है और कालगत भी । एक ओर जहाँ उन्होंने इस देश की और आधुनिक काल की कथा को अपने प्रवन्धो का विपय वनाया है वहाँ विदेश-सम्वन्धी और प्रागैतिहासिक सामग्री को भी वस्तु-रूप मे ग्रहण किया है, और अज्ञात एव अख्यात व्यक्तियो से लेकर महामहिम महीप तक उनके काव्यो के पात्र हैं । निस्सदेह गुप्त जी की काव्य-सामग्री का यह वार्हत्य और क्षेत्र-विस्तार अद्भुत है । दूसरी विशेपता उनमे यह है कि प्राचीन और नवीन पर उनकी समान श्रद्धा है । अपनी इन विशेपताओ के कारण मैथिलीशरण अप्रतिम हैं, इन्ही को लक्ष्य कर पन्त जी ने कहा था—

सूर सूर तुलसी शशि लगता मिथ्यारोपण ।
स्वर्गंगा तारापथ मे कर आपके भ्रमण ॥

सचमुच गुप्त जी के अनन्त विस्तारी काव्य मे निमज्जित पाठक को सूर-तुलसी भी विस्मृत हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे विश्व के श्रेष्ठ प्रवन्धकवियो के समान अमर चरित्रो के स्रष्टा या पुनर्निर्माता भी हैं। मैं उर्मिला और यशोधरा को प्रस्तुत कवि की अपूर्व और अभूतपूर्व चरित्र-सृष्टि मानता हूँ। इन दोनो की परिकल्पना उसकी सृजन प्रतिभा की परिचायक है। फिर माण्डवी का पूर्वरामायणो से अधिक चित्रण, कैकेयी के चरित्र मे परिवर्तन, हिडिम्बा, नहुष, दुर्योधन आदि के चरित्रो का पुनस्स्पर्श गुप्त जी के पुनर्निर्माता-रूप को स्पष्ट करता है। कुल मिलाकर यह चित्रण-कौशल उनकी उत्कृष्ट प्रवन्ध-कला का प्रमाण है।

गुप्त जी ने तीन नाटक, प्राय सभी प्रकार के प्रगीत और मुक्तक भी लिखे हैं। किन्तु नाटको, प्रगीतो और मुक्तको मे वे वैसी भाव-सृष्टि नही कर पाए जैसी कि प्रवन्ध-काव्यो मे। वास्तव में वे मूलत प्रवन्धकार हैं—अन्य साहित्य-रूपो मे उनका मन नही रमता। किन्तु यह तथ्य कवि की हीनता का द्योतक नही है। अपने-अपने स्थान पर क्या प्रवन्धकार, क्या नाटककार और प्रगीतकार सभी का उत्तरदायित्व गुरुतर है। प्राय. कह दिया जाता है कि कथा का आधार मिल जाने के कारण प्रवन्ध-प्रणयन अपेक्षाकृत सरल है। किन्तु यह वात एकदम अशुद्ध है, क्योकि "प्रवन्ध-काव्य मे कथा-वस्तु का आधार मिल जाना वडी वात नही है, वडी वात है, उस आधार का कवि द्वारा कलात्मक ढग से उपयोग किये जाने मे।"[1] मैं समझता हूँ मैथिलीशरण जी द्वारा आधारभूत कथा के उपयोग के विपय मे किसी व्याख्या की अपेक्षा नही है। एक भ्रम और भी है, वह यह कि अन्त सौंदर्य प्रगीतकाव्य मे और वाह्य सौंदर्य प्रवन्ध-काव्य मे व्यक्त होता है। किन्तु "सव प्रकार के काव्य मे सव प्रकार का सौंदर्य समाहित किया जाने योग्य है। हमे देखना यही चाहिए कि कहाँ पर क्या है?"[2] तात्पर्य कहने का यह कि सौंदर्य की सत्ता किसी विधा-विशेष पर अवलम्बित नही है। इस सन्तुलित दृष्टि से यदि गुप्त जी के काव्य पर विचार किया जाएगा तो आपको सौंदर्य के अन्त वाह्य दोनो रूपो के दर्शन हो सकेंगे। प्रवन्धकाव्यकार मे नाटक, उपन्यास और कहानीकार की एकत्रित शक्ति आवश्यक मानी गई है—उसे इन सभी विधाओ के प्रणयन की समष्टि शक्ति लेकर साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण करना पडता है। फलत. मैथिलीशरण जी जैसा प्रवन्धकार-शिरोमणि कितना शक्ति-सम्पन्न है, केवल नाटक, उपन्यास अथवा कहानीकारो की तुलना मे उसका स्थान निश्चय ही उच्चतर है।

गुप्त जी के विपय मे यह भी विशेपत ज्ञातव्य है कि खडी वोली के स्वरूप-निर्धारण और विकास मे उनका अन्यतम योगदान है। खडी वोली के इतिहास और विकास के प्राय

---

१ हमारे साहित्य-निर्माता, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृष्ठ ७५

२. हिन्दी साहित्य—वीसवीं शताव्दी : प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ११६

सभी विवेचको ने इस वात को स्वीकार किया है कि उसे काव्योपयुक्त सिद्ध करने वाले मैथिलीशरण ही हैं। वैसे तो हिन्दी के जन्मकाल से ही किसी न किसी रूप मे खडी बोली का अस्तित्व रहा है—किन्तु आधुनिक काल से पूर्व वह उपेक्षित ही रही। आधुनिक काल का आरम्भ होते न होते युग की आवश्यकताओ के कारण उसका व्यवहार वढा—और भारतेन्दु-मडल के साहित्यिको ने उसे गद्य की एकमात्र भाषा के रूप मे स्वीकार किया। परतु काव्य-भाषा के रूप मे खडी वोली को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प० प्रतापनारायण मिश्र प्रभृति उस समय के सजग कलाकार भी अगीकार नही कर सके। वास्तव मे व्रजभाषा की अभ्यस्त उन लोगो की प्रतिभा उसमे माधुर्य का अनुभव करने मे ही असमर्थ थी। भारतेन्दु के पश्चात् भी पर्याप्त समय तक खडी वोली काव्य की व्यापक भाषा नही वन सकी, बीसवी शताव्दी के आरम्भ तक उसकी काव्योपयुक्तता में लोगो को सन्देह वना रहा। वीसवीं शताव्दी के प्रथम चरण मे अनेक साहित्यिक विश्वास ही नही कर सकते थे कि खडी वोली मे भी काव्य-रचना हो सकती है। खडी वोली की काव्योपयुक्तता मे उनका यह अविश्वास एक सीमा तक उचित ही था। १९वी शताव्दी के अन्त तक कोई भी कवि खडी वोली का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत नही कर सका था। श्रीधर पाठक और हरिऔध जी खडी वोली के पृष्ठपोपक अवश्य थे—किन्तु वे भी खडी वोली का परिनिष्ठित रूप प्रस्तुत नही कर सके। नाथूराम शर्मा शकर, रामचरित उपाध्याय आदि की भाषा की भी यही दशा थी। "फलत खडी वोली की कोई भी रचना व्रजभाषा के चढे हुए नशे को अभी तक ( गुप्त जी से पहले ) उतार नही पायी थी' यह काम गुप्त जी ने किया।"[1] उन्होने खडी वोली को खडी वोली के रूप मे ही सुन्दर-सुघड काव्य-भाषा वनाने का सफल प्रयत्न किया है। आज जिस सम्पन्न भापा के हम अनायास उत्तराधिकारी है उसे काव्योपयुक्त भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले प्रथम व्यक्ति मैथिलीशरण जी ही हैं। यद्यपि अधुना वह और भी परिमार्जित, कान्तिमयी एव शक्तिमती हो गई है, परन्तु उसे प्रयोगार्ह वनाने वाला यही कवि है। गुप्त जी ने खडी वोली को प्रयोगार्ह ही नही वनाया, जनरुचि भी उस ओर मोड दी। जयद्रथ-वध तथा भारत-भारती का प्रचार एव लोकप्रियता ही खडी वोली की विजय-यात्रा थी। इस प्रकार खडी वोली को गुप्त जी की देन अपूर्व है।

काव्य-क्षेत्र मे मैथिलीशरण जी के पदार्पण के समय व्यवहार्य छन्दो के विपय मे भी कोई स्थिर नीति नही थी। खडी वोली पद्य मे या तो सस्कृत के वर्ण-वृत्तो का प्रयोग होता था या फिर उर्दू वहरो का। गुप्त जी के काव्य मे पहली वार खडी वोली के उपयुक्त छन्दो का सशक्त और साधिकार प्रयोग हुआ है। निश्चय ही हिन्दी के छन्दो पर उनका अद्भुत अधिकार है। यद्यपि निराला और पन्त के समान छन्द के स्वरूप मे ही परिवर्तन करने मे सक्षम शिल्पी वे नही हैं, फिर भी अनेक छन्दो के प्रयोग-सौष्ठव के कारण इस क्षेत्र मे अप्रतिम हैं। गुप्त जी ने जितने प्रकार के छोटे-वडे छदो मे लिखा है, वर्तमान काव्य मे कदाचित् उतने किसी ने भी नही लिखे। यहाँ पर यह भी वक्तव्य है कि मैथिलीशरण जी द्वारा व्यवहृत छन्द प्रायः

---

१. गुप्त जी की कला, डा० सत्येन्द्र, तृतीय सस्करण, पृष्ठ ७

प्रसगानुकूल हैं। वास्तव मे वे छन्द के बहुत बडे मर्मज्ञ हैं। पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी इस दिशा मे उन्हे तुलसी के समकक्ष ठहराते हैं—"गोसाईं जी की तरह गुप्त जी भी छन्द का मर्म ही नही समझते, उसके आवर्त-विवर्त से अभीप्सित भाव-प्रतिमाएँ भी खड़ी करते हैं।"[1] प्रस्तुत कवि अन्त्यानुप्रास का भी स्वामी है। यद्यपि कही-कही उसका अति-प्रयोग अरुचिकर भी सिद्ध हुआ है—फिर भी सुष्ठु प्रयोगो की तुलना मे वे स्थल नगण्य हैं, और अन्त्यानुप्रास का यह प्राचुर्य भाषा पर कवि के प्रभुत्व का द्योतक तो है ही।

भारतीय सस्कृति के मैथिलीशरण अनन्य प्रस्तोता हैं। वस्तुत यहाँ की संस्कृति उनकी रग-रग मे व्याप्त है, अतएव वह उनके काव्य मे सर्वत्र प्रोद्भासित है। नई रोशनी के अभिमानी किंवा उससे अभिभूत अति-आधुनिको के समान वे भारतीय संस्कृति का एकात विरोध तो करते ही नही साथ ही अन्धानुकरण की अभिशसनीय प्रवृत्ति भी उनमे नही है—कालान्तर मे आ जाने वाली विकृतियो से उनके साहित्य का सास्कृतिक पृष्ठाधार एकदम मुक्त है। दूसरे, अपनी सास्कृतिक परम्पराओ मे आस्था रखने पर भी गुप्त जी युगधर्म की कभी उपेक्षा नही करते। पारम्परिकता के श्रद्धालु होने पर भी वे नूतन तत्त्वो का सोत्साह वरण करते हैं। असल मे, जैसा आचार्य शुक्ल का वक्तव्य है, "सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हे प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनो इनमे हैं।"[2] इसीलिए आधारभूत सिद्धान्तो मे दृढ रहने पर भी गुप्त जी युग के साथ पग से पग मिलाकर चल सके है। एक बात और, वह यह कि प्रस्तुत कवि ने भारतीय सस्कृति के प्राय. सभी सोपानो से काव्य-सामग्री का चयन किया है। फलतः उसके काव्य मे भारतीय सस्कृति का सम्पूर्ण इतिहास समाविष्ट है। इस दृष्टि से यह कवि शीर्ष-स्थानीय है।

भारतीय सस्कृति के प्रवक्ता के साथ-साथ मैथिलीशरण जी प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि भी हैं—उनकी प्राय सभी रचनाएँ राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है। सवत् १९६९ मे प्रकाशित उनकी भारत-भारती ने व्यापक जनजागरण मे सराहनीय योग दिया था। यद्यपि काव्यत्व की दृष्टि से भारत-भारती कोई बहुत उत्तम कृति नही है, फिर भी उत्तर भारत मे राष्ट्रीयता के प्रचार और प्रसार मे भारत-भारती के योगदान को विस्मृत नही किया जा सकता। जो काम एक शक्तिशाली नेता अपने व्यक्तित्व द्वारा करता है वही काम अकेली भारत-भारती ने किया है।—और "तब से (भारत-भारती के प्रकाशन के समय से) गुप्त जी को लोक-चित्त मे राष्ट्र-प्रीति की भावना जगाने वाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप मे हिन्दी-जगत् देखता आया है। वे सच्चे अर्थो मे राष्ट्रकवि हैं।"[3] मैथिलीशरण जी की परवर्ती रचनाएँ भी असदिग्ध रूप से राष्ट्रीयतापूर्ण हैं। हाँ, इतना जरूर है कि कवित्व मे अभिनिवेशित

---

१. हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी, संस्करण सन् १९४५, पृष्ठ ५०
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ६१७
३. हिन्दी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सस्करण सन् १९५५, पृष्ठ ४२२

उनकी राष्ट्रीयता रस-क्षीण आरभिक कविताओ के समान मुखर नही है। हम समझते हैं कि यह कवि की प्रौढि का लक्षण है। पडित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने राष्ट्रीयता के क्षेत्र मे गुप्त जी के कार्य को अनेक सस्थाओ और नेताओ के सम्मिलित काम से अधिक वताते हुए भी उसे 'हिन्दू राष्ट्रीयता' कहा था।[1] साथ ही गुरुकुल की भूमिका से सकेत-ग्रहण कर उन्होंने यह भी कहा था—"यदि वे (गुप्त जी) हज़रत हसन हुसेन के सम्वन्ध मे कुछ लिखकर हमे दे सके, तो उनकी यह कृति भारतीय राष्ट्रीयता के विकास मे एक वहुमूल्य स्थान प्राप्त करेगी।"[2] कावा और कर्वला लिखकर मैथिलीशरण जी वह काम कर चुके हैं, अत गिरीश जी को भी अव उनकी राष्ट्रीयता को सकीर्ण कहने का अवकाश नही है। वास्तव मे गुप्त जी की दृष्टि पहले हिन्दू, फिर भारतीय, और फिर अन्तर्राष्ट्रीय है। किन्तु उनका हिन्दुत्व भारतीयता का, और भारतीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधिनी नही है। मूल्यो की अराजकता के इस युग मे ऐसी स्वच्छ दृष्टि दुर्लभ ही है।

अपनी कालानुसरण-क्षमता के कारण गुप्त जी इस युग के प्रतिनिधि कवि भी हैं। वे आधुनिक काल मे प्रचलित काव्य की सभी शैलियो एव भावनाओ को ग्रहण करने मे समर्थ हैं। भारतेन्दु के समय मे अकुरित राष्ट्रीयता, उद्वोधन और जन-हित की भावनाओ से लेकर विश्व-वन्धुत्व, अणुशक्ति-विरोध आदि अद्युनातन कामनाओ तक सभी उनके काव्य मे गृहीत हैं। दूसरे मूलत प्रवन्धकार होने पर भी उन्होंने प्राय सभी काव्य-रूपो का प्रयोग किया है। छायावादी ढग की प्रगीत-रचना तो निर्विवाद रूप से काल के प्रभाव से ही हुई है, अन्यथा प्रगीतो मे हमारे कवि की वृत्ति नही रमती—फिर भी उसने प्रचुर मात्रा मे प्रगीत लिखे हैं जिनमे कुछ तो काफी अच्छे हैं। किसी नई विचारधारा एव काव्य-शैली का प्रवर्त्तन न कर सकने के कारण कतिपय आलोचक गुप्त जी को प्रतिनिधि कवि स्वीकार नही करते। "आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य के प्रतिनिधि कवि होने का सेहरा भारतेन्दु के ही सिर पर वधना चाहिए।"[3] किन्तु हमारे विचार मे प्रतिनिधित्व-विषयक यह धारणा निर्भ्रान्त नही है। ये आलोचक प्रवर्त्तक और प्रतिनिधि को पर्याय मानकर चलते हैं जो ठीक नही है। वस्तुत नव विचार का आविष्कार अथवा अभिनव काव्य-प्रणाली का प्रसार प्रवर्त्तक का कर्त्तव्य है, प्रतिनिधि का कार्य है अपने समय की सभी विचार-सरणियो एव काव्य-शैलियो का ग्रहण। इस दृष्टि से यदि हम मैथिलीशरण के काव्य पर विचार करें तो देखेंगे कि उसमे हिन्दी कविता के पिछले पचास-पचपन वर्षों का सम्पूर्ण आख्यान सुरक्षित है—काव्य-क्षेत्र के सभी आन्दोलन प्रतिविवित हैं। सचमुच गत अर्द्ध शताब्दी के देश, समाज और साहित्यगत सभी परिवर्त्तन गुप्त जी के साहित्य मे उपलब्ध हैं, और आज भी वे उसी सजगता से अपने पथ पर अग्रसर हैं। फलत. गुप्त जी निस्सदेह आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवि हैं।

---

१ दे० गुप्त जी की काव्यधारा, सस्करण सन् १९४६, पृष्ठ ४९

२ गुप्त जी की काव्यधारा, सस्करण सन् १९४६, पृष्ठ ५०-५१

३. गुप्त जी की काव्यधारा, सस्करण सन् १९४६, पृष्ठ ३१५

उपर्युक्त पर्यालोचन के पश्चात् हिन्दी काव्य मे गुप्त जी का स्थान निर्धारित करने के लिए जब सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीन कवियो में तो तुलसी के अतिरिक्त और कोई उनसे श्रेष्ठ नही है। जायसी के विषय मे मतभेद हो सकता है, सूर की बात दूसरी है, उनका क्षेत्र ही पृथक् है। आधुनिक कवियो मे भी प्रस्तुत कवि का स्थान अन्यतम है। यद्यपि प्रसाद का दर्शन-गाम्भीर्य, निराला की विराट् कल्पना, पन्त का सौन्दर्यबोध तथा महादेवी की अश्रुसिक्त प्रगीत-भावना मैथिलीशरण जी मे नही है, फिर भी वे जीवन के विविध रूपो के—मानव के रागात्मक सम्बन्धो के कवि हैं। अपने विपुल-परिमाण साहित्य, अद्भुत प्रबन्ध-कौशल, भाषा के निर्माण और विकास तथा जीवन को समग्रता मे—विश्व की विषम विसदृशताओ को एकरस होकर—ग्रहण करने की क्षमता के कारण, उत्तर भारत की जनता की तीन पीढियो की युगचेतना को प्रभावित करने वाला भारतीय संस्कृति का अनन्य प्रस्तोता यह कवि निस्सन्देह ही महाकवि है।

# परिशिष्ट

## सहायक पुस्तक-सूची

### (पूर्वार्द्ध)

संस्कृत पुस्तकें

| | |
|---|---|
| अभिज्ञान शाकुन्तल | अग्निपुराण |
| उत्तररामचरित | ऋग्वेद |
| काव्यादर्श | काव्यालंकारसूत्र |
| गीता | ध्वन्यालोक |
| पातंजल योगदर्शन | पाणिनीय शिक्षा |
| वाल्मीकि रामायण | महाभारत |
| रसगंगाधर | साहित्यदर्पण |

हिन्दी पुस्तकें

सर्वश्री

| | |
|---|---|
| अयोध्यासिंह उपाध्याय | हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास |
| | प्रिय-प्रवास |
| | पारिजात |
| उदयभानुसिंह | महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग |
| कन्हैयालाल पोद्दार | काव्य कल्पद्रुम (भाग १) |
| गुलाबराय | प्रबन्ध-प्रभाकर |
| | सिद्धांत और अध्ययन |
| | काव्य के रूप |

## (उत्तरार्द्ध)


सस्कृत पुस्तकें

आपस्तम्ब धर्मसूत्र
एतरेय ब्राह्मण
चाणक्यप्रणीतसूत्र
पद्मपुराण
श्रीमद्भगवद्गीता
महाभारत
रघुवश
अर्थशास्त्र
कठोपनिषद्
नारदीयस्मृति
पारस्कर गृह्यसूत्र
मनुस्मृति
याज्ञवल्क्यस्मृति
वृहदारण्यकोपनिषद्

हिन्दी पुस्तकें

सर्वश्री

| | |
|---|---|
| क्षितिमोहन सेन | सस्कृति सगम |
| गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' | गुप्त जी की काव्य-धारा |
| गुलाबराय | भारतीय सस्कृति की रूपरेखा |
| | हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास |
| चतुरसेन शास्त्री | हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास |
| जयशकर प्रसाद | स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य |
| तुलसीदास | रामचरितमानस |
| तिलक | श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य |
| दिनकर | सस्कृति के चार अध्याय |
| धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी | गुप्त जी के काव्य की कारुण्यधारा |
| नगेन्द्र | साकेत : एक अध्ययन |
| भगवतशरण उपाध्याय | सास्कृतिक भारत |
| मगलदेव शास्त्री | भारतीय सस्कृति का विकास |
| रामचन्द्र शुक्ल | गोस्वामी तुलसीदास |
| राजेन्द्रप्रसाद | खण्डित भारत |
| राध कुमुद मुकर्जी | हिन्दू सस्कृति मे राष्ट्रवाद |
| | हिन्दू सभ्यता [अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल] |
| राधाकृष्णन् | स्वतन्त्रता और सस्कृति [अनु० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी] |
| लक्ष्मीधर | पेम प्रकाश [भूमिका] |

| | |
|---|---|
| लास्की | राजनीति के मूल तत्त्व [ए ग्रैमर आफ़ पालिटिक्स का अनुवाद] |
| सत्येन्द्र | गुप्त जी की कला |
| सत्यकेतु | भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास |
| हजारीप्रसाद द्विवेदी | अशोक के फूल |
| | विचार और वितर्क |
| | मध्यकालीन धर्मसाधना |
| | कबीर |
| | हिन्दी साहित्य |
| हरवंशलाल शर्मा | सूर और उनका साहित्य |
| हरिदत्त वेदालंकार | भारत का सांस्कृतिक इतिहास |

अंग्रेज़ी पुस्तकें

| | |
|---|---|
| Achrya, P. K. | Glories of India |
| Ameer Ali Syed | The Spirit of Islam |
| Aurobindo | The Renaissance in India |
| Arnold, M | Culture and Anarchy |
| Bhagwan Dass | The Cultural Heritage of India Vol IV (Introduction) |
| Brailsford, H. N | Subject India |
| Caroline F. Ware (editor) | The Cultural Approach to History |
| Dalal, M. N. | Whither Minorities ? |
| Eliot, T S. | Notes towards the Definition of Culture |
| Galton, F. | Inquiries into Human Faculty and Its Development |
| Hirendra Nath Datta | Indian Culture (its strands and trends) |
| Humayun Kabir | The Indian Heritage |
| Karmarkar, D P | Bal Gangadhar Tilak |
| Kroeber, A L. | The Nature of Culture |
| | Configurations of Culture Growth |
| Lane-Poole, Stanley | Mediaeval India |
| Majumdar, Ray-choudhury and Datta | An Advanced History of India |
| Moreland and Chatterjee | A short History of India |
| Nehru, J L | Discovery of India |
| Raghavan | The Indian Heritage (An Anthology of Sanskrit Lit ) |

**Rawilson, H. G.** India
**Sully James** The Human Mind
**Tara Chand** Influence of Islam on Indian Culture
**Tasir, M. D** Aspects of Iqbal (Introduction)
**Weber, A.** The History of Indian Literature
**Yusuf Ali, A.** A Cultural History of India During the British Period

## ENCYCLOPAEDIAS

The Encyclopaedia Americana Vol XV
Encyclopaedia Britannica Vol XII
Chamber's Encyclopaedia Vol VI
Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol IX
Encyclopaedia of Social Sciences Vol IV